महर्षिप्रवरपतञ्जलिप्रणीतं

योगसूत्रम्

(षट्टीकोपेतम्)



पातञ्जलाभिधं रक्तं सर्पवक्त्रं सुतेजसम् ।
अक्षसूत्रं पताकाञ्च दधतं कुण्डलान्वितम् ॥

चौखम्भा संस्कृत संस्थान
पोस्ट बाक्स नं० १३९
वाराणसी

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

८३



महर्षिप्रवरपतञ्जलिप्रणीतं

योगसूत्रम्

पण्डितप्रवरधाराधिपतिभोजराजकृतेन **राजमार्तण्डेन** दार्शनिकशिरोमणिभावागणेशविरचितेन **प्रदीपेन** पं० नागोजीभट्टनिर्मितया **वृत्त्या** यतिप्रवर-रामानन्दविहितया **मणिप्रभया** विद्वद्वरानन्तदेवसम्पादितया **चन्द्रिकया** योगिराज पं० सदाशिवेन्द्रसरस्वतीकृतेन **योगसुधाकरेण** च समन्वितम्

वाराणसीस्थनित्यानन्दवेदविद्यालये मुख्याध्यापकेन न्यायाचार्य-काव्यतीर्थ-

पं० ढुण्ढिराजशास्त्रिणा

पाठान्तरेण टिप्पण्या च समलङ्कृत्य संशोधितम्

डा० महाप्रभुलालगोस्वामिकृतया
विस्तृतहिन्दीभूमिकया समेतम्



चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० ११३९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

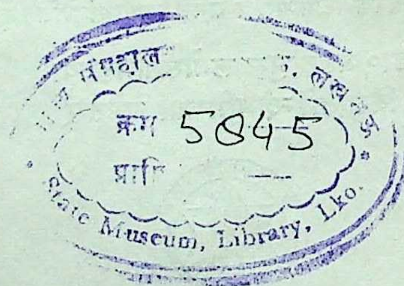
वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : द्वितीय, वि० संवत् २०३६

मूल्य : रु० ५०-००



अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्भा विश्वभारती

पोस्ट बाक्स नं० ६५

चौक, (चित्रा सिनेमा के सामने)

वाराणसी-२२१००१ (भारत)

फोन : ६५४४४

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

83

*****

YOGASŪTRAM

By

MAHARṢIPATAÑJALI

With Six Commentaries

(1) RĀJAMĀRTAṆḌA *by* Bhojarāja, (2) PRADĪPIKĀ *by* Bhāvā-Gaṇeśa, (3) VṚTTI *by* Nāgoji Bhaṭṭa, (4) MAṆIPRABHĀ *by* Rāmānandayati. (5) CHANDRIKĀ *by* Anantadeva and (6) YOGASUDHĀKARA *by* Sadāśivendra Sarasvatī.

Edited with Notes by

Nyāyāchārya Kāvyatīrtha

PAṆḌIT ḌHUNḌHIRĀJ ŚĀSTRĪ

Principal, Nityanand Veda Vidyalaya, Benares.

A critical and comparative introduction in Hindi by

Dr. MAHĀPRABHU LĀL GOSWĀMĪ

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publisher and Distributor of Oriental Cultural Literature

P. O. Chaukhambha, P. Box No. 139

Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane

VARANASI (INDIA)

Phone : 65889

Second Edition 1982

Price : Rs. 50-00

Also can be had of—

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Post Box No. 65

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI-221001

Phone : 65444

प्राक्कथन

योग का उद्भव :—

वैदिक साहित्य सुसम्बद्ध आदिमानव की समग्र भावना के विदग्ध मनन की सृष्टि है। इसका रचयिता अलक्ष्य है, किन्तु सिद्धान्त ध्रुव पद के रूप में आर्य भावना का वहन कर रहा है। इसमें दीर्घकालव्यापिनी सुनियन्त्रित साधना का परिनिष्ठित रूप है, जो विश्व के मानवों के संवित्प्रकर्ष का अनतिवर्तनीय संकेत है। सनातन मानव का सनातन ज्ञान योग ही वेद है।

असंख्य धारा में प्रवाहित भारतीय दर्शन का सारतम उपदेश वृहदारण्यकोपनिषत् का 'याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी' संवाद ही है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः' इस उपदेश में भारतीय जीवन प्रवाह की समग्र आशा आकांक्षा का पर्यवसान होता है। आत्मतत्त्व का श्रवण, मनन और निदिध्यासन ही दर्शन है। आत्मतत्त्व के विश्लेषण एवं उसके साक्षात्कार के साधन और स्वरूप के निरूपण में ही योगदर्शन का भी तात्पर्य है।

योग का प्रथम आचार्य हिरण्यगर्भ को माना गया है। आचार्य वाचस्पतिमिश्र ने 'अथ योगानुशासनम्' (यो. सू. १।१) में लिखा है कि "हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः" अर्थात् योग का प्रथम प्रवक्ता हिरण्यगर्भ ही है। पतञ्जलि मुनिने भी इसी की अभिव्यक्ति के लिए 'अनुशासन' शब्द का प्रयोग किया है। अप् ने प्रथम सृष्टि के रूप में भ्रूण को धारण किया। यह अज की नाभि में अर्पित था, जिसके मध्य में विश्वभुवन था। यह प्रथम भ्रूण या गर्भ ही हिरण्यगर्भ था। एक सूक्त का द्रष्टा भी हिरण्यगर्भ[1] है।

---

१. भास्वती के अनुसार कपिल ही हिरण्यगर्भ है। "हिरण्यगर्भोऽत्र परमर्षेः कपिलस्य संज्ञाभेदः।......हिरण्यगर्भाख्यया पूजितः। (भा० १।१)

हठयोगदीपिका के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में हिरण्यगर्भ ने स्वाध्यायशील ऋषियों को योग का उपदेश दिया। "स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः" २।४४ इसकी सार्थकता यह मानने पर ही होती है। वस्तुतः, ज्ञानात्मक अज की अनेक रूप में होने की इच्छा और संकल्प प्रबुद्ध हुआ, विषय की आवश्यकता हुई, नार निर्मल चित्त जल के समान था। अतृप्त हिरण्यगर्भ क्षुब्ध हो

Phone : 65889

Second Edition 1982

Price : Rs. 50-00

Also can be had of—

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Post Box No. 65

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI-221001

Phone : 65444

प्राक्कथन

योग का उद्भव :—

वैदिक साहित्य सुसम्बद्ध आदिमानव की समग्र भावना के विदग्ध मनन की सृष्टि है। इसका रचयिता अलक्ष्य है, किन्तु सिद्धान्त ध्रुव पद के रूप में आर्य भावना का वहन कर रहा है। इसमें दीर्घकालव्यापिनी सुनियन्त्रित साधना का परिनिष्ठित रूप है, जो विश्व के मानवों के संवित्प्रकर्ष का अनतिवर्तनीय संकेत है। सनातन मानव का सनातन ज्ञान योग ही वेद है।

असंख्य धारा में प्रवाहित भारतीय दर्शन का सारतम उपदेश बृहदारण्यकोपनिषत् का 'याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी' संवाद ही है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः' इस उपदेश में भारतीय जीवन प्रवाह की समग्र आशा आकांक्षा का पर्यवसान होता है। आत्मतत्त्व का श्रवण, मनन और निदिध्यासन ही दर्शन है। आत्मतत्त्व के विश्लेषण एवं उसके साक्षात्कार के साधन और स्वरूप के निरूपण में ही योगदर्शन का भी तात्पर्य है।

योग का प्रथम आचार्य हिरण्यगर्भ को माना गया है। आचार्य वाचस्पतिमिश्र ने 'अथ योगानुशासनम्' (यो. सू. १।१) में लिखा है कि "हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः" अर्थात् योग का प्रथम प्रवक्ता हिरण्यगर्भ ही है। पतञ्जलि मुनिने भी इसी की अभिव्यक्ति के लिए 'अनुशासन' शब्द का प्रयोग किया है। अप् ने प्रथम सृष्टि के रूप में भ्रूण को धारण किया। यह अज की नाभि में अर्पित था, जिसके मध्य में विश्वभुवन था। यह प्रथम भ्रूण या गर्भ ही हिरण्यगर्भ था। एक सूक्त का द्रष्टा भी हिरण्यगर्भ[1] है।

---

१. भास्वती के अनुसार कपिल ही हिरण्यगर्भ है। "हिरण्यगर्भोऽत्र परमर्षेः कपिलस्य संज्ञाभेदः।......हिरण्यगर्भाख्यया पूजितः। (भा० १।१)

हठयोगदीपिका के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में हिरण्यगर्भ ने स्वाध्यायशील ऋषियों को योग का उपदेश दिया। "स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः" २।४४ इसकी सार्थकता यह मानने पर ही होती है। वस्तुतः, ज्ञानात्मक अज की अनेक रूप में होने की इच्छा और संकल्प प्रबुद्ध हुआ, विषय की आवश्यकता हुई, नार निर्मल चित्त जल के समान था। अतृप्त हिरण्यगर्भ क्षुब्ध हो

तम् इदं गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे,
अजस्य नाभावध्येकम् अर्पितम् यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ।
(ऋ०१०।८२।६)

हिरण्यगर्भ सूक्त के प्रथम श्लोक में कहा—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेय ॥
(ऋ० १०।१२१।१)

इस मन्त्र से यह सिद्ध है कि हिरण्यगर्भ का जन्म हुआ; ब्रह्माण्ड शरीर प्रजापति, जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज इन चारों भूत समूहों अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति में प्रथम स्थान इसी का है । भूत का यह एकमात्र ईश्वर था । उसके बाद ईशान आता है जो चैतन्य का स्वधर्म है । इसी प्रकार शिव को भी योग का आचार्य माना जा सकता है, क्योंकि परवर्ती सभी योग सम्प्रदाय या योगियों का समूह शिव का ही उपासक रहता है, और शिव का योग मुद्रा में, या समाधि की स्थिति में वर्णन पौराणिक युग से आधुनिक युग तक उपलब्ध है । ईशान शिव का अपरपर्याय है ।

इस प्रसङ्ग में निष्पक्ष दृष्टि से विवेचन किया जाय तो यह आर्यों के द्योतनात्मक देव से ही इसकी भी उत्पत्ति है । हिरण्यगर्भ भी तेज का ही प्रतीक है ।

योग के आचार्यों की योगेश्वर ने जो परम्परा निर्दिष्ट की है उसके साथ समन्वय करने पर आदित्य को ही योग का प्रथम आचार्य मानना होगा । अज, विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु, यह क्रम निर्दिष्ट किया है । योग चतुष्पाद के रूप में विश्व की विभूति है । इसके द्वारा अक्षर स्वरूप ब्रह्म का निर्देश हो रहा है ।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ (गी. ४।१)

कूटस्थ अज के द्वारा प्रथम योग का उपदेश आदित्य को प्राप्त होता है । आदित्य से मनु को, मनु से इक्ष्वाकु को, इक्ष्वाकु के द्वारा यह आज तक

उठा एकाकी तपस्या में लीन का संक्षोभ, संक्षोभ का विषय भूतवर्ग हुआ । यह योग क्रियात्मक शक्ति के आधार पर बढ़ने लगा । लयावस्था में विक्षोभ की शान्ति के साथ हिरण्यगर्भ की सङ्कल्प, इच्छा के उपरम से स्वरूपावस्थान होता है । अतः अज, हिरण्यगर्भ यह सृष्टि क्रम और हिरण्यगर्भ, अज यहाँ लय-क्रम है ।

परम्परा क्रम में उपलब्ध है। अब यह विचारणीय है कि विवस्वान् कौन है? व्योममण्डल के आदित्य का इससे क्या सम्बन्ध है? सूर्य के पुत्र मनु और मनु के पुत्र इक्ष्वाकु, इक्ष्वाकु सूर्यवंश के आदि राजा हुए। सूर्य का अधिष्ठातृ देव अज है और पौराणिक एवं स्मृतियों की भूमिका में हिरण्यगर्भ के द्वारा सृष्ट सूर्य है।

शास्त्रैकगम्य अनन्त आनन्द, चैतन्य, एकरस, कूटस्थ ने अपने को योग शक्ति के प्रभाव से संस्कृत मन से सृष्टि की। जिस सृष्टि में किसी उपादान की आवश्यकता न हुई। अतः कूटस्थ ही योग का प्रथम प्रवर्तक है और इसका परिज्ञान हिरण्यगर्भ की सृष्टि से होता है अथवा आदित्य जो अखण्ड चैतन्य या ज्योति का प्रतीक है जिसे आर्य भावना का वहनकर्ता दीप्ति माना गया है, वही इसका व्यक्त प्रवर्तक है। आविर्भाव योग के विना सम्भव नहीं है। मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के सप्तम पद्य के द्वारा सूक्ष्म अव्यक्त सनातन चराचरात्मक निखिल प्रपञ्च के कारण को अचिन्त्य माना और योग के द्वारा जिसने उद्भूत जल अर्थात् (अप्) शरीर को धारण किया। प्रकृत में 'उद्बभौ' शब्द दिया गया है, साथ ही स्वयम् शब्द का प्रयोग अतिशय मार्मिक है, स्वय-मुद्बभौ अर्थात् स्वयं प्रकाशित हुए, यह प्रकाश अन्य दीप्ति सापेक्ष नहीं था। दीप्ति अर्थ को कहने वाला 'भा' धातु का यही अर्थ विवक्षित है। प्रथम जल की सृष्टि कर उसमें बीज का निक्षेप किया। जिसकी संज्ञा हिरण्यगर्भ थी। यह सृष्टि सङ्कल्पात्मक थी। इस अण्ड को सहस्र सूर्य के समान ज्योतिर्मय कहा गया है। अप् का अर्थ नर, नर ही नार होता है और यह अयन अर्थात् आश्रय है, अतः इनकी संज्ञा नारायण है। इस प्रसङ्ग में यह ध्यान देने योग्य है कि नारायण अज को गीता के आधार पर योग का आदि प्रवर्तक कहा गया है और अन्यत्र हिरण्यगर्भ को। किन्तु, यह कथन परस्पर विरुद्ध नहीं है, क्योंकि योग का प्रयोग सङ्कल्पात्मिका सृष्टि के रूप में अज से चलता है और पुनः योगज हिरण्यगर्भ को, जो योगज फल है, अतः इसीको प्रथम सृष्ट क्रम में प्रवर्तक मानना ठीक ही है, क्योंकि व्यक्तभाव से यही योग का प्रवर्तक है।

वैदिक दृष्टि में आदित्य:—

वैदिक साहित्य का प्रधान उपजीव्य देववाद को कहना अनुचित नहीं है। किन्तु यह देवत्व ज्योतिस्वरूप है। क्योंकि देव शब्द की निष्पत्ति दीप्ति या द्योतन अर्थ कहने वाले दिव् से होती है। यह दिव शब्द प्रकाश का बोधक है दिव, दिवा, देव इन तीनों शब्दों में एक ही भावना अनुस्यूत है। इस आलोक में बोध, जागरण, चिति, विवेक, प्रज्ञान, संवित् सन्निहित है। बोध

का यास्क ने प्राण अर्थ किया है। बुध्न यह प्रकाश एवं जागने अर्थ को लेकर ऋग्वेद से आजतक प्रयुक्त होता आया है। इसका मूल बुध् धातु ही है। यह बोध अव्यक्त से व्यक्त का ज्ञान और अन्धकार से ज्योति में आगमन है। गीता में 'विवस्वते योगं' यह शब्द प्रयुक्त है। वसु का अर्थ आलोक होता है और इसी वस् से विवस्वते, वासर, उषस्, उस्रा निष्पन्न होता है। ये सभी ज्योतिर्मय हैं। ऋग्वेद में अनेक मन्त्रों के द्वारा आदित्यगण के लिए वसु शब्द का प्रयोग मिलता है[1]। यह परम्परा वहीं समाप्त नहीं हो जाती वरन् आगे भी चलती है इसी लिए निरुक्त में वसवो यद् विवसते सर्वं··· वसवो आदित्य रसमयः विवासनात्[2]।

ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के ऋषि वसिष्ठ माने गये हैं जिसका अर्थ ज्योतिष्मत्तम होता है। फारसी में वहिश्त, अवेस्ता में वहिश्त = स्वर्ग वहिश्ता = परम पुरुष का बोधक है। इस तरह परम देवता की प्राचीन संज्ञा विवस्वान् है जिसका प्रतीक सूर्य है[3] विवस्वान् की उपासना से मनुष्य भी विवस्वान् हो जाता है। सभी देव ज्योति के मूल में विवस्वान् को परम ज्योति माना गया है। अग्नि का विवस्वान् के दूत के रूप में निर्देश मिलता है। अतः अप् भी तेज का प्रतीक है। इस तरह आर्य हृदय की ज्योति के प्रति जो प्रेरणा है वही प्रेरणा हिरण्यगर्भ था, इसी दृष्टि में विवस्वान् को योग का प्रवर्तक मान कर यही सिद्ध किया है। अतः किसी भी स्थिति में चलें तो योग के प्रथम प्रवर्तक अज या नारायण को ही मानना पड़ेगा। जैसा कि गीता में कहा गया है। यही कारण है कि याज्ञवल्क्य ज्ञान योग की शिक्षा सूर्य के द्वारा ग्रहण करते हैं। वसुदेव, वासुदेव का ज्ञान जब तक नहीं होता है तब तक योग विभूति का परिचय सर्वथा असम्भव है। इस प्रकार वासुदेव विवस्वान् के द्वारा योग का प्रवर्तन सर्वथा समुचित है। 'इदं तु विश्वं भगवानिवेतरो' यह भागवत का कथन भी विश्व और विवस्वान् वासुदेव की एकता का परिचायक है। अतः वासुदेव ही सभी दृष्टियों से योग के प्रवर्तक है। यही कारण है कि इनको योगेश्वर कहा जाता है।

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह सिद्ध है कि विवस्वान् के आदि राजा होने पर भी मेरे अन्तराल में एक संविद् रूप शक्ति है, जो विश्व का मूल उत्स एवं ज्योतिर्मय है। इसकी अन्य संज्ञा पुरुषोत्तम है। उसके अभाव में मेरी सभी

---

१. (ऋग्वेद ८।४०।५ ७।५२।१) ८।१८।१५

२. विवस्वान् १२।४१

३. ऋग्वेद १०।३६।१३

शक्तियाँ गतिहीन एवं अव्यवहार्य हो जाती है। सविता की उत्पत्ति इसीसे होती है, जो जगत् का प्राण है। गुणों की ज्योतिर्मय स्थिति में यह वरणीय भर्ग है। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि—

आदित्यान्तर्गतं यच्च ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम्
हृदये सर्वभूतानां जीवभूतः स तिष्ठति।
हृद्याकाशे च यो जीवः साधकैरुपवर्ण्यते
हृदये सर्वभूतानां जीवभूतः स तिष्ठति।

अर्थात् आदित्य के अन्तर्गत प्रकाश की उत्तम ज्योति है, वह सभी प्राणियों के हृदय देश में जीव रूप से अवस्थित है। परम व्योम में अवस्थित ज्योति ही हृद् व्योम में भी अवस्थित है। अतः आदि प्रवर्तक योग का हृद् ज्योतिः स्वरूप पुरुषोत्तम को मानना भी उचित है।

अद्वैतवेदान्त और हिरण्यगर्भ:—

चेतन का उपाधि जड़समुदाय है। जडव्यष्टि का उपाधि युक्त चेतन जीव कहा जाता है। जडसमष्टि उपाधि से युक्त चेतन ईश्वर है। चेतन की उपाधि स्वरूप जडवर्ग तत् तत् काल में सम्पादित अवस्था के भेद से स्थूल, सूक्ष्म और अव्याकृत के भेद से तीन प्रकार का है। पञ्चीकृत[1] अर्थात् पृथिवी, जल, तेज वायु और आकाश संवलित दृश्यमान भूतात्मक स्थूल जगत् है। इस स्थूल का कारणी भूत पञ्चीकरण प्रक्रिया से रहित भूत समुदाय सूक्ष्म है। इन सूक्ष्मभूतों का कारणमूल अज्ञान अव्याकृत है। उपाधियों के प्रदर्शित तीन भेदों के आधार पर जीव भी तीन प्रकार का है; जैसे–स्थूल व्यष्टि उपाधि युक्त जीव विश्व, सूक्ष्म व्यष्टि उपाधि युक्त जीव तैजस, अव्याकृत व्यष्टि उपाधि संवलित जीव प्राज्ञ।

---

१. पञ्चीकरण प्रक्रिया :—

पाँच तत्त्वों में एक एक को द्विधा विभाग कर आधे को बराबर चार भागों में बाँट कर प्रत्येक आधे भाग में शेष चार भूत पदार्थों का एक भाग सन्निहित करें। जैसे पृथिवी तत्त्व का दो भाग हुआ, इसमें आधे भाग को चार भाग में विभाग कर चार भागों को जल आदि के आधे भागों में पृथक् पृथक् रूप से मिलाना होगा। इसी प्रकार सभी भूत पदार्थो के भाग को मिलाकर पञ्चीकरण होता है। आधा भाग जिस भूत पदार्थ का रहता है, वह उस नाम से अभिहित होता है—पृथिवी का आधा भाग रहने पर तथा चार भाग अन्य भूत पदार्थों का रहने पर पृथिवी द्रव्य कहा जाता है।

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च उच्यते॥ (वेदान्तसा० पृ० २२)

इसीप्रकार स्थूल समष्टि उपाधियुक्त ईश्वर विराट्, सूक्ष्म समष्टि उपाधियुक्त ईश्वर हिरण्यगर्भ, अव्याकृत समष्टि उपाधियुक्त ईश्वर ईश है। इस प्रकार हिरण्यगर्भ सूक्ष्म भूत उपाधियुक्त होने के कारण स्थूल का ही कारण हो सकता है, अव्याकृत का कारण वह नहीं हो सकता है। अतः हिरण्यगर्भ की पूर्व भूमि योग की प्रभव भूमि है।[1]

आँख, कान, नासिका, जिह्वा, त्वक् इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों का क्रमशः ज्ञानशक्ति प्रधान देवता आदित्य, दिशा अश्विन्, वरुण, वायु है, वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियों के क्रियाशक्ति प्रधान अग्नि, इन्द्र, विष्णु, मित्र, प्रजापति देवता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द ये पाँच विषय है, ज्ञानशक्ति प्रधान अन्तः करण और क्रियाशक्ति प्रधान प्राण है। इन सत्तरह तत्त्वों का समुदाय लिङ्ग शरीर है, ज्ञान शक्ति की प्रधानता से हिरण्यगर्भ और क्रियाशक्ति की प्रधानता से सूत्र कहा जाता है। हिरण्य के समान प्रकाशजनक होने के कारण वह हिरण्यगर्भ है। इन समष्टियों का अभिमानी जीव भी हिरण्यगर्भ कहा जाता है। अतः इस वेदान्त दृष्टि से योग का द्वितीय हिरण्यगर्भ रूपसे प्रवर्तक जीव ही है, और प्रथम नारायण है हिरण्यगर्भ और सूत्र, संकल्प और क्रिया से युक्त जीव है।[2]

इस पूर्वोक्त विश्लेषण के आधार वासुदेव और हिरण्यगर्भ नारायण और जीवपरक होने से प्रवर्तक के विषय का मतभेद समन्वित हो जाता है।

कठोपनिषद् में भी इस विषय का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख मिलता है:— "प्राणो ह्येषः सर्वभूतैर्विभाति" (कठोप०) आगे यह भी लिखा है कि "या प्राणेन सम्भवति अदितिर्देवानाम्" (कठोप०) अदिति अखण्डना अबन्धना आद्या शक्ति है। यह विश्व में सर्वत्र एकरूप से अनुस्यूत है। दो अवखण्डने अर्थात् खण्डनार्थक दो धातु से दिति शब्द सिद्ध होता है, निषेधार्थक नञ् से दिति का समास होने से अदिति शब्द निष्पन्न होता है। अतः अखण्ड स्वरूप होने से वह सार्वभौम रूप होगी, इसी की अभिव्यक्ति इस मन्त्र से होती है:—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता सपुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥

(ऋ० वे० १।८९।१०)

---

१. द्रष्टव्य—सिद्धान्त वि० श्लोक—८

२. अयममूर्तः पदार्थः कार्यत्वाद्व्यष्टौ समष्टौ च जीवोपाधिरेव (सि० वि० पृ० ९९)

अदिति को सबके रूप में इस मन्त्र से कहा गया है। अदिति को पञ्चजन अर्थात् देव, पितर, असुर, गन्धर्व और राक्षस तथा उत्पन्न वर्तमान एवं उत्पद्यमान सभी अदिति है। 'अदितिः सर्वम्' इस कथन से भी अदिति का सार्वभौम स्वरूप वर्णित किया गया है। इसी अखण्ड ज्योतिः स्वरूप अदिति से आदित्यादि देवगण उत्पन्न हुए हैं। अतः प्रकाशात्मिका देदीप्यमाना अदिति से आदित्य है, जो स्वपरप्रकाश का सामर्थ्य रखता है। देवता की किसी भी विभूति को अपनायें, सभी अदिति के पुत्र होने से ज्योतिः स्वरूप है। अखण्ड अदिति जो सार्वभौम है उसी का पुत्र आदित्य है, अतः विवस्वान् की अज, अखण्ड के बाद स्थिति स्वाभाविक ही है। पूर्व विश्लेषण से स्पष्ट है विवस्वान् वासुदेव की ज्योतिः ही सर्वत्र अनुस्यूत है। हृदयाकाश में सहस्र सूर्यकोटि प्रतीकाश ज्योतिर्मय मण्डल है, जिनका अनुभव साधक योगी योगक्रिया के द्वारा करते हैं—वही विवस्वान् या सविता है। उनके प्रकाश से भूर्भुवः आदि लोक प्रकाशित होते हैं। इस सवितृमण्डल के मध्य में 'ज्योतिषां ज्योतिः' श्रीनारायण है। गोलोकपति पुरुषोत्तम वासुदेव साक्षात् ज्ञान स्वरूप निर्विकार कूटस्थ स्वरूप हैं, उनके द्वारा प्रकाशित शक्तिच्छटा विश्व को उद्भासित करती है। इसी की प्राण या सूर्य संज्ञा है प्रथमोत्पन्न प्रकाश होने से अखण्ड अदिति के बाद यह आदित्य या विवस्वान् आता है। विराट् विश्वभुवन की उत्पत्ति इसीसे होती है। ज्ञानधारा के सञ्चरण क्रम में आदित्य पुनः मन जो 'मनुते' के कारण मनु कहा जाता है, वह प्राण से उत्पन्न होता है। 'मनोनाथः मारुतः' मनका अधिपति प्राण हुआ।

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते॥

दृश्यमान सभी जागतिक पदार्थ ब्रह्म सत्तारूप प्राणशक्ति में स्पन्दित हो रहे हैं, यह ब्रह्माण्ड उसी से निःसृत है।

यह कहा जा सकता है कि मन ही सङ्कल्प रूप में सभी कार्यों का कर्ता है :—

मनः करोति पापानि मनो लिप्येत पातकैः।
मनश्च तन्मनो भूत्वा न पुण्यैर्न च पातकैः॥

आध्यात्मिक दृष्टि से वासुदेव अर्थात् अखण्ड ज्योति का सामान्य विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। सर्वव्यापी अखण्ड ज्योति वासुदेव मन्त्रमूर्ति अमूर्तिक योगैकगम्य मन्त्र चैतन्यात्मक रूप में वह अन्तः श्वास-प्रश्वास के रूप में सदा अनुभूत होता है—"निःश्वासश्वासरूपेण मन्त्रोऽयं वर्तते

"प्रिये"। यदि सम्पूर्ण शरीर योग के द्वारा सभी प्राणशक्ति अर्थात् प्राण वायु का सञ्चरण हो सके तो शारीरिक भूत शुद्धि हो जाती है। भूतशुद्धि मन्त्र का चैतन्य और कूटस्थ इच्छा मात्र से बिन्दु रूप में अन्तः प्रविष्ट होता है, यह योगज गर्भाधान क्रिया है। पुनः वही वायु महत्तेजो रूप होकर आविर्भूत होता है, ऊँकार ध्वनि रूप नाद होता रहता है, जो आहत के विना ही होता है, इसीसे परे त्रिन्दु है। यह बिन्दु भी भ्रू के मध्य में दृष्टि को स्थिर कर आँखों से ही देखा जाता है। बिन्दु की स्थिरता सामरस्य है। भ्रूमध्य में देदीप्यमान कूटस्थ ज्योति ही प्रज्वलित है और वह कूटस्थ रूप में हृदयस्थ है।

तेजोबिन्दुः परं ध्यानं विश्वातीतं हृदि स्थितम् ॥

इस तरह प्राण जागतिक पदार्थ को स्पन्दित करता है और उस प्राण का स्पन्दन अखण्ड वासुदेव से होता है। "यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्" वस्तु का ध्वंस अणु मात्र में परिणत होना है और वही अदिति या बिन्दु है। मनकी एकाग्रस्थिति में षडैश्वर्य सम्पत्ति प्राप्त होती है। फलस्वरूप जन्म, मृत्यु, सुख, दुःख, क्षुधा, तृषा आदि छ विकारों का लोप होता है। यह वही योग की स्थिति है जहाँ अनेक दीप्तियाँ आती है। मन इनको देखता है और मन के अभिप्राय की अभिव्यक्ति इन्द्रियादि निरपेक्ष होकर होती है— अतः यही मन मनु है जो धर्म संस्थापन के लिए पुनः पुनः आता है। इस अवस्था में दीप्ति के प्रकर्ष से ज्योतिः पुञ्ज ही राजा के द्वारा अभिहित होता है, राजृ दीप्तौ से राजा निष्पन्न हैं अतः मनु विवस्वान् के अनन्तर तृतीय योग क्रिया के द्वारा धर्म संस्थापक है।

मन जबतक बाह्य दृष्टि से युक्त रहता है तक तक वह विषय के उपभोग में लगा रहता है, और साधनशील होकर हृदय में प्रवेश कर उसकी अन्तर्दीप्ति का प्रकाशक होता है, मन की अन्तर्दृष्टि का प्रकाश ही इक्ष्वाकु है, इक्ष्वाकु की उत्पत्ति मन से होती है। यह मन की प्रज्ञाचक्षु की अवस्था है। इष्-धातु से इषेः क्सुः (उ० ३।१५७) सूत्र में इक्षुमाकरोति या इक्षुभवति गच्छति बाहुलकादुण् प्रत्यय करके इक्ष्वाकु शब्द निष्पन्न है। अतः, भूतपति हिरण्य-गर्भ के बाद गतिशील सूर्यवंश की परम्परा में इक्ष्वाकुवंश ज्ञान, इच्छा और क्रिया की अवस्था है।

इस प्रकार हिरण्यगर्भ की स्थिति समष्टिकारण शरीर और महत्तत्त्व की स्थिति में है। इससे पूर्व योग की अनेक सोपान परम्परायें है। इसी अर्थ को रहस्यात्मक रूप में अभिव्यक्त करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है:—"परिपूर्णस्य खण्डनाभावान्न क्रोधादय उत्पद्यन्ते, अतः परमहङ्कारं परमोत्साहं संविदात्मकं

गृहीत्वा क्रोधमविद्यात्मानं शत्रुं जहीति शिवम्[1]"। अर्थात परिपूर्ण अखण्ड है उसका खण्डन न होने से क्रोध आदि उत्पन्न नहीं होते हैं, परम अहङ्कार, परम उत्साह संविद् (अन्तः प्रकाशरूप) को ग्रहण कर अविद्यात्मक क्रोध पर विजय प्राप्त करे।

योग प्रक्रिया :—

यह ज्ञातव्य है कि शरीर ब्रह्माण्ड का शुद्ध आयतन है—

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः।
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि मे मतः॥

इस शरीर का मूल सहस्रार है जो विष्णु का परम पद है।

जिसका चित्त प्राण ब्रह्मरन्ध्र सहस्रदल कमल में लीन हो जाता है, वह अपनी इच्छा के अनुसार अणिमादि ऐश्वर्यों की प्राप्ति में समर्थ होता है :—

अस्मिन् लीनं मनो यस्य स योगी मयि लीयते।
अणिमादिगुणान् भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः॥

इस परम पद से इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा प्रवाहित होती है। उस परम व्योम में संविद् रूप ज्योतिः पुञ्ज का स्वयं प्रकाश प्राप्त होता है।

इस योग की क्रिया का संक्षेप में संकेत इस प्रकार किया जा सकता है—

संसार के समत्व की भावना से लोककल्याण की एषणा योग का परम प्रयोजन है।

आध्यात्मिक दृष्टि से तत्त्वों का विश्लेषण करने के लिए योग की अवतारणा की जाती है बुद्धि में प्रतिबिम्बित आत्मतत्त्व का साक्षात्कार ही नित्य शान्ति है। इसीलिए योग और समत्व अपर पर्याय है, जब तक सकल प्राणियों के साथ समत्वभाव प्राप्त कर तदनुरूप आचरण में प्रवृत्ति नहीं हो जाती है तब तक यह निष्फल है, क्योंकि समष्टि के साथ समत्व ही योग है। स्वार्थ और कारुण्य इन दो मूल आचारों को ग्रहण कर ही प्रवृत्ति होती है। प्राणिमात्र में चेतन की अनुस्यूतता मानने पर किसी की भी हानि स्वार्थ की हानि होगी। मानव एक अङ्गी है, अतः किसी भी अङ्ग भूत की क्षति विराट् की हानि होने से सतत सकल प्राणियों के प्रति कारुण्यमूलक प्रवृत्ति होती है। 'चेतनश्चेतनानाम्' इत्यादि श्रुतियाँ समत्व के मनन की श्रुति है।

---

१. गीता० टी० पृ० १८१

योगी उस विराट् को अवगत करने के लिए मनको आत्मस्थ करते हैं। दूसरे शब्दों में यह आत्मरमण है, कबीर ने भी इसी आशय से कहा है— "सबके घट में हरी विराजे ज्यो गिरिसुत में ज्योति" प्रत्येक कण-कण में ज्योति और प्रकाश के समान ही प्रत्येक प्राणी में हरि विराजमान हैं। अब प्रश्न है उनके अन्वेषण का ? कैसे कहाँ खोजा जाय ? शरीर के किस स्थान में उसकी उपलब्धि किस साधना विशेष में होती है, मस्तिष्क के ब्रह्मरन्ध्र में चैतन्य का विशिष्ट प्रकाश विद्यमान रहता है। इससे अनुरञ्जित प्राणशक्ति अपने प्रवाह से सहस्त्रों नाडियों के साथ-साथ सम्पूर्ण शरीर को सचेतन कर देता है। विद्युत् शक्ति-प्रवाह की प्रधान धारा (Main current) के समान प्राण शक्ति का प्रधान प्रवाह मेरुदण्ड के मध्य में अवस्थित है। प्राणशक्ति का मूल आधार सुषुम्णा है, सुषुम्णा से ही इडा और पिङ्गला में वह प्रवाहित होती है। प्राण का इन दो नाड़ियों से प्रवाह होने पर सुषुम्णा का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। सुषुम्णा नाडी मेरुदण्ड के मध्य गुह्यदेश से मस्तिष्क तक विद्यमान है। इडा मूलाधार में स्थित सुषुम्णा के मुख के वामभाग में और पिङ्गला दक्षिण भाग में कुछ उठकर दोनों भ्रुवों के मध्य आज्ञाचक्र में सुषुम्णा से मिल जाती है। इन्हीं दो नाडियों के माध्यम से ज्ञान का प्राण प्रवाह के साथ सम्पूर्ण शरीर में प्रवाह होता है। अहं के साथ शरीर का तादात्म्य मन की वृत्ति का बाह्य प्रवाह एवं संसार लीला के अभिनय की प्रवहमान अवस्था में ही होता है, प्राण-प्रवाह के सुषुम्णा की ओर अग्रसर होने पर दिव्य ज्ञान लौट आता है। प्राण को मेरुदण्ड के मध्य सुषुम्णा में प्रवेश के लिए योगिगण सचेष्ट रहते हैं, यही योगाभ्यास है। इडा और पिङ्गला में गर्भस्थ शिशु का प्राण-प्रवाहित नहीं होता सुषुम्णा उन्मुक्त रहती है। किन्तु भूमि के साथ सम्बन्ध होते ही प्राण धारा इडा और पिङ्गला नाड़ियों में पड़ती है, इन दो नाड़ियों में प्राण वायु का सञ्चरण होते ही सुषुम्णा अवरुद्ध हो जाती है। योगी रामप्रसाद ने इसी की सूचना इन शब्दों में दी हैः—

गर्भ जखन जोगी तखन, भूमे पड़े खेलाम माटी।

गर्भ में योगी था किन्तु पृथ्वी पर आते ही दुःखी हो गया। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और मुद्रा आदि में अभ्यास के द्वारा योगज शक्ति से मनुष्य सुषुम्णा में प्राणशक्ति के सञ्चार की चेष्टा करता है, प्राण के साथ मन योग के द्वारा सुषुम्णा का भेदन कर ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है। प्राण की चञ्चलता का क्रमिक विनाश होकर स्थिरता की प्राप्ति सुषुम्णा में प्रवेश करने से ही होने लगती है और जब वह सुषुम्णा का भेदनकर ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है तब वह अवरुद्ध हो जाता है किन्तु यह अवरोध श्वास-प्रश्वास के

बाह्य अवरोध के समान दुःखावह नहीं होता है। क्योंकि यह उसकी सहज आयास शून्य अवरोध की स्थिति है, स्वरूप स्थिति या आत्माराम की अवस्था होने से वह भूमा सुख अर्थात् परमानन्द सन्दोह से सम्तृप्त रहता है। यह सत्य है कि स्वतः प्रकाश स्वरूप आज्ञाचक्र में ही आविर्भूत हो जाता है, इस चित् की ज्योति के स्फुरण होने से प्राण के सहज रूप की स्थिरता आ जाती है। प्राण की स्थिरता के साथ ही मन विक्षेप शून्य हो जाता है—यह मन की निर्मलावस्था है। इसमें रजो गुण की प्रशान्ति और सत्त्वगुण का उद्रेक रहता है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनां सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥

मधुसूदन की अद्वैत भावनात्मक रस स्वरूपता जो मन की भगवदाकारता सम्पत्ति कही गई है, योग की दृष्टि में वह चिदाकारता है, मन की स्थिरता है। अनन्तर योगी प्रत्याहार के द्वारा मन को वशीभूत करने की दिशा में प्रयत्नशील होता है और रजोगुण से अभिभूत हो जाने से ब्रह्मसायुज्य-सुख का अनुभव करता है। यही योग का परम फल है। योगी की उत्तम समाधि सुख स्थिरता या शब्दान्त ब्रह्मभाव की प्राप्ति है। भागवत वर्णित योगेश्वर भगवान् का यही अवरुद्धरूप है। यह वही अवस्था है जिसमें देह के कालकृत परिणाम के अवरोध होने से जन्म मृत्यु का खेल प्रशान्त हो जाता है। ईश्वर सायुज्य अर्थात् अणिमा आदि अष्टसिद्धियों के साथ ऐश्वर्य सम्पत्ति है।

शरीरस्थ चन्द्र और उनका स्थानः—

परवैराग्य पद की प्राप्ति से मानव निर्विकल्प समाधि सम्पत्ति से अचल हो जाता है, यह अन्य शब्दों में कैवल्यावस्था है। शरीर में छ विशिष्ट केन्द्र के रूप में पद्माकार अवस्थित है। सुषुम्णा नाड़ी इन केन्द्र भूत स्थानों का भेदन कर आगे बढ़ती है। यही चक्र या पद्म है। सम्पूर्ण शरीर बाह्यवस्तु के अन्तःस्थ तत्त्व से परिपूर्ण है। अन्तःस्थ वस्तु का ही बाह्य संघटन है। जैसा प्राणशक्ति का अन्तःस्थ में सञ्चरण होगा वैसा ही इस ब्रह्माण्डकोश में वृत्ति का सञ्चरण होता है। अतः शरीरस्थ तत्वों के द्वारा प्राण और मन को एकाग्र करने से समत्व फल को देनेवाले योग की सफलता होती है। गुह्य द्वार के ऊपर चार दलों से युक्त पद्म है–वही मूलाधार है, यहीं से प्राण वायु का सञ्चरण करना है। लिङ्ग मूल के पीछे मेरुदण्ड में षड्दल युक्त एक पद्म है—यही स्वाधिष्ठान चक्र या पद्म है। नाभि के पीछे मेरुदण्ड में ही दशदलों से विशिष्ट चक्र या पद्म है—यह मणिपूर है। मेरुदण्ड में स्थित हृदय के पीछे द्वादशदल चक्र या पद्म है—यह अनाहत चक्र है। कण्ठमूल के पीछे मेरुदण्ड में षोडश

दलों से युक्त चक्र या पद्म है—यह विशुद्ध पद्म है। दोनों भौओं के मध्य में दो दलों वाला पद्म है—यह आज्ञाचक्र या पद्म है। इसके ऊपर मस्तिष्क देश में हजार दलों से युक्त कमल है—यह परब्रह्म या सद्गुरु अर्थात् जिसे योग-शास्त्र में काल से परिच्छिन्न न होने के कारण सभी का गुरु माना गया है। "पूर्वेषामपि गुरुः, कालेनानवच्छेदात्" (यो. सू. १।२६)। सुषुम्णा नाड़ी को इन छः पद्मों का भेदन कर सहस्रार पद्म में जाना है।

सूक्ष्मतम नाड़ी जो सुषुम्णा में ही स्थित है—वह ब्रह्म नाड़ी है, इसी ब्रह्म नाड़ी में प्राण की स्थिति जीव के अज्ञान की नाशिका है। इसी स्थिति को गुरु स्थानीय प्राण की स्थिति अर्थात् गुरु स्थान में प्राण के सञ्चरण का प्रतीक है—

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

इसी को परम्परा प्राप्त पद्य से कहा गया है। सुषुम्णा के अन्तः स्थित इस ब्रह्म नाडी को भी योग में सुषुम्णा ही कहा जाता है। इस पूर्वोक्त ब्रह्म नाडी के अन्तर्गत चित्रा और वज्रा नाडियाँ है। स्वाधिष्ठान से वज्रा और मणिपूर से चित्रा उठती है। योगजशक्ति से इनका स्पन्दन सम्भव है। यह कहा गया है कि सप्त लोक की जो वाह्य स्थित वर्णित है, वे अन्तः सप्त पद्म ही है। और गायत्री की सप्त व्याहृतियाँ जो शब्दात्मिका हैं, वे भी उच्चारण क्रम में जप के द्वारा नाद के द्वारा प्राण वायु में स्पन्दन करती हैं। अतः अन्तःस्थ सप्त चक्रों के समान बाह्य सप्त लोकों में इनका प्रसार है। योग क्रियाओं के द्वारा प्रदर्शित सप्त स्थानों में प्राण को आहरण कर ऊर्ध्व दिशा में अवस्थित करने पर योग की दृष्टि से असम्प्रज्ञात या ब्राह्मी स्थिति होती है। यही वह अन्तःस्थ स्थान है जो विष्णु का परम पद है, 'तद्विष्णो परमं पदम्' के द्वारा इसी चक्र का निर्देश किया गया है।

वेद में इस स्थान के लिए व्योमन् शब्द का प्रयोग किया गया है। आकाश की दो संज्ञा है दिव् और व्योमन्। प्रथम में द्योतना या दीप्ति का सङ्केत है और द्वितीय शब्द में शुद्धता अण्डता और उच्चता का सङ्केत है। अखण्डनार्थक अदिति का आध्यात्मिक स्थान आकाश द्यौ ही है। वि + ओमन् अव् धातु का उन्नीस अर्थ कहा गया है, इनमें प्रसाद, परिचरण अर्थात् आनन्द, स्पन्दन एवं संवरण इन तीन अर्थों को लेकर इस धातु से सिद्ध व्योमन् शब्द का प्रयोग मिलता है। व्योमन् निपातन से सिद्ध है। व्येञ् संवरणे से निष्पन्न ॐ के साथ इसका सम्पर्क सुस्पष्ट है। यही कारण है महामहोपाध्याय डॉ०बागची महोदय ने व्योम और ॐ दोनों की निष्पत्ति अव से मानी है। ॐ को गौरी या एकपदी वाक् माना है जो परम व्योमन् में सहस्राक्षर है। इसी प्रकार आधिदैवत अध्यात्म दोनों दृष्टि से वाक् या ॐ उसका अनवरत परिस्पन्द है "यावद् ब्रह्म तिष्ठेत् तावती वाक्" (ऋ. १०।११४।८) यही कारण है कि उस अव्यक्त अव्याकृत अवस्था को न सत्, न असत् कुछ भी नहीं कहा जाता

है "नासीद् रजो नो व्योमा परो यत्" (ऋ० १०।१२९।१) जो भी सत् है उसकी रज में स्थिति है, उससे परे व्योम या असत् है किन्तु आदि अन्याकृत को सत् या असत् कुछ भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि स्थिर तत्त्व में रज का प्रवेश नहीं है, अन्यथा स्वरूप में अवस्थिति नहीं रहेगी। इसी लिए कहा गया है—'ज्येष्ठासो न पर्वतासो व्योमनि' (ऋ० ५।८७।९) सप्त चक्र के प्रसङ्ग में 'त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुहे सत्यम् आशिरः पूर्व्ये व्योमनि' (९।८।१) सात धेनु ऊर्ध्वस्रोता प्राण का सात स्थान है। 'भगो न मेने परमे व्योमन् अधारयद् रोदसी सुदंसाः' (ऋ० ६।८।७) रोदसी का द्यौ एवं पृथिवी (ऋ० १।१८४।४१) है, भग आदित्य है, पुरुषमेध योग यज्ञ में यह अजन्मा नारायण है (१३।६।१)। इनकी दो पत्नियाँ हैं पौराणिक दृष्टि से श्री और लक्ष्मी और अध्यात्मदृष्टि से चित् और आनन्द तथा तन्त्र की दृष्टि से नील सरस्वती और तारा, नारायण का नाभि अप् में वास, इसकी तुलना करे—सप्तशती के मध्यम चरित्र में देवी के आविर्भाव से। 'अप्सरा जारम् उपसिष्मिया योषा बिभर्ति परमे व्योमन्' (१०।१२३।५)। सूर्य या सोमचित् आनन्द योषा या उषा वाक् या अप् यही सृष्टि का नाभि स्थान है वाक् सहस्राक्षरा अर्थात् सहस्रदल कमल योग की भाषा में है। 'असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन अदितेरुपस्थे' (ऋ० १०।५।६)। अदिति अनन्त चेतना, दक्ष प्रज्ञावीर्य है। अनुलोम और विलोम क्रम में एक से दूसरे का जन्म है। इस प्रकार अध्यात्म दृष्टि से परम व्योम चेतना की उत्तुङ्गतम भूमि है जिसे योग क्रिया में सहस्रार कहा गया है वेद में परम व्योम चेतना का स्फुरण ॐ के साथ सायुज्य वर्णित है। इस प्रकार उस विष्णु के व्यापक परम व्योम पद को प्राप्तकर जीवन कृतकृत्य होता है। योग में स्पष्ट लिखा है कि अविद्या संस्कार द्वारा प्रकाशशक्ति आवृत है प्राणायाम के द्वारा प्रकाशावरण दूर होता है। आवरण क्षीण होने से सर्वथा समता की भावना परिव्याप्त हो जाती है। प्राण स्थिर हो जाता है। प्राण की अन्तः शक्ति का विकास जगदाकार व परिणति है। इसी को तन्त्र की दृष्टि से शिव शक्ति सामरस्य योग दृष्टि से समत्व भावना कहा है। चराचर विश्व के विकास की भूमि 'लोकोपकारकरणाय सदार्द्रचित्ता' की स्थिति या आत्मानुग्रह के अभाव में लोकानुग्रह मूलक प्रवृत्ति का आरम्भ है। जिसे दूसरे शब्दों में निवृत्तिमार्ग कहा गया है।

पूर्व विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि दीप्ति का अन्तः स्वरूप ही संवित् है। शैवदृष्टि के परिप्रेक्ष्य में योगविशारद के सिद्धान्तानुसार जीव और आत्मा का ऐक्य संवित् का साधन ही योग है। जीव और आत्मा के अभेद से उत्पन्न ज्ञान ही योग है। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए शिवसूत्रवृत्ति में कहा गया है कि आत्मा के विमर्श से सात्त्विक ज्ञान उत्पन्न होता है शिवस्वरूप को प्राप्त कर इन्द्रियों के साथ अन्तःकरण का लय होता है। आनन्द भैरव में भी कहा है कि प्राणादि-

भावना एवं उनके दृश्य सम्पत्तियों का परित्याग कर चित्तका अपने आत्मभाव अर्थात् स्वरूप से शिवरूप में सायुज्य ही योग है।

योग भूमि में छ शत्रुओं का नाश :—

स्वच्छन्द भैरव में भी इसी का समर्थन मिलता है प्राण, मन और अन्तःकरण के विनाश से समूल माया की निवृत्ति होने से शिवानन्द स्फुरण ही योग है। उत्तराम्नाय के अनुसार शिव और शक्ति का अभेदात्मक ज्ञान ही योग है। शक्ति को संवित्स्वरूप तथा परमानन्द रूपिणी माना है। सभी विश्लेषणों से आत्म-स्वरूप ज्ञान से सर्वत्र ज्ञान की भूमि पर समता का सञ्चरण ही योग है।[1]

अन्य दार्शनिक दृष्टि में भी आत्मस्वरूप के चिन्तन एवं संवित्प्रकाश से सर्व-संविद्रूपता के स्फुरण से स्त्री भोगाभिलाषा स्वरूप काम, प्राणियों के मारने की इच्छास्वरूप हिंसा, धनादि की तृष्णा रूप लाभ, तत्त्वाज्ञान रूप मोह, मैं सुखी हूँ, मैं धनिक हूँ इत्यादि गर्व स्वरूप मद, अन्य व्यक्तियों के कल्याण के प्रति द्वेष रूप मत्सर—ये दुःखप्रद होने से इन छ शत्रुओं का नाश हो जाता है। क्योंकि योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, इन आठ योग के साधनों से क्रमशः मैं किसी की हत्या न करूँ इस अभ्यास की प्रव-णतारूप अहिंसा, असत्य नहीं कहूँ इस अभ्यास की प्रवणता चित्तता रूप सत्य, चोरी के व्यवहार से निवृत्ति रूप अस्तेय, स्त्री संभोगरूप इच्छा की निवृत्ति स्वरूप ब्रह्मचर्य, प्राणियों के प्रति क्रूर बुद्धि की निवृत्ति स्वरूप कृपा, चित्त की कुटिलता निवृत्तिरूप ऋजुता, अभिभावक के प्रति अक्रोध चित्तता रूप क्षमा, अभीष्ट वस्तु के अप्राप्ति से जो चिन्ता उसका अभावरूप धृति, क्रमशः भोजन को कम करने से शरीर धारण के लिए अनिवार्य रूप से अपेक्षित भोजनस्वरूप-मिताहार, चित्त की निर्मलता के लिए पूर्व कथित शौचशीलता रूप शौचरूप यम है इनमें धृति से सर्वत्र अनुषङ्ग का अभाव, अहिंसा और ब्रह्मचर्य से काम जय, कृपा और क्षमा से क्रोधजय, अस्तेय सत्य और ऋजुता से लोभ जय, मिताहार और शौच से मोह जय,[1] क्षमा और ऋजुता से मदजय, अहिंसा, कृपा, ऋजुता और क्षमा से मत्सर का जय होता है।

इस विश्लेषण से यह सिद्ध है कि सभी प्राणियों को वाणी, मन और शरीर से क्लेश न देना ही अहिंसा है। जिस रूप में देखा, अनुमित, सुना है उसको उसी रूप में कथन एवं चिन्तन, किन्तु वह वाक्य बाधक, भ्रान्त, अर्थ शून्य न हो। किन्तु 'इदं वाक्य' को सभी प्राणियों के लिए उपघातक न हो कर उपकार के लिए प्रयुक्त होने पर ही सत्य होगा अर्थात् विचार पूर्वक सर्वभूतहित के लिए कहना सत्य वाक्य बोलना अर्थात् सत्य है।[2]

---

१. शारदाति० पदार्थादर्श—पृ० ५३८।

२. व्यासभाष्य—पृ० २।३०

दूसरे की तृणादि के समान तुच्छ वस्तुओं का भी ग्रहण न करना अस्तेय है। कर्म, मन और वाणी से सभी अवस्थाओं में स्त्री की सङ्गति का परित्याग ही ब्रह्मचर्य है। किसी के दुःख को देखकर अपना समझ कर उसको हटाने की चिन्ता करना ही दया है। मन, वाणी और क्रिया से सभी व्यवहारों में सभी के साथ कुटिलता रहित होना ही आर्जव है। सभी रूपसे सदा सभी के साथ अर्थात् अपने साथ अपकार करने वालों के प्रति बन्धु के समान सम्यक् आचरण करना ही क्षमा है। ज्ञात विषयों में इच्छा प्रयत्न राहित्य लाभवान् रहना धृति है। भोज्य पदार्थ का स्वच्छ चित्त पूर्वक चतुर्थांश हित मेध्य भोजन ही मिताहार है। रोमकूप नवरन्ध्रों के द्वारा निर्गत मल का क्षालन ही शौच है।[1] मिट्टी और जल से बाह्य शुद्धि होती है, अन्दर भूत की शुद्धि के लिए पूर्वोक्त शौच की आवश्यकता है।

योग और दश नियम :—

इसी प्रकार शुद्धि के लिए तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, देवपूजन, सिद्धान्त श्रवण, ह्री, मनन, जप और हवन इन दश नियमों की आवश्यकता है।

शास्त्र के द्वारा विहित कठोरव्रत का आचरण तपस्या है। अनेक विषयों में उत्तर की इच्छा न रखना सन्तोष है। परलोक है यह मानने वाला आस्तिक है और परलोक की प्राप्ति के अनुकूल धर्म आदि का आचरण आस्तिक्य है। अपनी शक्ति के अनुसार देवता, पितर और मनुष्यों के उद्देश्य से देना दान है। यथाशक्ति सन्तोषपूर्वक मोक्ष के साधन में प्रवृत्त व्यक्ति के द्वारा विघ्न को हटाने के लिए आराधना देव पूजन है। वेद में प्रदर्शित उपायों की दृष्टि से उपदेश प्रद शास्त्रों का श्रवण सिद्धान्त है। कुत्सित आचार से स्वयं उद्वेग होना ही है क्योंकि चित्त की मलिनता से ज्ञान का उदय नहीं होता है। वेदादि के द्वारा सुने गये विषयों का पुनः पुनः युक्तियों से अनुशीलन मनन है। चित्त की शुद्धि से ईश्वर की पुनःपुनः भावना या अनुचिन्तन जप है। अग्निहोत्र आदि शास्त्र विहित हवन होम है। मन्त्र आदि के जप करने पर दशांश हवन होम है। हवन के न करने पर प्रत्यवाय से चित्त की मलिनता के कारण चित्त की शुद्धि न होने से ज्ञान का उदय नहीं होगा।[2] ये नियम हैं, अतः इनका आचरण न करने पर प्रत्यवाय होता है, अवश्य कर्तव्य होने के कारण इनका आचरण आवश्यक है।

---

१. शा. ति. प० पृ० ५३९।

२. तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानं देवस्य पूजनम्।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो हुतम्॥
नाजपात्सिद्धयते मन्त्रो नाहुतश्च फलप्रदः।
अनर्चितो 'हरेत्' कामान् तस्मात्त्रितयमाचरेत्॥

योग और प्राणायाम आदि—

इसी प्रकार योगी के लिए आसन भी आवश्यक है। आसन के द्वारा रोग का विनाश होता है, प्राणायाम के द्वारा पातक का नाश होता है, प्रत्याहार के द्वारा मानस विकार का विनाश होता है, धारणाओं से मन में धैर्य आता है, ज्ञान से उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है और सभी शुभाशुभ कर्मों का परित्यागपूर्वक समाधि से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1] अनेक आसनों का शास्त्र में रोगों की निवृत्ति के लिए शास्त्र में निर्दिष्ट किया है, किन्तु योग में जप एवं समाधि के लिए प्रसिद्ध पाँच आसनों का अनुष्ठान आवश्यक है। वे प्रसिद्ध पाँच आसन निम्नलिखित है—पद्मासन, स्वस्तिकासन, वज्रासन, भद्रासन और वीरासन।

प्राणायाम :—बाहर सोलह मात्रा से वायु का इडा के द्वारा अन्दर आकर्षण है, अथवा बारह या सोलह बार प्राणायाम का आचरण करें। चौसठ मात्रा से पूरित वायु को धारण करे, बत्तीस मात्रा से सुषुम्णा नाडी के मध्य में धीरे-धीरे अवस्थित करे—यह कुम्भक है। पिङ्गला नाडी से पूरित वायु को छोड़ दे—यह रेचक है।

मात्रा :—जितने समय से अपना हाथ जांघ के नीचे आता है वह एक श्वास के समान एक मात्रा है। कतिपय आचार्यों ने जानु (जङ्घा के मध्य भाग) को तीन बार हाँथ से स्पर्श कर स्फोटन छोटी मात्रा है। अन्य लोगों की दृष्टि में अङ्गुलि के आठ बार स्फोट बजाना के समान मात्रा है। वायवीय संहिता के अनुसार दोनों जानु भाग की न जल्दी और न देरी से परिक्रमा कर अङ्गुलि का स्फोटन मात्रा है।[2]

---

१. आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम्।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण सर्वदा॥
धारणाभिर्मनो धैर्यं ज्ञानादैश्वर्यमुत्तमम्।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्तकर्मशुभाशुभः॥
(व० सं०, शा० ति० पृ० ५४०)

२. कालेन यावता स्वीयो हस्तः स्वं जानुमण्डलम्।
पर्येति मात्रा सा तुल्या स्वयैकश्वासमात्रया॥
अथवा
स्वजानुमण्डलं पूर्वं त्रिःपरामृश्य पाणिना।
प्रपद्य छोटिकामेकां मात्रा सा स्याल्लघीयसी॥
अथवा
जानुं प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम्।
अङ्गुलिस्फोटनं कुर्यात् सा मात्रेति प्रकीर्त्तिता॥
(शा० ति० पदा० पृ० ४४१)

पूर्वोक्त प्राणायाम दो प्रकार का है। १ सगर्भ, २ अगर्भ। जप और ध्यान के साथ किया गया प्राणायाम सगर्भ है। यह सगर्भ प्राणायाम अतिशय फल देने वाला है एवं अगर्भ प्राणायाम सभी पापों का नाशक है। प्राणायाम उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन प्रकार का है। प्राणायाम का अभ्यास करने पर पसीना होना अधम प्राणायाम है। कम्पन से युक्त प्राणायाम मध्यम है। और भूमित्याग गुण की प्राप्ति उत्तम प्राणायाम है।

प्राणायामः—मन की स्थिति के लिए अभ्यन्तर वायु को नासिका रन्ध्रों से प्रयत्न-विशेषपूर्वक यमन रूप प्रच्छर्दन एवं प्राण का संयम रूप विधारण से मन में स्थिरता आती है। हठयोग आदि में निर्दिष्ट प्राणायाम से योगसूत्र में निर्दिष्ट प्राणायाम में अन्तर है। आसन जप से स्थिरता लाभ के बाद बाह्य वायु का आरम्भ में रेचन अन्दर की वायु का निःसारण इन दोनों गतियों का विच्छेद प्राणायाम है। आसन जय से शारीरिक स्थिरता आती है एवं मानसिक वृत्ति-शून्य के समान भावना का अनुभव होने पर प्राणायाम का अभ्यास विहित है। अस्थिर चित्त का प्राणायाम योगाङ्ग नहीं है।

"तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छिन्नः प्राणायामः। (यो. सू. २।४९)

प्राणायाम के लिए उपयुक्त स्थान, काल, मिताहार एवं नाडी-शुद्धि आवश्यक है[1]।

स्थानः—निरुपद्रव एवं प्राचीर वेष्टित कुटी प्राणायाम का स्थान है।

कालः—घेरण्ड संहिता के अनुसार वसन्त और शरत् प्राणायाम के आरम्भ का उचित काल है। इस मास में प्राणायाम का आरम्भ करना श्रेयस्कर है[2]।

अस्सी मात्रा पर्यन्त कुम्भक करना चाहिए या अस्सीवार बीजमन्त्र का जाप करता हुआ कुम्भक का अभ्यास करे।

अस्सीवार कुम्भक करने पर बीसवार पूरक एवं चालीसबार रेचक करना चाहिए, प्रातः मध्याह्न एवं सायंकाल एवं आधी रातमें प्राणायाम का विधान है। मिताहार, नाडीशुद्धि प्राणायाम के लिए आवश्यक है। मलयुक्त समस्त नाडी-चक्र की शुद्धि होने पर ही योगी प्राण का संयम करे।

समनु और निर्मनु के भेद से नाडीशुद्धि दो प्रकार की है। धौति आदि षट्कर्म से नाडीशुद्धि निर्मनु है, बीजमन्त्रजप के साथ प्राण संयम के द्वारा नाडीशुद्धि को समनु कहते हैं।

---

१. घे० सं० ५।२

२. वसन्ते शरदि प्रोक्तं योगारम्भं समाचरेत्।
तथा रोगी भवेत् सिद्धो रोगान्मुक्तो भवेद् ध्रुवम् ॥ (घे० सं० ५।६)

मूलाधार में भुजङ्गाकार कुण्डलिनी अधिष्ठित है; इस शिखा को तेजोमय ब्रह्मरूप में ध्यान करे यही तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान है। मन से ऊपर भ्रू के मध्य में प्रणवात्मक तेज है, उस ज्वालावली प्रयुक्त तेज का ध्यान तेजो ध्यान है[1]।

प्रत्याहारः—विषयों के प्रति विना रोक टोक इन्द्रियों की प्रवृत्तियों का बल-पूर्वक रोकना प्रत्याहार है।

अर्थात्—अपने अपने विषय में इन्द्रियों का असंयोग होने से चित्त की द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थिति प्रत्याहार है अर्थात् प्रत्याहार शब्द का अर्थ घूमाना है, चञ्चल अस्थिर मन आदि जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ से लौटाकर आत्माविष्ट करना प्रत्याहार है। वेदान्तसार में, इन्द्रियों को अपने विषय से प्रत्याहरण प्रत्याहार है।

धारणाः—अंगूठा, पैर की गाँठ, जानु, उरः, सीवनीलिङ्ग, [गुदा लिङ्ग के मध्य में उन्नत रेखा सीवनी है] नाभि, हृदय, कण्ठ, लम्बिका, नासिका, भौओं के मध्य, मस्तक, मूर्धा इन बारह स्थानों में प्राण वायु का धारण धारणा है। वसिष्ठ संहिता में धारणा का पाँच भेद कहा गया है। मन की निश्चलता के लिए धारणा का विधान है।

(१) क्षमा धारणा—हरिताल सुवर्ण के समान सुन्दर श्री सम्पन्न। लक्ष्मी कमलासन से समन्वित चतुष्कोण हृदय में स्थित है और कलाल युक्त है वहाँ पाँच घड़ी तक चित्त समन्वित प्राण को धारण करे सदा स्तम्भ करने वाली यह क्षितिपरक क्षमा नामक धारण कही जाती है।[2]

(२) वारुणी धारणाः—अर्द्ध चन्द्र के समान कुन्द पुष्प के सदृश धवल कण्ठ अर्थात् ग्रीवा में तत्त्व समन्वित अमृत वकार बीजयुक्त सदा विष्णु के साथ युक्त स्थित है वहाँ चित्तयुक्त प्राण को पाँच घड़ी तक लाकर धारण करे दुःसह काल कूट के समान तरल यह वारुणी धारणा कही जाती है।[3]

---

१. भ्रुवोर्मध्ये मन ऊर्ध्वे यत्तेजः प्रणवात्मकम्।
ध्यायेत् ज्वालावलीयुक्तं तेजोध्यानं तदुच्यते ॥ (घे० सं० ६।१७)

२. प्राप्तश्रीहरितालहेमरुचिरा तत्त्वकलालान्वितं
संयुक्ता कमलासनेन च चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिपरा ख्याता क्षमा धारणा ॥

३. अर्द्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठे च तत्त्वान्वितं
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा दुःसहकालकूटतरला स्याद्वारुणी धारणा ॥
(शा० ति० अ० पृ० ४१)

(३) वैश्वानरी धारणाः—तत्त्वस्थित इन्द्रगोप के समान शिव के अनेक तेजोमय प्रवाल के समान सुन्दर त्रिकोण अनल रुद्र से समन्वित है वहाँ प्राण को पाँच घड़ी तक लाकर चित्तान्वित धारण करे वह्नि के समान शरीर को धारण करती हुई यह वैश्वानरी धारणा कही जाती है।[1]

(४) वायु धारणाः—जगत्प्रपञ्च सहित जो मूल देखा गया है, भौओं के मध्य में उसके समान सत्त्वमय यकार सहित जहाँ ईश्वर देवता है, पाँच घड़ी तक वहाँ चित्तसमन्वित प्राण को धारण करे, यह वायु की धारणा है, यह सदा नियत रूप से आकाश में गमन करती है[2]।

(५) नभोधारणाः—सुविशुद्ध जल सदृश आकाश जो ब्रह्मरन्ध्र में स्थित है जो उसके नाथ सदा शिव से सहित हकार अक्षर से युक्त है, वहाँ प्राण को लाकर चित्त के साथ समन्वित धारण करे यह मोक्ष कपाट को भेदन में पटु नभोधारणा कही जाती है।[3]

कर्मों की साधिकायें ये सभी पाँच धारणायें दुर्लभ हैं उनके जानने से योगी सभी पापों से मुक्त होता है।[4]

योगः—

पातञ्जल दर्शन में चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है। यह योग सर्व श्रेष्ठ मानस बल है। चित्त का परिणाम वृत्ति है। और इस वृत्ति का निरोध समाधि या योग है, यह कहा गया है कि सांख्य के समान ज्ञान नहीं है और योग के समान बल नहीं है, वृत्ति का निरोध एक अभीष्ट विषय में चित्त को स्थिर करना है। अर्थात्

---

१. तत्त्वस्थं शिवमिन्द्रगोपसदृशं तत्र त्रिकोणेऽनलं
तेजोऽनेकमयं प्रवालरुचिरं रुद्रेण तत्संगतम्।
प्राणाँस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा वह्निसमं वपुर्विदधती वैश्वनरी धारणा॥

२. यन्मूलं च जगत्प्रपञ्चसहितं दृष्टम्भ्रुवोरन्तरे
तद्वत्सत्त्वमयं यकारसहितं यन्त्रेश्वरो देवता।
प्राणाँस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति नियतं वायोः सदा धारणा॥

३. आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रे स्थितं
तन्नाथेन सदा शिवेन सहितं युक्तं हकाराक्षरैः।
प्राणाँस्तत्र विनीय पञ्चघटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटभेदनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा॥

४. कर्मणां साधकाः सर्वा धारणाः पञ्च दुर्लभाः।
तासां विज्ञानतो योगी सर्वपापैः प्रमुच्यते।

अभ्यास के द्वारा यथेच्छ अभीष्ट ध्येय में चित्त की निश्चल स्थिति करना योग है। स्थैर्य और ध्येय इन दो विषयों के अनुसार योग का अनेक भेद है। चित्त में स्थैर्य्य की उत्पत्ति से मनोवृत्ति चित्त में स्थिर रहती है। वृत्ति की स्थिरता की वृद्धि मानसिक बल वृद्धि सम्पत्ति है। स्थिरता की चरम सीमा समाधि है। और यह शाश्वती शान्ति का साधन है। आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए श्रवण मनन और निदिध्यासन अर्थात् समाधि को चरम कारण माना है। योगी अपने कर्म समूह को दग्ध कर समाधि सिद्ध होने पर इसी जन्म में मुक्त होता है।[1] आत्मदर्शन समाधि लभ्य परम धर्म है। ईश्वर के प्रणिधान से भी चित्त की स्थिरता होती है। दान, संयम आदि के द्वारा परम्परा क्रम में चित्त स्थिर होता है। चित्त के रूप में परिणत सत्त्व गुण ही विशुद्ध ज्ञान वृत्ति है, जिसे चित्त सत्त्व भी कहा जाता है। तमो गुण और रजो गुण से चित्त के अनुविद्ध होने पर चाञ्चल्य और आवरण के कारण ध्यान की प्रवणता नहीं होती है।

योग के विना कुण्डलिनी का जागरण नहीं होता है। गौतमीयतन्त्र में— संसार से उद्धार होने के साधन को योग कहा गया है, इस दृष्टि से जीव और आत्मा का ऐक्य ही योग है।[2] शारदातिलक टीका में राघवभट्ट ने भी वेदान्तानुसार जीव और आत्मा के ऐक्य को ही योग माना है। (ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः[3]) कुलार्णवतन्त्र के अनुसार भी पूर्वोक्त ही योग माना है।

न पद्मासनतो योगो न नासाग्रनिरीक्षणम्।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः॥ (कु० त० ३०।९)

महानिर्वाणतन्त्र के अनुसार भी योग की यही परिभाषा स्वीकृत है। योगो जीवात्मनोरैक्यं पूजनं सेवकेशयोः। (म० त० १४।१२३) महातन्त्र के अनुसार शिवशक्ति का सामरस्य योग है।

प्रपञ्चसार के अनुसार अपने में हाथ पैर मुख आदि से रहित अनन्य आत्म स्वरूप का अनवरत दर्शन ही तात्त्विक दृष्टि से योग है।[4] पातञ्जल योगदर्शन की दृष्टि से प्रदर्शित चित्तवृत्ति-निरोध रूप योग के साथ तन्त्र एवं गीतोक्त योग का

---

१. विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि।
प्राप्नोति योगी योगाग्निदग्धकर्मचयो चिरात्। (वि० पु० ७ अंश)

२. संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते। (गो० त० २२।८)
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः॥ (गो० त० २२।९)

३. शा० ति० २५

४. करपादमुखादिविहीनं मनोरदृश्यमनन्यगमात्मपदम्।
यमिहात्मनि पश्यति तत्त्वविदस्तमिमं किल योगमिति ब्रुवते॥
(आ० पृ० ५४३)

कोई विरोध नहीं है। क्योंकि आत्मस्वरूप में चित्तवृत्ति की स्थिरता ही योग है, यह अर्थ "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् (यो. सू १।३) इस सूत्र में सुस्पष्ट है। गीता के द्वितीय अध्याय के पद्य के द्वारा स्पष्ट कहा गया है कि समाधि में स्थिर बुद्धि का अवस्थान ही योग है। "समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यति।"

योग का भेदः—सभी साधनायें साधारण रूप से योग के नाम से परिचित है। ज्ञान हो या कर्म हो या भक्ति सभी के साथ योग शब्द का संयोग कर ज्ञान-योग, कर्मयोग, भक्तियोग, हठयोग, नादयोग, लययोग, जपयोग आदि। इसी प्रकार अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग के भेद से भी योग का दो भेद माना गया है। बहिरङ्ग योग-साधना के बल से ज्ञान का उदय होता है। किन्तु इस ज्ञान के होने पर भी ज्ञान और ज्ञेय का भेद नष्ट नहीं होता है। अन्तरङ्गयोगनिर्विकल्पक की साधना करने पर जिसे महाज्ञान कहा जाता है, इस अवस्था में ज्ञान और ज्ञेय का पृथक् रूप से ज्ञान नहीं होता है। सत्य वस्तु का ज्ञान जो बहिरङ्ग योग है, उसके फलस्वरूप सत्य का भान अवश्य होता है, किन्तु अन्तरङ्ग योग के बिना द्रष्टा के सत्यस्वरूप में अवस्थिति की प्राप्ति नहीं होती है[1]। दत्तात्रेय संहिता के अनुसार राजयोग सर्वश्रेष्ठ माना है।

"योगो हि बहुधा ब्रह्मन् तत्सर्वं कथयामि ते।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठयोगस्तथैव च॥
राजयोगश्च सर्वेषां योगानामुत्तमः स्मृतः[2]।

योगशिखोपनिषद् के अनुसार महायोग के रूप में भिन्न-भिन्न रूप में उपलब्ध सभी योग एक ही है। मन्त्रयोग लययोग, हठयोग एवं राजयोग ये अवस्था भेद मात्र हैं।

मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते[3]॥

लययोग—योगशिखोपनिषद् के अनुसार हठयोग से सभी दोषों से उत्पन्न जडता का नाश हो जाता है, क्योंकि क्षेत्र और परमात्मा का ऐक्य = अभेद होता है, फलतः चित्त की विलीनता भी सम्पन्न होती है, यही लययोग है।

लययोग होने पर प्राणवायु स्थिर होता है। योगी को लययोग से परम पद की उपलब्धि के साथ स्वरूपानन्द का लाभ होता हैं[4]। हठयोगप्रदीपिका के अनुसार वासना का पुनः उत्थान न होने के लिए विषय विस्मृति लय है। सभी

---

१. कल्याण योगाङ्क पृ० ३२५
२. प्रा० तो० का० ५। प० उ० पृ० ४३९
३. यो० शि० १।१२९
४. यो० शि० उ० पृ० ३६

सङ्कल्प के विनष्ट होने पर जब अशेष चेष्टायें निःशेष हो जाती है तब लययोग उत्पन्न होता है। वाणी की अविषय अपने अनुभव मात्र से गम्य यह अवस्था है।

"उच्छिन्न-सर्वसङ्कल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः॥" ह० प्र० ४।३२

दूसरे शब्द से श्वास-प्रश्वास निरुद्ध हो जाता है, इन्द्रिय का विषय ग्रहण विध्वस्त हो जाता है एवं मन निश्चेष्ट हो जाता हैं; तब लययोग के उत्कर्ष की अवस्था आती है। यह लययोग अनेक प्रकार के हैं। वस्तुतः चित्तलय ही लययोग है। चलते, उठते, बैठते, निद्रा, आहार सभी अवस्थाओं में निष्कल ईश्वर का ध्यान करना—यही लययोग है। बाह्य एवं आभ्यन्तर जितने भी कर्म सभी की लय साधना लययोग है। आदिनाथ ने सवा करोड लययोग के भेद को कहते हुए नादानुसन्धान को मुख्यतम माना है। शिव संहिता में तो स्पष्ट कहा कि खेचरी के समान मुद्रा नहीं है और नाद के समान कोई लय नहीं है। अतः नादानुसन्धान=आत्मज्योति का दर्शन जिसे पातञ्जल दर्शन के अनुसार स्वरूपावस्थान अर्थात् अन्य दृष्टि से कुण्डलिनी-उत्थापन कहा है श्रेष्ठ लययोग है।

मन्त्र योग :—

हकार के द्वारा श्वास बाहर आता है और सकार के द्वारा भीतर प्रवेश करता है, इस प्रकार सभी लोग हंसः मन्त्र का जप करते है गुरु की कृपा से सुषुम्णा में विपरीत जप होता है अर्थात् सोऽहं हो जाता है—यही मन्त्रयोग है।

मन्त्र जप के लिए जो मनोलय है—वही मन्त्रयोग है, पातञ्जल के अनुसार तज्जपस्तदर्थभावनम् (पा० सू० १।२८) के द्वारा इसी का निर्देश किया है। इसकी दूसरी संज्ञा महाभात्र मानी गई है, इसमें वाह्यव्यवहार विहित है, वाह्यानुष्ठान भी चलता है, वर्णाश्रम धर्म आदि भी चलता है, देव देवी की मूर्ति का प्रतीकात्मक ध्यान भी चलता है, उनके रूपका ध्यान और नाम के जप के द्वारा मन्त्रयोग समाधि होती है।

दत्तात्रेय संहिता में इसको अधम योग कहा है, किन्तु शक्तिसङ्गमतन्त्र में और पातञ्जल दर्शन में इसकी प्रशंसा की गई हैं। मन्त्र योग के अभ्यास से सुखदुःख रहित केवल परब्रह्म परिस्फुट होता है। इसके द्वारा चित्त शुद्ध होता है। कामक्रोध से युक्त परमात्मा का ऐक्य चिन्तन दुःख का कारण होता है, मन कहीं, ध्येय कहीं, तब सुख कहाँ? मानस भावना के द्वारा जीव ध्येय स्वरूप रहता है और भावना के त्याग के साथ ही जीव हो जाता है[1]। कविराजजी की व्याख्या के अनुसार मन्त्र का आश्रयण कर जीवात्मा और परमात्मा का

---

१. श० सं० त० १।२६–३०

सम्मेलन मन्त्रयोग है। शब्दात्मक मन्त्र चेतन हो जाता है और ऊर्ध्वगति क्रम में शब्दातीत परमधाम पर्यन्त गमन करता हैं। वैखरी से मध्यमा होते हुए पश्यन्ती अवस्था तक प्रवेश कराना मन्त्रयोग का उद्देश्य है। पश्यन्ती स्वप्रकाश चिदानन्दमय चिदात्मक-पुरुष की अमर षोडशी कला है। शब्द चैतन्य का फल आत्मा की स्वरूप स्थिति है। मूलाधार से शब्द ऊपर को उठता रहता हैं। मन्त्रयोग से बाह्य विषय से इन्द्रिय अवरुद्ध रहती है, और चेतन शब्द सुनने का अधिकारी होता है। अभिधान जनित शब्द अनाहत नाद में लीन हो जाता है। अक्षर समष्टि मात्र रह जाती है, इसमें भी ईडा और पिङ्गला की गति अवरुद्ध हो प्राण सुषुम्णा में प्रविष्ट होता है और सारस्वतस्रोत का अनुभव करता है और क्रमशः आज्ञाचक्र में जाता है, वहाँ बिन्दु स्थान का भेदन कर सहस्रार महाबिन्दु में अवस्थित है—यही तज्जपस्तदर्थ भावन रूप मन्त्र योग है।

हठयोग :—

योगशिखोपनिषद् के अनुसार हकार सूर्य है और ठकार चन्द्र है, सूर्य और चन्द्र का ऐक्य ही हठ योग है। शरीर में आपानवायु चन्द्र है और प्राणवायु सूर्य है। अतः प्राण और आपानवायु का संयोग हठ योग है। किसी किसी के मत में हठात् ज्योतिर्मय होकर अन्तर में शिव स्वरूपता की प्राप्ति करता है, अतः सिद्धि प्रद सिद्ध सेवित यह हठ योग है।

साधन में प्रधान साधन शरीर है, शरीर की स्वस्थता के बिना साधना नहीं चल सकती है। सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः स्थूल शरीर की साधना का प्रभाव सूक्ष्म शरीर और मन पर होता है। हठयोग-प्रदीपिका के अनुसार सभी तापतप्त मानवों के लिए यह आश्रयगृह स्वरूप है, एवं कूर्म जैसे पृथिवी का आधार है वैसे ही यह सभी योगों का आधार है। इस योग के करने से साधक के शरीर में दुर्बलता, मुख में प्रसन्नता, अनाहत नाद की व्यक्तता, चक्षु की निर्मलता एवं शरीर की स्वस्थता होती है, बिन्दु-जय से अग्नि उद्दीप्त तथा नाड़ी विशुद्ध होती है। इससे सुप्त कुण्डलिनी का जागरण एवं ब्रह्मद्वार मुक्त होता है।

"वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्" ॥[1]

हठयोग का उपदेश गोरक्षनाथ एवं इनके पूर्ववर्ती मृकण्ड पुत्र मार्कण्डेयादि ने किया है। हठयोग अष्टाङ्ग है, जिसका निर्देश पातञ्जलयोग दर्शन के यम आदि से किया है। गोरक्षनाथ के अनुसार यह षडङ्ग है। इन्हों ने यम और नियम का परित्याग कर अन्य सभी अङ्गों को माना है। घेरण्ड संहिता के अनुसार इसके

१. ह० प्र० २।७८

सात अङ्ग है। उसमे प्रत्येक का विभिन्न फल है, षट् कर्मों से शरीर शोधन, आसन से शरीर दृढ़, मुद्रा से शरीर स्थिर, प्रत्याहार से धीरता, प्राणायाम से प्रणिधान होता है और ध्यान से आत्म प्रत्यक्ष और समाधि से निर्लिप्तता और मुक्ति होती है।[1]

राजयोग :—

योगेश्वरोदय में कहा गया है कि आकाश में घूमती हुई वायु जैसे स्वयं आकाश स्वरूप को प्राप्त करती है अर्थात् आकाश में लीन होती है, वैसे ही आकाश में अर्थात् ब्रह्म में मन का लय ही राजयोग है।

यथाकाशे भ्रमन् वायुराकाशं व्रजते स्वयम्।
तथाकाशे मनो लीनं राजयोगक्रियामतम् ॥ (योगेश्वरोदय)

योगशिखोपनिषत् के अनुसार शक्ति और शिव का योग ही राजयोग है।

रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः। (योग० उप० १।१३७)

राजयोग द्वैत-भाव-रहित है। 'राजयोगः स्यात् द्विधाभावविवर्जितः' (शि० सं० ५।१७) इस योग में दीप्तिका साक्षात्कार होता है। दीप्ति अर्थ को कहने वाले राजृ (राज्) से यह निष्पन्न है। इसके फल की श्रेष्ठता को ध्यान में रखकर कतिपय आचार्यों ने योगों का राजा यह अर्थ किया है। किन्तु इस अर्थ में 'योगराज' प्रयोग होगा। सर्वथा शिवप्रद होने के कारण ही यह राजयोग है। योगेश्वरोदय के मत में यह पन्द्रह प्रकार का है।

"पञ्चदश प्रकारोऽयं राजयोगः शिवप्रदः।
क्रियायोगः ज्ञानयोगः कर्मयोगो हठस्तथा ॥
ध्यानयोगो मन्त्रयोग उपयोगश्च वासना।
राजन्त्येतद् ब्रह्मविष्णुशिव एभिश्च पञ्चधा ॥

योगी स्वात्माराम ने श्रीशुकनाथ को प्रणाम करके केवल राजयोग की सिद्धि के लिए हठयोग का उपदेश दिया है।

"प्रणम्य श्रीशुकं नाथं स्वात्मारामेण योगिना।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ॥" ह० प्र० १।२

समाधिः—ध्यान की चरम परिणति समाधि है। पातञ्जल योग सूत्र के अनुसार समाधि ही योग है। योग की चरमावस्था समाधि है। घेरण्डसंहिता में भी श्रेष्ठ योग को समाधि कहा गया है। ईश्वरात्मक गुरु कृपा से ही इसका लाभ होता है[2]। ध्येय विषय मात्र का ज्ञान सम्प्रज्ञात समाधि है।

---

१. घे० सं० १।१०–११

२. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। (यो० सू० ३।३)

जिस अवस्था में केवल ध्येय विषय मात्र का ज्ञान रहता है—वही ध्यान समाधि है। चित्त ध्येय के चित्र के स्वरूप को आधान करता है। योग समाधि है और यह चित्त का सार्वभौम धर्म है। योगः समाधिः, सच सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः। (व्या० भा० ३।३)

घेरण्डसंहिता के अनुसार मन को देह से पृथक् कर परमात्मा के साथ युक्त करे। इसी अवस्था को समाधि कहा जाता है। इस अवस्था में दश इन्द्रियों से सर्वथा असंयुक्त मन रहता है[1]। समाधि का यह स्वरूप शब्द भेद के साथ सभी दार्शनिकों एवं तान्त्रिकों ने स्वीकार किया है। द्रष्टा की स्वरूप स्थिति कहे या हठयोग प्रदीपिका के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य कहा जाय किन्तु इस अवस्था में सभी सङ्कल्पादि विनष्ट हो जाते हैं। इसका विश्लेषण करते हुए लिखा गया है कि मन की स्वतन्त्र स्थिति नहीं रहती है—जैसे लवण जल के साथ युक्त होने पर एक हो जाता है; वैसे ही मन आत्मा के साथ संयुक्त होकर एक हो जाता है—मन और आत्मा का ऐक्य ही समाधि है। समाधि के विषय में कहीं जीवात्मा परमात्मा के ऐक्य को ही मन की लयावस्था कही गई है। समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः'। किसी भी स्थिति में नित्यसमत्व भावनात्मक ध्येयाकारता समाधि है। इसी लिए तन्त्र में सर्वत्र ब्रह्मभावना के साथ अपने को भेद मूलक संसारी न मानकर संसार में आत्मस्वरूप से अतिरिक्त कुछ नहीं है—यह समत्व, ऐक्य, अभेद की स्थिति समाधि है। इस अवस्था की प्राप्ति से मनुष्य चराचर के कल्याण की दृष्टि से ही जीवन का उपयोग करता है, अतः राष्ट्र भावना एवं समाजिक तथा राजनीतिक स्थिति ऊर्ध्वतम भूमि पर अवस्थित रहती है।

कुलार्णवतन्त्र के अनुसार—एकादश इन्द्रियों की अपने कार्य से विरति प्रदर्शन करते हुए अचल एकत्व भावना को समाधि कहा गया है। "न सुनता है, न सूंघता है, न स्पर्श करता है, न देखता है, सुख दुःख कुछ भी अनुभव नहीं करता है, सङ्कल्पहीन मन रहता है काठ के समान वह कुछ भी नहीं जानता है, ध्येय में विलीन आत्मावस्था समाधि है[4]"।

आचार्य अभिनवगुप्त ने समाधि का वर्णन करते हुए लिखा है—"जो काम की (कामना) अभिलाषा से सम्पन्न हैं वे देहात्मक इस वेदवाणी को स्वर्गफल

---

१. घटाद्भिन्नं मनः कृत्वा ऐक्यं स्यात् परमात्मनोः ।
समाधि तं विजानीयात् मुक्तसंज्ञो दशादिभिः ॥ (हृ० प्र० ६।२)

२. तत्समं च द्वयोरैक्यं को वात्मपरमात्नोः ।
प्रनष्टसर्वसङ्कल्यः समाधिः सोऽभिधीयते ॥ (हृ० प्र० ४।६)

३. हृ० प्र० ४।५। यो० उ० १०६

४. कु० व० ६।१०–१४

से परिव्याप्त मानते हैं, जन्म और कर्म फल मानते हुए भेद भावना संश्लिष्ट समत्व से दूर ही रहते हैं, अतः वे विवेकी नहीं हैं। वेद को अपनी कल्पित वाणी के अनुरूप अभिप्रेत फल की प्राप्ति के लिए मानकर अपहृतचित्त हो व्यवसाय बुद्धि से युक्त जीवन व्यतीत करते हैं, वे समाधि की स्वरूप योग्यता भी नहीं रखते हैं, क्योंकि, नियतफल के अधीन ही वे रहते हैं अतः सुख-दुःख-मोहात्मक बुद्धि से वैदिक कर्मों के अनुष्ठान में वे बन्धन में ही अपना जीवन प्रवाह चलाते रहते हैं, किन्तु फलाभिलाषा से शून्य होने पर सम्प्रज्ञात समाधि सम्पन्न होने पर वेद उनके लिए बन्धन का कारण नही होता है। जीवन युद्ध में वे आत्मानुग्रहशून्य होते हुए भी प्राणियों के प्रति अनुग्रह सम्पन्न हो लोक जीवन-यात्रा में तत्पर छ दोषों से मुक्त सुख-दुःख-मोह-शून्य निष्काम कर्म रत हो समत्व भावना सम्पन्न होने से वास्तविक समाधि में रहते हैं। फल की कामना के कालुष्य से परिव्याप्त रहने पर ही, कर्म फल के प्रति साधन होता है। योग = समाधि में स्थित हो कर्म करे, क्योंकि साम्य ही योग है[1]। रागद्वेष रहित मुनि स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। उसको शुभ से प्रसन्नता और अशुभ से ताप नहीं होता है। इन्द्रियों को विषयों से खींच कर आत्मा में स्थिर करना ही योग या स्थिरप्रज्ञता है। उपसंहार में कहा है—योगी का लोकोत्तर व्यवहार रहता है, अन्धकार-रूपिणी माया के विषय में वह उद्बुद्ध रहता है कि कैसे इसका त्याग करे, क्योकि वहाँ प्राणी अनेक कामनानुरूप चेष्टाओं में सुख दुःख मोह से अभिभूत होकर उनमें ही सतत रत रहता है, किन्तु नाम रूप एवं सुख सन्ततियों का अनादर कर योगी ज्ञान से सम्बुद्ध स्थिरप्रज्ञ प्रबुद्ध स्थिति में रहता है। वह कामनावश बाह्य विषयों की ओर गतिशील नहीं रहता है अतः, निर्मम, निरहंकार निःस्पृह होकर लोकयात्रा निर्वाह करता हुआ शान्तिपूर्ण सन्तुष्ट जीवन यापन करता है। अविद्या हेय या कामना का अवसान होने से इसको मोक्ष या निर्वाण कहा जाता है। उपसंहार में असम्प्रज्ञात निर्विकल्पक समाधि एवं माध्यमिकों के अनुसार शून्यता की यही स्थिति है।

षट्कर्मः—धौति, वस्ति, नेति, नौली, त्राटक, कपालभाति ये छ कर्म हैं।

धौति चार प्रकार की है। अन्तःधौति, दन्तधौति हृद्धौति, मूलशोधनधौति से शरीर निर्मल होता है।

अन्तःधौति भी चार प्रकार की है—वातसार, वारिसार, अग्निसार, एवं बहिष्कृत।

वस्ति—जिस प्रक्रिया से वस्ति प्रदेश का शोधन होता है, उसे वस्ति कहा जाता है, जलवस्ति और शुद्धवस्ति के भेद से यह दो प्रकार की है।

जलवस्तिः शुद्धवस्तिः वस्तिः स्याद्द्विधा स्मृता।

---

१. गी० अभिनव व्या० पृ० ११६–१३२

जलवस्तिं जले कुर्याच्छुकवस्तिं सदा क्षितौ ॥ (घे. सं. १।४६)

लौलिकी या नौलीः—पेट को एक तरफ से दूसरी ओर आन्दोलित करना है, इससे सभी रोग दूर होते है और देहाग्नि वर्द्धित होती है।

नेतिः—एक वित्ता परिमित सूक्ष्म तागा लेकर नासिका के छिद्र में प्रवेश करे और इसको मुख से बाहर करे—यही नेति कर्म है। इसमें खेचरी सिद्धि होती है; तथा कफ दोष का नाश एवं दिव्यदृष्टि का लाभ होता है।

त्राटकः—नेत्र से जब तक पानी नहीं आता है, तब तक एक सूक्ष्म लक्ष्य की ओर पलक गिराये विना देखना त्राटक है। इससे शाम्भवी की सिद्धि होती है। सभी नेत्र रोगों का विनाश और दिव्यदृष्टि का लाभ होता है। कपालभातिः—वामक्रम व्युत्क्रम, शीत्कर्म के भेद से कपालभाति तीन प्रकार की है, इसके द्वारा दिव्यदृष्टि की प्राप्ति होती है।

वामक्रमः—बाँई नाक में ईडासे वायु भरकर दक्षिण नाक से रेचन करे अर्थात् पिङ्गला से रेचन करे। इस प्रकार पर्यायक्रम में पिङ्गला से धीरे-धीरे पूरक और ईडासे रेचन करे। इस योगाभ्यास से कफ दोष हटता है।[1]

व्युत्क्रमः—नाक से जल खींच कर धीरे-धीरे मुख से बाहर करे। इससे श्लेष्मा दोष नष्ट होता है।[2]

शीत्क्रमः—शीत्कार पूर्वक मुख से श्वास खीच कर नाक से बाहर करे। इस क्रिया से कामदेव के समान होता है, इस योगाभ्यास से वार्द्धक्य ज्वराधिक्य नहीं रहता है, शरीर स्वच्छन्द एवं कफ दोष नष्ट होता है।[3]

हठयोग-प्रदीपिका एवं दत्तत्रेयसंहिता के अनुसार मेद और श्लेष्मा के आधिक्य रहने पर ही षट्कर्म का आचरण करे, अन्य व्यक्ति नहीं करे।

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत्।
अन्यस्तु नाचरेत् तानि दोषाणां समभावतः[5] ॥

कतिपय आचार्यों के अनुसार प्राणायाम के द्वारा ही सभी मलों का शोषण करे—यह माना है, आचार्य पतञ्जलि ने भी प्राणायाम से अतिरिक्त किसी अन्य कर्मों की आवश्यकता नहीं है—यही स्वीकार किया है।

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशम्यन्ति मला इति।
आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्यत्कर्म न सम्मतम्[4] ॥

---

१. घे० सं० १।५ २. घे० सं० १।५६

३. शीत्कृत्य पीत्वा वक्त्रेण नासानालेर्विरचयेत् एवमभ्यासयोगेन कामदेवसमो भवेत्। न जायते वार्द्धक्यं च ज्वरो नैव प्रजायते। भवेत्स्वच्छन्ददेहश्च कफदोषं निवारयेत्॥ (घे. सं. १।५०–५१)

४. हृ० प्र० २।२६ ५. हृ० प्र० २।३१

आसनः—हाथ पैर आदि संस्थान विशेष को विशिष्ट रूप में रखना आसन है। हठयोगप्रदीपिका के अनुसार आसन हठयोग का प्रथम अङ्ग है। इनके अभ्यास से देह की स्थिरता आरोग्य और लघुत्व होता है। आसनों की चौरासी लक्ष संख्या कही गई है। इनमें चौरासी विशिष्ट है और इनमें भी बत्तीस का मुख्यतम स्थान है। यथा—सिद्ध, पद्म, भद्र, मुक्त, वज्र, स्वस्तिक, सिंह, गोमुख, वीर, धनु, शव, गुप्त, मत्स्य, मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, पश्चिमोत्तान, उत्कट, सङ्कट, मयूर, कुक्कुट, कूर्म, उत्तानकूर्मक, उत्तानमण्डुक, वृक्ष मण्डुक, गरुड, वृष, शल, वृषमकर, उष्ट्र, भुजङ्ग एवं योग। घेरण्डसंहिता में आसन के फलों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है।

मुद्राः—मुद्रा भी आसन के समान ही शारीरिक अवस्था विशेष है। प्रधान रूप से इन मुद्राओं का निर्देश मिलता हैं। महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जालन्धर, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावोध, खेचरी, विपरीतकरी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालनी, ताडागी, माण्डुकी, शाम्भवी, पञ्चधारणी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी भुजङ्गिनी। इनके अतिरिक्त भी सुरभि, ज्ञान आदि मुद्रायें वर्णित हैं। इनके अभ्यास से योगियों को सिद्धि लाभ में सहयोग मिलता है।

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धर, विपरीतकरिणी, वज्रोली, शक्तिचालनी ये दश मुद्रायें वृद्धत्व और मृत्यु की नाशक है। "इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशकम्" मुद्रा का अभ्यास कुण्डलिनी के जागरण का प्रसारण हेतु है।

"तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।"
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्॥ (ह. प्र. ३।१२८)

मोक्षः—योगसूत्र के द्वितीय पाद के बाइसवें सूत्र के व्यासभाष्य में कहा गया है कि—अनादिकाल से प्रवृत्त दृश्य-समुदाय कृतार्थ = ज्ञानी पुरुष के प्रति अर्थात् मुक्त पुरुष की दृष्टि से नष्ट अर्थात् लीन रहता है, किन्तु अकृतार्थ पुरुष के लिए दृश्य वर्ग भासमान रहता है। "कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्" (२२ सू.) कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति दृश्यं नष्टमपि नाशं प्राप्तमपि अनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात्" (व्या. भा. २२) अतः प्राकृतजगत् से परे आत्मस्वरूप में अवस्थिति योगी की रहती है। यही कारण है कि पातञ्जल योग सूत्र के प्रथम पाद के तृतीय सूत्र में बुद्धि से ज्ञात आत्मा का स्वरूप अविवेक प्रयुक्त होने से स्वाभाविक रूप नहीं है, बुद्धि का स्वभाव सिद्ध रूप स्वरूप प्रतिष्ठत होना हैं। पुरुष की स्वरूप प्रतिष्ठा स्वभाव होने से अस्वरूप प्रतिष्ठा बुद्धिबोधात्मता या दृश्य वर्गों का दर्शन मिथ्याज्ञान प्रयुक्त ही मानना होगा। योग के द्वारा स्वरूप अवस्थिति होने पर तत्त्वज्ञान प्रयुक्त मिथ्याज्ञान का उच्छेद होने से बुद्धि बोधात्मता न रहने से पुरुष स्वरूपस्थ स्वस्थ हो जाता है।

आशय यह है कि चित्त की वृत्ति के निरोध का नाम योग या समाधि है। योग दो प्रकार का है, निर्विकल्पक योग और सविकल्पक योग। निर्विकल्पक योग की अवस्था में चित्त का ध्वंस होता है और असम्प्रज्ञात में पुरुष की स्वभाव में अवस्थिति होती है अर्थात् अपने स्वरूप में स्थिति रहती है, योगशास्त्र की दृष्टि में यही कैवल्य या मुक्ति है। स्तर स्तर पर प्रज्ञा के विकास के फल-स्वरूप चित्त का विनाश होने पर मुक्तावस्था आती है। निम्नलिखित प्रज्ञाओं के फलस्वरूप क्रमशः चित्त का विनाश होता है—

१. दुःख के कारण भूत संसार का ज्ञान होना तथा उसको जानने के लिए कुछ शेष नहीं रहता है।
२. संसार के मूल कारण का उत्पाटन हो गया है, अब उसका उत्पाटन शेष नहीं है।
३. निरोध समाधि के द्वारा यह उत्पाटन कार्य हुआ है।
४. पुरुष और प्रकृति का भेद ज्ञात हो गया है, इस प्रज्ञा की उपलब्धि होने पर कतिपय तात्त्विक घटनायें होती हैं।
   (क) बुद्धि की पुरुषार्थता सम्पन्न होती है।
   (ख) चित्त नष्ट होकर प्रकृति के रूप में अवस्थित होता है।
   (ग) बुद्धि अपने गुणों के स्वभाव में परिणत होती है।

बुद्धि आदि एवं गुण पुरुष के प्रति योग और मुक्ति उत्पन्न करता है। पुरुषार्थ विरहित कार्य-बुद्धि आदि और कारण-गुणत्रय का (मूल प्रकृतिस्वरूप गुणत्रय का) प्रतिलोम प्रश्रय या प्रतिपुरुष अर्थात् प्रकृति के रूप में अवस्थान को केवल का धर्म कैवल्य या मुक्ति कहा जाता है। स्वरूप प्रतिष्ठा अर्थात् बुद्धिवृत्ति का प्रति-बिम्ब पुरुष में प्रतिबिम्बित न होकर पुरुष का अपने शुद्ध निर्लिप्त चिद् भाव में अवस्थान करना है। चिति शक्ति ही स्वरूप है। ("पुरुषार्थ-शून्यानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति"[1]) प्रकृत में कैवल्य शब्द से पुनः उत्थान रहित विदेह कैवल्यावस्था है। कैवल्य अर्थात् चित् शक्ति की स्वरूपस्थिति अर्थात् द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थान—यही असम्प्रज्ञात योग है। यह कैवल्यरूपा चिति-शक्ति असंहत है। संहतशक्ति ही पुनः पुनः कार्य का उत्पादन करती है। चैतन्य मात्र स्वरूपिणी असंहता चिति शक्ति से उस प्रकार का कार्य कभी भी उत्पन्न नहीं होता है, इसीलिए वह केवला है (चितिशक्तिरेव केवला[2])। इसका किसी भी समय बन्धन नहीं था समाधि की स्थिति में इसका मोक्ष भी किसी समय आविर्भूत नहीं होता है। बन्धन और मुक्ति इन दोनों से यह अतीत है। असम्प्रज्ञात योगावस्था ही मुक्ति है। असम्प्रज्ञात योग के लाभ होने पर पुरुष चितिशक्ति में

१. योग सू० कै० पा० ३४
२. व्यास भाष्य ३४

द्रष्टा के रूप में प्रतिष्ठित होता है। प्रथम पाद के तृतीय सूत्र का यही अभिप्राय है। यह अवस्था पुरुष की सर्वथा गुण के वियोग की अवस्था है, पुनः कभी भी गुणों के साथ सम्बन्ध नहीं होता हैं। गुण के साथ एकान्त अत्यन्त वियोग ही कैवल्य या द्रष्टा का स्वरूप योग है। ("पुरुषस्यात्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यं तदा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुष इति"[1]) सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप विवेक ज्ञान में भी विरक्ति आने पर अविद्या आदि क्लेशबीज समस्त मन के साथ विनष्ट हो जाते हैं तभी स्वरूप प्रतिष्ठारूप मुक्ति होती है। (तद्वैराग्यादपि दोष-बीजक्षये कैवल्यम्[2]) कैवल्यावस्था में अविद्या का अभाव होने पर प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध का अभाव होता है, यह आत्यन्तिक वन्ध्यत्व ही कैवल्य या स्वरूप प्रतिष्ठा है।[3] किसी-किसी ज्ञानी की जीवन दशा में ही आत्मख्याति की स्थिरता और मिथ्याज्ञान शून्यता आती है। वे सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा का अनुभव कर कुशल होते हैं; चित्त का अत्यन्त लय होने पर पुरुष कुशल या मुक्त होता है। क्योंकि वह गुणातीत हो जाता है। (सा. पा. व्या. भा. २७) प्रथम अवस्था जीवन्मुक्त है, द्वितीय कुशल विदेह मुक्त है, चित्त के लय से पूर्व जीवन्मुक्त अवस्था एवं शरीर के पात के साथ-साथ जब चित्त का भी लय हो जाता है तो इसको विदेह मुक्तावस्था कहा जाता है। कतिपय आचार्यों के मत में आनन्द या सुख प्रकृति का धर्म होने से कैवल्य में आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं रहती है। पुरुष का स्व-स्वरूप अवस्थान चैतन्य स्वरूप है, अतः चैतन्यमय अवस्था की स्थिति ही कैवल्य या मुक्ति है।

योगदर्शन और ईश्वर

योगशास्त्र में चित्तवृत्ति निरोध के उपाय निरूपण प्रसङ्ग में अधिमात्र तीव्र संवेग के द्वारा समाधि आसन्नतम होती है—इसका निरूपण कर व्यासभाष्य में यह आकांक्षा की गई है कि क्या यही एकमात्र आसन्नतम समाधिलाभ का साधन है या इससे अन्य भी उपाय है—जिस उपाय के द्वारा आसन्नतम समाधि हो सकती है। इसी प्रसङ्ग में विकल्प रूप में अन्य उपाय का प्रदर्शन करते हुए सूत्रकार ने कहा है—ईश्वर के प्रणिधान से भी समाधि आसन्नतम होती है। "ईश्वरप्रणि-धानाद्वा"। (यो. सू. १।२३)

तत्त्ववैशारदीकार ने पूर्वोक्त भाष्य की व्याख्या करते हुए 'नवा' शब्द को निश्चयार्थक अव्यय स्वीकार कर इसी रूप में सूत्र की व्याख्या की है और इसी अर्थ में इसका समन्वय किया है। वार्तिककार ने "न वा" शब्द को पाणिनि व्याकरणस्थ

---

१. विभूतिपाद ५० व्या० सा०

२. वि० पा० ५०

३. सा० पाद २५

"न वेति विभाषा" (पा० सू० १।२।४४) इस सूत्र के अनुरूप ही विकल्पार्थक मानकर आगे का व्याख्यान प्रदर्शित किया है। इसी विकल्प को सिद्ध करने के लिए कहा गया है—"ईश्वरप्रणिधानाद्वा" इसका पूर्व सूत्र में वर्तमान विशेष के साथ अन्वय विवक्षित है। अतः मृदु आदि तीव्रसंवेग से जो कार्य होता है, उससे भी विशेष ईश्वर-प्रणिधान से होता है। इनके सिद्धान्त में प्रणिधान शब्द का अर्थ, साधन पाद में कथित समाधि की सिद्धि ईश्वर के प्रणिधान से होती है[1]—यह विवक्षित नहीं है वरन् असम्प्रज्ञात की कारणीभूत जो समाधि है वह भावना विशेष ही है, क्योंकि प्रणिधान की व्याख्या "तज्जपस्तदर्थभावनम्" (यो. सू. १।२८) इस आगे के सूत्र के द्वारा ही कर दिया गया है। जीवात्मविषयक प्रज्ञान्त एवं ईश्वर-विषयक-प्रज्ञान्त को ही योग का उपाय कहा गया है। असम्प्रज्ञात समाधि के साधनवर्णन प्रसङ्ग में श्रद्धावीर्य्य-स्मृति-समाधिप्रज्ञा[2] को साधन रूप में कहा गया है। इस सूत्र की व्याख्या में वार्त्तिककार ने कहा है कि देव मनुष्य को जन्म के ग्रहण मात्र से असम्प्रज्ञात समाधि नहीं होती है, किन्तु श्रद्धा से आरम्भ कर प्रज्ञापर्यन्त योगोपाय के अनुष्ठान से ही असम्प्रज्ञात समाधि होती है। इस स्थल में प्रज्ञा का विश्लेषण करते हुए वार्त्तिककार ने कहा है कि प्रज्ञा, समाधि योग का अन्तिम अङ्ग है। समाहित चित्त वाले व्यक्ति को प्रज्ञा—जीवतत्त्वसाक्षात्काररूपविवेक या ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कार रूप विवेक उत्पन्न होता है और इस विवेक से वह यथार्थ वस्तु को समझता है।[3]

जीवात्मविषयक एवं परमात्मविषयक प्रज्ञापर्यन्त योग के उपाय कहे गये हैं, इनमें जीवात्मविषयक प्रज्ञापर्यन्त उपाय अधिमात्र तीव्रसंवेग रूप साधन के समवधान में ही असम्प्रज्ञात समाधि उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु परमात्मविषयक प्रज्ञापर्यन्त उपाय से अधिमात्र तीव्रसंवेग के अभाव में भी असम्प्रज्ञात आसन्नतम रहता है। ईश्वरविषयक एवं जीवविषयक ये दोनों प्रज्ञायें असम्प्रज्ञात योग अर्थात् मोक्ष हेतु हैं, दोनों प्रज्ञायें देहादि अभिमान की निवर्तिका हैं, अतः परवैराग्य रूप द्वारत्व उभयत्र समान है; फिर भी परमात्मप्रज्ञा से अधिमात्र तीव्रसंवेग के अभ्यास के विना भी असम्प्रज्ञात योग की हेतुता होने से यह प्रज्ञा श्रेष्ठ है। इससे प्रत्यग् चैतन्य की अधिगति है और दोनों में सर्वथा व्यवधान का अभाव भी है; इसीलिए श्रुतिस्मृति इतिहास आदि ने सर्वत्र ब्रह्म ज्ञान को ही मोक्ष का साधन कहा है; जीव तत्त्वज्ञान की मोक्ष हेतुता विरल ही है। यदि दोनों की प्रज्ञा का समान ही विकल्प रहे तो इन श्रुतियों का अर्थ सर्वथा विरुद्ध हो जायेगा।

श्रुति में कहा गया है—उसी को जानकर अमरत्व को प्राप्त करता है अन्य मार्ग मोक्ष की प्राप्ति के लिए नहीं है "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था

---

१. यो० सू० साधनपाद दृ० २६५। २. यो० सू० पृ० ५६

३. तदेवं ... दिषयीकरोति। पृ० ६०

विद्यतेऽयनाय (श्वे० ६।१५, ३।८) उसी एक आत्मा को जानो, अन्य वाणी को छोड़ दो। यह अमरत्व का सेतु है "तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः" (मु० २।२।५)

स्मृति में भी कहा गया है कि—वह ईश्वर समष्टि रूप है, व्यक्त स्वरूप एवं अव्यक्त स्वरूप है। सभी का प्रभु है, सभी विशेष का वेत्ता है एवं समस्तशक्ति परमेश्वर स्वरूप है, जो दोषरहित शुद्ध, परात्मक, निर्मल, एक रूप है, उस परमात्मा का जो दर्शन करता है या अवगति करता है—वह ज्ञानी है; इससे अतिरिक्त अज्ञानी है। इस स्मृति के द्वारा ईश्वर विषयक ज्ञान ही मोक्ष का साधक कहा गया है।

जीव विषयक प्रज्ञा आसन्नतम योग के उत्पादन के लिए अभ्यास के अतितीव्रत्व की अपेक्षा रखती है किन्तु ईश्वर विषयक प्रज्ञा साक्षात् आसन्नतम योग का हेतु होने के कारण अभ्यास की अतितीव्रता की अपेक्षा नहीं करती है, इसमें किसी कारण विशेष की उपलब्धि या अपेक्षा नहीं होती है। पूर्वोक्त विषय के समर्थन के लिए ही भाष्यकार ने कहा है कि "प्रणिधानसे"। इसकी व्याख्या करते हुए वार्त्तिककार ने कहा है कि प्रणिधान ब्रह्मरूप से चिन्तन स्वरूप ही है। यह ईश्वर विषयक चिन्तन प्रेमात्मिका भक्ति है, उस भक्तिरूप प्रणिधान से ईश्वर को अभिमुख किया जाता है। ईश्वर के अभिमुख हो जाने पर ईश्वर की इस इच्छा मात्र से कि इस ध्यान करने वाले व्यक्तियों के लिए समाधि और मोक्ष आसन्नतम हो जाए, अर्थात् इस अनुग्रहात्मिका इच्छा मात्र से ही रोग और अशक्ति के कारण उपाय के अनुष्ठान की कमी होने पर भी एवं अधिमात्रतीव्र संवेग के कारणों के न रहने पर भी ध्याता का आनुकूल्य हो जाता है। इस तरह ईश्वर की इच्छा मात्र से प्रणिधान अर्थात् प्रेमात्मिका भक्ति की निष्पत्ति आदि के द्वारा योगियों के लिए समाधि आसन्नतम हो जाती है।[1]

विचारणीय है कि योग सिद्धान्त में प्रधान और पुरुष से अतिरिक्त अन्य तत्त्व को स्वीकार ही नहीं किया है, ऐसी स्थिति में प्रधान और पुरुष से अतिरिक्त यह कौन सा तत्त्व ईश्वर तत्त्व है ? ईश्वर को प्रधान नहीं माना जा सकता है। कारण, ईश्वर को चेतन माना है और प्रधान अचेतन है। पुरुष चेतन है अतः ईश्वर को पुरुष माना जाय तो यह भी समीचीन नहीं है। कारण, सभी पुरुष चिन्मात्र स्वरूप होने के कारण चिन्मात्र स्वरूप में स्वतः ईश्वरत्व और अनीश्वरत्व का होना सम्भव नहीं है। वैशेषिक दर्शन के अनुयायियों ने नित्य इच्छा ज्ञानादिविशिष्ट को ही ईश्वर स्वीकार किया है, यदि उसी प्रकार यहाँ भी स्वीकार किया जाय तो इसके उत्तर में यही कहना होगा कि प्रधान और पुरुष से अतिरिक्त स्वतन्त्र ईश्वर को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। वेदान्तादि सिद्धान्तों में अविद्यारूप

१. ब्रह्मात्मना······भवत इत्यर्थः। पृ० ६४

उपाधि के द्वारा ईश्वर स्वरूप की कल्पना की गई है, उसी प्रकार इस दर्शन में भी ईश्वर की भी सिद्धि हो सकती है, किन्तु यह भी कथन ठीक नहीं है। कारण, अतिरिक्त ईश्वर तत्त्व के स्वीकार करने की अपेक्षा उपाधि रहित अवस्था में चेतन पुरुष रूप जीव में ही ऐश्वर्य मानना चाहिए और इसी जीव का ऐश्वर्य मानकर तदनुसार श्रुति और स्मृति के कथन की उपपत्ति हो सकती है, अतः जीव से अतिरिक्त ईश्वर को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार प्रधान और जीव से अतिरिक्त ईश्वर नहीं है—इस मत का समर्थन करने वाले सांख्यदर्शन का मत खण्डन करते हुए वार्त्तिककार ने कहा है—पूर्वोक्त सांख्य के आक्षेप का खण्डन करने के लिए ईश्वर स्वरूप का विश्लेषण करने के लिए इस "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" (पा० सू० १।२४) सूत्र की अवतारणा की है। भाष्य में इसका उत्थापन इन शब्दों के द्वारा किया गया है—"कोऽयमीश्वरो नामेति" शाङ्करभाष्य में अध्यास की स्थापना प्रसङ्ग में भी इन्हीं शब्दों से अध्यास का उत्थापन किया गया था—"कोऽयमध्यासो नामेति"। "किम्" शब्द का प्रयोग, जिज्ञासा आक्षेप आदि अनेक अर्थों में होता है। प्रकृत में वार्त्तिककार ने "किम्" शब्द का प्रयोग आक्षेप अर्थ में स्वीकार किया है। आक्षेप से अभिप्राय यह है कि ईश्वर क्या है? अर्थात् ईश्वर कुछ भी नहीं है, यह निरूपण योग्य ही नहीं है। अर्थात् पूर्वपक्षियों के मत में ईश्वर कुछ भी नहीं है, इस आक्षेप का निराकरण करने के लिए आगे का सूत्र दिया है, अथवा किम् शब्द के द्वारा ईश्वर के लक्षण की जिज्ञासा की है, अर्थात् ईश्वर का क्या लक्षण है—यह जिज्ञासा की है; अतः ईश्वर का लक्षण सूत्रकार ने कहा है[1]।

क्लेश कर्म विपाक एवं आशय से अपरामृष्ट पुरुषविशेष ही ईश्वर है। अतः ईश्वर का पुरुष में अन्तर्भाव और इसकी उपाधि का प्रधान में अन्तर्भाव होता है। सांख्यमत के अनुसार सिद्ध जीव को लेकर ईश्वर की प्रतिपादिका जो श्रुति एवं स्मृति है उसकी उपपत्ति भी हो जायेगी, पूर्वोक्त आपत्तियों के निराकरण के लिए "अपरामृष्टः" एतत्पर्यन्त विशेषण दिया गया है, जीव के साथ क्लेशादि का सर्वथा असम्बन्ध नहीं रहता है, किन्तु ईश्वर के साथ क्लेशादि का कभी भी सम्बन्ध नहीं रहता है, अतः इतर मत सिद्ध जीव ईश्वर नहीं हो सकता है। कारण, योग में जो ईश्वर का स्वरूप प्रतिपादित किया है वह जीव में नहीं घटता है[2]।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश कहे गये है। धर्म=कुशल सुख के साधन है और अधर्म=अकुशल दुख के साधन है, अतः कुशल और अकुशल कर्म, धर्म और अधर्म है। कर्म का फल विपाक है और विपाक

---

१. क इत्याक्षेपे, अथ वा प्रकृतिपुरुषातिरिक्तस्येश्वरस्य किं लक्षणमिति प्रश्नेन लक्षणसूत्रमुत्थापयति। (वा० पृ० ६४)

२. क्लेश……अपरिमृष्टान्तं विशेषणम्। (वा० पृ० ६५)

जन्म, आयु और भोग हैं। भोग साक्षात् पुरुष को नहीं होता है। कारण वह शुद्ध चेतनस्वरूप है। अतः वार्त्तिककार ने कहा है कि विषय के सत्त्व आदि से चित्त का पोषण होता है अथवा यह शब्दाद्याकार वृत्ति हैं, सुखादि का अनुभव नहीं है। कारण, सुखादि का अनुभवरूप भोग पुरुष में सम्भव नहीं है। सुख आदि मन में रहते हैं, वह उस फल का भोक्ता है (स हि तत्फलस्य भोक्ता) इस कथन के द्वारा विपाक के फल सुख और दुःख का भोग पुरुष में ही रहता है। आशय से तात्पर्य चित्तभूमि में जो रहता है अर्थात् वासना के अर्थात् अनुगुण विपाक के कारण होता है, क्योंकि कर्म के द्वारा उस शरीर से साध्य भोगवासना का उद्बोधन करके ही विपाक कराता है। योगज फल के सम्पादक जो कर्म हैं, वे पूर्व में रहने वाले योगजभोगभावित भावना की अभिव्यक्ति के विना योगज के उचित भोग के जनक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि वासना ही विपाक के कारण होती है।

यहाँ पूर्वोक्त अपरिमृष्टान्त तो सभी पुरुषों में साधारण रूप से वर्त्तमान है, पुरुष पद्मपत्र के समान निर्लिप्त चेतन होने से बुद्धि में ही वर्त्तमान क्लेशादि का पुरुष में व्यपदेश होता है, अतः ईश्वर का यह लक्षण अतिव्याप्त है।

इसके उत्तर में वार्त्तिककार ने कहा है कि यह सत्य है कि क्लेश आदि चित्त के धर्म है, किन्तु युद्ध स्थल में राजाओं के सैनिक युद्ध के लिए उपस्थित होते हैं, वहाँ परस्पर युद्ध करते हुए उन्हीं व्यक्तियों में किसी की जय और पराजय होती है फिर भी जय और पराजय उस राजा की मानी जाती है, जिस राजा की वह सेना रहती है। भोक्ता स्वामी ही होता है, कारण स्वामित्व ही भोक्तृत्व है। धन का स्वामित्व जिस पुरुष में रहता है वही व्यक्ति धनी कहा जाता है। संयोग, समवाय आदि सम्बन्ध इसमें कारण नहीं है, वरन् स्वस्वामिभाव सम्बन्ध इस व्यवहार का नियामक है। इसी विषय की अभिव्यक्ति करते हुए समवाय सम्बन्ध से सुख आदि का आधार पुरुष नहीं है; वरन् समवाय सम्बन्ध से सुख, दुःख आदि चित्त में ही रहता है, किसी भी पुरुष में नहीं रहता है फिर भी सांसारिक पुरुष अर्थात् जीव में इसका व्यपदेश होता है। इस व्यपदेश का कारण स्वामित्व रूप भोक्तृत्व ही है। पुरुष का चित्त में प्रतिविम्ब होता है और क्लेशादि का फल सुखदुःख पुरुष में प्रतिविम्बित होते हैं, अतः वह उनका भोक्ता होता है। स्वस्वामित्व सम्बन्ध से भोग का आधार पुरुष होता है इसी में भाष्यकार ने राजा का उदाहरण प्रस्तुत किया है। अतः राजा के जयी के समान ही पुरुष क्लेशादिमान् , पुरुष सुखी, पुरुष दुःखी आदि व्यवहार होता है[1]।

यह विचारणीय है कि पूर्वोक्त दृष्टान्त में राजा और सेना का स्वस्वामिभाव पूर्व से क्लृप्त है, अतः राजा जयी आदि व्यवहार भी सङ्गत है। किन्तु प्रकृत में सुखादि के साथ पुरुष का पूर्व में समवाय सम्बन्ध नही है न अन्त में ही समवाय

१. वही पृ० ६५

है। अतः समवाय सम्बन्ध से पुरुष सुख दुःख आदि का आश्रय कैसे होता है? इस विषय के उत्तर में वार्त्तिककार नें कहा कि समवाय सम्बन्ध से पुरुष में सुख आदि का अवस्थान अविद्या के कारण हो जाता है। अविद्या के द्वारा दोनों में विवेक बुद्धि नहीं रहती है और फलस्वरूप पुरुष में समवाय सम्बन्ध से सुख दुःख आदि के न रहने पर भी "पुरुषः सुखी" "पुरुषः दुःखी" आदि व्यवहार उपपन्न होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि क्लेशसम्पर्क से शून्यता अन्य पुरुष में नहीं है, यह मात्र ईश्वर में है। यदि यह कहा जाय कि "भर्ता भोक्ता महेश्वरः" इस गीता के वचन से ईश्वर में ही भोग की सिद्धि होती हैं। ऋतं पिबन्तौ आदि श्रुतियों के अनुसार भी अभिमान पूर्वक मुख्यभोग रूप सुखादि अनुभव का ही प्रतिषेध होता है, लोक में भोग के द्वारा इसी का व्यवहार प्रतिपादित होता है। अथवा जीव-भोग्य दुःखादि के भोक्तृत्व का प्रतिषेध ही श्रुतिसे अभिमत हैं, दुःख-भोग ईश्वर से विलक्षण है-इसी को अपरामृष्ट शब्द से कहा गया है, सुखसाक्षिता-मात्र ही प्रकृत में ईश्वर का भोग है। जीवन्मुक्त का भी ईश्वर के समान ही भोग नहीं है, क्योंकि दुःख-भोगमात्र ही ईश्वर से विलक्षण है। इसी की अभिव्यक्ति क्लेश से अपरामृष्ट इसके द्वारा की गई हैं। यदि क्लेशादि से शून्य ईश्वरकी श्रुति और स्मृति के द्वारा इच्छा करनी चाहिए, यह विवक्षित हैं, तब कैवल्य ज्ञानप्राप्त किये हुए अनेक हिरण्यगर्भ आदि केवली जीवन्मुक्तों के अध्यक्ष क्लेशादि शून्य वर्तमान हैं, अतः वे ही ईश्वर मान लिए जाय तो क्या आपत्ति है? हिरण्यगर्भ आदि केवली तीन प्राकृतिक पूर्व स्थित बन्धनों का उच्छेद कर ही मुक्त होते हैं। अतः वे क्लेशादि परामर्शों से सदा शून्य नहीं हैं, किन्तु ईश्वर को सदैव क्लेशादि तीन बन्धनों से मुक्त श्रुति में कहा गया है। श्रुति में कहा गया है कि जो परमात्मा है वह नित्य निर्गुण है और जो कर्म पुरुष है वह मोक्ष या बन्ध से युक्त है। प्रकृत में निर्गुण शब्द से गुणाभिमानशून्य अर्थ कहा गया है। इसी विषय की अभिव्यक्ति नारद के वचनों से भी होती है—परमात्मा निर्गुण है और जीव अहङ्कार से युक्त है। ईश्वर और इच्छा का साम्य होने पर भी उसमें अनभिमान और अभिमान के द्वारा ही[1] निर्गुणत्व और सगुणत्व की सिद्धि होती है। अतः मुक्त जीव ईश्वर नहीं हो सकता है।

ईश्वर को अनेक मानने पर भी कोई दोष नहीं है, कारण ईश्वर में राग न होने के कारण परस्पर विरुद्ध इच्छा से सम्पन्न ये नहीं हो सकते हैं। यदि सभी ईश्वरों में एक समान इच्छा होती है, कभी भी विरुद्ध इच्छा नहीं होगी, तब एक ईश्वर की इच्छा के द्वारा ही कार्य हो सकता है, अतः अनेक ईश्वर को स्वीकार करना व्यर्थ ही होगा। किन्तु इस प्रसङ्ग में अनेक ईश्वर को मानने पर भी वे सब मिलकर एक प्रकार की इच्छा से कार्य करते हैं, अतः कोई दोष नहीं है। किन्तु, ऐसा मानने पर

१. पा० सू० भा० १।२५

कोई भी ईश्वर नहीं होगा। अनेक सभासदों के द्वारा कार्य किये जाने पर किसी एक का कर्तृत्व नहीं रहता है। यदि यह माना जाय कि अनेक ईश्वर होने पर भी वे एक साथ कार्य नहीं करते हैं, वरन् क्रमिक रूप में वे कार्य करते हैं। किन्तु ऐसा मानने पर ईश्वर का ऐश्वर्य नित्य कहा गया है, यह सम्भव नहीं होगा। अतः उनका कार्य क्रमिक नहीं हो सकता है। जो ईशना पूर्व दिन में कार्य करती है, वही आगे दिन भी कार्य क्यों नहीं करेगी ? ईशना नित्य है, अतः उसमें विरति नहीं हो सकती है। अनित्य ईशना मानने पर ईश्वर की सिद्धि ही नहीं हो सकती है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि वेद में सिद्ध एक ईश्वरवाद का समर्थन ही सभी दार्शनिकों के द्वारा होता है।

पातञ्जल दर्शन में ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं है, किन्तु वह अनादि सर्वज्ञ है। अतः न्याय-वैशेषिक में सिद्ध ईश्वर की सर्वज्ञता से योगदर्शन की सर्वज्ञता भिन्न है। पतञ्जलि ने सर्वज्ञता की सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण का निर्देश किया है[1]। ज्ञानत्व, निरतिशय-किसी वस्तु में आश्रित है, सातिशय वृत्ति जाति होने से। (ज्ञानत्वम्, निरतिशय-किञ्चिदाश्रितम्, सातिशयवृत्तिजातित्वात्) जैसे परिमाणत्व-जाति, सातिशय परिमाण-वृत्ति होने से वह निरतिशय विभुपरिमाण में समवेत रहती है, वैसे ही ज्ञानत्व जाति भी सातिशय हम लोगों के ज्ञान में भी समवेत है, अतः जो सातिशय है वह निरतिशय ज्ञान में = सर्व विषयक ज्ञान में भी समवेत है। समान जातीय दो व्यक्तियों में एक से दूसरी उत्कृष्ट होती है और अन्य अपकृष्ट रहती है। इसी प्रकार समान जाति की दो वस्तुओं में एक अतिशयित और दूसरी सातिशय होगी। घट परिमाण और शराव परिमाण एक जातीय है, शराव लघु (जलपात्र) का परिमाण अतिशयित और घट का परिणाम सातिशय है। सातिशय घट परिमाण में समवेत परिमाणत्व जाति गगनादि निरतिशय परिमाण में भी समवेत रहती है।

गगन आदि विभुद्रव्य का परिमाण निरतिशय है, परिमाणत्व जाति सातिशय वृत्ति होने से वह निरतिशय वृत्ति भी है। अतः इसी के समान ज्ञानत्व जाति भी निरतिशय ज्ञान-व्यक्ति में समवेत होगी। ज्ञान का उत्कर्ष विषय के द्वारा ही होता है। ज्ञान के विषय के आधिक्य से ज्ञान का उत्कर्ष सिद्ध होगा। ज्ञानत्व जाति सातिशयवृत्ति होती है, अतः यह निरतिशय वृत्ति भी होगी। सभी विषयों का ज्ञान सातिशय या उत्कृष्ट होगा, अतः सर्व-विषयक-ज्ञान ही निरतिशय हुआ। सातिशय व्यक्ति में रहने वाली जाति यदि निरतिशय व्यक्ति वृत्ति होती है तब सातिशय ज्ञानव्यक्तिवृत्ति-ज्ञानत्वजाति निरतिशय ज्ञान व्यक्ति वृत्ति होगी। निरतिशय ज्ञान ही सर्वज्ञ पुरुष का ज्ञान है[1]। ज्ञान गुण है, अतः उसका आश्रय अवश्य हो रहेगा। निरतिशय ज्ञान का आश्रय ही सर्वज्ञ है।

---

१. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् (पा० सू० भा० १।२५)

इस प्रकार ईश्वर के जगत् के कर्ता न होने पर भी ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध होती है। ईश्वर का सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व यद्यपि श्रुति में प्रतिपादित है, तथापि इस मत में पुरुष को अकर्ता मानने से पुरुषविशेष ईश्वर भी अकर्ता है। वाचस्पति मिश्र ने ईश्वर में संहार की इच्छा का प्रतिपादन किया है, किन्तु सृष्टि की इच्छा का प्रतिपादन नहीं किया है। ईश्वर में जगत् का कर्तृत्व माननेपर ही ईश्वर में सृष्टि की इच्छा के कारण जगत् की सृष्टि और संहार की इच्छा के कारण प्रलय होता है।

पातञ्जल मत में पुरुष विशेष अकर्ता है, फलतः ईश्वर जगत् का संहार करने वाला भी नहीं हो सकता है। वाचस्पति मिश्र ने यह भी कहा है कि यदि ईश्वर उपदेशकर्ता हो सकता है, तब जगत् का कर्ता होने पर क्या दोष है? उपदेष्टृत्व जिस प्रकार आहार्यरूप है वैसे ही स्रष्टृत्व भी आहार्यरूप रहेगी।

किन्तु न्यायवैशेषिक मत के समान पातञ्जल मत में ईश्वर नहीं है। कारण, सांख्य और पातञ्जल मत में प्रकृति ही स्वभावतः साम्यपरिणाम और वैषम्यपरिणाम प्राप्त करती है। किसी अन्य से प्रेरित होकर प्रकृति यह परिणाम प्राप्त नहीं करती हैं। व्यासभाष्य में कहा गया है कि दोनों प्रकार से इसकी प्रवृत्ति—प्रधानव्यवहार को लाभ करती है। सांख्यसिद्धान्त में कर्तृत्व गुणत्रय में ही है। प्रकृति में ही कर्तृत्व है, पुरुष में नहीं है। व्यासभाष्य में भी कहा गया है—कर्तृत्व तीन गुणों में और अकर्तृत्व पुरुष में है। अतः पातञ्जल मत में ईश्वर में जगत् का कर्तृत्व सम्भावित नहीं है। पुरुष चिन्मात्ररूप है, अतः उसमें कर्तृत्व सम्भव ही नहीं है। वाचस्पति मिश्र ने जो ईश्वर के कर्तृत्व की सिद्धि करने का प्रयास किया है, वह शैवसिद्धान्त के प्रति अनुराग के कारण कहा है। निर्गुण ईश्वर में यह सम्भव नहीं है। प्रलय दशा में ईश्वरीय चित्तसत्त्व प्रकृति में विलीन हो जाता है, अतः उस समय चित्तसत्त्व की वृत्ति नहीं होती है। व्यासभाष्य में कहा है—"स तु सदैवेश्वरः सदैव मुक्तः" (प० सू० १।२४) प्रलय में ईश्वरीय चित्त वृत्ति प्रकृति में विलीन होने पर ईश्वर में ऐश्वर्य भी स्थित नहीं रह सकेगा। ईश्वरीय चित्त प्रलय में प्रकृतिभाव प्राप्त कर पुनः ईश्वरीय चित्तरूप में प्रादुर्भाव रहकर प्रकृति में विलीन होता है—यही सत्कार्यवाद की मर्यादा है। प्रलयदशा में ईश्वरीय चित्तसत्त्व ज्ञानादि रूप में परिणत होने योग्य अवस्थित रहता है, अत एव ऐश्वर्य को नित्य कहा गया है। ईश्वरीय चित्तसत्त्व अप्राकृत है—यही मानना पड़ेगा। ईश्वरीय चित्तसत्त्व की प्रकर्षता ही ईश्वर का प्रकर्ष है। चैतन्य में स्वभावतः कोई प्रकर्ष या अप्रकर्ष नहीं हो सकता है। ईश्वरीय चित्तसत्त्व की प्रकर्षता से ही ईश्वरीय ज्ञान सर्व-विषयक है और इसीलिए ईश्वर में सर्वज्ञत्व है। ईश्वरीय चित्तसत्त्व की प्रकर्षता से ही ईश्वरीय ज्ञान सर्व-विषयक है और यही कारण है कि ईश्वर सर्वत्र और उपदेष्टा है।

इस प्रसङ्ग में योगभाष्यकार ने प्रणिधान शब्द का अर्थ भक्ति विशेष किया है।
१. मानस-भक्ति। २. वाचिक-भक्ति। ३. कायिक-भक्ति।

प्रणिधान के द्वारा अभिमुखीकृत योगियों पर अभिध्यान मात्र के द्वारा अनुग्रह करते है। अभिध्यान अनागत अप्राप्त अर्थ विषयिणी इच्छा है, अन्य उपायों के अनुष्ठान के विना भी ईश्वर के अभिध्यान से ही योगियों की आसन्नतम समाधि के साथ-साथ समाधि का फल भी सम्पन्न होता है।[1]

महामहोपाध्याय डॉक्टर योगेन्द्रनाथ वागची ने विश्लेषण प्रसङ्ग में लिखा है कि व्यास भाष्य के अनुसार कैवल्यावस्था में भी सुख की सत्ता मानी गई है, यह विषय सम्बन्ध जन्य नहीं हो सकता है, अतः प्रकारान्तर से आत्मा की ही सुखस्वरूपता सिद्ध होगी। ३।१८ वे सूत्र के व्यासभाष्य में कहा गया है कि योगाचार्य आवट्य ने भगवान् जैगीषव्य से जिज्ञासा की कि आपका बुद्धिसत्त्व किसी भी समय अभिभूत नहीं होता है, इसलिए आप विगत दश महासर्गों में नारक, तिर्यक् आदि योनियों में उत्पन्न होकर जिन दुःखों का अनुभव किया था एवं देव मनुष्य आदि योनियों में पुनः पुनः जन्मग्रहण कर जो अनुभव किया था, इनमें इन अतीत जीवनों के सुख और दुःख में किसे अधिक प्राप्त किया। इसके उत्तर में जैगीषव्य ने कहा कि मेरा बुद्धिसत्त्व किसी भी अवस्था में अभिभूत नहीं होता है, अतः मैं यह कह सकता हूँ कि विगत दश महासर्गों में नाना योनियों में उत्पन्न होकर जो कुछ भी अनुभव किया है वह सब दुःख का ही अनुभव किया है। आवट्य ने पुनः जिज्ञासा की कि इस समय आप प्रधानवशित्व की उपलब्धि कर अत्युत्तम सन्तोष सुख का अनुभव कर रहे हैं, क्या आप इस सुख को भी दुःख ही मानते हैं ? इसके उत्तर में जैगीषव्य ने कहा कि विषय सुख की अपेक्षा प्रधानवशित्व निवन्धन सन्तोष सुख उत्तम है—यह कहा गया है, किन्तु कैवल्य सुख की अपेक्षा यह सुख भी दुःख ही है, इस विश्लेषण से कैवल्य सुख की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध होती है—अतः पातञ्जलदर्शन में व्यास भाष्य की इन पंक्तियों के अनुसार मोक्ष की सुख-स्वरूपता ही सिद्ध है।

सांख्य और ईश्वर :—

सांख्य और योग को समान कोटि में रखने पर भी सांख्यमत में ईश्वर नहीं है और योग में ईश्वर है। किन्तु सांख्यकारिका की व्याख्या के प्रसङ्ग में युक्तिदीपिका में कहा गया है कि वेदवाक्य के अनुसार मूर्तिमान् ईश्वर को यदि माना गया है तब सांख्यमत में ईश्वर का अस्तित्व ही सिद्ध होता है। ईश्वर के विना उसकी मूर्ति कैसे सम्भव है ? "नहि असतो मूर्तिमत्त्वमुपपद्यते" (यु० दी० पृ० ७) इस प्रसङ्ग में टीकाकार का कथन है कि सर्वथा भगवान् की शक्ति विशेष का प्रत्याख्यान नहीं है। ईश्वर-माहात्म्य शरीर आदि धारण करता है, किन्तु प्रधान और पुरुष से

---

१. "प्रणिधानाद् = भक्तिविशेषान्मानासद्वाचिकात्कायिकाद्वाऽऽवर्जितः = अभिमुखीकृतस्तमनुगृह्णाति, अभिध्यानम् = अनागतेऽर्थ इच्छा, इदमस्याभिमतमस्त्विति, तन्मात्रेण न व्यापारान्तरेण।" (त० वै० पृ० ६३, ६४)

अतिरिक्त ईश्वर है, वह प्रधान और पुरुष का प्रयोक्ता प्रेरयिता है—यह नहीं मानता हूँ। इस रूप में ईश्वर नहीं मानता हूँ—इसका अर्थ ईश्वर को नहीं मानता हूँ—यह कैसे हो सकता है ? अतः श्रुतिसिद्ध ईश्वर महात्म्य शरीर आदि मैं मानता हूँ। (यु० दी० पृ० ८७)

पातञ्जल योगदर्शन में कहा गया है कि "निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरण-भेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्" (पा० सू० ४।३) जगत् की सृष्टि में प्रकृति का स्वातन्त्र्य है। जड प्रकृति पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए जगत् के रूप में परिणत है। स्वतन्त्र होने के कारण प्रकृति के कार्य के लिए प्रेरक की आवश्यकता नहीं है। निर्माता न होने पर भी वह जगत् का आदि गुरु उपदेष्टा है। "सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" (यो० सू० १।२६) वेद ईश्वर वाक्य है, अतः, वेद को ईश्वर निर्मित अवश्य मानना पड़ेगा। अतः प्राणि मात्र के हित का उपदेश करने वाला अवश्य ही सर्वज्ञ होगा, असर्वज्ञ पुरुष सभी के यथार्थ हित का शासन नहीं कर सकता है। राग द्वेष शून्य सभी वस्तु का यथार्थ ज्ञाता ही उपदेष्टा हो सकता है, यही कारण है कि पूर्वोक्त सूत्र के द्वारा स्वतन्त्र रूप से ईश्वर की सर्वज्ञता प्रतिपादित की गई है। इस मत में ईश्वर की चर्चा ही क्या योगियों को भी सर्वज्ञ माना गया है।[1] अन्तर इतना ही है कि ईश्वर अनादि सिद्ध सर्वज्ञ है और योगी अपनी साधना के बल पर सर्वज्ञता सम्पादन करते है। बौद्धमत में सर्वज्ञता बुद्ध की मानी गई है, किन्तु यह सर्वज्ञता सम्पादित हैं, अनादि नहीं है।

प्रमाण और वृत्तियाँ:—

प्रमाण के विना किसी भी पदार्थ का निश्चय नहीं होता है, "प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि" यह शास्त्र का उद्घोष है।

सांख्ययोग और प्रमाण:—

विषयके साथ इन्द्रियका सम्बन्ध होने पर या व्याप्ति आदि ज्ञानों से बुद्धि की विषयाकार परिणति ही प्रमाण है। विषयके आकार और प्रकार के अनुरूप ही चित्त का आकार होता है। निश्चयरूपा चित्तवृत्ति ही अर्थ में बुद्धिवृत्ति है। सन्देहरहित अबाधित एवं अनधिगत ही प्रमाण का विषय होता है। संशयपूर्ण ज्ञानके बाद जिस विषय का बाध होता है एवं जो एक बार ज्ञान का विषय हो गया है–ऐसा पदार्थ कभी भी प्रमाण ज्ञान का विषय नहीं होता है। विषयाकार में परिणत चित्तवृत्ति में चिन्मय पुरुषके फल स्वरूप पुरुष सम्बन्धी ज्ञानकी उत्पत्ति ही प्रमा है। प्रमाज्ञान का साधन ही प्रमाण है। विषय का ज्ञान होने पर उस

---

१. तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयक्रमञ्चेति विवेकजं ज्ञानम्। (पा० सू० ३।५४)

प्रमेय का जिस पुरुष को ज्ञान होता है वही प्रमाता है। इस प्रमाण के चार अङ्ग है—प्रमाता, प्रमा, प्रमेय और प्रमाण। संशय, विपर्यय एवं स्मृतिकी साधिका बुद्धिवृत्ति प्रमाण नहीं है। संशय साधक बुद्धिवृत्ति का विषय सन्दिग्ध, विपर्यय साधन बुद्धिवृत्ति का विषय ज्ञान की उत्पत्ति के बाद ही बाधित होता है, स्मृति साधनबुद्धिवृत्ति का विषय पूर्व से ज्ञात है। "तच्चासन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः। बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा। तत्साधनं प्रमाणमिति। एतेन संशय-विपर्ययस्मृतिसाधनेषु न प्रसङ्गः। (सां. का. ४)

सांख्ययोगदर्शन में तीन प्रमाण हैः—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द[1]।

प्रत्यक्षप्रमाणः—"प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्" यह प्रत्यक्षलक्षण ईश्वरकृष्ण ने कहा है। जिस स्वरूप से ज्ञान निरूपित होता है उसको विषय कहा जाता है। विषय शब्द उपलब्धि का कर्म है। बाह्य और आन्तर भेद से विषय दो प्रकार का है। शब्द, रूप, रस आदि बाह्य विषय हैं। सुख, दुख आदि आभ्यन्तर विषय हैं। विशेष और अविशेष के भेद से पुनः दो प्रकार का है। स्थूल पृथिवी साधारण ज्ञान का विषय है। सूक्ष्म तन्मात्र आदि योगियों के ज्ञान का विषय है।

विषिण्वन्तीति विषयाः शब्दादयः अथ वा विषीयन्ते उपलभ्यन्त इत्यर्थः। ते च द्विविधाः—विशिष्टाः पृथिव्यादिलक्षणा अस्मदादिगम्याः, अविशिष्टाश्च तन्मात्र-लक्षणा योगिनामूद्ध्‍र्वस्रोतसां च गम्याः"। (यु. दी. पृ. ४)

पूर्वोक्त लक्षण में "विषयं विषयं प्रति वर्तत इति प्रतिविषय शब्द का अर्थ इन्द्रिय होता। विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर इन्द्रिय में विषय का प्रतिबिम्ब होता है। प्रतिबिम्ब विशिष्ट इन्द्रिय बुद्धि से सम्बद्ध होती है। त्रिगुणा-त्मक अहङ्कार की सत्त्वगुण प्रधान अवस्था से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। सात्त्विक इन्द्रिय के सम्बन्ध के फलस्वरूप बुद्धि के आवरणात्मक तमोगुण का अभिभव और सत्त्वगुण की प्रबलता से बुद्धि विषय के आकार में परिणत होती है। ऐसा विषय है" यह अध्यवसायात्मक वृत्ति होती है। बुद्धि की विषयाकार में परिणति ही अध्यवसाय है। अचेतन प्रकृति से उत्पन्न बुद्धितत्त्व अचेतन है और उसका परिणाम भी घटादि के समान ही अचेतन है। चन्द्रबिम्ब के समान बुद्धितत्त्व स्वभाव से प्रकाशरहित है। चेतन के सम्बन्ध के बिना जडवस्तु का प्रकाश सम्भव नहीं है। अतः सत्त्वाधिक्य के कारण स्वच्छ विषयाकार में परिणत बुद्धिवृत्ति में चिन्मय पुरुष के प्रतिबिम्ब की कल्पना है। चेतनपुरुष के साथ अभिन्नता के कारण पुरुष-धर्मचैतन्य से बुद्धि एवं उसका अध्यवसाय चेतन के समान होता है। यह प्रकाश-स्वरूप बुद्धिवृत्ति ही दृष्ट या प्रत्यक्ष शब्द से कही जाती है। यही प्रत्यक्षप्रमाण है। बुद्धिवृत्ति में पुरुष का प्रतिबिम्ब होने से पुरुष में बुद्धि स्वरूपता का आरोप होता है। अन्तःकरण वृत्ति के साथ अविशिष्ट पुरुष की अन्तःकरण वृत्ति का ज्ञान होता है।

---

१. प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि। (यो० सू० १।७)

इसलिए बुद्धि तत्त्वगत ज्ञान सुखादि के द्वारा पुरुष अपने को ज्ञानी, सुखी, दुःखी समझता है। वस्तुतः पुरुष ज्ञान सुख आदि से असम्पृक्त है। सरोवर के जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ने पर जल में उत्पन्न तरङ्ग से सूर्य तरङ्गयुक्त प्रतीत होता है— वही स्थिति यहाँ भी है। प्रमाण प्रयुक्त चेतना शक्ति का अनुग्रह ही फल या प्रमा है। अनादि अविद्या के कारण पुरुष के साथ बुद्धि का सम्बन्ध होता है और सुख-दुख आदि का भोग होता है। वाचस्पतिमत में विषयाकार परिणत बुद्धि वृत्ति ही प्रमाण है। जिस विषयके आकार में बुद्धि परिणत होती है वही प्रमेय या ज्ञेय है। विषय के सम्बन्ध से पुरुष का ज्ञान प्रमा है। बुद्धितत्त्व में कर्तृत्व रहता है, बुद्धि प्रतिबिम्बित पुरुष कर्तृत्वशून्य होकर भी कर्त्ता के रूपमें प्रतीयमान होता है।[1]

विज्ञान भिक्षु के मत में नियत विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है। इन्द्रिय के द्वारा विषय के साथ बुद्धि का सम्बन्ध होने से बुद्धि विषयाकाररूप में परिणत होती है। विषयाकार रूप में परिणत बुद्धि की इस अवस्था को बुद्धिवृत्ति कहा जाता है। विषयाकार परिणत होने के साथ-साथ बुद्धि पुरुष में प्रतिफलित होती है। यह घर है, यह पट है केवल विषय का ज्ञान उत्पन्न होता है। इस समय ज्ञान का या ज्ञाता का प्रकाश नहीं होता है। 'मैं घट जानता हूँ' इस रूप में ज्ञान का ज्ञान उत्पन्न होने के लिए तादृश ज्ञान प्रयुक्त ज्ञातृस्थानीय पुरुष का ग्रहण आवश्यक है। पुरुष का ग्रहण चित्त की पुरुषाकार वृत्ति के द्वारा सम्भव होता है। कारण, पुरुष ही द्वितीय ज्ञान का विषय एवं पुरुषरूप विषय का ज्ञान तदाकार चित्तवृत्ति के द्वारा सम्भव होता है। चित्त का पुरुषाकार परिणाम होने पर "घट-महं जानामि" यह ज्ञान सम्भव नहीं है। क्योंकि चित्त जडस्वरूप है, जडवस्तु का स्वयं कोई ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः, भिक्षु के मत में सभी ज्ञान पुरुषरूप अधिकरण में सम्भव है, क्योंकि पुरुष चैतन्य स्वभाव है। ये पाँच वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट के भेद से दो प्रकार की हैं। जीव को क्लेश सम्पादक वृत्तियाँ क्लिष्ट हैं और इसके विपरीत वृत्तियाँ अक्लिष्ट हैं।

---

1. In external perception the senses move forward to meet the objects and when contact occurs the sourses are transformed into the shape of the objects. The mind (Buddhi) is then automatically transformed into the shape of the objects, But the sense and mind being both unconcious their transformation cannot be terned Knowledge. It is he spiritual illumination of the mental form which makes Knowledge possible.

(Dr. S. Mookerji Hist. of Phil. Eastern and Western p. 254)

निर्दिष्ट वृत्तियों में प्रमाणवृत्ति तीन प्रकार की है।

१—प्रत्यक्ष प्रमाणवृत्ति।

२—अनुमान प्रमाणवृत्ति।

३—आगम या शब्द प्रमाणवृत्ति।

इन्द्रियाँ नाडी अर्थात् चित्त के सञ्चरण का मार्ग है। इन्द्रियों के द्वारा बाह्य-वस्तु के साथ चित्त का सम्बन्ध होता है। विषयों के साथ संयुक्त होकर बाह्यवस्तु के साथ उपरक्त चित्त इन्द्रिय के साथ अर्थाकार परिणत होता है[1]। बुद्धि की वृत्ति अध्यवसाय अर्थात् निश्चयात्मक है, अभिमानात्मिका वृत्ति अहङ्कार की एवं सङ्कल्प और विकल्प मन की वृत्ति है। विकल्प संशय है या योगोक्तभ्रम विशेष है, विशिष्ट ज्ञान नहीं है, क्योंकि, वह बुद्धि वृत्ति है। बाह्यवस्तु सामान्य और विशेषात्मक है। वस्तु का नाम जाति आदि से रहित साधारण स्वरूप है। वस्तु गत गुण, क्रिया जाति आदि विशेष धर्म है। बाह्यवस्तु सामान्य विशेषात्मक होने पर भी विशेष के साथ इन्द्रिय की सहायता से चित्त का सम्बन्ध होने से वस्तु-का गुण, जाति, क्रिया आदि विषय में विशेषावधारण युक्त होकर चित्त विषय के आकार में परिणत होता है। यह चित्तवृत्ति ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रत्यक्ष प्रमाण में वस्तु का सामान्यरूप प्रतिभात होने पर भी विशेष अवधारण में वह गौणत्व को प्राप्त करता है। इसके बाद चित्तवृत्ति के साथ अविशिष्ट पुरुष का चित्तवृत्ति बोध होता है। वस्तु का गुण क्रिया, जाति आदि विशेष परिचय युक्त होकर चित्त में विषयाकार वृत्ति उत्पन्न होती है, इस कथन से अनुमान और आगम से प्रत्यक्ष प्रमाण को पृथक् किया है। अनुमान और आगम प्रमाण में वस्तु सामान्य रूप में प्रतिभात होती है; विशेष रूप में नहीं होती है।

"इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्, फलविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिर्बोधः[2]।

प्रत्यक्ष के समय योगभाष्यकार की दृष्टि से विकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है। विज्ञानभिक्षु भी इसी मत का पोषण करता है। वाचस्पति के मत में प्रत्यक्ष-ज्ञान-काल में प्रथम में निर्विकल्पक ज्ञान एवं बाद में सविकल्पकज्ञान उत्पन्न होता है।[3]

---

१. इन्द्रियाण्येव नाडीचित्तसञ्चरणमार्गः, तैः संयुज्य तद्गोलकद्वारा बाह्यवस्तुषूपरक्तस्य चित्तस्येन्द्रियसाहित्येनैवार्थाकारः परिणामो भवति।

(यो० वा० १।७)

तथा च बुद्धेर्वृत्तिरध्यवसायः, अभिमानोऽहङ्कारस्य, सङ्कल्पविकल्पौ च इत्यायातम्।···तस्य बुद्धिवृत्तित्वात्। (सां० प्र० भा० २।३०)

२. यो० भा० १।७

3. The explaination of vyāsabhāṣya explicitly makes perceptual intuition determinte.

(Hist. of Phil. Eastern and westean Vol. I. p. 255)

जिस प्रकार "अयं घटः" यह ज्ञान घटाकारचित्तवृत्ति का पुरुष में प्रतिबिम्बन होने पर ही सम्भव होता है। उसी प्रकार पुरुषरूप विषय का ज्ञान भी पुरुषाकार चित्तवृत्ति का पुरुष में प्रतिबिम्बन होने पर ही सम्भव है। इसलिए "अयं घटः" इत्यादि ज्ञानयुक्त पुरुष चित्त में प्रतिफलित होता है एवं चित्त पुरुषाकार को ग्रहण करता है। पुरुषाकार में आकारित चित्तवृत्ति जब पुरुष में प्रतिफलित होती है, तब "अहं घटं जानामि" इत्यादि ज्ञान और ज्ञाता का ज्ञान होता है[1]।

चिन्मय एवं विभु होने पर भी पुरुष को सदा सभी पदार्थों का ज्ञान नहीं होता है, कारण, पुरुष असङ्ग है। उसकी अर्थाकारता, स्वाभाविक नहीं है। अर्थाकारता के विना केवल संयोग से अर्थ का ग्रहण नहीं होता है। जलादि में रूपवान् पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब होता है, रूप के बिना प्रतिबिम्ब नहीं होता है। पुरुष का भी इसी प्रकार विषयोपरक्त अपनी अपनी बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्ब होने पर ही पुरुष को विषयका ज्ञान होता है।[2] भोग शब्द का अर्थ आत्मसाक्षात्कार होता

---

1. Vijñanabhikṣu asserts that apprehentīon is possible only through transformation of the mind. The mind can perceive an object whose shape it assumes. But mental transformation is perceived only when it is reflected in the Puruṣa. All cognition takes place in the being of Puruṣa and not in the mind. This primary reflection of the mental form of the object constitutes objective cognition viz. "This is a jar" As regards the subjective Judgement "I Know the jar" it requires another process. In this judgment the Subject is as much a content as the object. But as cognition of an object is possible only through a Corresponding mental transformation on, the Knowledge of the Subject. I can occur only when the mind is transformed into the form of the 'I: And this transformation is imaged in the pure Spirit, thus Knowledge 'I Know the jar' takes place. Here instead of one reflection we have got two, and according two mental modifictions. Hist. of Philosophy pp. 254–255

२. एतेन पुरुषाणां कूटस्थविभुचिद्रूपत्वेऽपि न सर्वदा सर्वाभासनप्रसङ्गः। असङ्गतया स्वतोऽर्थाकारत्वाभावात्। अर्थाकारतां विना च संयोगमात्रेणार्थ-ग्रहणस्यातीन्द्रियादिस्थले बुद्धावदृष्टत्वादिति। पुरुषे च स्वस्वबुद्धिवृत्तीनामेव प्रतिबिम्बार्पणसामर्थ्यमिति फलबलात् कल्प्यते; यथा रूपवतामेव जलादिषु प्रतिबिम्बनसामर्थ्यं नेतरस्येति। (सां० भा० १।८७)

है। यह भोग देह से चेतन जीवपर्यन्त सभी का साधारण धर्म है। किन्तु पुरुष अपरिणामी होने से प्रतिविम्ब ग्रहण ही उनका भोग है। देह आदि सभी पदार्थ परिणामी है, पुष्टिसाधन आदि ही परिणामी पदार्थ का भोग है। यह परिणाम रूप पारमार्थिक भोग पुरुष में सम्भव ही नहीं है। अतः विज्ञानभिक्षु के मत में चेतन पुरुष प्रमाता या ज्ञाता है। विषयाकार में परिणत बुद्धिवृत्ति प्रमाण हैं। विषयोपरक्त बुद्धिवृत्ति का पुरुष में प्रतिविम्बपात प्रमा या ज्ञान है। जिस विषय के आकार में बुद्धि परिणत होती है—वही प्रमेय या ज्ञेय है; बुद्धि के इस अर्थाकार रूप परिणाम को पुरुष देखता है—अतः यह साक्षी भी कहा जाता है। इस प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि विषय का ज्ञान केवल सन्निकर्ष के द्वारा ही नहीं होता है, अपितु सन्निकर्ष के फलस्वरूप चित्त का विषयाकार परिणाम ही उस ज्ञान का हेतु है। विषय बाह्य हो या आभ्यन्तर विषयाकार में परिणत चित्त वृत्ति का चैतन्य स्वभाव पुरुष में प्रतिबिम्बित होने पर ही ज्ञान होता है। दूसरी दृष्टि से चित्तवृत्ति पुरुष में प्रतिविम्बित होती है एवं पुरुषाधिकरण में ही ज्ञान उत्पन्न होता है, अन्तःकरण में या अन्तःकरण वृत्ति में नहीं होता है।

आचार्य वाचस्पति के मत में विषयाकार परिणत चित्तवृत्ति में पुरुष प्रतिफलित होता है। पुरुष का प्रतिविम्ब पुरुष के समान स्वच्छ स्वभाव और प्रकाशवत्त्व धर्म विशिष्ट होने से विषय-वृत्ति एवं अन्तःकरणावच्छिन्न पुरुषप्रतिविम्बस्वरूप ज्ञाता का एक साथ प्रकाश होता है। इस मत में विषयाकार वृत्ति होने पर उसमें पुरुष प्रतिविम्बन अवश्यम्भावी है एवं प्रतिविम्बित चैतन्य ज्ञेय (विषय) ज्ञान (चित्तवृत्ति) एवं आत्मस्वरूप ज्ञाता को एक साथ प्रकाशित करता है। 'अयं घटः' एवं 'घटमहं जानामि' इस प्रकार का ज्ञान एक समय में उत्पन्न होता है[1]। त्रिपुटी प्रकाशवादी प्रभाकर के मत में भी ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता एक समय में ही प्रकाशित होता है। 'अयं घटः' 'अहं घटं जानामि' ये दोनों ज्ञान स्वरूपतः अभिन्न है वक्ता के तात्पर्य एवं विवक्षा के अनुसार भिन्न आकार में ज्ञान प्रकाशित होता है।

---

1. The former (Vācaspati) holds that the mind and its modifications being extremely clear and mirror like owing to the preponderance of the Sattva element is the closest possible analogue of Pure spirit and so it at once catches the reflection of thr Spirit and then becomes the consious as it were. This constitutes Knowledge. So every case of perceptual intuition is a Judgement of the form 'it is a jar' and 'I know it so' This is called the theory of single reflection.

(Hist. of Phil.—Eastern and Western p. 245)

इस प्रसङ्ग में विज्ञान भिक्षु ने वाचस्पति के सिद्धान्त का खण्डन किया है। इनका कथन है कि बुद्धिवृत्ति में चेतन पुरुष का प्रतिबिम्ब पतन के फलस्वरूप बुद्धि एवं उसका अध्यवसाय चैतन्यमय हो जाता है-यह समीचीन नहीं है। क्योंकि प्रतिबिम्ब तुच्छ है। चेतनपुरुष का प्रतिबिम्ब चेतनामय नहीं है, अतः,इस प्रतिबिम्ब से बुद्धिवृत्ति चैतन्य को लाभ नहीं कर सकती है। बुद्धि में केवल पुरुष के प्रतिबिम्बपात से पुरुष का भोग सम्भव नहीं है। पक्षान्तर में चेतनपुरुष में विषयाकार में परिणत बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्ब होने से पुरुष के साथ उसका यथार्थ सम्बन्ध होता है—यही मत समीचीन है। इसके उत्तर में वाचस्पति का कहना है कि बुद्धि के साथ पुरुष का देशगत और कालगत संयोग नहीं हो सकता है। बुद्धि और पुरुष के सान्निध्य का अर्थ विशिष्ट योग्यता है; पुरुष की भोक्तृत्वयोग्यता एवं बुद्धि की भोगत्व योग्यता है। इस योग्यता के फलस्वरूप पुरुष के निर्विकार होने पर भी प्रकृति के पाश में वह आवद्ध होता है एवं बुद्धि के साथ अविशिष्ट होकर भी बुद्धिवृत्ति को अपने ऊपर आरोपित करता है। किन्तु विज्ञान भिक्षु का कहना है कि इस प्रकार विशिष्ट योग्यता मानने पर पुरुष की मुक्ति सम्भव नहीं होगी। क्योंकि मुक्तिकाल में भी पुरुष में यह योग्यता वर्तमान रहेगी। इस योग्यता से पुरुष को अलग नहीं किया जा सकता है। इसलिए पुरुष सदा बुद्धिगत सुख दुःख का भोग करता रहेगा। विज्ञान भिक्षु का कहना है कि ज्ञान काल में पुरुष के साथ बुद्धि का प्रकृत संयोग स्थापित होता है—यह मानना पड़ेगा। बुद्धि में पुरुष प्रतिबिम्बपात के फलस्वरूप बुद्धि ही सभी विषयों की ज्ञाता है। क्योंकि, इच्छा और ज्ञान का सामानाधिकरण्य यहाँ रहता है, दूसरी बात यह है कि ज्ञान अन्य का प्रवृत्ति अन्य की—यह दोष होगा। वाचस्पति की इस उक्ति को भी नहीं मानते है।

इनका कथन है कि बुद्धि में ज्ञातृत्व स्वीकार करने पर सिद्धान्त का विरोध होगा, क्योंकि चेतन पुरुष में बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्ब ही भोग है, इससे अतिरिक्त बुद्धि में ही पुरुष का भोग स्वीकार करने पर पुरुष के अस्तित्व में ही प्रमाण का अभाव सिद्ध होगा। विम्ब रहने पर ही प्रतिबिम्ब पड़ेगा, अतः, प्रतिबिम्ब के द्वारा ही बिम्बरूप पुरुष का अस्तित्व प्रमाणित होगा—यह नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि अन्योऽन्याश्रय दोष होगा। बिम्ब का पृथक् अस्तित्व स्वीकार करने पर बुद्धिस्थ चेतन की प्रतिबिम्बता सिद्ध होती है, प्रतिबिम्ब-भाव सिद्ध होने पर उसके प्रतियोगी के रूप में बिम्ब सिद्ध होता है। अतः, बिम्ब की सिद्धि से प्रतिबिम्ब की सिद्धि एवं प्रतिबिम्ब की सिद्धि से बिम्ब की सिद्धि, इस प्रकार विम्ब और प्रतिबिम्ब परस्पर आश्रयी हो गये, अतः अन्योऽन्याश्रय दोष होगा। भिक्षु का कथन है कि ज्ञाता के रूप में ही पुरुष का अस्तित्व सिद्ध होता है, पुरुष का ज्ञेयत्व अन्य प्रकार से सम्भव न होने से बुद्धि में पुरुष के प्रतिबिम्ब की

कल्पना करनी होगी। अतः, अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं होता है। एक ही समय पुरुष के पक्ष में ज्ञाता और ज्ञेय होना सम्भव नहीं है। आत्मदर्शन के लिए बुद्धि में पुरुष के प्रतिबिम्ब की कल्पना आवश्यक है, बुद्धिवृत्ति के साक्षी के रूप में चेतन पुरुष का अस्तित्व प्रमाणित होता है—यह मानने पर साक्षिस्वरूप को ही ज्ञाता के रूप में मानना उचित है। बुद्धि और पुरुष दोनों को ज्ञाता मानने पर कल्पना गौरव होगा। बुद्धिवृत्ति ज्ञान और घट ज्ञान सामानाधिकरण्य रूप में ही अनुभूत होता है। इससे अतिरिक्त भोक्ता के रूप में पुरुष का पृथक् अस्तित्व प्रमाणित होता है। बुद्धि को भोक्ता के रूप में ग्रहण करने पर उक्त सिद्धान्त व्याहत होता है। बुद्धि में चिन्मय पुरुष के छाया रूप सम्बन्ध से बिम्बरूप पुरुष का ज्ञान होता है। अतः, पुरुष में बुद्धि के प्रतिबिम्ब की कल्पना का प्रयोजन नहीं है—यह भी सङ्गत नहीं है। क्योंकि, सूर्यादि का प्रतिबिम्ब रूप सम्बन्ध से जलादि और जलादिस्थित वस्तु प्रकाशित नहीं होती है, वरन् सूर्य की किरण से ही उनका प्रकाश होता है। इसलिए चिन्मय पुरुष में बुद्धिवृत्ति के प्रतिबिम्ब से सभी वस्तुओं का प्रकाश होने से विज्ञान भिक्षु पुरुष में बुद्धि के प्रतिबिम्ब की कल्पना करते हैं। इस सिद्धान्त में एक के ज्ञान में अन्य की प्रवृत्ति रूप दोष होता है, फलतः ज्ञान और प्रवृत्ति का वैयधिकरण्य प्रमाणित होता है। एक व्यक्ति शस्य उत्पन्न करता है और अन्य लोक में उसका भोग करता है, बुद्धि के सङ्कल्प से देह की क्रिया होती है, प्रकृत में इसी प्रकार संयोग विशेष आदि विशेष नियामक है।

अनुमानः—व्याप्यव्यापक भाव ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान अनुमान है। व्याप्य-व्यापक भाव अर्थ में वस्तु का स्वभाव निबन्धन नियत सम्बन्ध रहता है। जिस वस्तु का स्वभाव सिद्ध नियत सम्बन्ध है वह वस्तु उसकी व्याप्य होती है। वह्नि के साथ धूम का स्वाभाविक नियत सम्पर्क रहने के कारण धूम व्याप्य है और वह्नि व्यापक है। धूम जहाँ भी रहेगा वहाँ वह्नि रहेगी। अतः धूम का यह स्वभाव हो जाता है कि वह वह्नि का सम्बन्ध त्याग नहीं कर सकता है। यह नियत स्वभाव सम्बन्ध ज्ञान ही व्याप्यव्यापकभाव ज्ञान है। व्याप्य का ही नामान्तर हेतु या लिङ्ग है। व्यापक का अन्य नाम साध्य और साधन योग्य है। जहाँ अनुमान किया जाता है अर्थात् जिसमें साध्य की सिद्धि की जाती है-वह पक्ष कहा जाता है; अर्थात् साध्यका या प्रतिज्ञा का आधार या आश्रय कहा जाता है। जैसे पर्वत, वह्निमान् है, धूमवान् होने से, यहाँ धूम व्याप्य है, वह्नि व्यापक है और जिस स्थान में वह्नि का धूम से अनुमान हो रहा है वह आश्रय पर्वत पक्ष है। व्याप्य वस्तु की पक्ष में स्थिति—यह ज्ञान पक्षधर्मता ज्ञान है, व्याप्यव्यापक-भाव और पक्ष-धर्मता-ज्ञान से उत्पन्न बुद्धिवृत्ति को अनुमान प्रमाण कहा जाता है। व्याप्यव्यापकभाव एवं पक्ष-धर्मता ज्ञान से पर्वत स्थित वह्नि नयन-गोचर

न होने पर ज्ञान गोचर होती है। वह्नि का ज्ञान या उपलब्धि ही अनुमिति है, इस उपलब्धिकी हेतु चित्तवृत्ति है वही अनुमान है।

योगभाष्य में अनुमान का लक्षण इस प्रकार कहा है। जिज्ञासित धर्म युक्त पक्ष अनुमेय है। इस अनुमेय का तुल्य जातीय में अनुवृत्त एवं भिन्न जातीय में व्यावृत्त सम्बन्ध अर्थात् हेतु से जो बुद्धिवृत्ति उत्पन्न होती है—वही अनुमान है।

"अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्। यथा देशान्तरप्राप्तेर्गतिमच्चन्द्रतारकम्, चैत्रवद्, विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगतिः"। देशान्तरप्राप्तेर्गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवद्, विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगतिः। प्रकृत में चन्द्रतारक पक्ष है, गतिमत् चन्द्रतारकम् अनुमेय है, देशान्तरप्राप्तेः हेतु है। चैत्रवत् यह उदाहरण है। चैत्र के समान चन्द्रमा और तारा एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन करते हैं, अतः वे गतिमान् है, विन्ध्य पर्वत एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन नहीं करता है, अतः वह गतिहीन है, अनुमान का स्वरूप निम्नलिखित है–चन्द्रादिकम्, गतिमत्, देशान्तर-प्राप्तेः, यद् यत् तादृशप्राप्तिमत् तत्तद् गतिमत् यथा चैत्रादि। यद् यद् गतिमन्न, तत् तत् तादृशप्राप्तिमदपि न, यथा विन्ध्यादि। अनुमान में वस्तु का सामान्यरूप से ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण में वस्तु का विशेष रूप से ज्ञान होता हैं, वस्तु का विशेषात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणलभ्य है। हेतु और साध्य का अविनाभाव-सम्बन्ध अनुमान से पूर्व अवश्य रहना चाहिए। योगसूत्र में इस विषय पर अधिक विवेचन नहीं किया गया है।[1]

शब्द-प्रमाण :—

शब्द-प्रमाण में योग और सांख्य में मतभेद हैं। जो वाक्य भ्रम, प्रमाद, संशय, प्रतारण बुद्धि आदि से रहित है उसके श्रवण के बाद प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में जो बुद्धिवृत्ति उत्पन्न होती है—वह शब्द प्रमाण है। अपौरुषेय वेद-वाक्य संशय से परे हैं—इसलिए वह शब्द प्रमाण हैं। वेदमूलक स्मृति, इतिहास और पुराण आदि का वाक्य भी शब्द प्रमाण हैं, आदिविद्वान् कपिल के मत मे कल्प के प्रारम्भ में पूर्वपूर्व कल्प में अधीत श्रुति का स्मरण सम्भव है, जैसे निद्रा से उठा हुआ व्यक्ति पूर्व दिन के किये हुए कार्यों का स्मरण करता है। अतः, कपिल का वाक्य प्रमाण है।

वाचस्पति के मत में आप्तता वाक्य में है, पुरुष में नहीं है, किन्तु योग-भाष्य के मत में आप्तता वाक्य में नहीं है, वरन् आप्तता पुरुष में है। भ्रम, प्रमाद, इन्द्रिय की अशक्ति परप्रातरणा आदि दोषों से शून्य पुरुष आप्त है। मनु आदि आप्तगणों से कथित स्मृति, वेदाङ्ग, तर्क इतिहास आदि भी शब्द प्रमाण है।

---

१. यो० भा० १।७।

"आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वाऽर्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते, शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः यस्याश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते, मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः स्यात्"।[१]

विपर्ययः—प्रमाण यथार्थ-विषयक ज्ञान रहता है। चित्त एवं उसके कारण इन्द्रिय से भी दोष के फल स्वरूप अयथार्थ ज्ञान भी होता है—यही विपर्यय ज्ञान हैं, ज्ञेय विषय का जो वास्तविक रूप है विपर्यय ज्ञान उस विषय के आकार का नहीं होता है, प्रमाण का विषय यथाभूत रहता है, विपर्यय का विषय विपरीत रहता है। अर्थात् अयथारूप-विषय में प्रतिष्ठित रहता है। जैसे-दो चन्द्र का दर्शन रूप विपर्यय है, यह सद्विषय एक चन्द्रदर्शन रूप प्रमाण से वाधित होता है। विपर्यय भ्रान्तिज्ञान है। विपर्यय स्वरूप अविद्या पाँच प्रकार की है—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश है। दूसरे शब्दों में तमः, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्ध-तामिस्र है। इन क्लेशों के मूल स्वरूप अनित्य, अशुचि दुःख आदि में विपरीत ज्ञान मूलक अविद्या को तम कहा जाता है। बुद्धिप्रतिबिम्बित चैतन्य का प्रकृति के सङ्ग के कारण अपने को प्रकृति से अभिन्न मानना अस्मिता ही मोह है, संयम आदि साधन शून्य होने पर भी सभी मेरे लिए सुखकर हो जाय इस प्रकार के राग को महामोह कहा जाता है। दुःख के अनेक कारणों के विद्यमान रहने पर भी "मुझे दुःख नहीं हो इस प्रकार के द्वेषमूलक विपर्यय भाव को तामिस्र कहा जाता है, शरीर के अनिल होने पर भी 'मेरी मृत्यु नहीं हो' 'मैं अमर रहूँ' इस प्रकार मरण-त्रास-रूप अभिनिवेश को तामिस्र कहा जाता है। इन पञ्चपर्वो में जायमान मिथ्या ज्ञान पुरुष को भवचक्र में आवद्ध करता है। पुरुष की स्वरूप प्रतिष्ठा के लिए विपर्यय ज्ञान का निरोध आवश्यक है। भ्रम ज्ञान को विपर्यय वृत्ति कहा जाता है, विपर्यय को दुःख का मूल मानकर निरोध के योग्य कहा हैं, वे ही क्लेशरूप विपर्यय है।

विकल्पः—शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। (१।९)

जिस विषय की वास्तविक सत्ता नहीं है ऐसे पदार्थ का वाचक जो शब्द उस शब्द ज्ञान सहयोग से उत्पन्न वस्तु शून्य या वास्तव-विषय-शून्यवृत्ति विकल्प है। यह वृत्ति प्रमाण या विपर्यय के अन्तर्गत नहीं हैं। प्रमाण का विषय वास्तव रहता है और विकल्प विषयशून्य रहता हैं, किन्तु शब्दज्ञान-माहात्म्य-निबन्धन व्यवहार होता है। विपर्यय के विषय का व्यवहार नहीं होता है, यह मिथ्या है, यह जानने पर व्यवहार नहीं होता है, विकल्प विषयों का व्यवहार होता है, वैकल्पिक अवस्तु है—यह जानकर भी उसका व्यवहार किया जाता है, चिति ही पुरुष है, इसके बाद चैतन्य पुरुष का स्वरूप है—यहाँ भेदवचन अवास्तविक है, अतः,

१. यो० भा० १।७।

वैकल्पिक है, उस वचन से जन्य जो ज्ञान है वह विकल्प ज्ञान भी प्रमाण ज्ञान से विनष्ट हो जाता है।

निद्रा :—अभाव प्रत्यालम्बन-वृत्तिर्निद्रा। (१।१०)।

जाग्रत स्वप्न के तिरोभाव का कारण तामस जडता विशेष रूप जो चित्त सत्त्व का आच्छादक है वही तमो-विषयक-वृत्ति अतिशय अस्फुट ज्ञानात्मकस्वप्न-हीना वृति निद्रा है। शरीर इन्द्रिय चित्त में जो जडता बोध है, वह निद्रावृत्ति है। सात्त्विकी निद्रा में "मैं सुख पूर्वक सोया" इत्यादि ज्ञान है। 'दुःखपूर्वक मैं सोया' यह राजसी निद्रा है। 'गाढ़ मूढ़ हो मैं सोया' यह सोकर उठने पर ज्ञान तामसी निद्रा में होता है। समाधि में अन्य प्रत्ययों के साथ इसका निरोध करना होता है।

चित्तवृत्तिः—सागर के वक्षःस्थल पर जायमान तरङ्गमाला के समान मानव के चित्त में निरन्तर जो स्पन्दन उपस्थित होता है, उस स्पन्दन को ही वृत्ति कहा जाता है। ये वृत्तियाँ अनन्त हैं, किन्तु इनको पाँच भाग में विभक्त किया है।

१. प्रमाण।
२. विपर्यय।
३. विकल्प।
४. निद्रा।
५. स्मृति।

स्मृतिः—अनुभूतविषयासम्प्रमोषः। (स्मृतिः। १।११

चित्त के द्वारा प्रमाण आदि वृत्तियों से अनुभूत विषयों का असम्प्रमोष अर्थात् जिस विषय का जिस परिमाण में अनुभूति हुई है' उसी परिमाण में ग्रहण करने वाली वृत्ति स्मृति है। जो अगृहीत या अननभूत नहीं हैं उन विषयों का ग्रहण करने वाली वृत्ति स्मृतिं है।

यह स्मृत्यात्मक वृत्ति "घट जानता हूँ" या रूप या घटादि विषय का स्मरण करता है यह है? इसके समाधान में चित्त दोनों का स्मरण करता हैं अर्थात् ग्राह्य और ग्रहण दोनों का स्मरण करता है, ग्राह्य और ग्रहण उभयाकार संस्कार का उत्पादन करता है, संस्कार अपने व्यञ्जक या उद्बोधक के द्वारा व्यक्त होता है। संस्कार केद्वारा कभी ग्राह्य ज्ञेय प्रधान स्मृति होती है और कभी ज्ञान प्रधान स्मृति होती है। इस प्रकार अनुभव अज्ञात विषय का होता है और स्मृति केवल ज्ञात विषय की होती है। पुरुष की स्वरूप प्रतिष्ठा के लिए इन वृत्तियों का निरोध आवश्यक है।

इस वृत्तियों के निरोध का साधन अभ्यास और वैराग्य है। "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। (१।१२)

भूमिः—मिथ्याज्ञान रहित विवेक ख्याति हान का साधन है। विवेक ख्याति युक्त पुरुष की प्रज्ञा को क्रमशः उन्नति-शील सात भूमियों में विभक्त कहा है।

"तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा। २।२७। प्रज्ञाकी सात भूमि निम्न लिखित है। इन सात भूमियों का द्विधा विभाग किया है। प्रथम वर्ग में चार भूमियों और द्वितीय वर्ग में तीन भूमियों हैं।

१ ज्ञानभूमि—शास्त्र और सज्जन के सम्पर्क से वैराग्य और अभ्यास स्वरूपा मुमुक्षुत्व स्थिति को प्रदान करने वाली प्रथम ज्ञानभूमि है—जिसको शुभेच्छा नाम से कहा जाता है।[1]

योग कारिका के अनुसार प्रथमा प्रान्त भूमिको प्राप्तकर सभी हेयपदार्थों का मैंने ज्ञान कर लिया है अब ज्ञेय शेष नहीं है—यह प्रथमा प्रान्तभूमि है। इससे ज्ञातव्यता की निवृत्ति होती है।

तद्विषयायाः प्रज्ञाया निवृत्तिरित्येतद्रूपाख्या। (भास्वती पृ. २३८)

द्वितीया विचारणा भूमिः—त्याग के योग्य अविद्या, काम, कर्म आदि प्रज्ञा के साक्षात्कार के द्वारा क्षीण हो गये हैं—यह द्वितीय है। अर्थात् त्याग योग्य विषय की की निवृत्ति प्रज्ञा की उपलब्धि वैराग्य के अभ्यास से करने की इच्छा होने से यह शुभेच्छा भी कही जाती है। शास्त्र, सज्जन के सम्पर्क से वैराग्य के अभ्यास की स्थिति पूर्वक सदाचार प्रवृत्ति को विचारणा कहते है।[2]

तृतीया तनुमानसीः—साङ्गभावना अविद्यादि के क्षय से उत्पन्न निरोधसमाधि रूप साधन से विशेष उत्थानके समय दुःखहान रूप भाविमोक्ष का मैंने साक्षात्कार कर लिया हैं, देहनाश के बाद ऐसा मुझे अवश्य ही प्राप्त होगा, इस रूपमें सजातीय साक्षात्कार एवं सजातीय समान्य साक्षात्कार के विनाश से परिचित असम्प्रज्ञात योग के दृष्टान्त से कैवल्य भी दृष्टप्राय रहता है। किन्तु निरोध समाधि में हान के साक्षात्कार की अनुपपत्ति है, क्योंकि वृत्ति का अभाव रहता है, अतः असम्प्रज्ञात कालीन दुखाभाव योग्य की अनुपलब्धि के अभाव से व्युत्थान में साक्षात्कार रहता है, यदि असम्प्रज्ञात में भी दुःख रहता तो उसकी अनुभूति होती, सोकर उठने के समान व्युत्थान में भी अनुभूत का स्मरण होता है। या निरोध समाधि से निष्पादन योग्य हान रूप मोक्ष त्यागगोचर का सम्प्रज्ञात से साक्षात्कार होता है। अर्थात् निरोध के ज्ञान से परगति विषय प्रज्ञा की समाप्ति हो जाती है।[3]

---

१. ज्ञानभूमिः शुभेच्छा या प्रथमा समुदाहृता। (म० उप० पृ० २९५)
शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासरूपिणी।
प्रथमा भूमिकैषोक्ता मुमुक्षुत्वप्रदायिनी॥ (अ० उप० पृ० २)

२. (क) शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥ (म० उप० २९५)
(ख) क्षेतव्यताविषयायाः प्रज्ञाया या निवृत्तिस्तस्या उपलब्धिः।
(भा० पृ० २३८)

३. वा० पृ० ५३९, भा० ५३८–३९।

महोपनिषद् के अनुसार विचारणा और शुभेच्छा से इन्द्रियों की विषयों के प्रति राग की तनुता = कमी आती है, अतः यह तनुमानसी है।[1]

योगकारिका के अनुसार निरोध समाधि से हान के साक्षात्कार की उपलब्धि हो गई है, अतः यह साक्षात्कृत नाम की तृतीय भूमि है।[2] अर्थात् प्रत्यक्ष के द्वारा सम्प्रज्ञात अवस्था में ही निरोध समाधिसाध्य हान का निश्चय कर लिया है।

चतुर्थी सत्त्वतापत्तिः—वासना विलयात्मक फल के निष्पन्न हो जाने से विवेक ख्याति रूप हान का उपाय सम्पन्न हो जाता है। क्योंकि अन्य कार्य सम्पादन के लिए कुछ शेष नहीं है—यह प्रयत्न निष्पाद्या विमुक्ति है। अर्थात् समाप्ति अर्थात् कर्तव्य समाप्ति होने से जीवन्मुक्ति भी यही है। यह पर-वैराग्य रूप चित्त नाश की आद्य भूमिका रूपा है। प्रान्तभूमि प्रज्ञा का विषय तीन भूमि होती है, चतुर्थी भूमि स्वयं ही होती है; उसके लिए किसी साधन की अपेक्षा नहीं होती है।

पञ्चमी असंसक्तिः—आनन्दरूपा मेरी बुद्धि निष्पन्न अर्थ हो गई है यह ज्ञान होता है, अर्थात् चरिताधिकारा है—बुद्धि का भोग और अपवर्ग दोनों समाप्त हो जाते हैं। यह परवैराग्य रूप चित्तनाश की प्रथम भूमिका है। अर्थात् चार अवस्थाओं के अभ्यास से असंसर्ग कलात्मिका रूढसत्त्व चमत्कार स्वरूपा=ईश्वरसत्त्व को प्राप्तकर उससे संसृष्ट हो चिन्मय साक्षी में स्थिति लाभ करती है, अतः यह असंसक्ति नामिका या बुद्धि चरिताधिकारा है।[3]

षष्ठी पदार्थ भावना = चित्तविमुक्ति प्रज्ञा—असंवेदनरूपा है।

बुद्धि सुख आदि गुण बुद्धि में प्रलयाभिमुख हो चित्त के साथ वे लीन हो जाते हैं। बुद्धि से मुझे प्रयोजन नहीं है, अतः संसार सुख, दुःख आदि सत्त्वादि-त्रिगुणात्मक प्रकृति में लीन होते हुए चित्त के साथ ही सर्वथा लय प्राप्त करते हैं। जैसे पर्वत शिखर समूह से गिरी हुई शिला रुकने में असमर्थ हो लय प्राप्त करती है। लिंग शरीर की विनश्यदवस्था यह षष्ठी भूमिका है। महोपनिषद् में कहा गया है कि पाँच भूमिकाओं के अभ्यास से अपने से अतिरिक्त में रति को विस्मृत होकर केवल स्वात्माराम के रूप में दृढ होती है, आन्तर और बाह्य पदार्थों से अतिरिक्त साक्षी के स्वरूप की प्राप्ति से स्वस्वरूप की अवगति = ज्ञान होना पदार्थ भावनात्मिका प्रज्ञा भूमि है।

सप्तमी भूमि तुर्यगा = तुर्यातीत पदावस्थाः—इस भूमि में चित्त गुण सम्बन्धों से रहित स्वभाव वाला होता है, इस भूमि में संस्कार सुख आदि की पुनः उत्पत्ति

---

१. विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेषु रक्तता ।
यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसी ।। पृ० २६५

२. साक्षात्कृतं परं हानम् पृ० २५ ।

३. दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गकला तु या ।
रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्तासंसृतिनामिका ।। (म० उप० पृ० २६५-६६)

नहीं होती है, क्योंकि पुरुषार्थ की समाप्ति होने से प्रयोजन ही नहीं रहता है। अतः बुद्धि आदि गुणों से रहित स्वरूप मात्र ज्योतिः अर्थात् चिज्ज्योतिः स्वरूप आत्यन्तिकलय स्वरूपा विदेह कैवल्य की चरम भूमिका है।

महोपनिषद् के अनुसार भेद की अनुपलब्धि से स्वभावैकनिष्ट विदेह मुक्तावस्था है। यह अदृष्टा की स्वरूप स्थिति है।[1]

अन्नपूर्णोपनिषद् के अनुसार प्रथमा भूमि मुमुक्षुत्वप्रदायिनी, द्वितीया विचारणा, तृतीया साङ्ग भावना, चतुर्थी विलयिनी, पञ्चमी आनन्दरूपा, षष्ठी असंवेदनरूपा सप्तमी समता स्वच्छता सौम्या है।[2]

अन्तिम अवस्था के रूप में धर्ममेध समाधि कही गई है। यह सम्प्रज्ञात की पराकाष्ठा है।

बौद्धों ने दशभूमिक सूत्र में निम्नलिखित दशमूल भूमियों का निर्देश किया है।

१-प्रमुदिता। २-विमला। ३-प्रभाकरी। ४-अर्चिष्मती। ५-सुदुर्जया। ६-अभिमुखी। ७-दूरङ्गमा। ८- अचला। ९-साधुमती। १०-धर्ममेधा।

योगमें भी धर्ममेधा का अन्तिम कोटि में निर्देश है। परिमाण के भेद से योग में अतिशय सूक्ष्म विवेचन है। किन्तु परिमाण आदि का भेद ग्रन्थ के अध्ययन से अवगत करें।

समाधि :—

सम्प्रज्ञात का चार भेद है-वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि में बीज भी नष्ट हो जाते हैं।

चित्त के आलम्बन ध्येय विषय में स्वरूप साक्षात्कारात्मिका प्रज्ञा से पाञ्चभौतिक चतुर्भुज आदि ध्येय का साक्षात्कार करता है। अर्थात् विशेषेण = विशिष्ट रूप से तर्कणम् = अवधारण वितर्क है; उससे युक्त निरोध वितर्क है, सोलह स्थूल विकारों को विषय रूप में ग्रहण करने वाली प्रज्ञा जब चित्त में प्रतिष्ठित हो जाती है तब वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि होती है।

विचार :—स्थूल के कारण सूक्ष्म तन्मात्र आदि विषयों को अवलम्बन कर चित्त की एकाग्रता अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोध होता है, इससे उत्पन्न साक्षात्कार विचार सम्प्रज्ञात समाधि है।

आनन्द समाधिः—सत्त्व प्रधान अहङ्कार से इन्द्रियों की उत्पत्ति है, सत्त्व सुख है, अतः इन्द्रियवर्ग आनन्दात्मक है, अतः इन्द्रियात्मक चित्त आभोग साक्षात्कार सानन्द सम्प्रज्ञात समाधि है। वार्त्तिककार ने इसे अप्रमाणिक माना है। उनके अनुसार आनन्द को आलम्बन कर चित्त का विचारानुगत भूमि का आरोहण

---

१. महोपनि० पृ० २९६। २. पृ० २९६।

होने से सत्त्व का आधिक्य रहता है, अतः, ह्लादात्मक-सुख-विशेषात्मक साक्षात्कार होने से, यह आनन्द विषयक है, अतः आनन्द है, इससे अनुगत निरोध आनन्द सम्प्रज्ञात समाधि है। इस में अहं सुखी यह चित्तवृत्ति होती है।

अस्मिता समाधिः—बुद्धि के साथ पुरुष की अभिन्नताभ्रान्तिरूप अस्मिता को अवलम्बन कर इस विषय में चित्त की एकाग्रता अस्मितासम्प्रज्ञात समाधि है।

योगी की चित्तगत अवस्था का तारतम्य एवं उसके आलम्बन से विषय के उत्कर्ष और अपकर्ष के अनुसार पूर्वोक्त निरोध समाधि दो प्रकार की है। १. भवप्रत्यय, २. उपायप्रत्यय। प्रकृति, महत्, अहङ्कार आदि अनात्म वस्तु में आत्मा का ज्ञान कर उन विषयों में ही निरोध समाधि की साधना करते हैं, उनकी समाधि में अविद्या और भ्रान्तिज्ञान विद्यमान रहने से इस समाधि से कभी भी कैवल्य की प्राप्ति नहीं होती है, वरन् देवभाव की प्राप्ति होती है या प्रकृति आदि में प्रवेश पूर्वक बहुत दिनों तक विरतव्यापार होने से कैवल्य पद का ही अनुभव करते हैं। नियत समय की समाप्ति होने के बाद अपने प्राक्तन कर्मों के अनुसार पुनः संसार में प्रवेश करते हैं यह समाधि अविद्या पूर्वक होने से 'भवप्रत्यय' नाम से कही जाती है। असम्प्रज्ञात समाधि लाभ के प्रकृष्ट उपायभूत श्रद्धा, उत्साह, स्मृति और योगाङ्ग समाधि की सहायता से चित्तवृत्ति का निरोध सम्पादन करते है—इस समाधि को उपाय-प्रत्यय समाधि कहते है। क्योंकि, उनके द्वारा अवलम्बित साधन योगसिद्धि के प्रकृष्ट उपाय हैं।

भवप्रत्यय या उपायप्रत्य दोनों में ही चित्तवृत्ति का निरोध आवश्यक है। बहुत दिनों तक दृढ़तर अभ्यास से वृत्ति-निरोध की पूर्णता होने पर चित्तभूमि में किसी प्रकार की वृत्ति की उत्पत्ति नहीं होती है और पूर्ण असम्प्रज्ञात समाधि का आविर्भाव होता है।

इस असम्प्रज्ञात समाधि की पूर्णता दशा में द्रष्टा का अपने स्वरूप में अवस्थान रहता है, स्वरूप विद्यमान रहने से प्रकाश की प्राप्ति न होकर वृत्ति का सारूप्य प्राप्त होता है। चित्त में उस समय जिस प्रकार की वृत्ति होती है वह निर्विकार पुरुष की वृत्ति सभी के लिए प्रार्थनीय अति रमणीय अवस्था है। इस समय उन विषयों के समान आकार में वृत्तियों प्रतिष्ठित रहती है, गृहीत विषय का आकार ही प्रधान रूप से प्रतिभात होता है। प्रकाश स्वभाव पुरुष द्रष्टा होकर भी चित्तवृत्ति से अतिरिक्त किसी भी वस्तु का साक्षात्कार नहीं करता है। चित्तवृत्ति ही उसका एकमात्र दृश्य है। बाह्य या आन्तर विषय समुदाय जब तक चित्तवृत्ति का विषय नहीं होता है, तब तक किसी भी तरह पुरुष उन विषयों के ग्रहण में समर्थ नहीं होता है। चित्तवृत्ति का विषयीभूत वस्तु वृत्ति के साथ-साथ सन्निहित पुरुष में प्रतिबिम्बित होता है। फल स्वरूप मुग्ध पुरुष उत्पन्न वृत्ति से अलग अपने को न समझने के कारण तद्रूप ही समझता है। चित्तवृत्ति के साथ पुरुष के भेद की प्रतीति

का अभाव ही पुरुष के वृत्तिसारूप्य का फल है। बहुकाल तक चलने वाले दृढ़तर अभ्यास के बल पर जब चित्त की सभी वृत्तियाँ अर्थात् प्रकृति पुरुष का विवेक ख्याति = भेदज्ञान भी निरुद्ध हो जाता है—इसी स्थिति में असम्प्रज्ञात समाधि पूर्णरूप से सम्पन्न होती है। इस अवस्था में चिन्मय पुरुष अपने स्वरूप में स्वयं अवस्थान करता है—यही कैवल्य या मुक्ति है।

सम्प्रज्ञात समाधि और वाचस्पतिमिश्र

भामतीकार वाचस्पति मिश्र का एक वैशिष्ट्य है कि किसी भी दर्शन के सिद्धान्त निरूपण काल में वे अन्य दर्शन की भूमिका को पूर्व पक्ष के रूप में ही प्रकृत दर्शन में अवलम्बित करते हैं, यदि वस्तुतः सिद्धान्त का विरोध रहता है। किन्तु सिद्धान्त विरोध न होने पर उसके समन्वय की भावना करते हैं। योग दर्शन की व्याख्या में आचार्य मिश्र मोक्ष के हेतु निरूपण काल में अद्वैत वेदान्त की वासना से अपने को सर्वथा विमुक्त नहीं रख पाते हैं। इस अंश में तत्त्ववैशारदीकार की वेदान्त वासना कारण नहीं है; वरन् वास्तविकता का उद्घाटन ही कारण है। अतः इस प्रसङ्ग में महामहोपाध्याय डॉ० योगेन्द्रनाथ बागची जी का मन्तव्य प्रदर्शन ही अनेक संशयों का उच्छेदक होगा।

महामहोपाध्यायजी ने कहा है कि पातञ्जलसूत्रके प्रथम पाद के तृतीय सूत्र की भूमिका में कहा गया है कि "तदवस्थे चेतसि बुद्धिबोधात्मा पुरुषः किं स्वभाव इति"। (१-३) इस सूत्र की आलोचना करने पर यह अवगत होता है कि—मिथ्याज्ञानप्रयुक्त ही पुरुष बुद्धिबोध स्वरूप होता है। यह पुरुष का स्वभावसिद्ध स्वरूप नहीं है। पुरुष का स्वभावसिद्ध रूप स्वरूप प्रतिष्ठा है। पुरुष की स्वरूप-प्रतिष्ठता स्वभाव होने पर भी उसकी अस्वरूप-प्रतिष्ठता या बुद्धिबोधात्मकता अथवा दृश्यवर्ग का दर्शन मिथ्याज्ञान प्रयुक्त ही होता है, तत्त्वज्ञान के द्वारा मिथ्याज्ञान के उच्छेद होने पर मुक्त पुरुष स्वस्थ हो जाता है। उस समय पुरुष का स्वभाव में बुद्धिबोधात्मकता नहीं रहती है। इस तरह यह सिद्ध है कि पुरुष के स्वभाव बुद्धिबोधात्मक नहीं है। दृश्य वर्ग का दर्शन और दृश्यवर्ग का स्वरूप-लाभ दोनों ही मिथ्याज्ञान प्रयुक्त होने से वे पारमार्थिक नहीं हो सकते हैं। इस लिए पातञ्जल दर्शन या सांख्यदर्शन के साथ वेदान्त दर्शन का कोई विरोध नहीं है। पातञ्जल दर्शन के व्यासभाष्य में कैवल्य अवस्था में भी सुख की सत्ता ही स्वीकार की गई है। यह सुख विषय-सम्बन्ध-जन्य, नहीं हो सकता है अतः अगत्या आत्मा की ही सुख स्वरूपता स्वीकार करनी होगी। पातञ्जल सूत्र के व्यासभाष्य में ३-१८ सूत्र में आवट्यजैगीषव्यसंवाद कहा गया है। इस संवाद में कहा गया है कि "भगवान् आवट्य ने योगचार्य भगवान् जैगीषव्य से जिज्ञासा की कि आपका बुद्धिसत्त्व किसी भी अवस्था में अभिभूत नहीं होता है। इस लिए

आपने विगत दश महासर्गों में नरक सम्बन्धी पक्षी की योनियों में उत्पत्तिलाभ कर जिन दुखों का अनुभव किया है एवं देव, मनुष्य आदि योनियों में पुनः-पुनः जन्मग्रहण कर जो जो अनुभव किया है उन सभी विगत जीवनों में सुख और दुःख में किसको अधिक उपलब्ध किया है ? इसके उत्तर में भगवान् जैगीषव्यने कहा है कि मेरा बुद्धिसत्त्व किसी भी अवस्था में अभिभूत नहीं होता है। अतः विगत दश महासर्गों में अनेक योनिओं में उत्पन्न होकर जो अनुभव किया वे सभी दुख ही अनुभूत हुए हैं अर्थात् उन योनियों में केवल दुःख का ही अनुभव किया है। इसके बाद आवटय ने जैगीषव्य से जिज्ञासा की कि इस समय आपने प्रधान का वशित्व लाभ कर परम सन्तोष सुख का भोग कर रहे हैं। क्या इस सुख को भी आप दुःख समझते हैं ? इसके उत्तर में जैगीषव्य ने कहा कि विषय सुख की अपेक्षा करके ही प्रधान वशित्वनिबन्धन सन्तोष सुख को श्रेष्ठ सुख कहा गया है, किन्तु कैवल्य सुख की अपेक्षा यह सन्तोष सुख भी दुःख ही है।[1] इस कथन से कैवल्य सुख की अनुत्तमता पौर सर्वश्रेष्ठता अवगत होती है। अतः जो व्यक्ति यह स्वीकार करते हैं कि पातञ्जल दर्शन में मोक्ष की सुखरूपता नहीं मानी गई है, उनको इस संवाद के अध्ययन से विषय स्पष्ट हो जायेगा। कि योग-दर्शन में मोक्ष सुखस्वरूप है, मोक्ष की सुखरूपता स्वीकार करने से ही वेदान्त दर्शन के साथ एक रूपता अर्थात् अविरोध प्रतिपादित होता है।

यही कारण है आचार्य वाचस्पति मिश्र ने प्रथम सूत्र के 'प्रद्योतयति' के व्याख्यान में ही कहा है कि द्योतन का अर्थ तत्त्वज्ञान होता है, यह तत्त्वज्ञान आगमसे या अनुमान से होने पर भी परोक्षात्मक होता है; प्रत्यक्षात्मक नहीं होता है। परोक्ष तत्त्वज्ञान से प्रत्यक्षात्मिका अर्थात् साक्षात्कारात्मिका अविद्या का नाश नहीं हो सकता है। अस्मिता आदि क्लेशों को अविद्यामूलक ही माना गया है। तत्त्वज्ञान अर्थात् विद्या अविद्याका उच्छेद रूप है, (इसके द्वारा अविद्या का अभाव रूपत्व प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं है।) अतः विद्याका उदय होने से अविद्या आदि क्लेशों का समुच्छेद अवश्यम्भावी है। इस के फलस्वरूप कर्म-रूपबन्धन अर्थात् धर्म और अधर्मरूप अपूर्व शिथिल हो जाते हैं। भाष्य में कर्म में अर्थात् अपूर्व के कार्य में कारणरूप कर्म का उपचरित प्रयोग है। आरम्भ में भी तत्त्वज्ञानख्यापन की इच्छा के अनन्तर योग की जिज्ञासा और ज्ञान विवक्षित है। फलतः तत्त्वज्ञान ही इस शास्त्रका फल है और तत्त्वज्ञानसे अविद्यास्तमयरूप मोक्ष होता है। दूसरे शब्दों में अविद्या का अस्त मोक्ष है और अविद्या बन्ध है।

---

१. भगवान् आवटच अवाच—यदिदमायुष्मतः प्रधानवशित्वमनुत्तमं च सन्तोषसुखं किमिदमपि दुःखपक्षे निक्षिप्तमिति ? भगवान् जैगीषव्य उवाच—विषयसुखापेक्षयैवेदमनुत्तमं सन्तोषसुखमुक्तम्, कैवल्यापेक्षया दुःखमेव।
(व्या० भा पृ० ३३४)

वार्त्तिककारने आरम्भ में ही एक प्रश्न उठाया है—सम्प्रज्ञातकाल में साक्षात्काररूपात्मक जो वृत्ति अर्थात् ज्ञान है; उसका भी परवैराग्य के द्वारा निरोध हो जाने पर असम्प्रज्ञात योग होता है; वृत्तिका निरोध चित्तकी वृत्तिसंस्कारशेष अवस्था है। अभाव के अधिकरण स्वरूप होने से चित्तकी अवस्था विशेष ही वृत्ति निरोध होता है। निरोध होता है इस अवस्था में इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी चित्तका अवस्थाविशेष का ही निरोध सिद्ध होता है। यह अवस्था संस्काररूप से समान परिणामधारा है। निरोध के समय में संस्कार का तारतम्यरूप ही सूत्र भाष्य के द्वारा विवक्षित है।

अनन्तर यह प्रश्न उठाया है कि वृत्तिनिरोध वृत्ति का अभावमात्र है या एकाग्रताविशेष है? यदि निरोध को अभावमात्र स्वीकार किया जाय तब निरोध संस्कार का जनक नहीं होगा और एकाग्रताविशेष निरोध को मानने पर समाधिरूप अङ्ग से और सम्प्रज्ञात से चित्तवृत्तिनिरोधरूप असम्प्रज्ञात का भेद सिद्ध नहीं होगा।

जैसे द्रव्य के अवलोकन के लिए उल्का हाँथ में धारण करने वाला व्यक्ति द्रव्य का अवलोकन कर उल्काका परित्याग कर देता है, वैसे ही बोध से ज्ञान का अवलोकनकर बोध का परित्याग दें[1]। इसी प्रकार श्रुति और स्मृति के द्वारा असम्प्रज्ञात काल में सभी वृत्तिओं की शून्यता ही अभिहित हो रही है।

इसके आगे उन्होंने जिज्ञासा की है कि निरोधरूप सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योगों का क्या प्रयोजन है? योग के अङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धिकेनाश होने से विवेकख्यातिपर्यन्त ज्ञानकी दीप्ति होती है। इस सूत्रसे योगाङ्ग की ही ज्ञान के प्रति हेतुता कही गई है। सम्प्रज्ञातयोग के समयमें ज्ञान की उत्पति ही शास्त्र से अवगत होती है, सम्प्रज्ञात को ज्ञान के प्रति हेतुता नहीं कही गई है। दूसरी बात यह है कि साध्य और साधन में पूर्व-पर भाव रहता है, एक काल में होने वाले दो वस्तुओं में हेतु-हेतुमद्भाव नहीं हो सकता है। अथ वा यह मान लिया जाय कि सम्प्रज्ञात समाधि विषयान्तर में संचरणरूप जो प्रतिबन्ध उसकी निवृत्तिरूप से ज्ञान के प्रति हेतु है। यह स्वीकार किया जा सकता है फिर भी असम्प्रज्ञात समाधि ज्ञान का हेतु नहीं हो सकती है, क्यों कि असम्प्रज्ञात समाधि ज्ञान से जन्य है। ज्ञान की उत्पत्ति के बाद मोक्ष के लिए अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती है, उसकी तभी तक यह स्थिति रहती है, जब तक मोक्ष नहीं होता है, अनन्तर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये) इत्यादि श्रुतियों के आधार पर किसी अन्य साधन की अपेक्षा के विना ही ज्ञान मोक्ष का साधन होता है, अतः अविद्या, काय कर्म आदि की निवृत्ति

१. उल्काहस्तो यथा कश्चिद् द्रव्यमालोक्य तांस्त्यजेत् ।
बोधेन ज्ञानमालोक्य तथा बोधं परित्यजेत् ॥ (वा० पृ० १०)

होने से अविद्या आदि संसार के कारण के न रहने से पुनः संसार की अनुपपत्ति होती है।

इसके प्रसङ्ग में वार्त्तिककारने कहा है—ज्ञान होने पर भी प्रारब्ध कर्म से देह-धारण की आवश्यकता रहती है, उस समय बाह्य और आभ्यन्तर वृत्तियों से जो दुःख नहीं होता है, यह इन दो योगों का ही फल है। इसी विषय की सूचना भाष्यकारने दी है—ये सभी वृत्तियाँ सुख, दुःख और मोहात्मिका हैं, अतः इन सभी वृत्तियों का निरोध करना चाहिए। ज्ञान जैसे कर्म के नाश का साधन है, वैसे ही योग भी कर्म नाश का साधन है। समाधि की निष्पत्ति हो जाने पर इसी जन्म में योगरूपी अग्नि से कर्मों का नाश कर योगी अविलम्ब ही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। कर्मक्षय के द्वारा ज्ञान के ही समान असम्प्रज्ञात योग भी मोक्ष का साधन होता है। सभी संस्कारों के नाश करनेवाले असम्प्रज्ञात योग से प्रारब्ध कर्म भी ध्वस्त हो जाते हैं—यही इसमें ज्ञान से विशेष है। ज्ञान से प्रारब्ध कर्मों का नाश नहीं होता है। कारण, पूर्वोक्त श्रुति के द्वारा ज्ञान की प्रारब्ध कर्म के नाश के प्रति हेतुता नहीं है, यही अवगत होता है; साथ ही जीवन्मुक्त अवस्था की बोधिका श्रुति एवं स्मृति भी प्रारब्धकर्म के नाश के प्रति बाधिका है। इसलिए प्रारब्ध कर्म का भी कर्मविपाकोक्तप्रायश्चित्तादि के समान ही उसका शीघ्र मोचन करना ही योग का फल है। दोनों योगों से सभी संस्कारों का नाश हो जाने से भोग संस्काररूप सहकारी के अभाव से प्रारब्ध कर्म भी फल के भोग कराने के लिए अक्षम हो जाता है—यह भी योग का फल है। इसी लिए मोक्षधर्म में कहा है—सांख्य के समान ज्ञान नहीं है और योग के समान बल नहीं है। योग के बल से तात्पर्य यह है कि प्रारब्ध को भी अतिक्रमण कर स्वच्छता पूर्वक शीघ्र मोक्ष की हेतुता योग में है। दूसरी बात यह भी है कि वृत्तिनिरोधात्मक योग ही दुःखनिवृत्त्यात्मक मोक्ष में साक्षात् हेतु है। पुरुष में दुःख स्वाभाविक नहीं है, वरन् औपाधिक है। उपाधि के कारण ही दुःख है। जो औपाधिक वस्तु रहती है उसकी निवृत्ति में उपाधि की निवृत्ति ही चरम कारण है, अतः ज्ञान से योग अन्यथा सिद्ध नहीं है। ज्ञान, वैराग्य, कर्मक्षय आदि वृत्तिनिरोधरूप चरमकारण को द्वार करके ही दुःख के अत्यन्त उच्छेद का यह हेतु है। वृत्ति का अत्यन्तनिरोध चरम असम्प्रज्ञात समाधि में होता है। जिसमें संस्कार का अत्यन्त क्षय होने से चित्त का विलयन होता है' और तब मोक्ष होता है। इस प्रकार द्वारद्वारिभाव से भी ज्ञान के समान ही सम्प्रज्ञात योगकी भी मोक्ष के प्रति कारणता सिद्ध होती है और असम्प्रज्ञात योग की साक्षात् ही मोक्ष के प्रति हेतुता है, यह "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" इस सूत्र से सूत्रकारने स्वयं ही कहा है। अन्यथाभाव को छोड़कर स्वरूप

१. अध्यात्मयोगाधिगमेन'''''''प्रतिज्ञातवान्। (वा० पृ० २-३)

व्यवस्थिति ही मुक्ति है इत्यादि वाक्यों के द्वारा आत्यन्तिक स्वरूप में अवस्थान ही मोक्ष है। इनके मतमें ज्ञान से मुक्ति नही मानी गई है वरन् असम्प्रज्ञात योग ही मोक्ष का साक्षात् कारण है। मुक्ति सुखरूप नहीं है; वरन् दुःख का अत्यन्त उच्छेद ही है। व्याख्यान के आरम्भ में ही वार्त्तिककारने अनेक उद्धरणों के द्वारा इस मत का प्रतिपादन एवं समर्थन किया है—अध्यात्मयोग के ज्ञान से देव का मनन कर धीर व्यक्ति हर्ष और शोक परित्याग करते हैं। क्योंकि विषय रहित चित्त ही अभीष्ट है, अतः, मोक्ष की कामना रखने वाले व्यक्ति नित्य चित्त को निर्विषय बनायें। अतः तब तक निरोध करना चाहिए, जब तक चित्त में विषयादि का नाश नहीं होता है, यही ज्ञान और ध्यान है, अन्य सभी ग्रन्थ के विस्तार के लिए है, इन श्रुतियों का उद्धार देकर अपने मत का सार सङ्कलन किया है। पुनः इसी अर्थ का स्मृतिओं के द्वारा भी प्रतिपादन किया हैं—योग से मुक्ति होती है तथा सम्यग्ज्ञान से योग पूजित होता है। योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ हैं और ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ है इत्यादि स्मृतियों के द्वारा योग को मोक्ष का कारण कहा गया है। ऐसी स्थिति में यह जिज्ञासा स्वाभाविक ही है कि मोक्ष का क्या स्वरूप है? इसका क्या उपाय है? किस द्वार से ज्ञान और योग मोक्ष में कारण हैं? ये विषय मुमुक्षुओं के लिए जिज्ञासित होते हैं। ब्रह्ममीमांसा, सांख्य आदि में ज्ञान का ही विशेषरूप से विचार किया गया है और योग से ज्ञान का मात्र साधन रूप में संक्षेप में विचार किया गया है, किन्तु ज्ञानजन्य योग को संक्षेप रूप में भी नहीं कहा गया है, अतः दोनों योगों का विस्तार पूर्वक व्याख्यान प्रकृत में किया जा रहा है।

इस उपक्रम में ही स्पष्ट हो गया है कि एक योग ज्ञान साधन है और द्वितीय योग ज्ञान से साध्य है एवं साक्षात् मुक्ति का जनक भी है।

समाधि का छ भेद :—

१. ध्यानयोग समाधि।	४. लयसिद्धियोग समाधि।
२. नादयोग समाधि।	५. भक्तियोग समाधि।
३. रसानन्दयोग समाधि।	६. राजयोग समाधि।

ध्यानयोग समाधिः—योगी शाम्भवी मुद्रा से आत्मा का प्रत्यक्ष करता है, बिन्दु को ब्रह्ममय समझकर उसके मध्य में मन को निवेश करता है। उसके बाद 'ख' अर्थात् ब्रह्म ('ख' ब्रह्मेतिः छा० उ० म० ४।१०।४) मध्य में आत्मा को और आत्मा के मध्य में ब्रह्म का दर्शन करता है, इस स्थिति में आत्मा का ब्रह्मय दर्शन करने के बाद किसी प्रकार की बाधा नहीं रहती है, योगी सदानन्दमय हो समाधिस्थ हो जाता है।[1]

---

१. शाम्भवीं मुद्रिकां कृत्वा आत्मप्रत्यक्षमानयेत्।
बिन्दुब्रह्ममयं दृष्ट्वा मनस्तत्र नियोजयेत्॥

नादयोग समाधिः—खेचरी मुद्रा की साधना से रसना = जिह्वा के ऊर्ध्वगत होने पर समाधिसिद्धि होने से साधारण क्रिया का प्रयोजन नहीं रहता है।[1]

रसानन्दयोग समाधिः—धीरे-धीरे वायु को पूर्ण कर भ्रामरी कुम्भक करने के बाद धीरे-धीरे वायु का रेचन करना होता है, इस स्थिति में भ्रमर गुञ्जन होता है, अन्दर में भ्रमर का गुञ्जन सुनकर उसमें मनको निविष्ट करने पर समाधि होती है एवं सोऽहं ज्ञान एवं परमानन्द लाभ होता है।[2]

लयसिद्धियोग समाधि—योगी योनिमुद्रा का अवलम्बन कर स्वयं शक्तिमय होता है एवं परमात्मा के साथ शृङ्गार रसमय विहार करता है, इस प्रकार आनन्द-मय ब्रह्म के साथ ऐक्य अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान होता है।[3]

भक्तियोग समाधिः—साधक अपने हृदय में भक्ति-प्रवण हो परमानन्दमय इष्टदेवता के स्वरूप का ध्यान करे, ध्यान के फलस्वरूप रोमाञ्च, अश्रुपात आदि होता है और क्रमशः समाधि एवं मनोन्मनी अवस्था को प्राप्त करता है।[4]

राजयोग समाधिः—मनोमूर्च्छा नामक कुम्भक कर मन को आत्मा में संयुक्त करे, परमात्म संयोग होने से ही यह समाधि होती है।[5]

खमध्ये कुरु आत्मानमात्ममध्ये च खं कुरु।
आत्मानं खमयं दृष्ट्वा न किञ्चिदपि बाधते॥
सदानन्दमयो भूत्वा समाधिस्थो भवेन्नरः॥ (घे० सं० ७।७-८)

१. साधनात् खेचरीमुद्रा रसोर्ध्वगता यदा।
तदा समाधिसिद्धिः स्याद्धित्वा साधारणक्रियाम्॥ (घे० सं० ७।९)

२. अनिलं मन्दवेगेन भ्रामरी कुम्भकं चरेत्।
मन्दं मन्दं चरेद् वायुं भृङ्गनादः ततो भवेत्॥
अन्तःस्थं भ्रामरीनादं श्रुत्वा तत्र मनो नयेत्।
समाधिर्जायते तत्र आनन्दः सोऽहमित्यतः॥ (घे० सं० ७।१०)

३. योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत्।
सुशृङ्गाररसेनैव विहरेत्परमात्मनि॥
आनन्दमयो भूत्वा ऐक्यं ब्रह्मणि सम्भवेत्।
अहं ब्रह्मेति चाद्वैतं समाधिस्तेन जायते॥ (घे० सं० ८।१२-१३)

४. स्वकीयहृदये ध्यायेदिष्टदेवस्वरूपकम्।
चिन्तयेद् भक्तियोगेन परमाह्लादपूर्वकम्॥
आनन्दाश्रुपुलकेन दशा भावः प्रजायते।
समाधिः सम्भवेत्तेन सम्भवेच्च मनोन्मनी॥ (घे० सं० ८।१४।१५)

५. मनोमूर्च्छां समासाद्य मन आत्मनि योजयेत्।
परात्मनः समायोगात् समाधिं समवाप्नुयात्॥ (घे० सं० १।१६)

राजयोग समाधि ही योगसूत्र की सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि है। वेदान्त की सविकल्प और निर्विकल्प समाधि भी यही है। सविकल्प और सम्प्रज्ञात में ध्याता, ध्यान, ध्येय, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय ये तीन पदार्थ भासमान होते हैं और निर्विकल्प या असम्प्रज्ञात में तीनों का लय होकर स्वस्वरूप में अवस्थिति होती है। वाराहोपनिषद् के भाष्य में ब्रह्मयोगी ने इस योग को लय-योग का साधन कहा है। क्षेत्र और परमात्मा का ऐक्य या स्वरूपावस्थान ही लययोग है।

योग की प्राचीनताः—महेञ्जोदाडो के ध्वंसावशेष में एक योगी की मूर्ति है। (Plxeviii) अनेकत्र योगभङ्गी में दण्डायमान देवमूर्तियाँ हैं। (Pls, exvi 29 and exviii, ii) एक भङ्गी में योगी की कायोत्सर्ग भङ्गी उपलब्ध है। वायु-पुराण में वर्णित पाशुपातयोग मुद्रा से इसकी समता हैं।[1]

ऋग्वेद में वायुरूपता की प्राप्ति आकाशपथ से गमन, समस्त विश्व के सभी रूप्य पदार्थों को अपने तेज से देखता रहता है। अतीन्द्रिय पदार्थदर्शी इस व्यक्ति का आहार वायु रहता है, यह वायु के मित्र और द्योतमान वायु के द्वारा ये वायु रूप होते हैं। अतीन्द्रिय पदार्थदर्शी कपिलवर्ण का मलिनवस्त्र धारण करता है तप की महिमा से दीप्यमान होकर देवतास्वरूप में प्रवेश करता है। यहाँ मुनयः यह वहुवचन का प्रयोग होने से अनेक मुनि हैं।

"मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।
वास्याणुध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥" ([2]१०।१३६।२)

उपनिषदों में भी इसकी परिपूर्ण चर्चा उपलब्ध है। श्वेताश्वतर (२।८, २।९) एवं कठोपनिषद् का (२।३।१०, २।३।११, १।३।६) द्रष्टव्य है।

तन्त्र आदि में भी इसका विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।

बुद्ध के समय में योगसाधना पूर्ण रूप से प्रचलित थी, वे स्वयं योगसाधना करते थे। अपने समय के योगियों की वे निन्दा करते थें किन्तु अपने शिष्यों को योगसाधना का उपदेश देते थे। बौद्धधर्म की प्रतिष्ठा में योगदर्शन का प्रचुर प्रभाव सुव्यक्त है।

आज तो असंख्य योगी एवं असंख्य योग केन्द्र है। वास्तविक योगी कितने हैं-यह भगवान् ही जानता है।

तन्त्र में कुण्डलिनी जागरण के लिए एकमात्र योग ही सहायक है।

भारतीय दर्शन में योग :—

वैदिक ऋचाओं के अनेक स्थलों में योग का विश्लेषण उपलब्ध है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के अट्ठारहवे सूक्त में लिखा है कि कोई भी क्रियायें विना योग के सिद्ध नहीं होती हैं। "यस्मादृते न सिध्यन्ति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति।" (ऋ० १।१८।७) इसी की छाया गीता के "योगः कर्मसु कौशलम्" पद्य में उपलब्ध है।

---

1. R. I. P. 301–334.
२. ऋ० १०।१३६।४, ५, ७।

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' यो० सू० १।१७ इस सूत्र का मूलाधार "स धा नो योग आ भुवत् स राये स पुरन्ध्याम्। गमद् वाजेभिरा स नः"। (ऋ० १।५।४, साम ३०१।२।१०२, अथर्ववेद २०।६९।१) में मिलता है (ईश्वर की कृपा से समाधि की प्राप्ति होती है)। मुझे उसका सन्निधान प्राप्त हो। इतना ही नहीं ईश्वर प्रणिधान के लिए वेद में अनेक मन्त्र उपलब्ध हैं प्रत्येक समाधि में ऐश्वर्य सम्पन्न इन्द्र का आह्वान करे। "योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहेसवाय इन्द्र भूतये"। (ऋ० १।३०।७) इन मन्त्रों से यह स्पष्ट है कि संहिता भाग से चलती हुई योग धारा ने उपनिषद् युग में पुष्पित-पल्लवित होकर अनेक योगों के आधार पर सूक्ष्मतम समाधि से स्वरूप प्रतिष्ठा का मार्ग प्रशस्त किया।

आत्म ज्योतिः के आन्दमयकोष, विज्ञानमयकोष, मनोमयकोष, प्राणमयकोष, और अन्नमयकोष आवरण के रूप में है इन कोषों के कारण ही प्रकृति के सूक्ष्म और स्थूल तत्वों के प्रतिविम्बन से राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि का आत्मा में आरोप होता है।

योग सभी दर्शनों के साथ अक्षुण्ण रूप से उपलब्ध होता है। यही कारण है कि सामान्य दार्शनिक मान्यताओं के खण्डन होने पर भी योग की मान्यतायें सर्वत्र स्वीकृत है।

आस्तिक दर्शनों के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वेदमूलक होने से वहाँ विरोध की सम्भावना ही नहीं है, नास्तिक दर्शनों के साथ भी योग का अनिवार्य सम्बन्ध हैं।

जैन दर्शन में कर्मपुद्गल को नष्ट किये विना सर्वज्ञता नहीं आती है। कषाय ही बन्धन के कारण हैं, नवीन कर्मपुद्गलों के आश्रव के अवरोध के विना कर्मपुद्गलों का क्षय सम्भव नहीं है। ज्ञान ही इनका प्रधान कारण है, अतः, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र इन तीन रत्नों का अनुष्ठान आवश्यक है। सम्यग्दर्शन आत्मा के स्वरूप प्रतिष्ठा का प्रतीक है। इसके द्वारा जीव, अजीव आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का यथार्थ ज्ञान होता है।

"तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"। (मोक्षशास्त्र १।१)

संयम और तप के विना आश्रव का निरोध और सञ्चित कर्मों का विनाश नहीं हो सकता है और इनके विनाश के विना आत्मा की शुद्ध अवस्था नहीं आ सकती है।

"संजमएण भन्ते, जीवे किं जणयइ? संजमएण अण्णहएत्तं जणयइ। तवेणं मन्ते, जीवे किं जणयइ? तवेणं जणयइ। (उत्तराध्ययन, २९, २६-२७)

बौद्ध दर्शन में सम्यग्दर्शन के ही अर्थ में सम्यग्दृष्टि (सम्मादिति) मानी गई है[1] जागतिक दुःखों की प्रकृति को जानकर सत्कायदृष्टि आदि से विभूति होती है। बौद्ध दृष्टि से यह सम्यग्दृष्टि ही प्रज्ञा है। प्रतीत्यसमुत्पाद आदि प्रज्ञा की भूमि है। क्रमशः अनित्य दुःख और अनात्म ज्ञान से विपस्सना आती है और जो प्रज्ञा का मार्ग और लोकोत्तर समाधि है। इसके द्वारा दिव्यचक्षु,

---

१. बुद्धवचन पृ० २१

दिव्यश्रोत्र, चेतःपर्यायज्ञान, पूर्वानुस्मृतिज्ञान, च्युत्युत्पादज्ञान और आश्रवक्षय-ज्ञानरूप षडभिज्ञा उत्पन्न होती है। शब्दान्तर से जैनदर्शन में भी इन्हें स्वीकार किया गया है। मनःपर्यायज्ञान चेतः पर्याय ज्ञान है। यह पूर्वानुस्मृति और केवलज्ञान के अन्तर्गत है।

किन्तु सम्यग्ज्ञान का सम्यक् चरित्र के विना रहना सर्वथा निष्प्रयोजन है। सम्यक् चरित्र महाव्रत और अणुव्रत के भेद से दो प्रकार का है। अहिंसा, सत्य आदि बारह व्रत इसके लिए कहे गये हैं। इनसे अतिरिक्त पञ्च समितियों का पालन, इन्द्रियों पर विजय प्राप्ति समता आदि षडावश्यकों का अनुष्ठान करना है। इन सभी अनुष्ठानों के बाद समाधि के आलम्बन के विना परमपद अर्थात् स्वरूप प्रतिष्ठा सम्भव नहीं है।

सर्वार्थतैकाग्रतपः समाधिस्तु क्षयोदयौ।
तुल्यावेकाग्रता शान्तोदितौ च प्रत्ययाविह॥

कर्मविजय, भावनोपलब्धि, ध्यानसिद्धि, (अ. रा. को. ख. ७पृ. ४) समत्व प्राप्ति के साथ सर्वज्ञत्व प्राप्ति सोपान क्रम में होती है। सम्यग्दृष्टि ही योग का परम चरम लक्ष्य है।

बौद्ध दर्शन में भी शील समाधि एवं प्रज्ञा का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। कुशलचित्त की एकाग्रता ही समाधि है। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रज्ञा पारमिता की प्राप्ति अपेक्षित है और इसके लिए दश भूमियों को पार करना पड़ता है इस प्रकार जैन और 'बौद्ध साधना शुद्ध योग साधना है'—यह कहना अनुचित नहीं है। जैन के समान ही अष्टाङ्ग मार्ग में प्रज्ञा, शील और समाधि ये तीन रत्नों को यहाँ भी माना गया है।

एकालम्बन रूप एकाग्रता ही बौद्धों की समाधि है। यह एकाग्रता अभिन्ना-लम्बन स्वरूपा है। यह अभिन्न आलम्बन स्वरूप प्रतिष्ठा से अतिरक्त नहीं हो सकती है।

प्रसादपूर्ण चित्त की समाधि ही सफल होती है।

"सुखिनो चित्तं समाधियतीति वचनतो पन सुखमस्स पदट्ठानं[1]।

बुद्ध मार्ग की दिशा में अविच्छिन्नरूप से चित्त की एक आलम्बन के आश्रयण की मनोवृत्ति जब होती है तब समाधि होती है[2]। योग एवं गीता की दृष्टि से विश्लेषण करने से इस अर्थ का स्फुट परिष्कार मिलता है। अभिधर्मकोषभाष्य के अनुसार स्वरूप प्रतिष्ठान से भिन्न समाधि नहीं हो सकती हैं। एकाग्रता का विवरण देते हुए लिखा है कि "एकालम्बन ही एकाग्रता है। ऐसी स्थिति में एकालम्बन चित्त ही समाधि है चित्त का धर्मान्तर समाधि नहीं है। चित्त ही समाधि नहीं है, जिससे एकाग्रता होती है वह धर्म समाधि है[3]। स्फुटार्था में भी

---

१. विशुद्धि मग्गों पृ० १८१।

२. अविच्छिन्नरूपेण चित्तस्यैकालम्वेन प्रवृत्तिः समाधिः।अभि० को० पृ० ३०।

३. केयमेकाग्रता नाम? एकालम्बना। एवं तर्हि चित्तान्येवैकालम्बनानि समाधिर्न चैतसिकं धर्मान्तरमिति प्राप्नोति। न चित्तान्येव समाधिः। येन तु तान्येकाग्राणि वर्तते स धर्मः समाधिः। अभि० भा० पृ० ४३२

इसी अर्थ को कहा है। फलतः योग और समाधि अभिन्न है और द्रष्टा के स्वरूप की प्रतिष्ठा है। अन्य धर्म की प्राप्ति सिद्धान्त विरोध के कारण सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार योगप्रस्थान का सर्वत्र समादर है। भारतीय साधना में योग के साहाय्य की प्राप्ति के विना साध्य की प्राप्ति हो ही नहीं सकती है। चित्त की एकाग्रता ही वहिरंग साधन प्रणाली से विमुक्त कर अन्तरङ्ग एकाग्रता का सम्पादन कर बोधको विषम विश्व का उन्मूलन कर समत्व की भूमि पर अवस्थित कराती है।

यह सत्य है कि अनादि अविधा के कारण मानव मन स्वभावतः बहिर्मुख रहता है। इसको अन्तर्मुख करने के लिए सक्रिय चेष्टा ही प्रथम योग है। यह योग एकग्रता के द्वारा बहिरङ्ग प्रवृत्तियों से निरुद्ध होता है और अन्त में स्वसत्ता में अवबुद्ध होता है। अवबुद्ध प्रकाश से समग्र विश्व उद्भासित होता है और इससे लोक के प्रति करुणा और कल्याण कामना उद्बुद्ध होती है, अहंशून्यता अस्मिता में परिणत होती है। अस्मिता भूमिमें ज्योतिः स्वरूप प्रज्ञा का प्रोल्लास होता है। विभूतियों की दीप्ति में भूतों के जय से कायसम्यत् समृद्ध होता है। मधुमती भूमिका के साथ भूमा साक्षात्कार तथा भोग वितृष्णा रूप विवेक ख्याति होती है।

भारतीय सभी साधानाओं का मूल-लक्ष्य भेद में अभेद दर्शन ही है। एक तत्त्व में अवस्थान करना ज्ञान विचार का प्रधान कार्य है। वेद से लेकर सभी दर्शनों में अध्यात्म और अधिभूत Subjeet and objeet रूप द्वैतदर्शन का एकतत्त्व में ले जाने का मार्ग दर्शन ही है। बुद्धि तत्त्व की द्विधा अभिव्यक्ति Moral and natural laws' नैतिक और प्राकृतिक रूप में होती है। किन्तु इन की उपसंहृति आत्मा के साक्षात्कार से होती है। अद्वयपुरुषोत्तम की यही भूमिका है। प्रकृति भूमि भावमयी भूमि में प्रकाश लाभ करती है। भावभूमि ज्ञानभूमिक्रम में पुरुषरूप या चेतन स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है।

वाह्य जगत् में धर्म का आधान बुद्धि के द्वारा होता है। .intellect अर्थात् बुद्धि ही इस दिशा से कर्तव्य का ज्ञान कराती है। कर्तव्य में निहित गुप्त प्रेम निर्झरिणी की दिशा hidden spring of love उद्भूत होती है, moral conciousness अर्थात् कर्तव्य विवेक का विकाश प्रेम में परिणत होता है यह प्रेम ही प्रज्ञा का स्वरूप अवलम्बन करता है। इस विचार और प्रज्ञा intellect and intuition का मूल अद्वय पुरुष रूप स्वरूप प्रतिष्ठा है।

ज्ञान की प्रथम किरण दृष्टिपथ में आने पर मन में बोध होता है कि यह वाहर की है और इसी से वस्तु परिचालित है। किन्तु दैहिक क्रिया की अवगति के साथ यह विश्वास होता है—यह शक्ति अन्तर्निहित ही है। Immanent Dynamices की धारणा अर्थात् conceptien उद्भूत होता है। स्वाभाविक गति का अनुसन्धान होते ही सर्वानुस्यूत चेतनशक्ति का सन्धान होता है। इसी क्रम में intelligent direction upon an end का बोध होता है। विश्व का ज्ञानचालित के रूप में अनुभूति होती है और अन्त में ज्ञान भी चेष्टाशून्य स्वतः उद्भासित सहज प्रकाश रूप में अवगत स्वरूप प्रतिष्ठित होता है।

प्रत्येक भूमि में रसास्वादावस्था रहती है। एक भूमि अन्य भूमि में जाने की सोपान परम्परा है। आनन्दाकार में परिणत जीव को सीमा से दूर सर्वभाव में

उपस्थापित करता है सङ्कीर्णता की भूमि से छुड़ाकर अर्थात् Particularity के region से अलगकर universality भूमा के राज्य में प्रतिष्ठित करता है। कर्म भक्ति या ज्ञान इस सत्त्व समाधि में आकर विघ्न-द्वन्द्व-शून्य हो समता और स्वच्छन्दता सुख की भूमि में रहता है। समाधि भक्ति, ज्ञान और कर्म सभी में एक रूप ही रहती है। समाधि mere trance state शुद्ध मूर्च्छाभाव नहीं है यह absorption into highest concentrated thought गम्भीर अनुभूति है। इसे परमविचार, परमप्रेम, परमज्ञान का समष्टिभूत फल कह सकते हैं। यह वही भूमि है जहाँ धारणा thorough understanding and firm fixity of attention ध्यान deep meditation एवं समाधि absorbed attention इनका पुञ्जीभूत होता है। यह श्रुतिगृहीत ज्ञान को प्रीतिगृहीत ज्ञान के रूप में परिपूर्णता का लाभ करता हैं। इस समाधि के फल स्वरूप ही प्रज्ञा intuition का उदय होता है यह भावना विशेष developed reason है, मन की सभी सत्यशक्ति इससे नियोजित होती है। यही कारण है कि यह मानव को शुद्ध विचार Pure thought के राज्य में, सत्यज्ञान pure ideation के राज्य में शुद्धभावना की भूमि में अवस्थित रखता है। योग की इस समाधि में कर्म ज्ञान और भक्ति भी अवसान लाभ कर योग संज्ञा प्राप्त करते है। पातञ्जल की दृष्टि में आकार शून्य स्वरूप मात्र निर्भास अवस्था है। इस स्थिति में ज्ञान को जीवकी स्मृति या संस्कार contribute आरोपित होकर अन्यथा अनुरञ्जित नहीं कर पाते है। सर्वथा स्वरूप अवस्थिति शब्दान्तर से ब्रह्मार्पण या ब्रह्महवि है। इस अवस्था में जीव न तो इन्द्रियार्थों में न शरीरसुखावह कर्मों में प्रवृत्त होता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते तब निष्काय निःस्पृह विजितेन्द्रिय, अध्यात्म चेता के रूप में समत्व की भूमि में अवस्थित लोककल्याण भावना से प्रवृत्ति करता है इसे कुण्डलिनी को जगाकर सुषुम्णा में प्रवेश कराकर ब्रह्मरन्ध्र-भेदन भी कह सकते है। कुण्डलिनी तेजोरूप है। यह अद्वैत भाव की प्राप्ति हैं। अतः अद्वय प्राप्ति समत्व की भूमि पर अवस्थिति ही योग है।

इस दुर्लभ ग्रन्थ के प्रकाशन में चौखम्बा संस्कृत संस्थान के अधिकारी प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के उद्धार के लिए निबद्ध परिकर श्रीमान् मोहनदास गुप्त एवं उनके पुत्र राजेन्द्रकुमार का मैं सतत अभिवृद्धि की कामना करता हूँ। जिनके उत्साह और निष्काम चेष्टा के द्वारा यह ग्रन्थ सुलभ एवं उनके परम प्रेम पाश में आबद्ध मेरे द्वारा इस भूमिका का लेखन सम्भव हो सका। मैं इनका आभार वहन करता हूँ।

प्रेस के संचालन में दक्ष श्री व्रजरतनदासगुप्त की पुनः पुनः संशोधन करने पर भी उद्वेगशून्यता देखकर उनके धैर्य की प्रशंसा करना मेरा कर्तव्य होता है।

मेरे प्रमाद को मुझे ही समर्पित करते हुए विद्वज्जन ग्राह्य अंश का रसास्वादन कर मेरे श्रम को सफल करें।

३० नवम्बर १९८२

विद्वज्जनचरणचञ्चरीक

महाप्रभु गोस्वामी

भूमिका

अथेदं प्रकाश्यते वृत्तिषट्कसमेतं योगदर्शनम् ।

षड्दर्शन्यां काणादन्यायदर्शनयोः कर्मब्रह्ममीमांसयोरिव च सांख्ययोगदर्शनयोरपि दृश्यते परस्य पूर्वमाश्रित्य प्रवृत्तिः। तथाहि—यथा न्यायदर्शने कणादव्यवस्थापितपदार्थानवलम्ब्यानुमानमुपपादितं, ब्रह्ममीमांसायां च कर्ममीमांसकव्युत्पादितान्येव शाब्दन्यायतत्त्वानि समाश्रित्य ब्रह्म मीमांसितम्, एवमत्रापि योगदर्शने सांख्योक्तामेव प्रक्रियामाश्रित्य योगोऽनुशिष्टः। अत एव च भगवता पाराशर्येण 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' २।१।३ इति सांख्यस्मृतिनिरसनेनैव योगस्मृतिरपि समानतन्त्रत्वान्निरस्तेति प्रोक्तम्। न च यदि योगो महर्षिणा निरस्तस्तत्किमनेन दर्शनेनास्माकमुपयोग इति वाच्यम्। महर्षिणा योगेऽभ्युपगतं जगतोऽचेतनोपादानकत्वपुरुषनानात्वादिकमेव श्रुतिविरोधादत्र निरस्तम्, न तु यमनियमाद्यङ्गोपेतस्य समाधिसंज्ञकस्य तस्य तदवान्तरफलविभूतिपरमफलकैवल्यसाधनत्वम्। अयं चास्य दर्शनस्य दर्शनाऽन्तरेभ्यो विशेषो यदत्राभिहितानां संयमफलभूतानामलौकिकसिद्धीनामस्मिन्नेव शरीरेऽनुभव इति। अलौकिकत्वं चासां सिद्धीनां लौकिकोपायासाध्यत्वात्तत्साध्यानामप्यलौकिकोपायसाध्यत्वाच्च वेद्यम्। अतोऽस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं सर्वसंप्रतिपन्नम्।

मुद्रिते प्रसिद्धे चाऽत्रास्य दर्शनस्य वृत्तिषट्के भोजकृतराजमार्तण्डानुसारित्वमनन्तदेवकृतचन्द्रिकायां, भावागणेशकृतप्रदीपानुगामित्वं नागेशभट्टवृत्तौ, गोविन्दानन्दयतिशिष्यश्रीरामानन्दयतिविनिर्मितमणिप्रभासक्तत्वं च श्रीसदाशिवेन्द्रसरस्वतीविरचितयोगसुधाकरे प्रसमीक्ष्य सर्वतो विरक्तानां योगिनामपि भवनेषु कुटुम्बिनां वसतिर्बभूवेति विपर्ययसम्भावनापि शिशुपालवधोल्लिखितायाः—

तपेन वर्षाः शरदा हिमागमो वसतलक्ष्म्या शिशिरः समेत्य च ।
प्रसूनक्लृप्तिं दधतः सदर्तवः पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बितां ययुः ॥–इति कविवरमाघप्रौढोक्त्याः स्मरणेन हृद्यत्यन्तं चमत्करोति। एतच्च वृत्तिषट्काध्ययनपरैर्विद्वद्भिः स्वयमेवावधारयिष्यते। आश्रितवृत्तीनामाधारवृत्त्युक्तविस्तृतवाक्यसमासोक्तिभिरित्यलम्।

(समयनिर्धारणम्)

तत्र राजमार्तण्डाख्यवृत्तेर्निर्माता जगद्विख्यातवैदुषीविभवः श्रीमान् धारेश्वरो भोजदेवः सर्वशास्त्रपारंगत आसीत् इति 'शब्दानामनुशासनं विदधता पातञ्जले कुर्वता वृत्तिं राजमृगाङ्कसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके' इति तदुक्त्यैवावगम्यते। पण्डितमण्डलीतिलकायमानश्रीबल्लालमेरुतुङ्गादिप्रणीतभोजप्रबन्धविलोकनेन चायं श्रीभोजराजः ख्रिस्ताब्दीयैकादशशतकोत्तरार्धे मालवदेशं प्रशासच्छिशुपालवधकर्तुः श्रीमत्पण्डितशिरोमणेर्माघस्य समकालीनो बभूवेति निर्धार्यते।

भावागणेशस्तु ख्रीस्टीयसप्तदशशताब्द्यां वर्तमानस्य दार्शनिकचूडामणेर्विज्ञानभिक्षोराचार्यस्य शिष्यस्तत्समकालीनस्तदुत्तरसमयवर्ती वाऽष्टादशशताब्द्यां वर्तमानः सांख्यसमाससूत्रयोगसूत्रादीनि व्याचख्याविति,—

कपिलासुरिपञ्चशिखान् गुरून् विज्ञानाचार्यवर्यांश्च ।
प्रणमामि बुद्धिवृद्ध्यै सिद्ध्यै वा सर्वकार्याणाम् ॥

इत्यादितत्त्वयाथार्थ्यदीपनोक्ततदुक्त्या निर्णीयते।

भावागणेशकृतप्रदीपाख्यवृत्तिं शब्दतोऽर्थतश्चानुसरन् स्थलविशेषेषु खण्डयंश्च प्रथितविद्वद्वरेण्यस्य व्याकरणे धर्मशास्त्रे चानेकनिबन्धप्रणेतुर्भट्टोपाभिधस्य नागेशस्य नाम्ना स्ववृत्तिं ख्यापयिष्यन् कश्चिदन्यो नागेशनामा सुधीर्योगसूत्रवृत्तिं व्यदधात् इति मोहमयीमुद्रितबृहन्नागेशीव्याख्यानदर्शनेन विभाव्यते, तदतिरिक्तभावागणेशवृत्त्यनुगामिव्याख्यानान्तरप्रयोजनस्यासम्भवात्। स चायं नागेशकृती भावागणेशानन्तरमष्टादशशताब्द्यामेकोनविंशतितमशताब्द्यां वा बभूवेति निश्चिनुमः।

सहमुद्रितायास्तुरीयमणिप्रभाख्ययोगसूत्रवृत्तेः कर्ता श्रीगोविन्दानन्दयतिप्रवरशिष्यः श्रीरामानन्दयतिर्भाष्याधारेण पातञ्जलदर्शनं टीकयन् क्रमेण प्रसक्तयनुप्रसक्त्यपेक्षितप्रतिपादकत्व–मूलसापेक्षत्व–उत्सूत्रक्रमनिर्वचन–निसर्गगूढता–सिद्धान्तमात्रद्योतनादिभिस्तात्पर्यविशेषनिबन्धनगुणैर्निर्विक्षमाणमानसमुपार्जयितुं यत् पाण्डित्यं स्वकृतवृत्तौ प्रादुरभावयत् तदपि नाव्यक्तं योगशास्त्ररसिकानां विद्वद्वरेण्यानाम्। यद्यपि कदा कुत्र वाऽभूदेष विबुधवर इति न केनाप्यद्यावधि निर्णीतं, तथाप्ययं विज्ञानभिक्षोरर्वाचीनोऽष्टादशशताब्द्यां बभूवेतीतिहासज्ञानां संमतम्। नूतनत्वेऽप्यनेन भाष्यमात्रस्याश्रयणात् उपनिषद्वाक्यानां च विशेषतः प्रमाणतयाऽङ्गीकृतत्वाच्च मणिप्रभायां प्राचीनत्वमेव प्रतिभासितमित्यस्य कृतेर्महत् कौशलम्।

श्रीमदनन्तदेवस्तु भोजवृत्तिमवलम्ब्य चन्द्रिकाख्यं सूत्राक्षरार्थमात्रव्याख्यानं विदधत् एकोनविंशतितमशताब्द्यां बभूवेति तर्क्यते।

योगसुधाकरकर्ता श्रीसदाशिवेन्द्रसरस्वती यतिप्रवरस्त्वस्यामेव शताब्द्यां वर्तमानो मणिप्रभानुगामिनीं योगसूत्रवृत्तिं विशेषतोऽनुभवसिद्धयोगप्रक्रियाप्रदर्शनव्याजेन कुर्वाणो दाक्षिणात्येषु प्रसिद्धो योगिराजो बभूवेति श्रूयते।

तदेवमन्यत्र पृथक्-पृथक् मुद्रितानामासां वृत्तीनां मुद्रणे जातेऽपि विपश्चितां छात्राणां चैकदैकत्रैव सकलवृत्तिकारमतप्रदर्शनेच्छां पूरयितुं बद्धपरिकरेण 'चौखम्बा संस्कृतसीरिज' सम्पादकेन श्रीयुतबाबूजयकृष्णदासगुप्तमहोदयेन स्वकीयविद्याविलासाख्ययंत्रालये वृत्तिषट्कमुद्रणमारिप्सता संशोधनाय प्रार्थितोऽहं स्वावश्यकाध्यापनादिकार्यव्यापृत्यनवशिष्टतत्समुचितप्रात्यहिकानवसरोऽपि तदीयप्रार्थनावशंवदः समभ्युपागममिदं संशुद्धये, विहितं च यथामतीदम्।

एतन्मूलभूतसूत्राणि तु टीकाकारैः स्वस्वमताभिप्रायेण तत्र तत्र पाठभेदं प्रापितानि सर्वपुस्तकेषु विभिन्नान्युपलभ्यन्ते, अत एव विभूतिपादे 'एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तं' इति सूत्रं भावागणेशेनानङ्गीकृतत्वादेतेनेतीत्युक्तत्वाच्च सूत्रानन्तर्गतमपि वाचस्पतिमिश्रैः प्रतीकधारणात् सूत्रान्तर्गतमिति न तस्य सर्वत्रोपलब्धिः। अस्माभिस्तु पूर्वमुद्रितभोजवृत्तिसहितपातञ्जलदर्शनवत् प्राचीनपुस्तकमवलम्ब्य पाठान्तरदर्शनं सुस्पष्टं कृतमिति विभावयन्तु विद्वांसः।

इत्थं कृतयत्नेपि अत्र ग्रन्थे मानुष्यकनान्तरीयकतया जायमानान् दोषान् सहन्तां सौजन्यधुरीणा गुणैकगृह्या साधुवैपश्चितीकाः। प्रीयतां चानेन व्यापारेण सर्वान्तर्यामी भगवान् श्रीराधिकामुखारविन्दचञ्चरीकः श्रीकृष्णचन्द्रः। आशासे चामुष्य सर्वस्य प्रयत्नस्य साफल्यं श्रीमद्गुरुकृपयाऽमत्सरेषु निरूपकेषु इति विज्ञापयति—

विजयादशमी
सं० १९८७

विदुषामनुचरः
ढुण्ढिराजशास्त्री

पातञ्जलदर्शनविषयसूची



अथ पातञ्जलयोगसूत्रपाठः

प्रथमः समाधिपादः

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥
तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥
वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥
वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाः ॥ ५ ॥
प्रमाणविपर्य्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥
प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥
विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥
शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥
अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥
अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥
अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥
तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥
स तु दीर्घकालादरनैरन्तर्य्यसत्कारसेवितो दृढभूमिः ॥ १४ ॥
दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥
तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥
वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः ॥ १७ ॥
विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥
भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥
श्रद्धावीर्य्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकं इतरेषाम् ॥ २० ॥
तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥
मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥
ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥
क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥
स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥
तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥
तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥
ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥
व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽऽलस्याऽविरतिभ्रान्तिदर्शनाऽलब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥
तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥
मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥
प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥
विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना स्थितिनिबन्धिनी ॥ ३५ ॥
विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥
वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥
स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥ यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥
परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥
क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समपत्तिः ॥ ४१ ॥
तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥
स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥
एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥
सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥
ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥
निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥
ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥
श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यां सामान्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥
तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥
तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

अथ द्वितीयस्साधनपादः

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥
समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥
अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ ३ ॥
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥
अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥
दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतै(ते)वास्मिता ॥ ६ ॥
सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥ दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥
स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥
ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥ ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥
सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥
ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥
परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥१५॥
हेयं दुःखमनागतम् ॥१६॥ द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥१७॥
प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥१८॥
विशेषाविशेषलिङ्गमात्रलिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥
द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥
तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा ॥ २१ ॥
कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥
स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥
तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥
तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥
विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥
तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिप्रज्ञा ॥ २७ ॥
योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः ॥ २८ ॥
यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥२९॥
अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥
एते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥
शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥
वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥
वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्या-
धिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥
अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥
सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥
अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥
ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥
अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः ॥ ३९ ॥
शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्ग ॥ ४० ॥
सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रतेन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥
संतोषादनुत्तमः सुखलाभः ॥४२॥ कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥४३॥
स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥ ४४ ॥
समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥
प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥
ततो द्वंद्वानभिघातः ॥ ४८ ॥
तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥
स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः
बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥
ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥
धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥
स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥
ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

अथ तृतीयो विभूतिपादः

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥
तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥
तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥
त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥ तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥
तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥ त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥
तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥
व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधलक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥
तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥
सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥
शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥
एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥
शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥
क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥
परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥
शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥
संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥
प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥
न तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ २० ॥
कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशासंयोगेऽन्तर्धानम् ॥२१॥

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥२२॥
मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥ बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥
प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥
भुवनज्ञानं सूर्यसंयमात् ॥ २६ ॥
चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥
ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥
नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥
कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥
कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥
मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥
प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥ हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥
सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषाद्भोगः परार्थान्यस्वार्थ-
संयमात्पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥
ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥
ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥
बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥
उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥
समानजयात्प्रज्वलनम् ॥ ४० ॥
श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥
कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाऽऽकाशगमनम् ॥४२॥
बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥
स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः ॥ ४४ ॥
ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥
रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत् ॥ ४६ ॥
ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥
ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥
सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥४९॥
तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥
स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥
क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ॥
जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥
तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥
सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ॥ ५५ ॥

अथ चतुर्थः कैवल्यपादः

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥
जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥
निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥
निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥
प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥
तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥
कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥
ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥
जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥
तासामनादित्वमाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥
हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥
अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥
ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥१३॥ परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥१४॥
वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विविक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥
तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १६ ॥
सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १७ ॥
न तत्स्वाभासं दृश्यत्वत् ॥१८॥ एकसमये चोभयानवधारणम् ॥१९॥
चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥ २० ॥
चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २१ ॥
द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २२ ॥
तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २३ ॥
विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः ॥ २४ ॥
तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २५ ॥
तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २६ ॥
हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २७ ॥
प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥२८॥
ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ २९ ॥
तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्याऽऽनन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३० ॥
ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३१ ॥
क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३२ ॥
पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति ॥ ३३ ॥

इति पातञ्जलयोगसूत्रपाठः ।

टीकाषट्कसमेतं

पातञ्जलदर्शनम्

तत्र

भोजदेवकृता

पातञ्जलयोगसूत्रवृत्तिः

भोजवृत्तिः ।

देहार्द्धयोगः शिवयोः स श्रेयांसि तनोतु वः ।
दुष्प्रापमपि यत्स्मृत्या जनः कैवल्यमश्नुते ॥ १ ॥
त्रिविधान्यपि दुःखानि यदनुस्मरणान्नृणाम् ।
प्रयान्ति सद्यो विलयं तं स्तुमः शिवमव्ययम् ॥ २ ॥
पतञ्जलिमुनेरुक्तिः काप्यपूर्व्वा जयत्यसौ ।
पुंप्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यथा (१) ॥ ३ ॥
जयन्ति वाचः फणिभर्त्तुरान्तरस्फुरत्तमस्तोमनिशाकरत्विषः ।
विभाव्यमानाः सततं मनांसि याः सतां सदाऽऽनन्दमयानि कुर्वते ॥ ४ ॥
शब्दानामनुशासनं विदधता पातञ्जले कुर्वता वृत्तिं राजमृगाङ्कसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके ।
वाक्चेतोवपुषां मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृतस्तस्य श्रीरणरङ्गमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः ॥ ५ ॥
दुर्बोधं यदतीव तद्धि जहति(२) स्पष्टार्थमित्युक्तिभिः स्पष्टार्थेष्वतिविस्तृतिं विदधति व्यर्थैः समासादिकैः।
अस्थानेऽनुपयोगिभिश्च बहुभिर्जल्पैर्भ्रमं तन्वते श्रोतृणामिति वस्तुविप्लवकृतः सर्वेऽपि टीकाकृतः ॥ ६ ॥
उत्सृज्य विस्तरमुदस्य विकल्पजालं फल्गुप्रकाशमवधार्य्य च सम्यगर्थान् ।
सन्तः पतञ्जलिमते विवृतिर्मयेयमातन्यते बुधजनप्रतिबोधहेतुः ॥ ७ ॥

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

अनेन सूत्रेण शास्त्रस्य सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनान्याख्यायन्ते । अथशब्दोऽधिकारद्योतको मङ्गलार्थकश्च । योगो युक्तिः समाधानम् । 'युज समाधौ' । अनुशिष्यते व्याख्यायते लक्षणभेदोपायफलैर्येन तदनुशासनम् । योगस्यानुशासनम् योगानुशासनम् । तद् आ शास्त्रपरिसमाप्तेरधिकृतं बोद्धव्यमित्यर्थः । तत्र शास्त्रस्य व्युत्पाद्यतया योगः ससाधनः सफलोऽभिधेयः । तद्व्युत्पादनञ्च फलम् । व्युत्पादितस्य योगस्य कैवल्यं फलम् । शास्त्राभिधेययोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावलक्षणः सम्बन्धः । अभिधेयस्य योगस्य तत्फलस्य च कैवल्येन साध्यसाधनभावः । एतदुक्तं भवति । व्युत्पाद्यस्य योगस्य साधनानि शास्त्रेण प्रदर्श्यन्ते तत्साधनसिद्धो योगः कैवल्याख्यं फलमुत्पादयति ॥ १ ॥

भावागणेशविरचिता योगसूत्रवृत्तिः ।

नानोपाधिषु योऽशकाननलवत्संयोज्य मायाबलाद्भात्येको बहुलात्मतामत इयं स्वाभाविकी यस्य नो ।
तांश्चान्ते निजमायया विरचितान्स्वांशानुपाधीनहो संहृत्याद्वय एव तिष्ठति पुनस्तस्मै परस्मै नमः १॥

---

(१) येयाति पाठान्तरम् । (२) तान्निजहतीति पाठान्तरम् ।

मन्दधीसुखबोधाय सारार्थस्पष्टभाषिणीम् । भावागणेशः कुरुते योगसूत्रेषु दीपिकाम् ॥ २ ॥

भाष्ये परीक्षितो योऽर्थो वार्तिके गुरुभिः स्वयम् । सङ्क्षिप्तः सिद्धवत्सोऽस्यां युक्तिसूक्ताधिका क्वचित् ॥३॥

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् ।

ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥

इत्यादिश्रुतिषु मुमुक्षूणां योगविधिरनुष्ठानार्थं ज्ञेयतयावगम्यते । अतो योगविधिमुपदिदिक्षुर्भगवान्पतञ्जलिः शिष्यावधानाय तच्छास्त्रारम्भं प्रतिजानीते अथ० ।

अथशब्दोऽत्र उच्चारणमात्रेण मङ्गलरूपोऽधिकारवाचकः न प्रश्नानन्तर्याद्यर्थकः, 'शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव प्रपूर्यते' इति न्यायेन शब्दानुपस्थितार्थानन्तर्यार्थकत्वानौचित्यात् । शिष्यप्रश्नगुर्वाज्ञालोकानुकम्पादीनामविशेषेण शास्त्ररचनाप्रयोजकतया कस्यानन्तर्यं तात्पर्यामित्यवधारयितुमशक्यत्वात् । हिरण्यगर्भादिना शिष्टस्य शासनमनुशासनं शास्त्रम्, शास्यते अनेन इति व्युत्पत्तेः । तथाच हिरण्यगर्भादिगुरूपदिष्टस्य योगस्य शास्त्रमधिकृतम्, आरब्धमित्यर्थः ॥ १ ॥

नागोजीभट्टनिर्मिता योगसूत्रवृत्तिः ।

अथ योगानुशासनम् । अथशब्दः स्वरूपेण मङ्गलं दध्यादिवत्, अधिकारद्योतकश्च । योगोऽनुशिष्यते विविच्य बोध्यतेऽनेनेति योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं बोद्धव्यमित्यर्थः । हिरण्यगर्भाद्युपदिष्टस्यैव योगस्य विविच्य बोधनमत्रेति बोध्यम् ॥ १ ॥

मणिप्रभाख्या योगसूत्रवृत्तिः ।

वन्दे क्लेशाद्यसंस्पृष्टं पुराणपुरुषं हरिम् ।

प्रकृत्या सीतया जुष्टं योगेशं योगदायिनम् ॥ १ ॥

पतञ्जलिं सूत्रकृतं प्रणम्य व्यासं मुनिं भाष्यकृतं च भक्त्या ।

भाष्यानुगां योगमणिप्रभाऽऽख्यां वृत्तिं विधास्यामि यथामतीद्धाम ॥ २ ॥

इह खलु भगवान्पतञ्जलिः प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यङ्गं शास्त्रप्रतिपाद्यं दर्शयति अथ० । अत्र अथ शब्द आरम्भार्थः योगशास्त्रमारभ्यत इत्यर्थः । यद्यपि हिरण्यगर्भेण शास्त्रं कृतं तथाऽपि तद्विस्तृतमिति मत्वा तदनुसृतं शास्त्रमारभ्यत इति द्योतयति अनुशासनमिति । अत्र सूत्रे योगः शास्त्रप्रतिपाद्य उक्तः, अर्थात्तज्जिज्ञासुरधिकारी, फलं तु योगस्य कैवल्यं, यथायोगं तेषां सम्बन्ध, इत्यनुबन्धचतुष्टयं द्रष्टव्यम् । तत्र योगो द्विविधः संप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातश्चेति । स च चित्तस्य धर्मः वृत्तीनां चित्तधर्मत्वेन तन्निरोधरूपयोगस्यापि तद्धर्मत्वात् । तस्य चित्तस्य पञ्च भूमयः–क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति । रजसाऽत्यन्तं चलं क्षिप्तं दैत्यानां; तमसा निद्रादिमन्मूढं रक्षसां; क्षिप्ताद्विशिष्टं विक्षिप्तं देवादीनाम्; अत्यन्तचलचित्तस्य कादाचित्कं स्थिरत्वं विशेषः । तत्र क्षिप्तमूढयोर्योगगन्धोऽपि नास्ति । विक्षिप्ते तु चित्ते कादाचित्को योगः प्रचुरविक्षेपवह्निदग्धोऽप्रतिष्ठितो निष्फलो न योगपक्षे वर्तते । एकाग्रे तु सत्त्वप्रधाने एकविषयस्थिते चित्ते रजस्तमोवृत्तिनिरोधः सात्त्विकवृत्तिविशेषः संप्रज्ञातयोगो भवति । तेन शब्दानुमानाभ्यां परोक्षत्वेन ज्ञातार्थः साक्षात्क्रियते, साक्षात्कारादविद्यादिक्लेशक्षयः, ततः पुण्यपापकर्मणां दाहः, ततोऽसंप्रज्ञातो योगः, सात्त्विकवृत्तेरपि निरोधः संस्कारमात्रशेषे निरुद्धे चित्ते भवति । तदाह भाष्यकारः–"यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति, स संप्रज्ञातो योग इत्याख्यायत" इति ॥ १ ॥

अनन्तपण्डितकृता योगचन्द्रिका ।

गुरुं प्रणम्य सूत्रार्थचन्द्रिका क्रियते मया ।

अनन्तेनेश्वरप्रीत्यै सच्चिदानन्दरूपिणम् ॥

अथशब्दोऽधिकारवाची योगो नाम समाधानम् । अनुशिष्यते व्याख्यायते येन तत् ॥ १ ॥

योगसुधाकराख्या योगसूत्रवृत्तिः।

यद्भावनादवापीयं प्रत्यक्चितिरनामया।
क्लेशकर्माशयसंस्पृष्टं तमीशं कंचनाभजे ॥ १ ॥
श्रीमत्पतञ्जलेस्तस्य पदद्वन्द्वमनिन्दितम्।
वन्दे येन मनःकायवाचां शुद्धिरकार्यसौ ॥ २ ॥
विचारलं मया लब्धं यत्कृपापारवारिधेः।
वन्दे तान्विबुधैर्वन्द्यान्वन्दकानन्ददान्गुरून् ॥ ३ ॥
श्रीमद्देशिकवक्त्राब्जान्निशम्याथ विलोड्य ताम्।
फणीन्द्रभणितेः कांचिद्वृत्तिरारभ्यते मया ॥ ४ ॥

इह खलु भगवानन्पतञ्जलिः प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यौपयिकं शास्त्रप्रतिपाद्यं दर्शयति—अथ०।

अत्र अथशब्दः आरम्भार्थः, अर्थान्मङ्गलार्थश्च। 'युज समाधौ' इति धातोर्योगः समाधिः; तस्यानुशासनं हैरण्यगर्भं शास्त्रमनुसृत्य शिष्यते व्याख्यायते समाधनः सफलः समाधिरनेनेत्यनुशासनं शास्त्रम्। तथा च कस्मैचित्कैवल्यकामाय प्रतिपाद्ययोगप्रतिपादकं शास्त्रमारभ्यत इत्यक्षरार्थः। तत्र समाधिर्द्विविधः संप्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्चेति। स च चित्तस्य धर्मः। चित्तं हि त्रिगुणात्मकत्वात्पञ्चभूम्युपेतम्। भूमयश्च—क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति। तत्र रजसा विषयेषु क्षिप्यमाणं क्षिप्तम्; तमसा निद्रालस्यादिवृत्तिमन्मूढम्; ईषद्रजस्तमःसंस्पृष्टेन सत्त्वेन कादाचित्कध्यानयुक्ततया क्षिप्ताद्विशिष्टं विक्षिप्तम्; विधूतरजस्तमोमलेन शुद्धसत्त्वेनैकाग्रमेकतानम्; प्रशान्तसकलवृत्तिकं संस्कारशेषं निरुद्धम्। एवं च आद्यभूमित्रयपरित्यागेनावशिष्टभूमिद्वयोपेतस्य चित्तस्य समाधिद्वयं धर्म इति विवेकः ॥१॥

भोजवृत्तिः।

तत्र को योगः? इत्याह—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

चित्तस्य निर्मलसत्त्वपरिणामरूपस्य या वृत्तयोऽङ्गाङ्गिभावपरिणामरूपास्तासां निरोधो बहिर्मुखतया परिणतिविच्छेदादन्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामेन स्वकारणे लयो योग इत्याख्यायते। स च निरोधः सर्वासां चित्तभूमीनां सर्वप्राणिनां धर्मः कदाचित् कस्यांश्चित् बुद्धिभूमावाविर्भवति। ताश्च क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तस्य भूमयश्चित्तस्यावस्थाविशेषाः। तत्र क्षिप्तं रजस उद्रेकादस्थिरं बहिर्मुखतया सुखदुःखादिविषयेषु विकल्पितेषु व्यवहितेषु संनिहितेषु वा रजसा प्रेरितं, तच्च सदैव दैत्यदानवादीनाम्। मूढं तमस उद्रेकात् कृत्याकृत्यविभागमन्तरेण क्रोधादिभिः विरुद्धकृत्येष्वेव नियमितं, तच्च सदैव रक्षःपिशाचादीनाम्। विक्षिप्तं तु सत्त्वोद्रेकात् वैशिष्ट्येन परिहृत्य दुःखसाधनं सुखसाधनेष्वेव शब्दादिषु प्रवृत्तं, तच्च सदैव देवानाम्। एतदुक्तं भवति। रजसा प्रवृत्तिरूपं तमसा परापकारानियतं सत्त्वेन सुखमयं चित्तं भवति। एतास्तिस्रश्चित्तावस्थाः समाधावनुपयोगिन्यः। एकाग्रनिरुद्धरूपे द्वे च सत्त्वोत्कर्षाद्यथोत्तरमवस्थितत्वात् समाधावुपयोगं भजेते। सत्त्वादिक्रमव्युत्क्रमे तु अयमभिप्रायः। द्वयोरपि रजस्तमसोरत्यन्तहेयत्वेऽप्येतदर्थं रजसः प्रथममुपादानम्; यावन्न प्रवृत्तिर्दर्शिता तावन्निवृत्तिर्न शक्यते दर्शयितुमिति द्वयोर्व्यत्ययेन प्रदर्शनम्। सत्त्वस्य त्वेतदर्थं पश्चात् प्रदर्शनं यत्तस्योत्कर्षेणोत्तरे द्वे भूमी योगोपयोगिन्याविति। अनयोर्द्वयोरेकाग्रनिरुद्धयोर्भूम्योर्यश्चित्तस्यैकाग्रतारूपः परिणामः स योग इत्युक्तं भवति। एकाग्रे बहिर्वृत्तिनिरोधः। निरुद्धे च सर्वासां वृत्तीनां संस्काराणां च प्रविलय इत्यनयोरेव भूम्योर्योगस्य सम्भवः ॥ २ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

उपदिष्टं योगं लक्षयति सूत्राभ्याम्—योगश्चि०तदा द्र०।

चित्तस्यान्तःकरणस्य वक्ष्यमाणा या वृत्तयः तासां निरोधो निवर्तनं योग इत्यर्थः। इदं च चित्ते

निवर्तनं जीवनयोनियत्नवदतीन्द्रियः प्रयत्नविशेषश्चित्तनिग्रहरूपो वृत्तिविलयहेतुर्न तु वृत्त्यभाव एव, वक्ष्यमाणसंस्कारजनकत्वस्यानुपपत्तेः, अभावस्य संस्कारजनकत्वेऽतिप्रसङ्गादिति। अत्र सर्ववृत्तिनिरोधावचनेन सम्प्रज्ञातयोगोऽपि संगृहीतः। योगो हि द्विविधः—सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्च। अत्राद्यो ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधः। अन्त्यस्तु सर्ववृत्तिनिरोधः। वृत्तिनिरोधस्तूभयसाधारण इति ॥ २ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः

योगलक्षणमाह—**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**। चित्तस्यान्तःकरणस्य वक्ष्यमाणा या वृत्तयस्तासां निरोधो निवर्तनं योग इत्यर्थः। वृत्तिनिवर्तनं च जीवनयोनियत्नवदतीन्द्रियो यत्नविशेषश्चित्तनिग्रहरूपो वृत्तिविलयहेतुः, चित्तस्य वृत्तिसंस्कारशेषावस्था वा अभावस्याधिकरणावस्थाविशेषरूपत्वात्। सा चावस्था तारतम्यविशिष्टसंस्कारपरिणामधारा नतु वृत्त्यभाव एव, वक्ष्यमाणसंस्कारजनकत्वानुपपत्तेः, अभावस्य संस्कारजनकत्वेऽतिप्रसङ्गात्, संस्कारवृद्धिं विनानुदिनं योगस्य कालवृद्धौ नियामकान्तरासम्भवात्। अत्र सर्ववृत्तिनिरोधावचनात्संप्रज्ञातयोगोऽपि संगृहीतः। द्विविधो योगः सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्च। तत्र यो ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधः स च विषयान्तरसञ्चाराख्यप्रतिबन्धकनिवृत्तिरूपतया विषयान्तरवासनाभिभवद्वारा धर्मविशेषद्वारा च ध्येयसाक्षात्कारहेतुः। चित्तं हि स्वत एव सर्वार्थग्रहणक्षमं विभु च। तमसावरणादेव तु न सर्वदा सर्वं गृह्णाति। अतस्तमोवर्धकानां विषयान्तरवासनापापादीनां क्षये [योगतो वृत्तिः] स्वयमेव ध्येयं वस्तु साक्षात्क्रियते चित्तेनेति सिद्धान्तः। अन्त्यः सर्ववृत्तिनिरोधः। अत्रेदं बोध्यम्। क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति पञ्च चित्तस्यावस्थाविशेषाः। तत्र क्षिप्तं रजस उद्रेकादत्यन्तमस्थिरं शब्दानुरागि च, यथा दैत्यदानवादीनाम्। मूढं तमःसमुद्रेकात्कृत्याकृत्याविचारशून्यं क्रोधादियुतं निद्रादिमदधर्माद्यनुरागि च। यथा रक्षःपिशाचादीनाम्। विक्षिप्तं सत्त्वोद्रेकाद्दुःखसाधनपरिहारेण सुखसाधनेष्वेव प्रवृत्तम्, यथा देवानाम्। चित्तं हि रजसा प्रवृत्तिशीलं, तमसा परापकारनिरतं, सत्त्वेन सुखमयं भवति। आसु तिसृषु विद्यमानोऽपि यत्किञ्चिच्चित्तवृत्तिनिरोधो न योगपक्षे तत्प्रतिद्वन्द्विविक्षेपोपसर्जनत्वात्। एकाग्रत्वं ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधः। तत्र हि सति कूटस्थनित्यचित्स्वरूपस्य हृदयदेशेऽन्तःकरणावच्छेदेनाभिव्यक्तस्य साक्षात्कारो भवति। साक्षात्कारे चाविद्योच्छेदात्तन्मूलक्लेशक्षयो भवति। अस्यामवस्थायां संप्रज्ञातयोगः। अत्र रजस्तमोमयवृत्तेः सर्वथा निरोधः। सात्त्विकी त्वात्मविषयास्त्येव। अस्य च ध्येयवस्तुपुरुषतत्त्वसाक्षात्कारद्वारा क्लेशाद्युच्छेदकत्वेन मोक्षहेतुता। निरुद्धं निरुद्धसकलवृत्तिसंस्कारमात्रशेषम्। अत्र सर्ववृत्तिनिरोधेऽसम्प्रज्ञातः। अस्य चाखिलवृत्तिसंस्कारदाहद्वारा प्रारब्धस्याप्यतिक्रमेण मोक्षहेतुतेति वक्ष्यामः। तदुक्तं—

एकाग्रता चेद्बाह्यादौ निरोधश्चेच्चिदात्मनि।
क्षिप्तादित्रिभुवस्त्यागात्कस्य मोक्षोऽत्र दूरतः॥ इति॥

यदा हि तमो रजोगुणमपि विजित्य त्रिगुणात्मकेऽपि चित्तं प्रधानं सत्त्वमावृणोति तदा रजस्तमःसमुत्सारणेऽशक्तत्वात्तमसा स्थगितं चित्तमधर्मावैराग्याद्युपगच्छति। एवं सर्वत्रेच्छाप्रतिघातरूपमनैश्वर्यं चोपगच्छति, विपर्ययज्ञानात्मकमज्ञानं निद्रारूपं चोपगच्छति। इदं मूढम्। यदा हि स्वन्यूनाभ्यां परस्परसमाभ्यां रजस्तमोभ्यां संसृष्टं सत्त्वं तदाऽणिमाद्यैश्वर्यशब्दादिविषयप्रियं भवति। इदं क्षिप्तमायम्। यदा हि क्षीणतमस्करजसानुविद्धसत्त्वकं तदा धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति। इदं विक्षिप्तम्। यदा तु लेशतोऽपि रजस्तमोमलरहितसत्त्वकं चित्तं तयोरपगमे संसारहेतुत्वादिदोषदर्शनान्निरुद्धबाह्यवृत्तिकं स्वरूपप्रतिष्ठं स्वाभाविकप्रसादादियुतं तदा सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूपविवेकोपगं तन्मात्रवृत्तिकं भवति। एतदेवैकाग्रमित्युच्यते। अस्यैव परा काष्ठा धर्ममेघसमाधिः, यत्र चित्तस्य ध्यानमात्रप्रियता भवति। यदा तु चिच्छक्त्यपेक्षया विवेकख्यातौ सत्त्वगुणात्मकत्वेनाधमत्वं गृह्णाति चिच्छक्तिः पुरुषाख्याऽपरिणामित्वात् बुद्धिवत्क्रियाराहित्येन विषयदेशे गमनरूपप्रतिसंक्रमरहिता विषयसङ्गरहिता च बुद्ध्या स्ववृत्तिद्वारा दर्शितविषया सुखदुःखमोहात्मकत्वरूपाशुद्धिरहिता अनन्ता च, विवेकख्यातिस्तु सत्त्व-

गुणकार्योपि परिणामिनी दीपशिखावद्विषयेषु सञ्चरणात्प्रतिसंक्रमवती जडा सुखदुःखाद्युद्धिमती परिच्छिन्नत्वादन्तवती, सुखमपि विवेकिनो दुःखवद्धेयमेवेति तस्यामपि विरज्यते चित्तं, तदा सर्ववृत्तिनिरोध इति बोध्यम् । इदं निरुद्धम् ॥ २ ॥

मणिप्रभा ।

अधुना द्विविधस्य योगस्य साधारणं लक्षणमाह योगश्चि० ।

चित्तस्य रजस्तमोवृत्तीनां निरोधो योग इत्यर्थः । अतः संप्रज्ञाते सात्त्विकवृत्तिसत्त्वेऽपि नाव्याप्तिः । नन्वेकस्य चित्तस्य क्षिप्ताद्यनेकभूमयः कुत इति चेत्, चित्तस्य त्रिगुणात्मकत्वादिति ब्रूमः । चित्तं हि ज्ञानसुखादिशीलत्वात्प्रवृत्तिगुणादिमत्त्वादालस्यदैन्यादिमत्त्वाच्च सत्त्वरजस्तमोगुणकं भवति । तत्र सत्त्वात्किञ्चिदूने रजस्तमसी मिथः समे यदा भवतः तदा सत्त्वात् तद्ध्यानाभिमुखं भूत्वा तमसा तत्पिधाने सति रजसैश्वर्यं कामयमानं विषयप्रियं भवति विक्षिप्तम् । यदा तु तमःप्रधानं चित्तं मूढं तदाऽश्रेयोऽधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्यमुपगच्छति । अज्ञानमत्र भ्रमो निद्रा च । रजःप्रधानं तु क्षिप्तम् । इमे क्षिप्तमूढे सर्वसाधारणे भवतः । विक्षिप्तं तु प्रथमयोगिनः । सन्ति हि चत्वारो योगिनः—प्रथमकल्पिका, मधुभूमिकः, प्रज्ञाज्योतिः, अतिक्रान्तभावनीयश्चेति । तेषां लक्षणं तु वक्ष्यते । यदि पुनः सत्त्वप्रधानं वितमस्कं सरजस्कं भवति तदैकाग्र्यं संप्रज्ञातयोगासिद्धयोर्मध्यमयोगिनोश्चित्तं धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यवद्भवति । यदा तु विधूतरजस्तमोमलं शुद्धसत्त्वं चित्तं तदानीं विवेकख्यातिं कृत्वा पुरुषमात्रध्यानं धर्ममेघाख्यं करोति तत्परं प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः । "चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता चेति" निश्चित्य सत्त्वगुणविकृतौ विवेकख्यातावपि विरक्तं सच्चित्तं तां निरुध्य संस्कारमात्रशेषं भवति चतुर्थस्य योगिनः । सोऽयमसंप्रज्ञातसमाधिः । अत्र हि न हि किञ्चित्प्रज्ञायत इत्यलम् । चितिशक्तिरित्याद्यनन्ता चेत्यन्तं भाष्यम् । तत्राप्रतिसंक्रमेत्यस्य बिले सर्पवद्बुद्ध्यादौ प्रविश्य न सञ्चरतीत्यर्थः । बुद्ध्या दर्शिता विषया यस्याः सा दर्शितविषया सुखदुःखमोहशून्या शुद्धेत्यर्थः ॥२॥

चन्द्रिका ।

सत्त्वपरिणामरूपस्य चित्तस्य या वृत्तयस्तासां निरोधो बहिर्मुखताविच्छेदादन्तर्मुखतया स्वकारणे लयः ॥ २ ॥

योगसुधाकरः ।

अधुना द्विविधस्य समाधेः साधारणं लक्षणं लक्षयति—योगश्चि० ।

रजस्तमोवृत्त्योर्निरोधो योग इत्यर्थः । अतः सात्त्विकवृत्तिसत्त्वेऽपि सम्प्रज्ञाते नाव्याप्तिः ॥ २ ॥

भोजवृत्तिः ।

इदानीं सूत्रकारश्चित्तवृत्तिनिरोधपदानि व्याख्यातुकामः प्रथमं चित्तपदं व्याचष्टे—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

द्रष्टुः पुरुषस्य तस्मिन् काले स्वरूपे चिन्मात्रतायामवस्थानं स्थितिर्भवति । अयमर्थः—उत्पन्नविवेकख्यातेश्चित्संक्रमाभावात् कर्तृत्वाभिमानानिवृत्तौ प्रोच्छन्नपरिणामायां (१)बुद्धौचाऽऽत्मनः स्वरूपेणावस्थानं स्थितिर्भवति ॥ ३ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

नन्वेवं व्युत्थानकालीने यत्किञ्चिद्वृत्तिनिरोधेऽतिव्याप्तिः । किञ्च वृत्तिविषयकबोधस्वरूप एव पुरुषः काष्ठाग्निवदिति योगसांख्ययोः सिद्धान्तः, अतो वृत्तिविलये तदनुभवरूपः पुरुषोऽपि नश्येत् काष्ठापायेऽग्निवत्, ततश्च योगकाले कः पुरुषार्थ इत्यपेक्षायामिदं सूत्रं प्रवर्तते—तदा० ।

तदेत्यनेन निरोधविशेष एवासंप्रज्ञाताख्यः परामृश्यते, योग्यताबलात् । संप्रज्ञाते स्वरूपावस्थानाभावस्योत्तरसूत्रे वक्ष्यमाणत्वात् । तदा सर्ववृत्तिनिरोधकाले द्रष्टुः दृष्टिस्वरूपस्य पुरुषस्य स्वरूपे निर्वि-

(१) बुद्धावात्मन इति पाठान्तरम् ।

षयाचिन्मात्ररूपे अवस्थानं भवति। स्वतो धर्मतो वा न नाशशङ्कास्तीत्यर्थः। तदुक्तं वासिष्ठे—

अस्मम्भवति सर्वत्र दिग्भूमाकाशरूपिणा।
प्रकाश्ये यादृशं रूपं प्रकाशस्यामलं भवेत्॥
अहं त्वं जगदित्यादौ प्रशान्ते दृश्यसंभ्रमे।
स्यात्तादृशी केवलता स्थिते द्रष्टर्यवीक्षणे॥ इति।

इदानीं च वृत्त्यभावात्तदनुगतदुःखभोगानिवृत्तिः पुरुषार्थः। तदा द्रष्टुः स्वरूपावस्थितिहेतुचित्त-वृत्तिनिरोधो योगलक्षणम्। तच्च न व्युत्थानकालीनस्यास्तीति नातिव्याप्तिरिति भावः। संप्रज्ञातस्या-सम्प्रज्ञात द्वारा स्वरूपावस्थितिहेतुत्वमुपपादनीयम्॥ ३॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

नन्वेवं व्युत्थानकालीने यत्किंचिद्वृत्तिनिरोधेऽतिव्याप्तिः। किञ्च वृत्तिविषयकबोधस्वरूप एव पुरुष इति वृत्तिविलये तदनुभवरूपः पुरुषोऽपि नश्येत्, काष्ठापायेऽग्निवदित्यत आह—**तदा द्रष्टुः स्व-रूपेऽवस्थानम्**। तदेत्यनेन योग्यताबलात् सर्ववृत्तिनिरोधरूपोऽसंप्रज्ञातः परामृश्यते। सम्प्रज्ञाते तद-भावस्योत्तरसूत्रारूढत्वात्। तदा सर्ववृत्तिनिरोधे द्रष्टुः ज्ञानस्वरूपस्य स्वस्वरूपे निर्विषयाचिन्मात्ररू-पत्वे अवस्थानं भवतीत्यर्थः। जपापाये स्फटिकस्येव वृत्त्यपाये पुरुषस्य वृत्तिप्रतिबिम्बशून्यस्य स्वरूपेऽवस्थानमिति भावः। एवञ्च तदा वृत्त्यभावात्तदनुगतदुःखादिभोगानिवृत्तिः पुरुषार्थः। पुरुष-स्यैतदेव स्वरूपं न बुद्धिवृत्तिविषयबोधः, तस्यौपाधिकत्वात्। तत्रोपाधिनिवृत्तावप्युपाहितानिवृत्तिरिति न तन्नाशप्रसङ्गः। एवञ्च द्रष्टुरात्यन्तिकस्वरूपावस्थितिहेतुश्चित्तवृत्तिनिरोधो योगलक्षणम्। क्लेशकर्मा-दिपरिपन्थिचित्तवृत्तिनिरोधो वा। तच्च न व्युत्थानकालिकनिरोधे इति न तत्रातिव्याप्तिः। संप्रज्ञातस्य चासंप्रज्ञातद्वारा स्वरूपावस्थितिहेतुत्वम्। प्रलयकालीनस्य समप्रसुषुप्तिकालीनस्य च निरोधस्य व्या-वृत्तये आत्यन्तिकेति। स्वरूपावस्थानं चौपाधिकरूपानिवृत्तिपूर्वकः स्वरूपाप्रच्यवः। तन्निवृत्तिश्चोपा-धिनिवृत्त्येति दिक्॥ ३॥

मणिप्रभा।

ननु बुद्धिवृत्तिस्वभावस्य पुरुषस्य वृत्तिनिरोधे कथं स्थितिरित्यत आह तदा०।

यदा चित्तस्य शान्तघोरमूढानां सर्वासां वृत्तीनां निरोधस्तदा द्रष्टुश्चिदात्मनः स्वाभाविके रूपे स्थि-तिः कुसुमापाये यथा स्फटिकस्य तथेत्यर्थः। पुरुषस्य चैतन्यमात्रं स्वभावो न वृत्तय इति भावः॥ ३॥

चन्द्रिका।

तस्मिन् समाधिनिरोधकाले द्रष्टुः पुरुषस्य स्वरूपे चिन्मात्रे अवस्थानं स्थितिर्भवति॥ ३॥

योगसुधाकरः।

ननु बुद्धिवृत्तिस्वभावायाश्चितिशक्तेर्वृत्तिनिरोधे कथं स्थितिरित्याशङ्क्याह—तदा०।

यदा सर्वासां वृत्तीनां निरोधः तदा द्रष्टुश्चितिशक्तेः स्वाभाविके स्वरूपे स्थितिः कुसुमापगमे स्फटि-कमणेरिवेत्यर्थः। चितिशक्तेश्चैतन्यमात्रं स्वभावो न वृत्तय इति भावः॥ ३॥

भोजवृत्तिः।

व्युत्थानदशायान्तु तस्य किं रूपम्? इत्याह—

वृत्तिसारूप्यमितरत्र॥ ४॥

इतरत्र योगादन्यस्मिन् काले वृत्तयो या वक्ष्यमाणलक्षणास्ताभिः सारूप्यं तद्रूपत्वम्। अयमर्थः— यादृश्यो वृत्तयो दुःखमोहसुखाद्यात्मिकाः(१) प्रादुर्भवन्ति तादृग्रूप एव संवेद्यते व्यवहर्तृभिः पुरुषः। तदेवं यस्मिन्नेकाग्रतया परिणते चित्तिशक्तेः स्वस्मिन् स्वरूपे प्रतिष्ठानं भवति, यस्मिंश्चेन्द्रियवृत्तिद्वारेण

(१) सुखदुःखमोहात्मिका इति पाठान्तरम्।

विषयाकारेण परिणते पुरुषस्तद्रूपाकार एव परिभाव्यते, यथा जलतरङ्गेषु चलत्सु चन्द्रमण्डलमिव प्रतिभासते तच्चित्तम् ॥ ४ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

योगकालेऽनर्थनिवृत्तिं प्रदर्श्य कूटस्थनित्यस्याप्ययोगकाले तद्विपर्ययं दर्शयति—वृत्ति० ।

इतरत्र वृत्तिकाले वृत्तिसादृश्यं द्रष्टुर्भवतीत्यर्थः । वृत्तीनां सुखदुःखमोहात्मकघटाद्याकारतया चैतन्यमपि तत्प्रतिबिम्बवशात्तद्रूपमिव भवति । यथा जपालौहित्येन स्फटिकोऽपि लोहित इव भवति तद्वत् । इदमेव द्रष्टुर्वृत्तिसारूप्यं विषयोपरक्तवृत्तिग्रहणम् । तदा सुखदुःखभोगरूपोऽनर्थोऽपीति भावः । 'आदानस्य ग्रहणत्वादभ्यवहरणस्य च भोगत्वात्' इति वार्तिके चैतद्गुरुचरणैः प्रसाधितं प्रपञ्चितं च, अत्र सूत्राभ्यामेतत्सिद्धम् । वृत्तिकाल एव पुरुषस्य दुःखभोगरूपः संसारो वृत्तिवियोगे च तन्निवृत्तिरूपं कैवल्यमतो वृत्तयो निरोद्धव्या इति । इदं च योगस्यापातफलमुक्तम् । मुख्यफलं तु संप्रज्ञातयोगस्य ध्येयसाक्षात्कारः । असंप्रज्ञातयोगस्य च तत्त्वज्ञानसाधारणाखिलज्ञानवासनाक्षयेण प्रारब्धमप्यतिक्रम्याशु मोचनमिति वार्तिककृद्भिः प्रपञ्चितम् ॥ ४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

इदानीमसंप्रज्ञातव्यतिरिक्ते व्युत्थानकाले चिच्छक्तेस्तादृशस्वरूपाया अपि औपाधिकमनर्थयोगं दर्शयति योगे लोकानां प्रवृत्त्यर्थं—वृत्तिसारूप्यमितरत्र । इतरत्र योगाभावकाले समानमेकं रूपं यस्य स सरूपस्तस्य भावः सारूप्यं वृत्तिभिः सारूप्यमित्यर्थः । व्युत्थाने हि बिम्बप्रतिबिम्बरूपयोर्बुद्धिवृत्तिपुरुषवृत्त्योः सारूप्यम् । वृत्तयोऽपि दीपशिखा इव द्रव्यरूपा भङ्गुराश्चित्तस्य परिणामाः ; न चापरिणामिनः पुरुषस्य वृत्तिः, दर्शितविषयत्वात् । बुद्ध्या निवेदितविषयत्वं हि तत्त्वं, निवेदनं च स्ववृत्त्यारूढविषयस्य प्रतिबिम्बरूपेण चिताबाधानम् । एवं च ते प्रतिबिंबा एव तस्य वृत्तयः । तदुक्तं भाष्ये–'व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयः तदविशिष्टवृत्तिः पुरुष' इति । प्रतिबिम्बोऽपि न स्फटिकवत् किंत्वभिमान एव । एतद्वृत्तिसारूप्यमेव वृत्त्याकारतारूपं तदेवास्यार्थोपरक्तवृत्तिभानं तस्य चाकारोऽयं घट इत्यादिरूप एव ननु वृत्तिबोधस्य पृथगाकारोऽस्ति । घटमहं जानामीत्यादि तु बुद्धेरेवाकारान्तरमिति कश्चित् । ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वादेवमभिलाप इत्यन्ये । वृत्त्याभिन्नैकरूपता चित्तेन सह द्रष्टुरिति भावः । बुद्धिपुरुषयोः सन्निधानादभेदग्रहेण ताभिरेव वृत्तिभिः पुरुषोऽपि वृत्तिमानिवाकर्तापि कर्तेवाभोक्तापि भोक्तेव तु खादिमानिव विवेकख्यातिरहितोऽपि तत्सहित इव विवेकाख्यात्या प्रकाश्यते । भोक्तृत्वभोग्यतालक्षणसम्बन्धस्थानाद्यविद्यानिमित्तकः प्रतिनियतयोरेव बुद्धिपुरुषयोः स्वस्वामिभावोऽनादिरेव । यथा ह्ययस्कान्तः स्वस्मिन्नेवायःसन्निधीकरणात् शल्यनिष्कर्षकतयोपकारी स्वामिनः स्वं भवति भोगसाधनत्वादेव चित्तमयःसदृशविषयजातस्य स्वस्मिन्सन्निधीकरणात् दृश्यत्वमुपकारं जनयन् पुरुषस्य स्वं, भोगसाधनत्वात् । यद्यपि भोग्यभोक्तृभावो न प्रलये तथापि स्वभुक्तवृत्तिवासनावत्त्वादिकमेव बुद्धौ पुरुषस्य स्वत्वं, नित्यस्य कार्यत्वेऽपि बीजावस्थया नित्यत्वादनादित्वाक्षतिः । तत्सारूप्यमेव चितेर्दुःखभोगः । प्रतिबिम्बरूपदुःखहानमेव मोक्षः । ये त्वात्मनि मनःसंयोगात्सुखाद्युत्पत्तिरिति वदन्ति, तेषां कारणद्वयकल्पनागौरवम् । आत्मनि विषयनिष्ठसुखाद्याकारवृत्तिस्वीकारे परिणामित्वापत्तिश्च । बुद्धावर्थविषयकत्वमर्थाकारतैव बुद्धिपरिणामविशेषरूपा ननु तत्प्रतिबिम्बः, स्वप्रादौ विषयाभावेन तत्प्रतिबिम्बासम्भवात् । पुरुषे तु सा परिणामरूपा न सम्भवतीति प्रतिबिम्बरूपैव । वृत्तीनामेव च प्रतिबिम्बार्पणसामर्थ्यमिति न संस्कारशेषाया बुद्धेरसम्प्रज्ञाते प्रतिबिम्बनम्, उक्तस्वस्वामिभावस्यैव प्रतिबिम्बे नियामकत्वान्न परबुद्धिवृत्तेः परस्य भानम् ।

यथा संलक्ष्यते रक्तः केवलस्फटिको जनैः ।
रञ्जकाद्युपधानेन तद्वत्परमपूरुषः ॥

इति स्मृतेश्च प्रतिबिम्बस्वीकार इति दिक् । एवं बुद्धावपि चित्प्रतिबिम्ब आवश्यकः । अन्यथा

कर्तृकर्मविरोधेन चैतन्यभानानुपपत्तिरिति ध्येयम् । उभयत्रोभयाकारबुद्धिपरिणाम एव प्रतिबिम्ब इति दिक् ॥ ४ ॥

मणिप्रभा ।

ननु तर्हि व्युत्थाने पुरुषस्य स्वभावात्प्रच्युतिः स्यादित्याशङ्क्याह वृत्ति० ।

इतरत्र निरोधाद् व्युत्थाने सति याश्चित्तस्य वृत्तयः शान्ताऽऽद्यास्तत्सारूप्यं वृत्तिमद्बुद्ध्यविवेकात्पुरुषस्य शान्तो दुःखी मूढोऽस्मीति वृत्तितादात्म्यभ्रम इत्यर्थः । अतो न स्वभावात्प्रच्युतिः । न हि लौहित्यभ्रमकाले स्फटिकस्य श्वेतस्वभावात् च्युतिरस्तीति भावः । निरोधे मुक्तिर्व्युत्थाने बन्ध इति सूत्रद्वयतात्पर्यम् ॥ ४ ॥

चन्द्रिका ।

इतरत्र योगादन्यस्मिन् काले वक्ष्यमाणलक्षणवृत्तिभिः सारूप्यं तद्रूपत्वम् ॥ ४ ॥

योगसुधाकरः ।

ननु तर्हि व्युत्थाने चितिशक्तेः स्वरूपात्प्रच्युतिः स्यादित्यत्राह वृत्ति० ।

यद्यपि निर्विकारा चितिशक्तिः सदा स्वरूप एवावतिष्ठते, तथापि निरोधादन्यत्र वृत्तिषूत्पद्यमानासु तत्र चित्तिच्छायायां प्रतिबिम्बितायां तदविवेकात्तत्तादात्म्यमापन्नेव चितिशक्तिर्भवति जपारक्त इव स्फटिकः । अतो न स्वरूपात्प्रच्युतिः । न हि लौहित्यभ्रमसमये समस्ति स्फटिकमणेरवदातस्वभावात्प्रच्युतिरिति भावः । एतेन सूत्रद्वयेनार्थाद्यन्निरोधे चित्तिशक्तिः स्वरूपप्रतिष्ठा यद्व्युत्थाने स्वरूपाप्रतिष्ठेव भवति तच्चित्तमिति द्वितीयसूत्रगतचित्तपदं व्याख्यातं भवति ॥ ४ ॥

भोजवृत्तिः ।

वृत्तिपदं व्याख्यातुमाह—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाः (१) ॥ ५ ॥

वृत्तयश्चित्तपरिणामविशेषाः वृत्तिसमुदायलक्षणस्यावयविनो या अवयवभूता वृत्तयस्तदपेक्षया तयप्प्रत्ययः । एतदुक्तं भवति । पञ्च वृत्तयः कीदृश्यः ? क्लिष्टा अक्लिष्टाः, क्लेशैर्वक्ष्यमाणलक्षणैराक्रान्ताः क्लिष्टाः । तद्विपरीता अक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु कियत्प्रकाराः कीदृश्यो वा वृत्तयो निरोद्धव्या इत्याकांक्षायामाह वृत्तयः० ।

वक्ष्यमाणाः पञ्चप्रकारा एव वृत्तयो निरोद्धव्याः । तासां निरोधेनैव रागद्वेषादिवृत्तीनां स्वयमनुदयात् । ताश्च वृत्तयः क्लिष्टरूपा वा भवन्तु, अक्लिष्टरूपा वा भवन्तु, सर्वा एव निरोद्धव्या इत्यर्थः । क्लिष्टास्तामस्योऽक्लिष्टाः सात्त्विक्यो राजस्यश्च । क्लिष्टाक्लिष्टमिश्रवृत्तेरंशाभ्यां तामसीसात्त्विक्योरेवान्तर्भावः । 'रजोमिश्रमि'ति स्मृतेः ॥ ५ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

वृत्तीनामियत्तामाह—वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः । वृत्तिसमुदायरूपोऽवयवी पञ्चप्रकारावयवक इत्यर्थः । ते च वृत्तिसमुदायाः चैत्रमैत्रादिचित्तभेदाद्बहव इति बहुवचनम् । धर्माधर्मवृद्धिरूपक्लेशफलिकाः क्लिष्टाः । सत्त्वपुरुषान्यतारूपविवेकज्ञानसाधनविषयाः ख्यातिसंज्ञा अक्लिष्टाः । तत्र क्लिष्टानामक्लिष्टाभिर्निरोधोऽक्लिष्टानां च परवैराग्येणेति बोध्यम् । तत्र क्लिष्टान्तर्वर्तिन्योऽप्यक्लिष्टाः क्लिष्टाभिरनभिभूताः स्वसंस्कारपरिपाकक्रमेण क्लिष्टा अभिभवन्तीति अक्लिष्टा एव भवन्तीति मिश्राणां नाधिक्यम् । वृत्तिभिः संस्काराः संस्कारैश्च वृत्तय इत्येवं वृत्तिसंस्कारचक्रमावर्तते आ निरोधयोगात् । निरोधावस्थं च चित्तं दग्धाखिलसंस्कारं प्रलयं याति । कृत्यादिलक्षणवृत्तीनां चैतन्निरोधेनैव निरोध इत्याशयेन पञ्चेत्युक्तम् । आसां वृत्तित्वं चैतैरेव व्यापारैश्चित्तस्य जीवनात् इति दिक् ॥ ५ ॥

(१) क्लिष्टाक्लिष्टा इति पाठान्तरम् ।

मणिप्रभा ।

इदानीं निरोद्धव्यानां वृत्तीनामियत्तामाह वृत्तयः० ।

राजवार्त्तिके 'चित्तवृत्तिनिरोधान्व्याख्यातुकामेन सूत्रकारेण सूत्रद्वयेन यस्य निरोधव्युत्थानयोर्मुक्तिबन्धौ तच्चित्तम्'इति व्याख्याय, वृत्तय इत्यादिना वृत्तीर्व्याख्याय, अभ्यासवैराग्याभ्यामित्यादिना पादशेषेण निरोधो व्याख्यात इति विशेष उक्तः । अवयवार्थस्तयप् । वृत्तिशब्दो वृत्तिसामान्यपरः । चैत्रमैत्रादिचित्तभेदेन वृत्तिसामान्यानां बहुत्वाद्वृत्तय इति बहुवचनम् । अग्रिमसूत्रोक्ताः प्रमाणादयः पञ्च विशेषा वृत्तिसामान्यस्यावयवा इत्यर्थः । पञ्च अवयवा यासां ताः पञ्चतय्यः तासां हानोपादानसिद्धये भेदमाह क्लिष्टा अक्लिष्टा इति । रागद्वेषादिक्लेशानां हेतवः क्लिष्टाः बन्धफलाः । सर्वो हि जन्तुः प्रमाणादिवृत्तिभिर्ज्ञातेष्वर्थेषु रागादिना कर्म कृत्वा सुखादिना बध्यते । अक्लिष्टाः क्लेशनाशिन्यो मुक्तिफलाः सत्त्वपुरुषान्यतागोचराः । ताः खल्वभ्यासवैराग्याभ्यां क्लिष्टवृत्तिप्रवाहमध्ये जायमानाः स्वजन्याक्लिष्टसंस्कारैः पुनः पुनरभ्यासेन प्रवृद्धैः क्लिष्टसंस्कारनिरोधेन क्लिष्टवृत्तिप्रवाहं निरुध्य परवैराग्येण स्वयं निरुध्यन्ते । ततः संस्कारशेषस्य चित्तस्य प्रलयो मुक्तिर्भवतीति भावः ॥ ५ ॥

चन्द्रिका ।

वृत्तय इति । चित्तस्य परिणामविशेषाः पञ्चामिताः क्लेशैराक्रान्ताः तद्भिन्नाः ॥ ५ ॥

योगसुधाकरः ।

अधुना निरोद्धव्यानां वृत्तीनामियत्तामाह वृत्तयः० ।

पञ्च तयबर्थो अवयवा वक्ष्यमाणाः प्रमाणादयो यासां सामान्यवृत्तीनां ताः पञ्चतय्यो वृत्तयश्चित्तस्य परिणामाः । बहुवचनं तु मैत्रादिपुरुषबहुत्वाभिप्रायेण । ताः कीदृश्यः ? क्लिष्टा अक्लिष्टाः; वक्ष्यमाणैः क्लेशैः संक्लिष्टाः स्वरूपाप्रतिष्ठाप्रत्ययाः क्लिष्टाः, तैरसंश्लिष्टाः स्वरूपप्रतिष्ठाप्रत्यया अक्लिष्टाः । यद्यपि पञ्चस्वेव क्लिष्टानामक्लिष्टानां चान्तर्भावः, तथापि क्लिष्टा एव निरोद्धव्या इति मन्दबुद्धिं वारयितुं ताभिः सहाक्लिष्टा अभ्युदाहृताः ॥ ५ ॥

भोजवृत्तिः ।

एता एव पञ्च वृत्तयः संक्षिप्योद्दिश्यन्ते—

प्रमाणविपर्य्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

कास्ताः पञ्चप्रकारा वृत्तय इत्यपेक्षायामाह —**प्रमाण०** । सुगमम् ॥ ६ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तान्पञ्चप्रकारान्दर्शयति—**प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः** । स्पष्टम् ॥ ६ ॥

मणिप्रभा ।

पञ्चवृत्तीरुद्दिशति—**प्रमाण०** । इतोऽन्यावृत्तिर्नास्तीत्युद्देशसूत्रस्य फलम् ॥ ६ ॥

चन्द्रिका ।

प्रमाणेति । एताः पञ्च वृत्तयः तासां व्याख्यासूत्राणि ॥ ६ ॥

योगसुधाकरः ।

अथ नामधेयलक्षणाभ्यां वृत्तीर्विशदयितुं सूत्रषट्कमाचष्टे—**प्रमाण०** ।

अतोऽपरा वृत्तिर्न समस्तीत्युद्देशसूत्रस्य फलम् ॥ ६ ॥

भोजवृत्तिः ।

आसां क्रमेण लक्षणमाह—

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

अत्रातिप्रसिद्धत्वात् प्रमाणानां शास्त्रकारेण भेदलक्षणेनैव गतत्वात् लक्षणस्य पृथक्लक्षणं न कृतम् ।

प्रमाणलक्षणन्तु अविसंवादिज्ञानं प्रमाणमिति। इन्द्रियद्वारेण बाह्यवस्तूपरागाच्चित्तस्य तद्विषयसामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम् । गृहीतसम्बन्धाल्लिङ्गात् लिङ्गिनि सामान्यात्मनाऽध्यवसायोऽनुमानम् । आप्तवचनं आगमः॥ ७॥

भावागणेशवृत्तिः।

प्रमाणाख्याः पञ्चवृत्तीः क्रमेण पञ्चभिः सूत्रैर्लक्षयति—प्रत्यक्ष०।

अनधिगततत्त्वबोधः प्रमा, तत्करणं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणं प्रसिद्धत्वादुपेक्ष्यैव विभागः कृतः। तत्रेन्द्रियद्वारा स्वतो वा मनःसंनिकर्षाज्जायते याऽनधिगतार्थनिश्चयरूपा वृत्तिः सा प्रत्यक्षं प्रमाणम् ।निश्चयत्वं च संशयभिन्नज्ञानत्वम् । अतो नेच्छाकृत्यादिष्वतिव्याप्तिः। इच्छादिषु संनिकर्षस्य हेतुत्वे प्रमाणाभावात् । अस्य च प्रमाणस्य फलं प्रमा पौरुषेयो बोधः। वृत्तिद्वारैव हि तदारूढोऽर्थश्चितौ प्रतिबिम्बते। यद्यपि पुरुषस्वरूपो बोधो नित्यस्तथापि तत्तद्विषयावच्छिन्नत्वेन तस्य फलत्वं पुरुषाश्रितत्वं च घटते। विषयता च प्रतिबिम्बस्वरूपेति। एवमेवानुमानाद्यखिलवृत्तीनां पौरुषेयो बोध एव प्रयोजनं पुरुषार्थमेव करणव्यापारात्, राजार्थं भृत्यव्यापारवत्। व्याप्त्यादिवृत्तिजन्या वृत्तिरनुमानं प्रमाणम् । योग्यशब्दजन्या वृत्तिश्च शब्दप्रमाणमिति । एतेष्वेव प्रमाणेषु परोक्तानामुपमानैतिह्यादीनां प्रवेशः। अत्र प्रमात्रादिविभागे वार्तिककारिकाः—

प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव च।
प्रमाऽर्थाकारवृत्तीनां चेतनप्रतिबिम्बनम् ॥
प्रतिबिम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते।
वृत्तयः साक्षिभास्याः स्युः करणस्यानपेक्षणात् ॥
साक्षाद्दर्शनरूपं च साक्षित्वं सांख्यसूचितम् ।
अविकारेण द्रष्टृत्वं साक्षित्वं चापरे जगुः॥ ७॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

तासां क्रमेण लक्षणान्याह—प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि। अनधिगततत्त्वबोधः प्रमा, तत्करणं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम् । अविसंवादि ज्ञानं वा प्रमा। तत्रेन्द्रियद्वारा स्वतो वा मनःसंनिकर्षात् जायते यो विशेषतः पदार्थनिश्चयः तत्करणं वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्। तत्रेन्द्रियद्वारा निर्गतस्य चित्तस्येन्द्रियसाहित्येनैवार्थाकारः परिणामश्चित्तस्य शङ्खपैत्याद्याकारतायां नयनादिगतपित्ताद्यन्वयदर्शनात्। अत एव रूपादिवृत्तिषु चक्षुरादीनां करणत्वमुच्यते। वृत्तिश्च—'अनन्ता रश्मयस्तस्य प्रभावत्यः स्थिता हृदि' इति स्मृतेः प्रभावत् द्रव्यमेव। निश्चयत्वं च संशयभिन्नज्ञानत्वं, तेन नेच्छाकृत्यादिष्वतिव्याप्तिः। स्वतो वेत्यनेन विवेकख्यातिरपि लक्षिता। 'इन्द्रियप्रणालिकया चित्तवृत्त्याकारस्य बाह्यवस्त्वाकारोपरागात् बाह्यार्थगोचरं सामान्यधर्माविशेषधर्मतादात्म्यापन्नस्याप्यर्थस्य सामान्यधर्मोपसर्जनकविशेषरूपेण भानम्' इति भाष्यकृतः। तत्रापीन्द्रियप्रणालिकयेत्युपलक्षणम् । अनेनानुमित्यादिषु चित्तवृत्त्याकारेणैव साकारता वृत्तेः सामान्यविषयकत्वं च दर्शितम् , तदवच्छिन्न एव व्याप्तिग्रहात्। स्वप्नध्यानादौ चित्तवृत्तिघटाकारस्यैवानुभूयमानत्वात् तत्रापि चित्तवृत्तेर्घटाद्याकारतयानुभवात् चित्ते वासनारूपेण सर्वद्रव्यसत्तास्ति। ते हि वृत्तिसामग्र्या स्थूलाकारास्तस्यां भासन्त इति दिक्। 'प्रमाणफलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोध' इति भाष्यम्। वृत्तिरूपकरणस्य चित्तवृत्तिसमानाकारः पुरुषरूपो बोधः। तत्र हेतुगर्भविशेषणमविशिष्ट इति। चित्तवृत्तिसारूप्यापन्न इत्यर्थः। यद्यपि स नित्यस्तथापि तत्तदाकारवैशिष्ट्येन फलत्वं पुरुषाश्रितत्वं चेति बोध्यम् । राजार्थे भृत्यव्यापारवत् पुरुषार्थमेव करणव्यापारात्तद्बोधस्यैव फलत्वं युक्तम् । वृत्तिश्च प्रदीपशिखावद्बुद्धेरग्रभागः। येन चित्तस्यैकाग्रताव्यवहारः। एकमग्रे विषयतया यस्य तद्भावो ह्येकाग्रता। अयं घट इत्याकार एव वृत्तेर्बोधः। घटमहं जानामीति बुद्धेर्वृत्त्यन्तरं चैतन्यस्य स्वप्रकाशतयाऽस्यैवाभिलापो वा किंचि-

द्बुद्धौ प्रतिबिम्ब एव पुरुषस्य वृत्तिस्तदेव वृत्त्याकारतामापन्नं बोधफलमिति । तन्न । प्रतिबिम्बस्य बुद्धिपरिणामरूपतया तुच्छत्वेनार्थभानरूपत्वानुपपत्तेः । किंच परस्परप्रतिबिम्बः स्मृतिसिद्धः । किंच जानामीत्येवं बुद्धिवृत्तौ भासमानं प्रतिबिम्बचैतन्यं न स्वज्ञेयं संभवति कर्तृकर्मविरोधात् । अतस्तस्या बिम्बचैतन्ये भानमावश्यकमिति दिक् ॥

लिङ्गजन्या वृत्तिः सामान्यविषयाऽनुमानम् । आप्तेन तत्त्वदर्शनकारुण्यकरणपाटवरूपाप्तिमता स्वयं दृष्टस्य श्रुतस्यानुमितस्य वार्थस्य स्वचित्तवृत्तिज्ञानसदृशज्ञानविषयतया परचित्ते समर्पयितुमुपदिश्यते यः शब्दस्तज्जन्या तदर्थविषया वृत्तिरागमः । यत्र वक्ताऽदृष्टश्रुतानुमितार्थत्वेनाश्रद्धेयः स आगमोऽप्रमाणम् । अन्यस्तु प्रमाणम् । मन्वाद्युक्तार्थानामपि तन्मूलवेदवक्ता ईश्वरो दृष्टानुमितार्थ एवेति तेऽपि प्रमाणमेव । वृत्तयस्तु साक्षिभास्याः करणानपेक्षणात् । साक्षाद्दर्शनरूपमेव पुरुषस्य साक्षित्वम् । तदुक्तम्—

प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव च ।
प्रमाऽर्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम् ॥
प्रतिबिम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते ॥
वृत्तयः साक्षिभास्याः स्युः करणस्यानपेक्षणात् ॥
साक्षाद्दर्शनरूपं च साक्षित्वं सांख्यसूचितम् । इति ॥

रूपादिमत्यो हि वृत्तयः सुखादित्यो भार्या इव पुरुषस्य भोग्या इत्युच्यन्ते ॥ ७ ॥

मणिप्रभा ।

तत्र प्रमाणवृत्तिं विभजते—प्रत्यक्ष० ।

त्रीण्येव प्रमाणानीति भावः । अत्र प्रमाकरणत्वं सामान्यलक्षणम् । प्रमा चाज्ञातार्थावगाही पौरुषेयो बोधो वृत्तौ प्रतिबिम्बः, तत्करणं वृत्तिः । तत्रेन्द्रियसम्बन्धद्वारा चित्तस्य घटादिसम्बन्धे सति सामान्यविशेषात्मकेऽर्थे व्यक्तिरूपविशेषनिर्द्धारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम् । तत्रार्थाकारायां वृत्तौ चिदात्मनो यः प्रतिबिम्बः सोऽपि वृत्तिद्वारा अर्थाकारः सन्फलं भवति । एवं सामान्यतो ज्ञाते परोक्षार्थे समाधिना विद्यमानविशेषवृत्तिः प्रत्यक्षप्रमाणमिति ज्ञेयम् । अनुमानागमयोर्व्याप्तिसङ्गतिग्रहापेक्षत्वाद्वह्नित्वादिसामान्ये तद्ग्रहात्सामान्यविषयत्वमेव । तत्र व्याप्तिग्रहे सति पक्षवृत्तिलिङ्गज्ञानात्साध्यतावच्छेदकसामान्यनिर्द्धारणवृत्तिरनुमानम् । आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वाऽर्थो येन शब्देनोपदिश्यते तस्माच्छब्दाच्छ्रोतुस्तदर्थविषया वृत्तिरागमः । वेदस्याप्तेश्वरप्रणीतत्वं वक्ष्यते ॥ ७ ॥

चन्द्रिका ।

प्रत्यक्ष० । बाह्यवस्तुनि इन्द्रियद्वारेण चित्तस्योपरागादर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम् । अनुमानं नाम गृहीतसम्बन्धाद्धेतोः पक्षे साध्यस्य सामान्यात्मना निश्चयः । आप्तस्य ईश्वरस्य वाक्यं वेदः ॥ ७ ॥.

योगसुधाकरः ।

प्रत्यक्षेति । त्रीण्येव प्रमाणानीति भावः । वृत्तावज्ञातार्थावगाही चितिशक्तेः प्रतिबिम्बः प्रमा । तत्करणं वृत्तिः प्रमाणम् । तत्त्वं प्रमाणसामान्यलक्षणम् । तत्र चक्षुरादिद्वारा व्यक्तिविशेषनिर्धारणी चित्तवृत्तिः प्रत्यक्षप्रमाणम् । तदाकारवृत्तौ चितिशक्तेः प्रतिबिम्बः प्रत्यक्षप्रमा । एवं ध्यानसमाधिद्वारा चितिशक्तिविशेषावद्योतिका संप्रज्ञाताख्या चित्तवृत्तिः प्रत्यक्षप्रमाणम् । ज्ञाता चितिशक्तिः फलम् । लिङ्गज्ञानद्वारा लिङ्गिसामान्यनिर्धारणी वृत्तिरनुमानम् । तत्र प्रतिबिम्बोऽनुमितिः । पदार्थज्ञानद्वारा वाक्यार्थावगाहिनी वृत्तिरागमः । तत्र प्रतिबिम्बः शाब्दः । अनुमानागमावुभयत्र समानाविति पृथक् बोद्धव्यौ ॥ ७ ॥

भोजवृत्तिः ।

एवं प्रमाणरूपां वृत्तिं व्याख्याय विपर्य्ययरूपामाह—

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

अतथाभूतेऽर्थे तथोत्पद्यमानं ज्ञानं विपर्य्ययः, यथा शुक्तिकायां रजतज्ञानम् । अतद्रूपप्रतिष्ठमिति । तस्यार्थस्य यद्रूपं तस्मिन् रूपे न प्रतितिष्ठति तस्यार्थस्य यत् पारमार्थिकं रूपं न तत् प्रतिभासयतीति यावत् । संशयोऽप्यतद्रूपप्रतिष्ठत्वान्मिथ्याज्ञानं यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वा ? इति ॥ ८ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

विपर्यय इति लक्ष्यनिर्देशः । मिथ्याज्ञानमिति लक्षणम् । मिथ्येत्यस्य विवरणमतद्रूपप्रतिष्ठमिति । न तद्रूपो न स्वसमानाकारो यो विषयस्तद्विशेष्यकमित्यर्थः । भ्रमस्थले च ज्ञानाकारस्यैव विषये समारोपः।

विप्र ! पृथ्व्यादि चित्तस्थं न बहिष्ठं कदाचन ।
स्वप्नभ्रममदाद्येषु सर्वैरेवानुभूयते ॥ इति स्मृतेः ॥

स्वप्नादिषु चित्तमेव प्रतीयते न बहिष्ठमित्यर्थः । संशयस्यापि विपर्ययेऽन्तर्भावः । अतद्रूपप्रतिष्ठत्ववचनादन्यथाख्यातिरत्र दर्शने सिद्धा न तु सांख्यानामिवाविवेकमात्रम् ॥ ८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

विपर्ययं लक्षयति—**विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्** । विपर्यय इति लक्ष्यम् । मिथ्याज्ञानमिति लक्षणम् । मिथ्येत्यस्य विवरणमतद्रूपप्रतिष्ठमिति, भासमानरूपाभाववद्विशेष्यकमित्यर्थः । यद्वाऽतद्रूपप्रतिष्ठमित्यस्य बुद्धिविषयाकारसमानाकाराविषयप्रतिष्ठं नेत्यर्थः । भ्रमस्थले बुद्धिवृत्त्याकारस्यैव विषये आरोप इति सिद्धान्तात् । अतः संशयोऽपि मिथ्याज्ञानमेव । मिथ्यात्वेन तज्ज्ञाने बाध्यत्वमप्यभिप्रेतम् । अत एव वक्ष्यमाणविकल्पस्य न विपर्ययत्वम् । नेदं रजतमिति ज्ञानोत्तरमिदं रजतमिति ज्ञानव्यवहारयोरभावः, शशशृङ्गमिति ज्ञानव्यवहारौ बाधज्ञानकालोत्तरमपीति विशेषात् । वस्तुतत्त्वविषयज्ञानेन प्रमाणेनाप्रमाणबाधनं दृष्टम्, एकचन्द्रज्ञानेनेव द्विचन्द्रज्ञानस्य । मिथ्याज्ञाने च दोषः कारणम् । सा चाविद्येति वक्ष्यते । भ्रमस्थले बुद्धिरूपचित्तवृत्त्याकारस्यैव विषये आरोपः ।

विप्र ! पृथ्व्यादि चित्तस्थं न बहिष्ठं कदाचन ।
स्वप्नभ्रममदाद्येषु सर्वैरेवानुभूयते ॥ इति स्मृतेः ॥

अतद्रूपप्रतिष्ठमितिवचनादन्यथाख्यातिरत्र दर्शन इति । वैशेषिकमतादयं विशेषः । तेषां बाह्यरजतारोपः, अस्माकं त्वान्तरस्येति । अत एव प्राग्दृष्टमिदानीं नास्तीति स्वरूपवो बाधानुभवः । केचित्तु वस्तुतस्तु अतद्रूपप्रतिष्ठत्वं तद्रूपप्रकारकत्वाभाव इति असंसर्गाविशिष्टं ज्ञानं भ्रम इति मतेऽपि सूत्रं सुयोजमिति । विपर्यय एवाविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशरूपपञ्चपर्वाऽविद्या । रागादीनामविद्यानुगतत्वादविद्यापर्यायत्वं विपर्ययत्वं च । एषामेव तमोमोहमहामोहतामिस्रान्धतामिस्रेति संज्ञा इति दिक् ॥ ८ ॥

मणिप्रभा ।

विपर्ययं लक्षयति—**विपर्ययो०** ।

तत्तद्रूपे स्वविषय प्रतिष्ठाशून्यं बाधाविरोधीति यावत् । विकल्पोऽपि बाधविरोधी तद्रूपाप्रतिष्ठ इत्यतिव्याप्तिनिरासाय मिथ्याज्ञानपदम्, तेन स्वविषये स्वजन्यव्यवहारलोपिसर्वसंमतबाधवत्त्वमुच्यते । न च विकल्पे तादृशबाधोऽस्ति केषांचित्पण्डितानां तत्र बाधबुद्धावपि यथापूर्वं व्यवहारालोपात् । संशयस्तु लक्ष्य एवेति नातिव्याप्तिरिति भावः । अस्यैव विपर्ययस्य भेदाः पञ्च क्लेशा इति वक्ष्यते ॥ ८ ॥

चन्द्रिका ।

विपर्यय इति । अतथाभूतेऽर्थे तथोत्पद्यमानं ज्ञानं विपर्ययः संशयोऽपि अतद्रूपप्रतिष्ठत्वान्मिथ्याज्ञानम् ॥ ८ ॥

योगसुधाकरः ।

विपर्यय इति लक्ष्यनिर्देशः । मिथ्याज्ञानं बाधानन्तरं व्यवहाराजनकं यत् अतद्रूपप्रतिष्ठं तस्यार्थस्य

यद्रूपं पारमार्थिकं स्वरूपं तत्राप्रतिष्ठितं तदनवगाहि । तत्त्वं लक्षणम् । अतो न विकल्पेऽतिव्याप्तिः, तस्य बाधितत्वेऽपि केषांचित्पण्डितानां व्यवहारजनकत्वात् । नापि संशये, तस्यापि लक्ष्यत्वात् ॥ ८ ॥

भोजवृत्तिः ।

विकल्पवृत्तिं व्याख्यातुमाह—

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

शब्दजनितं ज्ञानं शब्दज्ञानं तदनु पतितुं शीलं यस्य स शब्दज्ञानानुपाती । वस्तुनस्तथात्वमनपेक्षमाणो योऽध्यवसायः स विकल्प इत्युच्यते । यथा पुरुषस्य चैतन्यं स्वरूपमिति । अत्र देवदत्तस्य कम्बल इति शब्दजनिते ज्ञाने षष्ठ्या योऽध्यवसितो भेदस्तमिहाविद्यमानमपि समारोप्य प्रवर्ततेऽध्यवसायः । वस्तुतस्तु चैतन्यमेव पुरुषः ॥ ९ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

शब्देति । शब्दश्च ज्ञानं च अनुपातिनी यस्य स तथा । तथाच बाधाबाधकालाविशेषेण तदुभयजनकोऽर्थशून्यप्रत्ययो विकल्प इत्यर्थः । विपर्ययश्च बाधोत्तरं न स्वाविषयेषु शब्दज्ञाने जनयति । प्रमाणवृत्तिश्चार्थवतीति तयोर्व्यावृत्तिः । अस्योदाहरणानि—राहोः शिरः पुरुषस्य चैतन्यम् । एवं

एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः ।
मृगतृष्णाम्भसि स्नातः शशशृङ्गधनुर्धरः ॥ इत्यादीनि ।

बाधोत्तरमपि हि तादृशज्ञानैः शब्दज्ञानरूपो व्यवहारः क्रियत इति । वैशेषिकैश्चैतान्याहार्यज्ञानान्युच्यन्ते ॥ ९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

विकल्पं लक्षयति- **शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः** । शब्दविषयकज्ञानमनुपतति तज्जन्यो वृत्तिविशेष इत्यर्थः । अनेन विशेषदर्शनकालेऽपि व्यवहारानिवृत्तेर्विपर्ययाद्भेद उक्तः । वस्तुशून्योऽर्थशून्यः । तेन प्रमाणवृत्तेर्भेद उक्तः । यथा चैतन्यपुरुषयोरभेदेन भेदस्य वस्तुतस्तत्राभावाच्चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति शब्दज्ञानोत्तरं चैत्रस्य गौरित्यादाविव भेदमूलसंसर्गविषया वृत्तिः । यद्वा विवेकिनामपि शब्दप्रयोगज्ञानयोर्जनकस्तदारोपो विकल्पः । भेद एव च व्यपदेशशब्देनोच्यते विशिष्टोऽपदेशो व्यवहारो यस्मादिति व्युत्पत्तेः । राहोः शिरो वन्ध्यासुत इत्यादि चोदाहरणम् । यथा बाणस्तिष्ठतीति । अत्र हि गतिनिवृत्तिः प्रतीयते । तत्राभावो नाम कश्चिदर्थस्तस्माद्गतिनिवृत्तिः कल्पिता । तस्या अपि भावरूपत्वं तत्रापि पूर्वापरीभाव इति कल्पनापरम्परा । पूर्वापरीभूतकर्मक्षणप्रचयस्यैवैकफलावच्छिन्नस्य धात्वर्थत्वादिति दिक् । अन्यैरेताम्याहार्यज्ञानानीत्युच्यन्ते ॥ ९ ॥

मणिप्रभा ।

विकल्पं लक्षयति—**शब्देति** ।

नरशृङ्गादिश्रवणानन्तरमवश्यं भवत्येव निर्विषया वृत्तिर्या सा विकल्प इत्यर्थः । अयं विकल्पो वस्तुशून्यत्वान्न प्रमाणं, बाधेऽप्यवश्यभावित्वाद् व्यवहारहेतुत्वाच्च न विपर्ययः । यथा चैतन्यमेव पुरुष इत्यभेदनिश्चयेऽपि पुरुषस्य चैतन्यभेदविकल्पः, भावातिरिक्ताभावो नास्तीति निश्चयेऽपि सर्वधर्माभाववान्पुरुष इति विशेषणविशेष्यभावविकल्पः । एवं राहोः शिर इत्यादिविकल्पा उदाहार्याः ॥ ९ ॥

चन्द्रिका ।

शब्देति । शब्दजज्ञानानुपतनशीलः वस्तुनस्तथात्वमनपेक्षमाणो निश्चयो विकल्पः ॥ ९ ॥

योगसुधाकरः ।

शब्देति । 'राहोः शिरः' इति शब्दश्रवणानन्तरं जायमाना वस्तुशून्या वृत्तिर्विकल्पः । अतो वाक्यार्थगोचरवृत्तौ नातिव्याप्तिः, तस्या वस्तुशून्यत्वात् । नापि विपर्यये, तस्य शब्दज्ञानानुपातित्वात् ॥ ९ ॥

भोजवृत्तिः ।

निद्रां व्याख्यातुमाह—

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

अभावप्रत्यय आलम्बनं यस्याः वृत्तेः सा तथोक्ता । एतदुक्तं भवति । या सन्ततं उद्रिक्तत्वात्तमसः समस्तविषयपरित्यागेन प्रवर्त्तते वृत्तिः सा निद्रा । तस्याश्च सुखमहमस्वाप्समिति स्मृतिदर्शनात् स्मृतेश्चानुभवव्यतिरेकेणानुपपत्तेर्वृत्तित्वम् ॥ १० ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

अभावेति । प्रकृतत्वादुक्तवृत्तीनां योऽभावोऽनुत्पादः तस्य प्रत्ययः कारणं तमः तदालम्बना तद्विषयिणी तमःप्रचुरचित्तविषयिणीति यावत्, एवंभूता वृत्तिर्निद्रेत्यर्थः । जाग्रत्स्वप्नस्य (स्थ) वृत्त्युपरमे चित्तस्य स्वगतसुखादिविषयिणी निद्राख्या वृत्तिरनुभीयते । सुखमहमस्वाप्सं दुःखमहमस्वाप्सं गाढं मूढोऽहमस्वाप्समित्येवं सात्त्विकादिनिद्रोत्थितानां त्रिविधस्मरणादतोऽपि निद्रा वृत्तिरिति । शुष्कतार्किकास्तु इमामपि वृत्तिं स्वप्नमध्ये प्रवेशयन्ति । सुषुप्त्यवस्थां तु ज्ञानशून्यस्वरूपां ज्ञानकारणाभावादेवेच्छन्ति । अस्माभिरपि सर्ववृत्तिशून्याप्यवस्था स्वीक्रियत एव । तस्यां च गाढं तमो दोष इष्यते ।

सत्त्वाज्जागरणं विद्याद्रजसा स्वापमादिशेत् ।

प्रस्वापनं तु तमसा तुरीयं त्रिषु संततम् ॥ इति स्मृतेः ।

इन्द्रियाद्युत्पत्तेः प्रागेव हिरण्यगर्भस्य ज्ञानोत्पत्त्या ज्ञानसामान्ये त्वङ्मनोयोगादीनां हेतुत्वकल्पनस्यासम्भवात् । येन ज्ञानकारणाभावादेव सावस्थोपपाद्येनेति ॥ १० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

निद्रां लक्षयति—अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा । प्रकृतत्वादुक्तानां वृत्तीनामभावस्य प्रत्ययः कारणं बुद्ध्यावरकं तमः तदालम्बना स्वपिमीत्याकारा आवरकतमोविषया च तदाच्छादितचित्तगतसुखादिविषया वृत्तिः सा निद्रेत्यर्थः । पुनर्वृत्तिपदं निद्राया वृत्तित्वे बहूनां विप्रतिपत्तेस्तद्दार्ढ्याय । 'जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः' इति स्मृतेश्च । तदुद्भूततमआच्छादितबुद्धिसत्त्वस्य बाह्यवृत्त्यभावात् तद्गुणसुखादीन्यवबुध्यमानः पुरुषोऽन्तःसंज्ञ उच्यते । न च वृत्त्यभाव एवास्तु, सुखमहमस्वाप्सं अकर्मण्यं मे मनो यतो भ्रमत्यनवस्थितम्, मूढोऽहमस्वाप्सं गुरूणि मे गात्राणि अलसमिव मे चित्तमिति सुप्तोत्थितस्य स्मरणानुभवात् । अनुभवाभावे हि कथं स्मृतिः स्यात् । तदन्यतमग्रहणे नियामकं तु अदृष्टाद्येवेति बोध्यम् । अतएव 'त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्' इति श्रुत्या तत्रापि भोग्यमुक्तम् । यत्तु 'न तद्विभक्तमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' इति श्रुत्या यत्सुषुप्ते ज्ञानसामान्याभाव उक्तस्तत्समप्रसुषुप्तिपरम् । यत्रायमनुभवः सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमिति, 'मुग्धेऽर्धसंपत्ति'रिति वेदान्तसूत्राच्च । तत्र सुखमित्यस्य वृत्त्युत्थदुःखरहितमित्यर्थः । यत्तु सुषुप्तौ तमः साक्षिभास्यमेवेति । तन्न । साक्षिणोऽपरिणामित्वेन संस्कारस्मृत्योरसम्भवात् । एषा चैकाग्रतुल्यापि तामसत्वाद्योगपरिपन्थिनीति । यत्तु त्वङ्मनोयोगरूपकारणाभावात्सुषुप्तौ ज्ञानसामान्याभाव इति । तन्न । इन्द्रियाद्युत्पत्तेः प्रागेव हिरण्यगर्भस्य ज्ञानोत्पत्त्या ज्ञानसामान्ये तस्य हेतुत्वाभावात् । गाढतमोरूपदोषेण सर्ववृत्त्यभावस्यास्माभिरप्यङ्गीकारात् ॥ १० ॥

मणिप्रभा ।

निद्रां लक्षयति—अभावेति ।

कार्यं प्रत्ययते गच्छतीति प्रत्ययो हेतुः । जाग्रत्स्वप्नवृत्तीनामभावे हेतुस्तमः आलम्बनं विषया यस्याः सा वृत्तिर्निद्रा । वृत्तिपदस्यानुवर्तमानस्योच्चारणं ज्ञानाभावो निद्रेति मतनिरासार्थम् । तथा हि उत्थितस्य सुखमहमस्वाप्समिति स्मरणं बुद्धिसत्त्वसचिवतमोविषयं तदनुभवं कल्पयति । दुःखमहमस्वाप्समिति स्मरणं रजस्तमोविषयं तदनुभवं कल्पयति । गाढमूढमहमस्वाप्समिति केवलतमो-

विषयं स्मरणं तदनुभवं कल्पयति । स चानुभवो बुद्धिधर्मो निद्रा । सा चैकाग्रवृत्तिकल्पाऽपि तामसत्वाद्योगार्थिना निरोद्धव्येति भावः ॥ १० ॥

चन्द्रिका ।

अभावेति । अभावप्रत्यय आलम्बनं यस्या वृत्तेः सा निद्रा ॥ १० ॥

योगसुधाकरः ।

अभावेति । वस्त्वभावः प्रतीयते यस्मिन्नावरके तमसि सति, तत्तमोऽभावप्रत्यः । तं विषयीकुर्वती वृत्तिर्निद्रा । तस्याः 'सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषम्' इति स्मरणस्यानुभवपूर्वकत्वाद्वृत्तित्वम् ॥ १० ॥

भोजवृत्तिः ।

स्मृतिं व्याख्यातुमाह—

अनुभूतविषयाऽसंप्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

प्रमाणेनानुभूतस्य विषयस्य योऽयमसंप्रमोषः संस्कारद्वारेण बुद्धावारोहः सा स्मृतिः । तत्र प्रमाणविपर्ययविकल्पा जाग्रदवस्था, त एव तदनुभवबलात् प्रत्यक्षायमाणाः स्वप्नाः । निद्रा तु असंवेद्यमानविषया । स्मृतिश्च प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रानिमित्ता ॥ ११ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

अनुभूतेति । भूतौ पूर्वमनुभूतौ यौ विषयौ वृत्तिन्दारूढार्थौ तयोर्नास्ति संप्रमोषस्तेयमपहारो यस्मात्प्रत्ययात्स प्रत्ययः स्मृतिरित्यर्थः । प्रमुष्टतत्ताके शब्दजन्यपदार्थोपस्थित्यादौ स्मृतिव्यवहाराभावात् स पटः स घट इत्यादिप्रत्यय एव स्मृतिशब्दवाच्य इत्याशयः । तत्र स इति पूर्वोपस्थितिरपि भासत एवेति । अत्र प्रत्यभिज्ञाव्यावृत्तये संस्कारमात्रजन्यत्वं विवक्षणीयम् । प्रमुष्टतत्ताकस्मरणं त्वनुभवमध्ये प्रवेशनीयम् । अनेन सूत्रेण मुख्यस्मृतिरेव लक्षिता । प्रमाणेत्यादिवृत्तिविभागसूत्रे तु संस्कारमात्रजन्यगुणत्वेन प्रमुष्टतत्ताकमपि तज्ज्ञानं स्मृतिशब्देन गृहीतमिति न विभागन्यूनता । निरोद्धव्या वृत्तयो व्याख्याताः ॥ ११ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

स्मृतिं लक्षयति—अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः । अनुभूतविषयादधिकस्य सम्प्रमोषः स्तेयं परिग्रहो यत्र नास्ति सा वृत्तिः स्मृतिरित्यर्थः । अनुभूतविषयादनधिकविषयेति यावत् । एवं चानुभवसमानविषया प्रायः कदाचिन्न्यूनविषया सर्वथा नाधिकविषयेति तात्पर्यम् । तत्र घटमहं जानामीत्यनुव्यवसायरूपानुभवस्य विषयवृत्तिरूपज्ञानोभयाविषयकत्वात् संस्कारस्य तादृशस्यैव जननात् तदुभयविषयैव स्मृतिरिति भाष्ये स्पष्टम् । अयं घट इति पूर्वानुभवतस्तत्समानविषयकस्य स घट इत्येव स्मरणस्यानुभवात् । व्यवसायतः संस्कारसत्त्वेऽपि तज्जन्यस्य भाष्यकृता स्मृतित्वानभ्युपगमात् । प्रमुष्टतत्ताकस्य शब्दजन्यपदार्थोपस्थित्यादिरूपस्य स्मरामीत्यनुभवेनानुभवमध्ये एव प्रवेश इति कश्चित् ॥ अस्मदुक्तव्याख्याने तु तस्यापि स्मृतित्वे न दोषः । वस्तुतो व्यवसायोऽपि उभयाकारनिर्भास उभयोरपि चितिप्रतिबिम्बनादिति बोध्यम् । अतएव घटमहं जानामीति ज्ञानविशेष्यकोऽनुभवः । स घट इति ग्राह्यविषयविशेष्यकं स्मरणम् । पूर्वानुभूततत्तेव तत्तावृत्तेर्विषयविषयकसंस्कारजनकत्वात्स्वविषयकसंस्कारजनकतेति भाष्याशयः । तत्रानाधिगतार्थविषयोऽनुभवः । वृत्त्यन्तरगोचरार्थविषया स्मृतिरिति भेदः । न च स्वप्ने देशकालान्तरानुभूतस्य पित्रादेर्देशकालान्तरसंबद्धतया स्मरणेन तत्रापि संप्रमोषोऽस्त्येवेति चेत् । न । कल्पितस्मर्तव्यविषयत्वेन तस्य विपर्ययात्मकत्वात् । प्रमाणाभासे प्रमाणव्यवहारवत् स्मृत्याभासत्वेन स्मृतिव्यवहारोऽन्येषाम् । यदाप्यनुभूतार्थमात्रविषयः स्वप्नः तदापि प्रत्यक्षायमाणत्वेन भानादितरस्मृतिवैलक्षण्येन विपर्ययतैव तस्येति बोध्यम् । ईदृशस्मृतित्वमेवाभ्युपेत्य स्वप्नरूपा स्मृतिर्भावितस्मर्तव्येत्युक्तम् । भावितत्वेन सूचितः स्मर्तव्योऽर्थो ययेत्यर्थः । अयमप्युत्सर्ग इति द्रष्टव्यम् । आसां च वृत्तीनां सुखदुःखमोहात्मकत्वात्क्लेशरूपतया एता निरोद्धव्या इति दिक् ॥ ११ ॥

मणिप्रभा।

स्मृतिं लक्षयति—अनुभूतेति।

प्रमाऽद्यनुभवो हि स्मृतेः पिता तस्य विषयः स्मृतेरात्मीयः। लोके पितुः स्वमिव पुत्रस्य। स्मृतेर्मूलानुभवविषयस्तु परस्वं तद्ग्रहः सम्प्रमोषः स्तेयः। तथा चानुभूते विषये योऽयमसम्प्रमोषः अधिकाग्रहः अनुभूतमात्रग्रह इति यावत्सा स्मृतिरित्यर्थः। वृत्तिस्थः पौरुषेयबोधोऽनुभवः स्वप्रकाश इति तज्जन्यसंस्कारादनुभवविषयाऽपि स्मृतिर्भवति। ननु स्वकाये गजवैशिष्ट्यमननुभूतमपि स्वप्ने स्मर्यते इति चेन्न। तस्य विपर्ययत्वादिति भावः॥ ११॥

चन्द्रिका।

अनुभूतेति। अनुभूतस्य विषयस्य योऽयमसम्प्रमोषः संस्कारद्वारेण बुद्धावारोहः सा स्मृतिः॥११॥

योगसुधाकरः।

अनुभूतेति। अनुभूतस्य पित्रादेः असंप्रमोषः तदनुभवजन्यमनुसंधानं स्मृतिरित्यर्थः। एतेन वृत्तय इत्याद्यनुभूतविषयेत्यन्तेन सूत्रसप्तकेन द्वितीयसूत्रगतवृत्तिपदं व्याख्यातं भवति। इतोऽवशिष्टेन पादेन विरोधपदमर्थो व्याख्यायत इति द्रष्टव्यम्॥ ११॥

भोजवृत्तिः।

एवं वृत्तीर्व्याख्याय सोपायं निरोधं व्याख्यातुमाह—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥ १२॥

अभ्यासवैराग्ये वक्ष्माणलक्षणे, ताभ्यां प्रकाशप्रवृत्तिनियमरूपा या वृत्तयस्तासां निरोधो भवतीत्युक्तं भवति। तासां विनिवृत्तबाह्याभिनिवेशानां अन्तर्मुखतया स्वकारण एव चित्ते शक्तिरूपतयाऽवस्थानम्। तत्र विषयदोषदर्शनजेन वैराग्येण तद्वैमुख्यमुत्पाद्यते। अभ्यासेन च सुखजनकशान्तप्रवाहप्रदर्शनद्वारेण दृढस्थैर्यमुत्पाद्यते। इत्थं ताभ्यां भवति चित्तवृत्तिनिरोधः॥ १२॥

भावागणेशवृत्तिः।

इतः परं निरोधोपाय उच्यते—अभ्यास इति।

वक्ष्यमाणाभ्यासवैराग्ये ताभ्यां मिलिताभ्यां चित्तवृत्तिनिरोधो भवतीत्यर्थः। तत्र चित्तनद्या वैराग्येण विषयमार्गगं वृत्तिस्रोतः प्रतिबध्यते। विवेकदर्शनाभ्यासेन च विवेकमार्गगं वृत्तिस्रोत उद्घाटयते। आभ्यां व्यापाराभ्यां निरोधाख्ये कैवल्याब्धौ चित्तनदी विलीयते। इत्युभयाधीनो वृत्तिनिरोधः॥ १२॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अथासां निरोधे उपायमाह—अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। वक्ष्यमाणलक्षणाभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध इत्यर्थः। तत्र चित्तनद्या विषयमार्गगं वृत्तिस्रोतः विषयदोषदर्शनजेन वैराग्येण प्रतिबध्यते। विवेकदर्शनाभ्यासेन च विवेकमार्गगं वृत्तिस्रोत उत्पाद्यते। तेन च ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहस्य बलवत्त्वं दार्ढ्यं चेति उभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः। आभ्यां विनिवृत्तबाह्याभिनिवेशानां चित्तवृत्तीनामन्तर्मुखतया स्वकारणे चित्ते शक्तिरूपतयाऽवस्थाने सति निरोधाख्ये कैवल्याब्धौ चित्तनदी विलीयत इति दिक्॥१२॥

मणिप्रभा।

आसां वृत्तीनां निरोधोपायमाह—अभ्यासेति।

सर्वस्य जन्तोः स्वभावतश्चित्तवृत्तिर्नदी विषयभूमिगा संसारसागराभिमुखी प्रवहति। तत्र विषये वैराग्येण तत्प्रवाहं भङ्क्त्वा सत्त्वपुरुषविवेकाभ्यासेन तस्या नद्याः प्रत्यक्प्रवाहः क्रियते। अनभ्यासे हि लयविक्षेपस्वभावस्य चित्तस्य वैराग्याद्विक्षेपभङ्गे निद्रा स्यात्तस्मादभ्यासवैराग्ये लयविक्षेपनिवृत्तिरूपप्रयोजनभेदेन निरोधे कार्ये समुच्चीयेते॥ १२॥

चन्द्रिका।

अभ्यासेति। वक्ष्यमाणलक्षणाभ्यामभ्यासवैराग्याभ्यां चित्तवृत्तीनां यल्लतिकृमनं स निरोधः॥ १२॥

योगसुधाकरः ।

अधुना पञ्चविधवृत्तिनिरोधोपायमाह—अभ्यासेति ।

चित्तस्य निसर्गतोनिर्गतस्त्रगादिगोचरवृत्तिसरित्पूरं वैराग्येण विनिवार्य समाध्यभ्यासेन प्रशान्तप्रवाहः संपाद्यते । अतस्तदुभयनिबन्धनो निरोध इत्यर्थः ॥ १२ ॥

भोजवृत्तिः ।

अभ्यासं व्याख्यातुमाह—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठः परिणामः स्थितिस्तस्यां यत्न उत्साहः पुनः पुनस्तत्त्वेन चेतसि निवेशनमभ्यास इत्युच्यते ॥ १३ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

अभ्यासवैराग्ये क्रमेण लक्षयति सूत्रवर्गेण—तत्रेति ।

तत्र तयोर्मध्ये स्थितौ विवेकपर्यन्तं चित्तस्थैर्यार्थं प्रयत्नो वक्ष्यमाणानां श्रद्धावीर्यस्मृतिप्रज्ञारूपसाधनानां पुनःपुनरनुष्ठानमभ्यास इत्यर्थः ॥ १३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अभ्यासं लक्षयति—तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः । तत्र तयोर्मध्ये राजसतामसवृत्तिरहितस्य सात्त्विकमात्रवृत्त्येकाग्रता स्थितिस्तत्र तन्निमित्तं तत्संपादनेच्छया तत्साधनविषयानुष्ठाने या यत्नधारा सोऽभ्यास इत्यर्थः ॥ १३ ॥

मणिप्रभा ।

अभ्यासस्वरूपमाह—तत्रेति ।

तत्र तयोर्मध्ये रजस्तमोवृत्तिशून्यस्य चित्तस्यैकाग्रता स्थितिः तस्यां कार्यायां यानि साधनानि यमनियमादीनि तद्विषयः प्रयत्नोऽनुष्ठानमभ्यास इत्यर्थः ॥ १३ ॥

चन्द्रिका ।

तत्रेति । वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठः परिणामः स्थितिः तस्यां यत्न उत्साहः पुनःपुनस्तथात्वेन चेतसि निवेशनमभ्यासः ॥ १३ ॥

योगसुधाकरः ।

ननु जपादावावृत्तिलक्षणोऽभ्यासो विधातुं पार्यते, को नाम निरोधेऽभ्यास इत्यत आह—तत्रेति ।

तत्र तयोर्मध्ये । स्थितिर्निर्व्यल्यं निरोधः तत्र । 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' इतिवन्निमित्तार्थेयं सप्तमी । एवं च स्थितिनिमित्तको यत्नो मानस उत्साहः स्वत एव बहिःप्रवाहशीलं चित्तं सर्वथा निरोत्स्यामीत्येवंविध उत्साह आवर्त्यमानोऽभ्यास इत्युच्यते ॥ १३ ॥

भोजवृत्तिः ।

तस्यैव विशेषमाह—

स तु दीर्घकालादरनैरन्तर्यसत्कारसेवितो(१) दृढभूमिः ॥ १४ ॥

बहुकालं नैरन्तर्येण आदरातिशयेन च सेव्यमानो दृढभूमिः स्थिरो भवति । दार्ढ्याय प्रभवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

अनुष्ठानाय अभ्यासस्य दार्ढ्यमपि लक्षयति—सत्विति ।

स तु अभ्यासो दीर्घकालेन सेवितो नैरन्तर्येणाव्यवधानेन च सेवितस्तपोब्रह्मचर्यादिरूपैः सत्कारैश्च सेवितो दृढभूमिर्भवति । व्युत्थानसंस्कारेणानभिभूतां स्थितिं जनयतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

---

(१) अत्र सूत्रे मणिप्रभायोगसुधाकरटीकयोर्मतेन (आसेवित) इति पाठोऽभिप्रेतोप्यन्यटीकासु भाष्याद्वस्त्योश्चास्यैवोपलम्भान्मुद्रणं कृतमिति बोध्यम् ।

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तस्यैव व्युत्थानसंस्कारेण अनादिनाऽप्रतिबन्धाय विशेषमाह—**स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः** । सः अभ्यासो दीर्घकालेन सेवितो नैरन्तर्येण सेवितो ब्रह्मचर्येण श्रद्धातपआदिभिः सत्कारैश्च सेवितो दृढभूमिर्व्युत्थानसंस्कारानभिभूतो भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

मणिप्रभा ।

नन्वनादिप्रबलराजसतामसवृत्तिसंस्कारैर्विरोधिभिः कुण्ठितोऽभ्यासो न स्थित्यै कल्पत इत्यत आह सत्विति ।

"तु" शब्दः शङ्कानिरासार्थः । सोऽभ्यासो दीर्घकालं तपोब्रह्मचर्यविद्याश्रद्धारूपसत्कारेण नैरन्तर्येण चासेवितो दृढसंस्कारः स व्युत्थानसंस्कारैर्नाभिभूयते किन्तु स्थितिसमर्थो भवतीत्यर्थः । "अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्येति" श्रुतिः सत्कारं दर्शयति ॥ १४ ॥

चन्द्रिका ।

सत्विति । बहुकालं नैरन्तर्येणादरातिशयेन च सेव्यमानो दृढभूमिः स्थिरो भवति ॥ १४ ॥

योगसुधाकरः ।

नन्वयत्नाभ्यासः स्वयमदृढः सन्ननादिसंचितव्युत्थानसंस्कारान्कथमभिभवेदित्याशङ्क्याह—**सत्विति** ।

यदि दिवसैर्मासैर्वा समाधिसिद्धिं वाञ्छेत्, तदा 'विद्यमानाश्चत्वार एव वेदाः तानध्येतुं गतस्य माणवकस्य पञ्च दिवसा अतीताः; नाद्याप्यसौ समागतः' इति मूढवचनानुसार्येवायं योगी स्यात् । अतः संवत्सरैर्जन्मभिर्वा दीर्घकालं योग आसेवितव्यः । तथा च स्मर्यते—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' इति । यदि चिरमासेव्यमानोऽपि विच्छिद्य विच्छिद्यासेव्येत, तर्ह्युत्पद्यमाना योगसंस्काराः समनन्तरभाविविच्छेदकालीनैर्व्युत्थानसंस्कारैरभिभूयेरन् । अतो निरन्तरमासेवितव्यः । सत्कार आदरः । अनादरे लयविक्षेपकषायादयः प्रसज्जेरन् । तस्मादादरेणासेवितव्यः । दीर्घकालादित्रैविध्येनासेवितस्य समाधेर्दृढभूमित्वं नाम प्रबलतरदुःखेनापि चालयितुमशक्यत्वम् । तच्च स्मर्यते—'यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते' इति ॥ १४ ॥

भोजवृत्तिः ।

वैराग्यस्य लक्षणमाह—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

द्विविधो हि विषयो दृष्ट आनुश्रविकश्च । दृष्ट इहैवोपलभ्यमानः शब्दादिः । देवलोकादावानुश्रविकः । अनुश्रूयते गुरुमुखादित्यनुश्रवो वेदस्तत्समधिगत आनुश्रविकः तयोर्द्वयोरपि विषययोः परिणामविरसत्वदर्शनाद्विगतगर्द्धस्य या वशीकारसंज्ञा ममैते वश्या नाहमेतेषां वश्य इति योऽयं विमर्षस्तद्वैराग्यमुच्यते ॥ १५ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

योगहेतुवैराग्ययोर्मध्ये प्रथममपरवैराग्यं लक्षयति—**दृष्टेति** ।

अपरवैराग्यं तावच्चतुर्विधम्—यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा चेति । तत्र दृष्टेष्वैहिकेषु विषयेषु, आनुश्राविकेषु अनुश्रवाख्यवेदोक्तेषु विषयेषु स्वर्गादिषु, वितृष्णस्य आद्यवैराग्यत्रययुक्तस्य चित्तस्य जायमाना या वशीकारसंज्ञा सा योगहेतुवैराग्यमपरमित्यर्थः । वैराग्यान्तरस्य परतया वक्ष्यमाणत्वात् । अयं भावः । यतमानादिवैराग्ये सत्यपि वशीकारं विना विषयसांनिध्ये योगभ्रंशो भवति । अत आद्यवैराग्यत्रयाभ्यासादुत्पद्यमाना वशीकारसंज्ञैव योगहेतुरिति । वैराग्यचतुष्टयं तन्त्रान्तरे प्रोक्तं तद्यथा—"ज्ञानपूर्वकवैराग्यसाधनानां दोषदर्शनादीनामनुष्ठानं यतमानसंज्ञात्वेन परिभाषिता वितृष्णा प्रथमा भूमिका । जिताश्चैतानीन्द्रियाणि एतानि च जेतव्यानीति व्यतिरेकावधा-

रणयोग्यता द्वितीया भूमिका । बाह्येन्द्रियविषयेषु रूपादिषु रागद्वेषादिक्षये सति, एकस्मिन्नेव मनसि मानादिविषयकरागद्वेषाद्यपसारणं तृतीया भूमिका । प्रकृष्टविषयसान्निध्येऽपि रागादिवासनानुद्बोधश्चतुर्थी भूमिका वशीकारसंज्ञा वितृष्णेति ॥ १५ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

तत्रादावपरवैराग्यमाह–**दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्** । अपरवैराग्यं तावच्चतुर्विधम्––यतमानसंज्ञा व्यतिरेकसंज्ञा एकेन्द्रियसंज्ञा वशीकारसंज्ञा च । तत्र वैराग्यसाधनानामर्जनरक्षणक्षयहिंसाद्यनन्तदोषदर्शनादीनां ज्ञानपूर्वमनुष्ठानमाद्यम् . 'विरक्तिर्दोषदर्शनात्' ,इति स्मृतेः । जितान्येतानीन्द्रियाणि एतानि जेतव्यानीति व्यतिरेकावधारणं द्वितीयम् । बाह्येन्द्रियविषयेषु रागद्वेषादिक्षये सति एकस्मिन्नेव मनसि मानापमानादिविषयकरागद्वेषाद्यपसारणं तृतीयम् । एतत्त्रितयाभ्यासेन हि विषयसंयोगेऽपि दोषदर्शनमप्रतिबद्धं जायते, 'वैराग्याद्दोषदर्शनम्' इति स्मृतेः । चतुर्थलक्षणमिदं सूत्रम् । दृष्टेष्वैहिकेषु स्त्र्यन्नपानैश्वर्यादिषु आनुश्रविकेषु वेदप्रतिपादितेषु स्वर्गकरणलीनत्वप्रकृतिलीनत्वाणिमाद्यष्टैश्वर्यादिषु वितृष्णस्य संनिहितासंनिहितेषु रूपादिषु अमृतपानादिषु चालुब्धस्याऽऽद्यवैराग्यत्रययुक्तस्य चित्तस्य या वशीकारसंज्ञा प्रकृष्टविषयसान्निध्येऽपि तेषूपेक्षाबुद्धिर्ममैवेते वश्या नाहमेषामिति च या बुद्धिस्तत्संज्ञकं वैराग्यमित्यर्थः । ननु रागाभावमात्रं विषयासान्निध्येन रागाभावे विरक्तत्वापत्तेः । आद्यवैराग्यत्रयवतोऽपि विषयसान्निध्ये, योगभ्रंशो भवतीति चतुर्थवैराग्यमेव योगहेतुरिति भावः ॥ १५ ॥

मणिप्रभा ।

वैराग्यस्वरूपमाह - दृष्टेति ।

यतमानव्यतिरेकैकेन्द्रियवशीकारसंज्ञाश्चतस्रः । तत्र रागादीनां चित्तस्थानां कषायाणां विषयेष्विन्द्रियप्रवर्त्तकानां पाकार्थं प्रयत्नो यतमानसंज्ञं वैराग्यम् । ततः पक्वानां केषांचित्कषायाणां पक्ष्यमाणेभ्यो विभागावधारणं व्यतिरेकसंज्ञं वैराग्यम् । ततः पक्वानां सर्वेषामिन्द्रियप्रवर्तनाशक्तानां मनस्यौत्सुक्यरूपेणावस्थानमेकेन्द्रियसंज्ञं वैराग्यम् । स्त्रियोऽन्नपानमित्यादिषु दृष्टेषु, गुरूच्चारणमनुश्रवः श्रवणं यस्य सोऽनुश्रवो वेदः तदुक्तेष्वानुश्रविकेषु स्वर्गादिदिव्यादिव्यविषयेषु, विनाशपरितापसातिशयत्वासूयादिदोषाणामभ्यासेन साक्षात्काराद्वितृष्णस्योपेक्षाबुद्धिर्वशीकारसंज्ञं वैराग्यमित्यर्थः ॥ १५ ॥

चन्द्रिका ।

दृष्टेति । इहोपलभ्यमानः शब्दादिर्देवलोकादावानुश्रविकः तयोः परिणामविरसत्वदर्शनाद्विगतेच्छस्य वशीकारसंज्ञं वैराग्यमुच्यते ॥ १५ ॥

योगसुधाकरः ।

अथ वैराग्यं द्विविधमपरं परं चेति । अपरं च यतमानव्यतिरेकैकेन्द्रियवशीकारभेदेन चतुर्विधम् । तत्राद्यत्रयमर्थात्सूचयन्साक्षाच्चतुर्थमाह—दृष्टेति ।

स्रक्चन्दनादयो विषया दृष्टाः । वेदोक्तस्वर्गादय आनुश्रविकाः । तत्रोभयत्रापि सत्यामपि तृष्णायां विवेकतारतम्येन यतमानादिवैराग्यत्रयं भवति । यतमानत्वं नाम 'अहमिह जगति किं सारं किमसारमिति गुरुशास्त्राभ्यां विज्ञास्यामि' इत्युद्योगः । स्वचित्ते पूर्वं विद्यमानानां दोषाणां मध्येऽभ्यस्यमानेन विवेकेनैतावन्तः पक्वा एतावन्तोऽवशिष्टा इति विवेचनं व्यतिरेकः । दृष्टानुश्रविकविषयप्रवृत्तेर्दुःखात्मकत्वबोधेन तां प्रवृत्तिं परित्यज्य मनस्यौत्सुक्यमात्रेण तृष्णास्थापनमेकेन्द्रियत्वम् । वितृष्णत्वं वशीकारः । तदिदमपरं वैराग्यमष्टाङ्गयोगप्रवर्तकत्वेन संप्रज्ञातस्यान्तरङ्गम्, असंप्रज्ञातस्य तु बाहिरङ्गम् ॥ १५ ॥

भोजवृत्तिः ।

तस्यैव विशेषमाह—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

तद्वैराग्यं परं प्रकृष्टं प्रथमं वैराग्यं विषयविषयम्। द्वितीयं गुणविषयमुत्पन्नगुणपुरुषविवेकख्यातेरेव भवति निरोधसमाधेरत्यन्तानुकूलत्वात् ॥ १६ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

परवैराग्यं लक्षयति—तत्परमिति।

तदिति वैराग्यं परामृश्यते। पुरुषख्यातेरात्मद्वयान्यतरसाक्षात्काराद्धेतोरुत्पद्यमानं सकलगुणेष्वात्मोपकरणेषु वैतृष्ण्यमलंबुद्धिः परं श्रेष्ठं वैराग्यमित्यर्थः। पूर्वसूत्रे विषयदोषदर्शनजं विषयेष्वेव वैराग्यमुक्तम्, नतु ज्ञाने तत्साधने च। तदानीं च ज्ञानेऽपि विनाशित्वादिदोषदर्शनसाम्येऽपि नालंबुद्धिरूपं वैराग्यं संभवति, अविद्यानिवृत्त्याख्यप्रयोजनवत्त्वात्। अत्र सूत्रे ज्ञानेनाविद्यानिवृत्त्यादौ सिद्धे तेनैव दोषदर्शनेनात्मतत्त्वदृष्ट्या च ज्ञानसाधनेष्वात्मतृप्तस्योपेक्षोच्यत इति वैराग्ययोर्भेदः। एतस्मिन्नेव च वैराग्ये सति कैवल्यनियमो, न पूर्ववैराग्य इत्यतोऽस्य परत्वम् ॥ १६ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। उक्तवैराग्यवतो दृढतरगुणपुरुषविवेकज्ञानाद्धर्ममेघसमाधिरूपाद्धेतोरुत्पद्यमानं सकलगुणेष्वात्मोपकरणेषु गुणरूपायां सत्त्वपुरुषान्यताख्यातौ च यद्वैतृष्ण्यं चित्तस्य ज्ञानप्रसादावस्थानिष्पन्नात्मज्ञानतारूपा तत्परमुत्कृष्टं वैराग्यमित्यर्थः। विषयेष्विव ज्ञानेऽपि विनाशित्वादिदोषदर्शनसत्त्वेऽपि अविद्यानिवृत्त्याख्यप्रयोजनवशेन तत्र नालंबुद्धिरूपं वैराग्यम्। सम्यग्ज्ञानेनाविद्यानिवृत्तौ च तेनैव दोषदर्शनेन तत्राप्युपेक्षारूपं वैराग्यमिति भावः। यत्तूक्तं निर्विषयज्ञानप्रसादमात्ररूपोऽसंप्रज्ञातः समाधिरिति तात्पर्यम्। अस्मिन्नेव वैराग्ये सति ऐहिककैवल्यनियमः ॥ १६ ॥

मणिप्रभा।

अपरं वैराग्यमुक्त्वा परं वैराग्यमाह तदिति।

पूर्ववैराग्यमुत्तरवैराग्ये हेतुः। तथा हि वक्ष्यमाणयोगाङ्गानुष्ठानादनातिशुद्धचित्तस्य विषयेषु दोषदर्शनाद्वशीकारसंज्ञकवैराग्ये सति गुर्वागमावगतस्य पुरुषस्य या ख्यातिस्तदभ्यासाद्धर्ममेघाख्यध्यानरूपाग्नितापविध्वस्ततमोरजोमलं चित्तं सत्त्वमात्रशेषमतिप्रसन्नं भवति। सोऽयमतिशुद्धचित्तधर्मः प्रसादो धर्ममेघस्योत्तरविधिः तस्यैव फलीभूतः, परं गुणेभ्यो वैतृष्ण्यं वैराग्यमुच्यते, यं मुक्तिहेतुसाक्षात्कारं वदन्ति मोक्षविदः। यस्योदये प्रक्षीणसर्वक्लेशो विधुताशेषकर्माशयः कृतविवेकख्यातावप्युपेक्षकः कृतं कृत्यं प्राप्तं प्रापणीयमिति मन्यते योगी। यदनन्तरमेव चित्तमसम्प्रज्ञातसंस्कारमात्रशेषं भवति तत्परं वैराग्यम्। अपरं तु वैराग्यं वितमस्कस्य रजोलेशमलस्य चित्तस्य धर्मः यतः प्रकृतौ लीना ऐश्वर्यमनुभवन्ति। यथोक्तं "वैराग्यात्प्रकृतिलय" इति ॥ १६ ॥

चन्द्रिका।

तदिति। गुणवैतृष्ण्यरूपमुत्कृष्टं वैराग्यं पुरुषविवेकख्यातेर्भवति ॥ १६ ॥

योगसुधाकरः।

अथ तस्यान्तरङ्गं परवैराग्यमाह—तदिति।

संप्रज्ञातसमाध्यभ्यासपाटवेन गुणत्रयात्मकात्प्रधानाद्विविक्तस्य पुरुषस्य ख्यातिः साक्षात्कारः, तस्मादशेषगुणत्रयव्यवहारे वैतृष्ण्यं यत्, तत्परं वैराग्यमित्यर्थः ॥ १६ ॥

भोजवृत्तिः।

एवं योगस्य स्वरूपमुक्त्वा संप्रज्ञातस्वरूपभेदमाह—

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥ १७ ॥

समाधिरिति शेषः। सम्यक् संशयविपर्ययरहितत्वेन प्रज्ञायते प्रकर्षेण ज्ञायते भाव्यस्य रूपं येन स संप्रज्ञातः समाधिर्भावनाविशेषः। स वितर्कादिभेदाच्चतुर्विधः। सवितर्कः सविचारः सानन्दः सास्मि-

तत्र । भावना भाव्यस्य विषयान्तरपरिहारेण चेतसि पुनः पुनर्निवेशनम् । भाव्यञ्च द्विविधं-ईश्वरस्तत्त्वानि च । तान्यपि द्विविधानि जडाजडभेदात् । जडानि चतुर्विंशतिः । अजडः पुरुषः । तत्र यदा महाभूतेन्द्रियाणि स्थूलानि विषयत्वेनादाय पूर्वापरानुसन्धानेन शब्दार्थोल्लेखसम्भेदेन च भावना क्रियते तदा सवितर्कः समाधिः । अस्मिन्नेवावलम्बने पूर्वापरानुसन्धानशब्दोल्लेखशून्यत्वेन यदा भावना प्रवर्तते तदा निर्वितर्कः । तन्मात्रान्तःकरणलक्षणं सूक्ष्मविषयमालम्ब्य तस्य देशकालधर्मावच्छेदेन यदा भावना प्रवर्त्तते तदा सविचारः । तस्मिन्नेवावलम्बने देशकालधर्मावच्छेदं विना धर्मिमात्रावभासित्वेन भावना क्रियमाणा निर्विचार इत्युच्यते । एवं पर्य्यन्तः समाधिर्ग्राह्यसमापत्तिरिति व्यपदिश्यते । यदा तु रजस्तमोलेशानुविद्धमन्तःकरणसत्त्वं भाव्यते तदा गुणभावाच्चितिशक्तेः सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्य भाव्यमानस्योद्रेकात् सानन्दः समाधिर्भवति । अस्मिन्नेव समाधौ ये बद्धधृतयस्तत्त्वान्तरं प्रधानपुरुषरूपं न पश्यन्ति ते विगतदेहाहङ्कारत्वाद्विदेहशब्दवाच्याः । इयं ग्रहणसमापत्तिः । ततः परं रजस्तमोलेशानभिभूतं शुद्धसत्त्वमालम्बनीकृत्य या प्रवर्त्तते भावना तस्यां ग्राह्यस्य सत्त्वस्य न्यग्भावात् चितिशक्तेरुद्रेकात् सत्तामात्रावशेषत्त्वेन समाधिः सास्मित इत्युच्यते । न चाहङ्कारास्मितयोरभेदः शङ्कनीयः, यतो यत्रान्तःकरणमहमिति उल्लेखेन विषयान् वेदयते सोऽहङ्कारः । यत्रान्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामे प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रमवभाति साऽस्मिता । अस्मिन्नेव समाधौ ये कृतपरितोषाः परं परमात्मानं पुरुषं न पश्यन्ति तेषां चेतासि स्वकारणे लयमुपागते प्रकृतिलया इत्युच्यन्ते, ये परं पुरुषं ज्ञात्वा भावनायां प्रवर्त्तन्ते तेषामियं विवेकख्यातिर्ग्रहीतृसमापत्तिरित्युच्यते । तत्र संप्रज्ञातसमाधौ चतस्रोऽवस्थाः शक्तिरूपतयाऽवतिष्ठन्ते । तत्रैकैकस्यास्त्याग उत्तरोत्तरा इति चतुरवस्थोऽयं संप्रज्ञातः समाधिः ॥१७॥

भावागणेशवृत्तिः ।

योगस्य प्रकृष्टं साधनं निर्दिष्टम् । इदानीं योगस्यावान्तरविभाग उच्यते सूत्रे—वितर्केति ।

साक्षात्कारविशेषरूपैर्वितर्कादिभिरनुगमाद्धेतोः सम्यक्प्रज्ञावत्त्वेन संप्रज्ञातनामा योगो भवति चतुर्विध इत्यर्थः । एकस्मिन्नेव चतुर्भुजाद्व्यष्टिसमष्टिसंघातरूपालम्बने चतुर्विधः संप्रज्ञातः क्रमेण भवति । तत्र भूतेन्द्रिययोरश्रुतामताशेषविशेषसाक्षात्कारे वितर्कपरिभाषा । तेन च फलेनोपहितश्चित्तवृत्तिनिरोधो वितर्कानुगत उच्यते । तथा तत्रैवालम्बने कारणत्वेनानुगता ये प्रकृतिमहदहङ्कारतन्मात्ररूपा भूतेन्द्रिययोः सूक्ष्मार्थास्तद्गताशेषविशेषसाक्षात्कारे विचारसंज्ञा । तेन च फलेनोपहितश्चित्तवृत्तिनिरोधो विचारानुगतः । तथा तत्रैवालम्बने यश्चतुर्विंशतितत्त्वानुगतः सुखरूपः पुरुषार्थोऽस्ति, तद्गताशेषविशेषसाक्षात्कार आनन्दसंज्ञा । तेन च फलेनोपहितश्चित्तवृत्तिनिरोध आनन्दानुगतः । यद्यपि दुःखमोहादिधर्मजातं त्रिगुणात्मकं सकलवस्तुष्वस्ति तथापि सुखरागेणैव संसारादात्मनो बन्धात्त तदेव मुख्यतो द्रष्टव्यम् । यथा तत्र दोषदर्शनेन योगजासिद्धिष्वपि वैराग्यं स्यादित्याशयेनानन्दमात्रे योग उपदिष्टः । तथा तत्रैवालम्बने जीवेश्वररूपं यत्पुरुषद्वयमास्ति तदन्यतरस्याशेषविशेषसाक्षात्कारे अस्मितासंज्ञा । तेन च फलेनोपहितश्चित्तवृत्तिनिरोधोऽस्मितानुगत इति । आसु च संप्रज्ञातभूमिकासु उत्सर्गतः क्रमोऽप्यस्ति । स्थूलादिक्रमेणैव परमसूक्ष्मपर्यन्तं चित्तसमाधानसंभवात् । यस्य त्वीश्वरानुग्रहवशादादावेवोत्तमभूमिकालाभो भवति तस्य पूर्वपूर्वभूमिषु योगो नापेक्ष्यत इति संप्रज्ञातस्वरूपं विभागश्चोक्तः ॥१७॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अथ संप्रज्ञातविभागमाह—वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्संप्रज्ञातः । साक्षात्कारविशेषरूपैर्वितर्कादिभिरनुगमात् उपधानात्संप्रज्ञातश्चतुर्विधः । सम्यक् संशयविपर्ययराहित्येन प्रज्ञायते प्रकर्षेण ज्ञायते भाव्यस्वरूपं येन स सम्प्रज्ञातसमाधिः भावनाविशेषः । स सवितर्कः सविचारः सानन्दः सास्मितश्च । भावना च भाव्यस्य विषयान्तरपरिहारेण चेतसि पुनःपुनर्निवेशनम् । वितर्कादीनां क्रमेण निरोधस्यापि क्रमः । उच्चारोहे क्रमिकसोपानपरम्परावत् । स्वतो निरोधे क्रमाभावात् । वितर्कादिक्रम औत्सर्गिकः । एकदा चित्तस्य [illegible] प्रवेशस्य अयोग्यत्वसम्भवात् । स्थूले विनिर्जितं चित्तं ततः सूक्ष्मं

शनैर्नयेत्' इति स्मृतेः। किञ्च स्थूलादिविषये रागे उत्तरोत्तरभूमौ चित्तसमाधानासम्भवः। अतः स्थूलादिसाक्षात्कारेण तत्र तत्र दोषदृष्टयोत्तरोत्तरभूम्यारोहः। यदि तु कस्यचिदीश्वरप्रसादादादावेवो-त्तरभूम्यारोहो भवति तेन पूर्वभूमिकाभ्यासस्तत्सिद्धिकामनां विना न कार्यः। एतच्च भूमिकाचतुष्टयमे-कस्मिन्नेवालम्बने कर्तव्यम्, अन्यथा पूर्वपूर्वोपासनात्यागदोषापत्तेः, चित्तचाञ्चल्यदोषापत्तेश्च। तथा-हि—यद्विराट्शरीरं चतुर्भुजादिकं वा स्वशरीरं वा पुरुषेश्वरसहितं जडचतुर्विंशतितत्त्वैः प्रकृत्या पुरु-षेण च षड्विंशतितत्त्वसङ्घातं समष्टिव्यष्ट्यात्मकमालम्बनमधिकृत्य प्रथमं भावना प्रवर्तते तदालम्बनं, तत्रालम्बने स्थूलयोर्महाभूतेन्द्रिययोर्विद्यमानानामशेषविशेषाणामतीतानागतवर्तमानव्यवहिताविप्रकृष्टा-नां गुणदोषाणामदृष्टाश्रुतामतानामपि पूर्वापरानुसन्धानेन शब्दार्थोल्लेखेन च भावनया यः साक्षात्कारः स वितर्क इत्युच्यते। तेन फलेनोपहितश्चित्तवृत्तिनिरोधो वितर्कानुगत इत्युच्यते। तत्रादृष्टाश्रुतामतानां पूर्वं चिन्तनासम्भवेऽपि योगबलेनैवोत्तरोत्तरं तेषां साक्षात्कारो भवति। तस्यैव पुनः सवितर्कानिर्वित-काख्यौ भेदौ वक्ष्यति। वितर्के विपरीततर्कणं शब्दार्थज्ञानविकल्परूपमित्यग्रे स्फुटम्। अत्र स्थूल-साक्षात्कारे तप्तायःपिण्डवदेकीभावेन पुरुषपर्यन्तानां भानमुत्तरे च पूर्वपूर्वहानिरिति भाष्ये स्पष्टम्। जपादिजन्यात् ध्रुवादीनां चतुर्भुजादिसाक्षात्काराच्चायं विलक्षणः। तेषां हि तपोध्यानादितुष्टः परमेश्वरः स्वयं शरीरं निर्माय पुरः प्रकटीभूय वागादिव्यवहारं चक्रे। योगिनस्तु योगबलेन वैकुण्ठश्वेतद्वीपा-दिस्थमेव तच्छरीरमन्यत्र स्थिताः पश्यन्ति, तद्गतं बाह्याभ्यन्तरगुणदोषादिकमतीतादिरूपं पश्यन्तीति विशेषः। ततस्तत्रैवालम्बने दोषज्ञानेन स्थूलाकारदृष्टिं त्यक्त्वा कारणत्वेनानुगता ये तन्मात्राहंकारप्र-कृतिरूपा भूतेन्द्रिययोः सूक्ष्मा अर्थास्तेषु क्रमेण धारणादित्रयेण यस्तद्गताशेषविशेषसाक्षात्कारः स वि-चारः, विशेषेण चरणं सूक्ष्मवस्तुपर्यन्तं यत्रेत्यर्थात्तदुपहितो विचारानुगतः। अस्य सविचारनिर्विचा-ररूपौ भेदौ वक्ष्यति। नच स्थूलालम्बने कथं सूक्ष्मदृष्टिर्यथार्था। सर्वेषां षड्विंशतितत्त्वकार्यतया का-र्यकारणयोश्चाभेदेन षड्विंशतितत्त्वरूपत्वात्। तथापि कार्यरूपताऽस्थिरा कारणरूपतैव च सत्या। नन्वेवमप्यदृष्टस्य कथं भावना, श्रुतमतप्रकारतयैव सामान्यतो भावनासम्भवात्। अश्रुतामतविषयस्य च योगजधर्मबलेनैव साक्षात्कार एवं सर्वत्र बोध्यम्। ततस्तत्रैवालम्बने तामपि दृष्टिं दोषदर्शनेन त्य-क्त्वा चतुर्विंशतितत्त्वानुगतसुखरूपपुरुषार्थे धारणादित्रयेण पूर्ववदशेषविशेषतः सुखाकारः स आन-न्दः ज्ञानज्ञेययोरभेदोपचारात् तदुपहितः सानन्दः। यद्यपि सुखवद्दुःखमोहावपि सर्वत्र तथापि सुख-रागेणैव संसारादात्मदर्शनप्रतिबन्धाच्च तदेव मुख्यतोऽशेषविशेषतो योगेन द्रष्टव्यम्। यथा तत्र दोष-दर्शनेन दुःखदृष्टया योगजसिद्धिष्वपि वैराग्यं स्यादित्याशयेनानन्दमात्रे योगोपदेश इति बोध्यम्। तत आनन्दपर्यन्तं दोषदर्शनेन विरज्य तत्रैवालम्बने जीवेश्वररूपं यत्पुरुषद्वयमस्ति तदन्यतरस्य कूटस्थ-चिन्मात्ररूपस्य जडेभ्यो विवेकेन यः आत्माकारः साक्षात्कारः सोऽस्मिता। देहादिभिन्नोऽस्तीत्येताव-न्मात्राकारत्वादस्मि इत्येतावन्मात्राकारत्वाद्वा इतः परं ज्ञातव्याभावादेषा चरमभूमिका। अत्रास्मिता-शब्देन विविक्तचेतनाकारमात्रतोपलक्ष्यते। तेनादीनभावेन य ऐश्वरश्चेतनतत्त्वसाक्षात्कारस्तस्यापि सङ्ग्र-हः। तदनुगतोऽस्मितानुगतः। अस्यैव परा काष्ठा धर्ममेघसमाधिरित्युच्यते। यस्योदये ज्ञानेऽप्यलंप्र-त्ययरूपपरवैराग्यं जायते। तत्र पूर्वं जीवात्मविषयास्मिता। ततस्ततोऽपि सूक्ष्मा परमात्मविषया। जीवस्वरूपज्ञानं हि प्रत्यक्षं तत्रैव परिच्छिन्नकूटस्थत्वादिज्ञानस्यैव तत्साक्षात्कारत्वात्। अयमेव सत्त्वपु-रुषान्यताख्यातिशब्देनोच्यते पारमेश्वरयोगस्तु कौर्मे उक्तः—

यत्र पश्यति चात्मानं नित्यानन्दं निरञ्जनम्।
मामेकं स महायोगी भाषितः पारमेश्वरः॥
यत्र साक्षात्प्रपश्यन्ति विमुक्ता विश्वमीश्वरम्॥ इति।

कारणरूपेण विभुत्वेन च सर्वत्रानुगमादस्मितायाः अचेतनघटाद्यालम्बनेऽपि सम्भव इति दिक्। 8

चत्वारोऽप्येते सालम्बनाः सबीजा इति चोच्यन्त ध्येयरूपालम्बनयोगाद्वापिबीजसंस्कारोऽन्नत(?)-श्चेति ध्येयम् ॥ १७ ॥

मणिप्रभा ।

एवमभ्यासवैराग्ये निरूप्य तत्साध्यं निरूपयन्नादौ सम्प्रज्ञातं चतुर्विधं दर्शयति— वितर्केति ।

यथा लोके प्राथमिकधानुष्कः स्थूलमेव लक्ष्यं विध्यति पश्चात्सूक्ष्मं तथा प्राथमिको योगी स्थूलमेव शालिग्रामादिकं ध्यानेन साक्षात्करोति स स्थूलसाक्षात्कारो 'वितर्कः' । तस्य स्थूलस्य कारणं पञ्च-तन्मात्रादिकं सूक्ष्मं तस्य ध्यानेन साक्षात्कारो 'विचारः'। इन्द्रियाणि स्थूलानि प्रकाशकत्वात्सत्त्वरू-पाणि तेषां ध्यानेन साक्षात्कार 'आनन्दः'। तेषां कारणं बुद्धिः पुरुषेण ग्रहीत्रैकीभूता सती अस्मिता तस्या ध्यानेन साक्षात्कारोऽप्यस्मितोच्यते । तत्र स्थूलं च ग्राह्यमिन्द्रियाणि ग्रहणानि अस्मिताऽऽ-ख्यो ग्रहीता तेषु ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु ध्यानपरिपाकः सम्प्रज्ञातो योगः । स च वितर्कविचारानन्दास्मि-तास्वरूपैश्चतुर्भिरनुगमाच्चतुर्विधः सवितर्कः, सविचारः, सानन्दः, सास्मित, इति । अत्र यथा घट-ज्ञानं मृद्विषयं तादात्म्यात्तथा स्थूलयोगः स्थूलसूक्ष्मेन्द्रियास्मिताविषयकः, सूक्ष्मयोगस्त्रयविषयकः, अन्यौ द्व्येकविषयाविति विशेषो भाष्यकृद्भाषितः । तत्र मृज्ज्ञानं घटाविषयं यथा तद्वत्सूक्ष्मादियोगाः स्थूलाद्यविषया इति मन्तव्यम् । भोजवृत्तौ तु इन्द्रियेषु सवितर्कमुक्त्वा, तन्मात्रेषु सविचारमुक्त्वा, ऽहङ्कारे सानन्दो, महतत्त्वे सास्मित इत्युक्तम् । तत्राहमितिविषयग्राहकान्तःकरणमहङ्कारः । अन्तर्मुखे सत्तामात्रे महतत्त्वे लीनं सत्तामात्रावभासकमस्मितेति तयोर्भेदः । ग्रहीता पुरुषः ॥ १७ ॥

चन्द्रिका ।

वितर्केति । वितर्कादिचतुष्टयभेदेन सम्यक् प्रकर्षेण ज्ञायते भाव्यस्य रूपं येन सः ॥ १७ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थमभ्यासवैराग्ये निरूप्य तत्साध्यं समाधिमाह वितर्केति ।

सम्यक्प्रज्ञायते येन भाव्यं वस्तु स सम्प्रज्ञातः समाधिर्भावनाविशेषः । स च वितर्कादिरूपैश्चतुर्भि-रनुगमाच्चतुर्विधः—सवितर्कः सविचारः सानन्दः सास्मित इति । तत्र भावनया भाव्यभूतेन्द्रियगोचर-साक्षात्कारः सवितर्कः । पञ्चतन्मात्रान्तःकरणगोचरसाक्षात्कारः सविचारः । रजस्तमोलेशानुविद्धसत्त्व-प्रधानबुद्धिगोचरसाक्षात्कारः सानन्दः । शुद्धसत्त्वप्रधानमहत्तत्त्वगोचरसाक्षात्कारः सास्मितः । तत्र वि-तर्कविचारद्वयं ग्राह्यम् । आनन्दो ग्रहणम् । अस्मिताख्यो ग्रहीता । तेषु ग्राह्यग्रहणग्रहीतृषु भावनोत्कर्षः सम्प्रज्ञातो योग इत्यर्थः ॥ १७ ॥

भोजवृत्तिः ।

असम्प्रज्ञातमाह—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

विरम्यतेऽनेनेति विरामो वितर्कादिचिन्तात्यागः विरामश्चासौ प्रत्ययश्चेति विरामप्रत्ययस्तस्याभ्यासः पौनःपुन्येन चेतसि निवेशनम् । तत्र या काचित् वृत्तिरुल्लसति तस्या नेति नेतीतिनैरन्तर्येण पर्युदसनं तत्पूर्वः सम्प्रज्ञातसमाधेः संस्कारशेषोऽन्यस्तद्विलक्षणोऽयमसम्प्रज्ञात इत्यर्थः । न तत्र किञ्चिद्वे-द्यम् सम्प्रज्ञायते इति असम्प्रज्ञातो निर्बीजः समाधिः । इह चतुर्विधश्चित्तस्य परिणामः । व्युत्थानं समा-धिप्रारम्भो एकाग्रता निरोधश्च । तत्र क्षिप्तमूढे चित्तभूमी व्युत्थानम् । विक्षिप्ता भूमिः सत्त्वोद्रेकात् समाधि-प्रारम्भः । निरुद्धैकाग्रते च पर्यन्तभूमी । प्रतिपरिणामश्च संस्काराः । तत्र व्युत्थानजनिताः संस्काराः समाधिप्रारम्भजैः संस्कारैः प्रत्याहन्यन्ते । तज्जाश्चैकाग्रताजैः, निरोधजनितैरेकाग्रताजाः संस्काराः स्वरूपञ्च हन्यन्ते–यथा सुवर्णसम्वलितं ध्मायमानं सीसकमात्मानं सुवर्णमलञ्च निर्दहति । एवमेकाग्रता-जनितान् संस्कारान् निरोधजाः स्वात्मानञ्च निर्दहन्ति ॥ १८ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

असंप्रज्ञातस्वरूपमुच्यते—विराममिति।

तत्त्वज्ञानलक्षणयापि वृत्त्या विरम्यतामिति प्रत्ययः, ज्ञानेऽप्यलम्बुद्धिः परवैराग्यम्। तदभ्यासात्पौनःपुन्याज्जायते यः संस्कारमात्रावशेषो वृत्तिनिरोधः स सम्प्रज्ञातादन्योऽसम्प्रज्ञात इत्यर्थः। संस्कारमात्रशेष इत्यनेन मोक्षकालीननिरोधव्यावृत्तिः। असम्प्रज्ञाते व्युत्थानार्थं वृत्तिसंस्कारमात्रं तिष्ठति न तु वृत्तिः। मोक्षे तु चित्तस्यात्यन्तविलयात्संस्कारोऽपि न तिष्ठतीति विशेषः॥ १८॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

असंप्रज्ञातमाह—विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। तत्त्वज्ञानलक्षणवृत्तेरपि विरामोऽस्तु इति 'नेति नेति' इत्युदीरितो यः प्रत्ययो ज्ञानेऽप्यलंबुद्ध्यात्मा परवैराग्यरूपस्तस्याभ्यासात्पौनःपुन्याज्जायते यः संस्कारमात्रावशेषो वृत्तिनिरोधः स संप्रज्ञातादन्योऽसंप्रज्ञात इत्यर्थः। संस्कारमात्रशेष इत्यनेन मोक्षकालिकनिरोधव्यावृत्तिः। असंप्रज्ञाते हि संस्कारमात्रं चित्तं तिष्ठति नतु वृत्तिः। मोक्षे तु चित्तस्यात्यन्तं विलयात्संस्कारोऽपि न तिष्ठतीति विशेषः। विरामप्रत्ययाभ्यासेन पूर्वसंस्कारनाशेऽपि तज्जन्यसंस्कारस्य शेषः। तज्जन्या वृत्तिस्तु नाग्रे। तत्र चित्तस्य संस्कारमात्रयुक्तस्य योगयन्त्रितस्यावस्थानम्। सुषुप्तौ तु लय इति विशेषः। सर्वसंगविवर्जितत्वेन निःशेषक्लेशराहित्येन च त्वमर्थशोधनं योगसिद्धान्तः। ततस्तत्पदार्थशोधनपूर्वकं वाक्यार्थनिष्ठता वेदान्तशास्त्रगम्या। तच्छोधनोपयुक्तत्वमात्रेणानेकत्ववादो जीवानामानन्दरूपत्वाभावश्चात्रोक्तो नतु वास्तव इत्यविरोधः। असम्प्रज्ञातयोगवतः प्रारब्धवशाद्व्युत्थानेऽपि वृत्त्यभाव एव वृत्तिजनकसंस्काराणां नाशादिति दिक्॥ १८॥

मणिप्रभा।

अधुना सोपायमसंप्रज्ञातमाह—विराममिति।

वृत्तीनामभावो विरामः तस्य प्रत्ययः कारणं परवैराग्यं तदभ्यासः पूर्वं उपायो यस्य स तथा। अनेन पदेनोपाय उक्तः। अन्यो ऽसंप्रज्ञातः संस्कारशेषः। परं हि वैराग्यं सम्प्रज्ञातसंस्कारानप्यभिभूय स्वसंस्कारं शेषयति। स निर्बीजः समाधिः। निरालम्बनत्वात्कर्मबीजाभावाच्चेत्यर्थः॥ १८॥

चन्द्रिका।

विराममिति। विरम्यतेऽनेन स चासौ प्रत्ययश्च तस्याभ्यासः पुनपुनश्चेतसि निवेशनं तत् पूर्वं यस्य तादृशः संस्कारशेषः असम्प्रज्ञात इत्यर्थः। तत्र या काचिद्वृत्तिरुल्लसति तस्या नेतिनेतीतिश्रुत्या निरासः कार्यः। तत्र व्युत्थानायाः संस्काराः समाधिप्रारम्भायैः संस्कारैर्हन्यन्ते॥ १८॥

योगसुधाकरः।

इत्यमपरवैराग्यसाध्यं संप्रज्ञातं निरूप्य परवैराग्यसाध्यमसंप्रज्ञातमाह—विराममिति।

विरामो वृत्त्युपरमः, तस्य प्रत्ययः कारणं वृत्त्युपरमार्थः प्रयत्नः, तस्याभ्यासः पौनःपुन्येन सम्पादनम्, तत्पूर्वस्तज्जन्यः संप्रज्ञातादन्यः संस्कारशेषः प्रशान्तसकलवृत्तिकस्य चित्तस्वरूपस्य दुर्लक्ष्यत्वात्संस्काररूपेण योऽवशिष्यते सोऽसंप्रज्ञात इत्यर्थः॥ १८॥

भोजवृत्तिः।

तदेवं योगस्य स्वरूपं भेदं संक्षेपेणोपायञ्च अभिधाय विस्तररूपेणोपायं योगाभ्यासप्रदर्शनपूर्वकं वक्तुमुपक्रमते—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्॥ १९॥

विदेहाः प्रकृतिलयाश्च वितर्कादिभूमिकासूत्रे व्याख्याताः, तेषां समाधिर्भवप्रत्ययः, भवः संसारः स एव प्रत्ययः कारणं यस्य स भवप्रत्ययः। अयमर्थः—अधिमात्रान्तर्भूता एव ते संसारे तथाविधसमाधिभाजो भवन्ति। तेषां परतत्त्वादर्शनाद्योगाभासोऽयम्। अतः परतत्त्वज्ञाने तद्भावनायाञ्च मुक्तिकामेन महान् यत्नो विधेय इत्येतदर्थमुपदिष्टम्॥ १९॥

भावागणेशवृत्तिः।

असंप्रज्ञातं द्विधा विभजते सूत्राभ्याम्—भवेति।

विदेहानां प्रकृतिलयानां च असंप्रज्ञातो भवप्रत्ययसंज्ञको भवति। भवो जन्मैव प्रत्ययः कारणं यस्येति व्युत्पत्तेरित्यर्थः। 'देहनैरपेक्ष्येणैव बुद्धिवृत्तिमन्तः सिद्धा विदेहा' इति विभूतिपादे भाष्यकारैरुक्तम्। ते च महदादयो देवाः तेषां न साधनानुष्ठानम्॥ १९॥ २०॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

स च द्विधा भवप्रत्यय उपायप्रत्ययश्च। तत्राद्यं लक्षयति—भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्। विदेहाश्च प्रकृतिलयाश्चेति द्वन्द्वः। तत्र विदेहाः स्थूलदेहनिरपेक्षेण लिङ्गदेहेनाखिलव्यवहारक्षमा हिरण्यगर्भादयः। ते हि भूतेन्द्रियतन्मात्राहंकारमहतामन्यतमदात्मत्वेन प्रतिपद्य तदुपासनया तद्वासितान्तःकरणाः पिण्डपातानन्तरं तदन्यतमे लीनाः संस्कारमात्रशेषमनसः स्थूलदेहरहिता अवृत्तिकत्वात्कैवल्यमिवानुभवन्ति, प्राप्तावधयस्तु पुनः संसारे विशन्ति। यथा वर्षाऽत्यये मृद्रूपा मण्डूकाः पुनर्वर्षासेकेन मण्डूकदेहमनुभवन्ति तद्वत्। ते हि दैनंदिनप्रलये कदाचिच्च सर्गकालेऽपि स्वसंस्कारमात्रोपगतेन चित्तेन संस्कारशेषेण निरोधावस्थेन कैवल्यपदमिव प्राप्नुवन्तः प्राप्तेऽवधौ व्युत्थानकाले देवभावप्रापकसंस्कारेण तद्भावं प्राप्य तत्फलमैश्वर्यादिकं ततो भुक्त्वा मुच्यन्ते

दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकाश्च शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः॥
बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः॥ इत्युक्तेः।

तेषां च एतद्देहपातानन्तरं स्वस्वाधिकारावसरे प्रादुर्भावरूपजन्ममात्रकारणकत्वाद्भवप्रत्ययः। भवो जन्म प्रत्ययः कारणं यस्येत्यर्थात्। प्रकृतिलयाश्च प्रकृत्युपासनया तच्छबलेश्वरोपासनया वा ब्रह्माण्डं भित्त्वा महत्तत्त्वपर्यन्तावरणान्यतीत्य प्रकृत्यावरणं गताः तदुपासनया तद्वासनावासितान्तःकरणाः पिण्डपातानन्तरं तत्र लीनास्तेऽपि साधनानुष्ठानं विनैव तत्राविर्भावरूपाज्जन्मत एव तथाविधा भवन्ति। 'पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः' इत्यवधिसमाप्तौ पुनः देवादिसंसारे विशन्ति। ततो मुच्यन्ते प्राग्वत्। तत्स्थास्तु विवेकख्यातेरभावात्साधिकारचेतसः कैवल्यपदमिवानुभवन्ति स्थूलदेहवृत्तिसजातीयवृत्त्यभावात्। अत एवेन्द्रियाद्युपासकानामिन्द्रियाद्यभिमानित्वसूर्यादिप्राप्तिः फलत्वेन श्रवणम्। अयं चैषां विदेहेभ्यो विशेषः—तेषामल्पैश्वर्यं मलिनश्च विषयः। एते च तेषामपीशाः स्वसंकल्पमात्रेण निर्मलसत्त्वविषयभागा ईश्वरकोटय इत्युच्यन्ते। प्रलये प्रकृतिलीनत्वात्स्वतन्त्रा न गृह्यन्ते तस्य(१) पुरुषार्थत्वात्। एवं च ते संसारप्राप्तिहेतुतया हेया इति भावः। भवप्रत्यय इति पदं तन्त्रेण षष्ठीतत्पुरुषार्थकमपीति बोध्यम्॥ १९॥

मणिप्रभा।

अयमसम्प्रज्ञातो द्विविधः भवप्रत्यय, उपायप्रत्ययश्च, तत्राद्यो मुमुक्षुभिर्हेयस्तमाह—भवेति।

भूतेन्द्रियाणामन्यतमस्मिन्विकारेऽनात्मन्यात्मत्वभावनया देहपातानन्तरं भूतेन्द्रियेषु लीनाः षाट्कौशिकदेहशून्या विदेहाः। अव्यक्तमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्रेषु प्रकृतिष्वात्मत्वभावनया लीनाः प्रकृतिलयाः। तेषां चित्तं संस्कारमात्रशेषमित्यसंप्रज्ञातः। स तु भवप्रत्ययः। भवन्ति जायन्तेऽस्यां जन्तव इत्यविद्या भवः अनात्मत्वबुद्धिः स प्रत्ययो हेतुरस्य स तथा। अविद्यामूलोऽयं योगोऽन्तवत्फलः। यदाह वायुः—

शतमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः॥
बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।

(१) प्रकृतिलयस्य।

पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ॥
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते । इति
येषां विवेकख्यातिर्नास्ति तेषां चित्तं लीनमप्युत्थाय संसारे पतति मुक्तचित्तवदिति भावः ॥ १९ ॥

चन्द्रिका ।

भवेति । विदेहप्रकृतिलयानां वितर्कादीनां समाधिः भवप्रत्ययः संसार एव कारणं यस्य ॥ १९ ॥

योगसुधाकरः ।

सोऽयमसंप्रज्ञातो द्विविधो भवप्रत्यय उपायप्रत्ययश्चेति । तत्राद्यो मोक्ष्यमाणैर्हेयः, तमाह—भवेति ।
भवन्त्यस्मिञ्जन्तव इति भवः संसारोऽविद्याख्यः, स प्रत्ययो हेतुर्यस्य स संसारमूलोऽसंप्रज्ञातः । स च भूतेन्द्रियेष्वात्मत्वभावनया विधूतदेहानां विदेहानाम्, अव्यक्तमहदहंकारपञ्चतन्मात्रेषु प्रकृतिष्वात्मत्वभावनया लीनानां प्रकृतिलयानां भवत्यन्तवत्फलः । तदीयं चित्तं विवेकख्यात्यभावान्मुक्तचित्तवल्लीनमप्युत्थाय संसारे पततीति भावः ॥ १९ ॥

भोजवृत्तिः ।

तदन्येषान्तु—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

विदेहप्रकृतिलयव्यतिरिक्तानां योगिनां श्रद्धादिपूर्वकः श्रद्धादयः पूर्वे उपाया यस्य स श्रद्धादिपूर्वकः । ते च श्रद्धादयः क्रमादुपायोपेयभावेन प्रवर्त्तमानाः संप्रज्ञातसमाधेरुपायतां प्रतिपद्यन्ते । तत्र श्रद्धा योगविषये चेतसः प्रसादः । वीर्य्यमुत्साहः । स्मृतिरनुभूतासम्प्रमोषः । समाधिरेकाग्रता । प्रज्ञा प्रज्ञातव्यविवेकः । तत्र श्रद्धावतो वीर्य्यं जायते योगविषये उत्साहवान् भवति । सोत्साहस्य च पाश्चात्यानुभूतिषु भूमिषु स्मृतिरुत्पद्यते तत्स्मरणाच्च चेतः समाधीयते । समाहितचित्तश्च भाव्यं सम्यग्विवेकेन जानाति । त एते संप्रज्ञातस्य समाधेरुपायाः । तस्याभ्यासात् पराच्च वैराग्यात् भवत्यसंप्रज्ञातः ॥ २० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

इदानीं मुख्यमुपायप्रत्ययमाह—**श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्** । इतरेषां प्रकृतिलयान्तातिरिक्तानां श्रद्धाद्युपायजन्य एवासंप्रज्ञातो न जन्ममात्रादित्यर्थः । श्रद्धा अस्तित्वबुद्ध्या विवेकख्यातियोगोत्कण्ठा । सा प्रतिबन्धसहस्राण्यपि तिरस्कृत्य भोगसंगाद्योगिनं रक्षति समर्था मातेव । तन्मूलकं विवेकार्थिनो वीर्यं तद्विषया धारणा । वीर्याच्च स्मृतिर्ध्यानम् । ध्यानाच्च समाधिर्ध्येयसाक्षात्कारफलकः । ततो ध्येयसाक्षात्काररूपः संप्रज्ञातो भवति । स एव तत्त्वसाक्षात्कारो धर्ममेघसमाध्यवस्थां परां काष्ठामागतो रजस्तमसोरुन्मूलनेन प्रवर्धमानो विषयावद्यदर्शी समस्तविषयपरित्यागरूपपरवैराग्यद्वारा असंप्रज्ञातस्योपायः । स हि स्वरूपप्रतिष्ठो निरालम्बन इति दिक् । संप्रज्ञातस्य तु भवप्रत्ययविशेषो न संभवतीति धारणाध्यानसमाधीनां संप्रज्ञातयोगस्यान्तरङ्गत्वेन तेषां निष्पत्तौ तत्रैव जन्मनि संप्रज्ञातावश्यंभावादिति बोध्यम् ॥ २० ॥

मणिप्रभा ।

अधुना द्वितीयमुपादेयमाह—श्रद्धेति ।

पुरुषगोचरा सात्त्विकी श्रद्धा तया वीर्यं प्रयत्नो जायते तेन यमनियमादिपरम्परया स्मृतिर्ध्यानं तेन समाधिः तेन प्रज्ञा पुरुषगोचरख्यात्यभ्यासः संप्रज्ञातस्ततः परवैराग्यादसंप्रज्ञातः इतरेषां मुमुक्षूणां योगिनां भवति ॥ २० ॥

चन्द्रिका ।

श्रद्धेति । अन्येषां श्रद्धादिपूर्वको चेतसः प्रसाद उत्साहः स्मृतिरेकाग्रताप्रविवेकः एतत्पूर्वको भवति । सविकल्पसमाधेरभ्यासाद्गुणवैतृष्ण्यरूपाद्वैराग्यादसम्प्रज्ञातः ॥ २० ॥

योगसुधाकरः ।

अथ मुमुक्षुभिरुपादेयमुपायप्रत्ययमाह—श्रद्धेति ।

ममायं योग एव परपुरुषार्थसाधनमिति प्रत्ययः श्रद्धा । सा चोत्कर्षश्रवणेनोपजायते । उत्कर्षश्च स्मर्यते-

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ! ॥ इति ॥

तस्यां च श्रद्धायामवासितायां वीर्यमुत्साहो भवति 'सर्वथा योगं संपादयिष्यामि' इति । एतादृशोत्साहेन तदा तदानुष्ठेयानि योगाङ्गानि स्मर्यन्ते । तया च स्मृत्या सम्यगनुष्ठितसमाधेरध्यात्मप्रसादे सति, ऋतम्भरा प्रज्ञोदेति । तत्पूर्वकस्तत्प्रज्ञापूर्वकोऽसंप्रज्ञातसमाधिः इतरेषां विदेहप्रकृतिलयेभ्योऽर्वाचीनानां योगिनां सिध्यतीत्यर्थः ॥ २० ॥

भोजवृत्तिः ।

उक्तोपायवतां योगिनां उपायभेदाद्भेदानाह—

(१)तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

समाधिलाभ इति शेषः । संवेगः क्रियाहतुर्दृढतरः संस्कारः । स तात्रा येषामाधिमात्रोपायानां तेषामासन्नः समाधिलाभः समाधिफलञ्चाऽऽसन्नं भवति शीघ्रमेव सम्पद्यत इत्यर्थः ॥ २१ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

अधिमात्रेति । अधिमात्रत्वं अतिप्रमाणत्वम् । अतिशयितत्वमिति यावत् । संवेगश्चानुष्ठाने शैघ्र्य(शैघ्रय)मविच्छेदश्च । तीव्रसंवेगेन अधिमात्रसाधनवतामासन्नः विलम्बरहितः, योगो भवतीत्यर्थः२१

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ते योगिनस्त्रयः । मृदूपायाः मध्योपायाः अधिमात्रोपायाश्च । उपायाः श्रद्धादयः । तेषां मृदुत्वादि प्राग्भवीयादृष्टवशात् । अधिमात्रत्वमातिशयितत्वम् । तेऽत्र प्रत्येकं त्रिधा मृदुसंवेगमध्यसंवेगतीव्रसंवेगाः । संवेग उपायानुष्ठाने शैघ्र्यम् । तस्यापि मृदुत्वादि प्राग्भवीयादृष्टादेव । तत्राधिमात्रोपायाः क्षिप्रसिद्धिभाजः । तेषां क्षिप्रतरत्वे हेतुं दर्शयति–तीव्रसंवेगानामासन्नः । अधिमात्रोपायानामित्यादिः, समाधिलाभस्तत्फललाभश्चेति शेषः । 'विनष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि' इति स्मृतेः ॥ २१ ॥

मणिप्रभा ।

श्रद्धाऽऽदयः प्रज्ञान्ता उपायास्तत्पूर्वकोऽयमुपायप्रत्ययः । ते चोपायाः प्राणिनां प्राक्संस्कारबलान्मृदुमध्याधिमात्रभेदात्त्रिविधास्तथा च योगिनस्त्रयो भवन्ति मृदूपायो मध्योपायो ऽधिमात्रोपाय इति । तत्र मृदूपायस्त्रिविधः मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेग इति । एवमितरावपि त्रिविधौ भवतः । एवं च नव योगिनो भवन्ति । तेषां चिरं चिरतरं क्षिप्रं क्षिप्रतरं सिद्धयो भवन्ति उपायतारतम्यात् । तत्र केषां क्षिप्रतरं सिद्धिरित्यित आह—तीव्रेति ।

संवेगो वैराग्यं येषां तीव्रम् , उपायाश्चाधिमात्रास्तेषां योगिनामासन्नः समाधिरसंप्रज्ञातस्ततो मोक्ष इत्यर्थः ॥ २१ ॥

चन्द्रिका ।

तीव्रेति । संस्कारस्तीव्रो येषां तेषां समाधिलाभः शीघ्रं भवति ॥ २१ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थं परवैराग्यसाध्यं समाधिं विधाय तस्य तारतम्येन समाधेः शैघ्र्यतारतम्यमाह—तीव्रेति ।

संवेगो वैराग्यम् । तद्भेदायोगिनस्त्रिविधा मृदुसंवेगा मध्यसंवेगास्तीव्रसंवेगाश्चेति । तत्र तीव्रसंवेगानामासन्नः समाधिलाभः । अल्पेनैव कालेन समाधिर्लभ्यत इत्यर्थः ॥ २१ ॥

---

(१) अत्र सूत्रे 'अधिमात्रोपायानां' इत्यादावधिकस्य पाठस्य भावागणेशमतेन संमतत्वेपि अन्यमतेनासंमततया सर्वत्रेदृश एव मुद्रितत्वात्तथायमेव पाठे मुद्रितः । सं० ।

भोजवृत्तिः ।

के ते तीव्रसंवेगा ? इत्यत आह—

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

तेभ्य उपायेभ्यो मृद्वादिभेदभिन्नेभ्य उपायवतां विशेषो भवति । मृदुर्मध्योऽधिमात्र इत्युपायभेदाः । ते प्रत्येकं मृदुसंवेग-मध्यसंवेग-तीव्रसंवेगभेदात् त्रिधा । तद्भेदेन च नवयोगिनो भवन्ति । मृदूपायो मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च । मध्योपायो मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च । अधिमात्रोपायो मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च । अधिमात्रोपाये तीव्रसंवेगे च महान् यत्नः कर्त्तव्य इति भेदोपदेशः ॥२२॥

भावागणेशवृत्तिः ।

आसन्नतायामपि तरतमत्वरूपविशेषहेतुमाह—मृद्विति ।

मृदुत्वमल्पता । मध्यत्वं प्रसिद्धम् । अधिमात्रत्वं च व्याख्यातम् । तानि तानि विशेषणतया भाष्ये व्याख्यातानि । तथा च संवेगाविशेषणस्य तीव्रत्वस्य मृदुत्वादित्रैविध्येन ततोऽप्यासन्नादपि विशेष आसन्नतरासन्नतमरूपो योगो भवतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तत्रापि विशेषमाह—मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः । मृदुतीव्रो मध्यतीव्रः अधिमात्रतीव्र इति शैघ्र्यं त्रिधा । एवं च मृदुतीव्रसंवेगस्यासन्नस्ततो मध्यतीव्रसंवेगस्यासन्नतरः ततोप्यधिमात्रसंवेगस्यासन्नतम इत्यर्थः । ततोऽपीत्यपिशब्द आगामिसूत्रस्थसाधनापेक्षया आसन्नतमसमाध्यादिलाभे२२

मणिप्रभा ।

मृद्विति । तीव्रस्य संवेगस्यापि मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततो मृदुतीव्रसंवेगस्य योगिन आसन्नात्समाधेर्मध्यतीव्रसंवेगस्यासन्नतरादधिमात्रतीव्रसंवेगस्यासन्नतमः समाधिलाभ इति विशेष इत्यर्थः ॥ २२ ॥

चन्द्रिका ।

मृद्विति।मृद्वादिसंवेगभेदाद्योगिनोऽपि भिन्नाः तेषां समाधिलाभो दीर्घकालादिभेदेन भवतीत्यर्थः ॥२२॥

योगसुधाकरः ।

तीव्रसंवेगेष्वेव तारतम्यमाह—मृद्विति ।

मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्रश्च । तेष्वप्युत्तरोत्तरस्य त्वरयां सिद्धिर्द्रष्टव्या । तदेवमधिमात्रतीव्रस्य दृढभूमावसम्प्रज्ञातसमाधौ लब्धे सति, पुनर्व्युत्थातुमशक्तं सन्मनो नश्यति । ततः प्रत्यक्चितिः स्वे महिम्नि निर्विघ्नं निरन्तरमवतिष्ठत इत्यर्थः ॥ २२ ॥

भोजवृत्तिः ।

इदानीमेतदुपायविलक्षणं सुगममुपायान्तरं दर्शयितुमाह—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

ईश्वरो वक्ष्यमाणलक्षणः, तत्र प्रणिधानं भक्तिविशेषो विशिष्टमुपासनं सर्वक्रियाणां तत्रार्पणं, विषयसुखादिकं फलमनिच्छन् सर्वाः क्रियास्तस्मिन्परमगुरावर्पयति, तत् प्रणिधानं समाधेस्तत्फललाभस्य च प्रकृष्ट उपायः ॥ २३ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

योगस्यासन्नतमत्वे किमिदमेव साधनं, ततोऽन्यदप्यस्तीत्याकाङ्क्षायामाह—ईश्वरेति ।

वक्ष्यमाणलक्षणो य ईश्वरः परमात्मा प्रणवादिशब्दवाच्यो निरुपाधिकैश्वर्योपलक्षितचिन्मात्रः पुरुषविशेषस्तत्प्रणिधानात् 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इति वक्ष्यमाणात्तद्विषयकधारणाध्यानप्रमाधिरूपादप्यासन्नतमो योगस्तत्फलं च भवतीश्वरानुग्रहादित्यर्थः । तथा च पूर्वसूत्रोक्तमासन्नतमयोगसाधनं श्रीवाल्मयोगिपरमिति ॥ २३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

मुख्यं सुखदोपायान्तरमाह —ईश्वरप्रणिधानाद्वा । पूर्वसूत्रस्थं विशेष इत्यनुवर्तते । वक्ष्यमाणलक्षणेश्वरस्य परब्रह्मादिशब्दवाच्यस्यौपाधिकैश्वर्योपलक्षितस्य चिन्मात्रपुरुषविशेषस्य प्रणिधानं 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इति वक्ष्यमाणं तद्विषयकधारणाध्यानसमाधित्रयादल्पादपि आसन्नतमो योगस्तत्फलं च भवति । पूर्वं हि संप्रज्ञातो जीवात्मसाधारण उक्तः । तत्र जीवात्मविषयसंप्रज्ञातादुक्तोपायेनैवासंप्रज्ञातस्यासन्नतमता परमात्मसंप्रज्ञातात् तं विनापि स आसन्नतम इति भावः । अत एव श्रुत्यादिषु प्रायेण परब्रह्मज्ञानमेव मोक्षहेतुत्वेनोपादिश्यते । तस्मादयं मुख्यो मार्ग इति तत्त्वम् । किंच ब्रह्मात्मना चिन्तनरूपप्रेमलक्षणया भक्त्याभिमुख ईश्वरोऽस्य मोक्षो भवत्वित्यभिध्यायति । एवं च तस्याव्याहतेच्छत्वात्तद्रूपाद्भिध्यानादस्य मोक्ष आसन्नतम इति तात्पर्यम् ॥ २३ ॥

मणिप्रभा ।

ईश्वरेति । ईश्वरे कायिकाद्वाचिकान्मानसात्प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादासन्नतमः समाधिलाभः । वाशब्दः पूर्वोक्तोपायेनास्य भक्त्युपायस्य विकल्पार्थः । भक्तेरन्यानपेक्षत्वादीश्वरो हि भक्त्याऽभिमुखः सन्निदमिष्टमस्यास्त्वित्यनुगृह्णातीति भावः ॥ २३ ॥

चन्द्रिका ।

ईश्वरेति । सुगमोपायोऽयं भक्तिविशेषः ईश्वरे सर्वक्रियाणामर्पणं वा ॥ २३ ॥

योगसुधाकरः ।

अथासन्नतमसमाधिलाभे उपायान्तरमुपदर्शयति—ईश्वरेति ।

ईश्वरो वक्ष्यमाणलक्षणः तस्मिन्परमगुरौ प्रणिधानं भावनाविशेषः । तस्मादासन्नतमः समाधिलाभः । ईश्वरो हि समाराधनादिना साधनेन आराधितः 'इदमस्येष्टमस्तु' इति संसाराङ्गारे तप्यमानं पुरुषमनुगृह्णातीति भावः । ननु पुष्करपलाशवन्निर्लेपस्य पुरुषस्य तप्यभावः कथमुपपद्यते येन परमेश्वरोऽनुग्राहकतया कल्प्येतेति चेत् । उच्यते—तापकस्य रजसः सत्त्वमेव तप्यम् । बुद्ध्यात्मना परिणते सत्त्वे तप्यमाने तदारोहवशेन तदभेदावगाही पुरुषोऽपि तप्यत इत्युपचर्यते । तदुक्तम्—

तप्यं सत्त्वं बुद्धिभावेन वृत्तं भावा ये वा राजसास्तापकास्ते ।

तस्याभेदग्राहिणी तामसी या च वृत्तिस्तस्यां तप्य इत्युक्त आत्मा ॥ इति ।

इत्थं तप्यमानं पुरुषं परमेश्वरः स्वेच्छया निर्माणकायमधिष्ठाय लौकिकवैदिकसंप्रदायप्रद्योतकोऽनुगृह्णातीत्यवधेयम् ॥ २३ ॥

भोजवृत्तिः ।

ईश्वरस्य प्रणिधानात् समाधिलाभ इत्युक्तं, तत्रेश्वरस्य स्वरूपं प्रमाणं प्रभावं वाचकं उपासनाक्रमं तत्फलञ्च क्रमेण वक्तुमाह—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

क्लिश्नन्तीति क्लेशा अविद्यादयो वक्ष्यमाणाः । विहितप्रतिषिद्धव्यामिश्ररूपाणि कर्माणि । विपच्यन्त इति विपाकाः कर्मफलानि जात्यायुर्भोगाः । आ फलविपाकाच्चित्तभूमौ शेरत इत्याशया वासनाख्याः संस्कारास्तैरपरामृष्टस्त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृष्टः । पुरुषविशेषः—अन्येभ्यः पुरुषेभ्यो विशिष्यत इति विशेषः । ईश्वर ईशनशीलं इच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरणक्षमः । यद्यपि सर्वेषामात्मनां क्लेशादिस्पर्शो नास्ति तथापि चित्तगतास्तेषामपदिश्यन्ते—यथा योद्धृगतौ जयपराजयौ स्वामिनः । अस्य तु त्रिष्वपि कालेषु तथाविधोऽपि क्लेशादिपरामर्शो नास्ति । अतः स विलक्षण एव भगवानीश्वरः । तस्य च तथाविधमैश्वर्यमनादेः सत्त्वोत्कर्षात् । तस्य सत्त्वोत्कर्षश्च प्रकृष्टाज्ज्ञानादेव । न च अनयोर्ज्ञानैश्वर्ययोरितरेतराश्रयत्वं, परस्परानपेक्षत्वात् । ते द्वे ज्ञानैश्वर्ये ईश्वरसत्त्वे वर्तमाने

अनादिभूते, तेन च तथाविधेन सत्त्वेन तस्यानादिरेव सम्बन्धः प्रकृतिपुरुषसंयोगवियोगयोरीश्वरेच्छाव्यतिरेकेणानुपपत्तेः यथेतरेषां प्राणिनां सुखदुःखमोहात्मकतया परिणतं चित्तं निर्मले सात्त्विके धर्मात्मप्रख्ये योगिशरीरे प्रतिसंक्रान्ते चिच्छायासंक्रान्ते संवेद्यं भवति नैवमीश्वरस्य, तस्य केवल एव सात्त्विकः परिणाम उत्कर्षवाननादिसम्बन्धेन भोग्यतया व्यवस्थितः, अतः पुरुषान्तरविलक्षणतया स एवेश्वरः। मुक्तात्मनां तु पुनः क्लेशादियोगस्तैस्तैः शास्त्रोक्तैरुपायैर्निवर्तितः, अस्य पुनः सर्वदैव तथाविधत्वान्न मुक्तात्मतुल्यत्वम्। न चेश्वराणामनेकत्वं, तेषां तुल्यत्वे भिन्नाभिप्रायत्वात्कार्यस्यैवानुपपत्तेः। उत्कर्षापकर्षयुक्तत्वे य एवोत्कृष्टः स एवेश्वरस्तत्रैव काष्ठाप्राप्तत्वादैश्वर्यस्य ॥ २४ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

ईश्वरं लक्षयति—क्लेशेति।

क्लेशा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा द्वितीयपादे व्याख्येयाः। कर्म धर्माधर्मौ। विपाकाः कर्मफलानि जन्मायुर्भोगाः। आशयो ज्ञानादिवासनाः। एतैः कालत्रयेऽप्यपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर इत्यर्थः। यद्यपि जीवा अपि क्लेशादिशून्या एव क्लेशादेरन्तःकरणधर्मत्वात्। तथापि स्वामित्वसम्बन्धेनैव क्लेशाद्यभावस्य विवक्षितत्वाज्जीवव्यावृत्तिः। जीवा हि क्लेशादिफलयोः सुखदुःखयोर्भोक्तृत्वात्क्लेशादिस्वामिन इति ॥ २४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अथ जीवव्यावृत्तमीश्वरस्वरूपमाह—क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। कर्म धर्माधर्मौ। विपाकाः कर्मफलानि जन्मायुर्भोगाः। आशयस्तदनुगुणं संस्कारसामान्यम्। एतैः कालत्रयेऽप्यपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर इत्यर्थः। जीवन्मुक्तप्रकृतिलीनादिव्यावृत्तये कालत्रयेऽपीति परामर्शशून्यत्वार्थकापरामृष्टपदलब्धम्। यद्यपि जीवा अपि क्लेशादिशून्या एव तेषामन्तःकरणधर्मत्वात्, तथापि स्वाश्रयस्वामित्वसम्बन्धेनैव क्लेशाद्यभावस्य विवक्षणान्न दोषः। जीवा हि तत्फलदुःखादिभोक्तृत्वात् क्लेशाद्याश्रयचित्तस्वामिनः। तदुक्तम्—स हि तत्फलभोक्तेति। 'यथा योद्धृषु वर्तमानौ जयपराजयौ स्वामिनि व्यपदिश्यते' इति च भाष्ये। ईश्वरत्वं चास्येच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरणक्षमत्वम्। तच्च ज्ञानक्रियासामर्थ्यातिशयसंपत्तिं विना न, सा चापहृतरजस्तमोमलविशुद्धसत्त्वोपादानं विना नेत्यालोच्य स्वयमेव सत्त्वमयं प्रधानमुपादत्ते। एतावतैव प्रधानप्रेरकतास्य यत् लोकोद्धरणेच्छया तदङ्गीकारः। उपाददानोऽपि नास्मदादिवत्तत्त्वमविद्वान् भवति। नहि नटो रामत्वमारोप्य तास्ताश्चेष्टा दर्शयन् भ्रान्तो भवति। एवं चेदमाहार्यमस्य रूपम्। बाधकालीनेच्छाजन्यं ज्ञानमाहार्यम्। न चेच्छया सत्त्वोपादानं तेन चेच्छेत्यन्योन्याश्रयः, अनादित्वात्। पूर्वकल्पसंहारकाले पूर्णे मया सत्त्वप्रकर्ष उपादेय इति प्रणिधानपूर्वकं तत्संहारे, ईश्वरसत्त्वं प्रधानसामान्यमुपायातेऽपि तदवधौ पूर्णे प्रणिधानवशात्पुनस्तदुपादत्ते इत्यनादित्वेन शाश्वतिकत्वान्न दोषः। एवं संहारकाले तम उपादाने इति बोध्यम्। तत्र प्रकृतेर्द्वे शक्ती साहजिके सृष्टिशक्तिर्लयशक्तिश्चेति। तत्रेश्वरेण सत्त्वपरिग्रहे सृष्टिशक्तेरुद्बोधः। तमःपरिग्रहे च योगनिद्रेत्युच्यते। तत्तच्छक्त्युद्बोधे त्वनादिवासनासहकारेण तत्तत्पुरुषभोगार्थं तथा तथा प्रधानं परिणमते इति न वैषम्यनैर्घृण्ये ईश्वरस्य प्रसज्येते इति बोध्यम्। नन्वीदृशे तास्मन् किं मानमिति चेच्छ्रुतिस्मृत्यादिशास्त्रमिति गृहाण। तत्कर्तृकमन्त्रादिषु वेदादौ अर्थाव्यभिचारनिश्चयात् प्रामाण्यस्य दृष्टत्वेनान्यत्रापि तत्कर्तृके तत्स्वरूपबोधकेऽपि तन्निश्चयात्। न च तस्यान्यकर्तृकत्वं सम्भवति। ओषधीनां तत्संयोगानां चान्वयव्यतिरेकयोरन्यस्य सहस्रेणापि पुरुषायुषैरशक्यत्वात्। न चागमादन्वयव्यतिरेकौ ताभ्यां चागम इति तत्सन्तानयोरनादित्वान्न दोषः, महाप्रलये तयोर्विच्छेदात्। विसदृशपरिणामक्षीरेक्षुरसादेर्दधिगुडादिरूपादिपरिणामात्पूर्वं सदृशपरिणामतायां दर्शनेन महदादिरूपविसदृशपरिणामवतः प्रधानस्य कदाचित्सदृशपरिणामावश्यकत्वेन साम्यावस्थारूपसदृशपरिणामस्यैव महाप्रलयत्वात्। तस्मादीश्वरबुद्धिसत्त्वप्रकर्षादेव वेद इति सिद्धम्। तस्य तत्त्वं वेदकारणात्।

वेदेन तथा बोधनाच्च शास्त्रं तमेव बोधयति । सदैवेश्वरः सदैव मुक्त एकश्चेति । अतस्तदैश्वर्यं तज्ज्ञानं च साम्यातिशयनिर्मुक्तम् । अन्येषां त्वौपचारिकमैश्वर्यमिति दिक् ॥ २४ ॥

मणिप्रभा ।

ईश्वरस्वरूपन्निरूपयति । क्लेशेति । क्लेशा अविद्यादयः पञ्च । कर्म धर्माधर्मौ । तयोः फलं विपाकः । फलानुकूलाः संस्कारा आशयाः । नस्याशेरत इति व्युत्पत्तेः । यथा नरस्य करिजन्मनि काष्ठभोग-संस्कारा उद्भवन्ति अन्यथा जीवनासम्भवात्तैः क्लेशादिभिश्चित्तस्थैः परामृष्टः सांसारिकः पुरुषश्चित्ताविवेकेन भोक्तृत्वात् तैः कालत्रयेऽप्यसम्बद्धः पुरुष ईश्वरः । विशेषपदेन कालत्रयासंम्बन्धवाचिना मुक्तजीवेभ्यो व्यावृत्तिः कृता । तेषां पूर्वकाले बन्धत्रयसम्बन्धात्प्रकृतौ लीनानां प्राकृतो बन्धः भूतेन्द्रियेषु विकारेषु लीनानां विदेहानां वैकारिकः, अन्येषां देवनरादीनां दाक्षिणाबन्धः, चित्ताधीनकर्मफलत्वादिति भेदः । ननु ज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वं परमैश्वर्यं पुरुषस्यापरिणामिनः कथमिति । उच्यते । अस्ति ईश्वरस्यानादिसिद्धं शुद्धसत्त्वात्मकं चित्तं प्रधानजं निरतिशयज्ञानक्रियाशक्तिमत्स हि भगवान्संसारार्णवाज्जन्तूनामुद्धरणेच्छया तच्चित्तमुपादत्ते तद्विना ज्ञानधर्मोपदेशभक्तानुग्रहायोगात् । न च कथं चित्तोपादानात्प्रागिच्छा-युदेतीति वाच्यम् । बीजाङ्कुरवदनादित्वात्सर्गप्रलयप्रवाहस्य यदा सर्वकार्यस्य प्रलयस्तदा भविष्यत्कल्पे लोकानुग्रहार्थमिदं चित्तमुपादेयामिति भगवता सङ्कल्प्यते तत्सङ्कल्पवासितं प्रधाने लीनं सन्सर्गादौ चित्त-मुद्भवति तेन चेश्वरोऽनुगृह्णातीत्यनवद्यम् । ननु तादृशचित्तसत्त्वे किं मानमिति चेत् । 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, एष सर्वेश्वर' इत्यादिवेदवाक्यमिति क्रमः । वेदो निरतिशयज्ञानशक्तिविशिष्टेश्वर-प्रणीतोऽतः प्रमाणमिति संक्षेपः ॥ २४ ॥

चन्द्रिका ।

क्लेशेति । अविद्यादयः क्लेशाः कर्माणि जात्यायुर्भोगाः आफलविपाकात् चित्ते शेरत इत्याशया वासनास्ताभिर्न संस्पृष्टः अन्येभ्यः पुरुषेभ्यो विशिष्टः ईशनशीलः ॥ २४ ॥

योगसुधाकरः ।

कः पुनः स ईश्वर इत्यत्राह—क्लेशेति ।

क्लिश्नन्तीति क्लेशा वक्ष्यमाणलक्षणा अविद्यादयः । कर्म मिश्राभिश्ररूपं वक्ष्यमाणम् । विपच्यत इति विपाकः फलं जात्यायुर्भोगादिः । आशेरत इत्याशयाः संस्काराः । तैरपरामृष्टोऽसंश्लिष्टः । संश्लिष्टस्तु संसारी जीवः । मुक्तस्त्वसंश्लिष्टोऽपि पूर्वकाले तत्संश्लेषाद्बद्ध इव । अतः पुरुषविशेषो नित्यमुक्त ईश्वरः । तस्य सार्वज्ञ्यमैश्वर्यं च अनादिसिद्धप्राकृतशुद्धसत्त्वात्मकचित्तसम्बन्धादिति द्रष्टव्यम् ॥ २४ ॥

भोजवृत्तिः ।

एवमीश्वरस्य स्वरूपमभिधाय प्रमाणमाह--

अत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्(१) ॥ २५ ॥

तस्मिन्भगवति सर्वज्ञत्वस्य यद्बीजमतीतानागतादिग्रहणस्याल्पत्वं महत्त्वं च मूलत्वाद्बीजमिति बीजं तत्तत्र निरतिशयं काष्ठां प्राप्तम् । दृष्टा ह्यल्पत्वमहत्त्वादीनां धर्माणां सातिशयानां काष्ठाप्राप्तिः, यथा परमाणावल्पत्वस्याऽऽकाशे परममहत्त्वस्य, एवं ज्ञानादयोऽपि चित्तधर्मास्तारतम्येन परिदृश्यमानाः क्वचिन्निरतिशयतामासादयन्ति, यत्र चैते निरतिशया. स ईश्वरः । यद्यपि सामान्यमात्रेऽनुमानमात्रस्य(२) पर्यवसितत्वान्न विशेषावगतिः सम्भवति, तथाऽपि शास्त्रादस्य सर्वज्ञत्वादयो विशेषा अवगन्तव्याः । तस्य स्वप्रयोजनाभावे कथं प्रकृतिपुरुषयोः संयोगवियोगावापादयतीति नाऽऽशङ्कनीयं, तस्य कारुणिक-त्वाद्भूतानुग्रह एव प्रयोजनम् । कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु निःशेषान्संसारिण उद्धरिष्यामीति तस्याध्यव-सायः, यद्यस्येष्टं तत्तस्य प्रयोजनम् ॥ २५ ॥

---

(१) सार्वज्ञ्यबीजमिति पाठान्तरम् । (२) ऽनुमानस्येति पाठान्तरम् ।

भावागणेशवृत्तिः ।

निषेधमुखेन लक्षणमुक्त्वा विधिमुखेनापि तदाह—तत्रेति ।

सर्वज्ञत्वानुमापकं यज्ज्ञानस्य सातिशयत्वं तत्तत्रेश्वरे निरतिशयं विश्रान्तमित्यर्थः । तथा च निरतिशयज्ञान ईश्वर इति लक्षणम् । अत्रेदमनुमानम् । ज्ञानं क्वचित्प्राप्तकाष्ठं सातिशयत्वात्-परिमाणवदिति ॥ २५ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तत्र मानान्तरमाह—तत्र निरतिशयं सार्वज्ञ्यबीजम् । सर्वज्ञत्वस्यानुमापकं यज्ज्ञानस्य सातिशयत्वमयमितो बहुज्ञानवानित्येवं तत्तत्रेश्वरे निरातिशयं विश्रान्तमित्यर्थः । ज्ञानं च क्वचित्प्राप्तकाष्ठं सातिशयत्वात् परिमाणवदित्यनुमानम् । अत्र श्रुतिरनुकूलस्तर्कः । तस्य शिवेश्वरविष्ण्वादिविशेषसंज्ञावत्त्वं सर्वज्ञत्वतृप्तिचैतन्यस्वानन्त्यालुप्तशक्तित्वानन्तशक्तिस्वरूपषडङ्गवत्त्वं ज्ञानवैराग्यैश्वर्यतपःसत्यक्षमाधृतिस्रष्टृत्वात्मबोधाधिष्ठातृत्वरूपदशाव्ययत्वं च श्रुत्यादितोऽवसेयम् । नन्वेवं नित्यतृप्तस्य स्वार्थतृष्णासम्भवात् अप्रयोजना कथं प्रवृत्तिः । प्राणिकरुणया तत्प्रवृत्तेर्वा नित्यत्वाद्वा न दोष इति चेत् दुःखबहुललोकसर्जनानुपपत्तिरेवेति चेन्न । ज्ञानधर्मोपदेशेन पुरुषकैवल्याय करुणया प्राण्यनुग्रहाय तदुपपत्तेः । भोगविवेकख्यातिरूपकार्यकरणेन चरितार्थचित्तनिवृत्तौ हि कैवल्यं भवति । अतस्तदुपयोगिवैराग्यनिष्पत्तये दुःखबहुललोकसर्जनोपपत्तिरपि, उपपादितरीत्या शङ्कानुदयश्चेति दिक् ॥ २५ ॥

मणिप्रभा ।

एवं वेदप्रामाण्यात्सिद्धः सर्वज्ञ ईश्वरः तस्य सर्वज्ञत्वेऽनुमानमप्याह—तत्रेति ।

अस्मदादीनां ज्ञानं निरतिशयेन ज्ञानेनाविनाभूतं भवितुमर्हति सातिशयत्वात् , यत्सातिशयं तत्समानजातीयेन निरतिशयेन युक्तं, यथा कुम्भपरिमाणं विभुपरिमाणेन । तत्सिद्धं निरतिशयं ज्ञानं सर्वज्ञस्य बीजं ज्ञापकं यत्र निरतिशयं ज्ञानं तत्र सर्वज्ञत्वं ज्ञायत इत्यर्थः । तस्य सामान्येन सिद्धस्य सर्वज्ञस्य श्रुत्यादिसिद्धाः शिवविष्णुनारायणमहेश्वरादिसंज्ञाः । तथा च वायुपुराणे-

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥
ज्ञानैवराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः ।
स्रष्टृत्वमात्मसम्बोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च ॥
अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शङ्करे । इति ।

तथा महाभारते—

अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत । इत्यादि ॥ २५ ॥

चन्द्रिका ।

तत्रेति । तस्मिन् भगवति सर्वज्ञत्वस्य यद्बीजं सर्वस्य मूलत्वाद्बीजमिव बीजं तत्र निरतिशयं काष्ठां प्राप्तम् ॥ २५ ॥

योगसुधाकरः ।

अथ तत्र प्रमाणमाह—तत्रेति ।

तत्रेश्वरे निरतिशयं सर्वज्ञत्वस्य बीजं मूलम् । एतदुक्तं भवति—अस्मदादिज्ञानं निरतिशयेन ज्ञानेनाविनाभूतं सातिशयत्वात । यत्सातिशयं तत्समानजातीयेन निरतिशयेन युक्तम् , यथा विभुपरिमाणेन कुम्भपरिमाणम् । अतः परिशेषादनुमानासिद्धनिरतिशयज्ञानवानीश्वर इति ॥ २५ ॥

भोजवृत्तिः ।

एवमीश्वरस्य प्रमाणमभिधाय प्रभावमाह—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

आद्यानां स्रष्टृणां ब्रह्मादीनामपि स गुरुरुपदेष्टा, यतः स कालेन नावच्छिद्यते अनादित्वात् । तेषां पुनरादिमत्त्वादस्ति कालेनावच्छेदः ॥ २६ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

तस्यैश्वर्यं नित्यमिति प्रतिपादयति—**स इति** ।

स एष ईश्वरः पूर्वेषां हिरण्यगर्भादीनामपि गुरुरन्तर्यामिविधया ज्ञानचक्षुःप्रदः । कालानवच्छिन्नत्वान्नित्यत्वाद् भवतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः "जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्य" मिति । जन्मनिरोधं जन्माभावम्, ईश्वरस्य च जीववदेव...सत(?)श्चिन्मात्रस्यैश्वर्यवानुपाधिरस्ति । 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' इति स्मृतेः । ईश्वरस्याशेषविशेषास्तु वेदान्तशास्त्रे परीक्षिताः ॥ २६ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तत्र ब्रह्मादिभ्यो विशेषमाह—**स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्** । स एष ईश्वरः पूर्वेषां पूर्वसर्गोत्पन्नानामपि ब्रह्मविष्णुहरादीनामपि गुरुः स्रष्टाऽन्तर्यामिविधया वेदादिद्वारा ज्ञानचक्षुःप्रदश्च कालानवच्छिन्नत्वात्तेषां कालेन शतवर्षादिनावच्छेदादिति भावः । 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इति श्रुतेरिति भावः । अस्य च निमित्तकारणत्वान्न प्रकृतिस्वातन्त्र्यक्षतिः । घटे कुलालवत् दण्डादीनां कारणत्वेपि तद्वदेवास्य स्वतन्त्रत्वमपि । अत्रेश्वरस्य सर्वपितृत्ववचनात्सर्वान्तर्यामित्वेन रूपेण गुरुत्वेन जीवानामपि आत्मेश्वर इति वेदान्तवाक्यार्थोऽपि सूचितः । यो हि यस्याधिष्ठाता स तस्यात्मेति दृष्टम् । यथा सूर्यश्चक्षुषः यथा वा जीवो देहस्य, तेनाविभागलक्षणोऽभेद एव 'अविभागो वचनात्' इति सूत्रेण वेदान्तेऽप्युक्तः । एतन्मूलक एव जीवब्रह्मणोरंशांशिभावव्यवहार इति दिक् । एतत्सर्गादौ से सिद्धस्तथातिक्रान्तसर्गादावप्यागमात्स सिद्ध इति ॥ २६ ॥

मणिप्रभा ।

तस्य भगवतो ब्रह्मादिभ्यो विशेषमाह-**पूर्वेषामिति** ।

पूर्वेषां सर्गादावुत्पन्नानां कालपरिच्छिन्नानां गुरुरीश्वरः । कुतः ? कालेनानवच्छेदात् अनाद्यन्तत्वादित्यर्थः । तथा च श्रुतिः -"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" इत्याद्या॥२६॥

चन्द्रिका ।

स इति । स ब्रह्मादीनामपि गुरुरुपदेष्टा यतः स कालेन नावच्छिद्यते अनादित्वात् , तेषां पुनरादिमत्त्वादस्ति कालेनावच्छेदः ॥ २६ ॥

योगसुधाकरः ।

नन्वयमेक एवेश्वरः किमन्येऽपि सन्ति ? नेत्याह—**पूर्वेषामिति** ।

ये सर्गादावुत्पन्नाः पूर्वे ब्रह्मादयः, ते मासर्त्वयनहायनादिरूपेण कालेन परिच्छिद्यन्ते । तदुक्तम्—

ये रम्या ये शुभाचाराः सुमेरुगुरवोऽपि ये ।
कालेन विनिगीर्णास्ते गरुडेनेव पन्नगाः ॥ इति ।

अतस्तेषामपि भगवानेक एव गुरुरीश्वरः; कालेनानवच्छेदात् , 'ज्ञः कालकालः' इति श्रुतेः । अनेनेश्वरस्य महाप्रभावत्वमुक्तं भवति ॥ २६ ॥

भोजवृत्तिः ।

एवं प्रभावमुक्त्वोपासनोपयोगाय वाचकमाह—

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

इत्थमुक्तस्वरूपस्येश्वरस्य वाचकोऽभिधायकः, प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेनेति नौति स्तौतीति वा प्रणव ओंकारः, तयोश्च वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धो नित्यः संकेतेन प्रकाश्यते न तु केनचित्क्रियते, यथा पितापुत्रयोर्विद्यमान एव सम्बन्धोऽस्यायं पिताऽस्यायं पुत्र इति केनचित्प्रकाश्यते ॥ २७ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

तस्येति । तस्य ईश्वरस्य प्रणवो मुख्यं नामेत्यर्थः ।

अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः ॥
तस्योङ्कारः स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदति । इति स्मृतेः ॥ २७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तत्प्रणिधानाय तन्मन्त्रमाह—तस्य वाचकः प्रणवः । तस्येश्वरस्य । एवञ्चेश्वरः प्रणववाच्यः । वाच्यवाचकभावश्च स्वाभाविकः ईश्वरस्यैतत्सूत्ररूपसङ्केतात् । ननु यदि स्वाभाविकः सम्बन्धः शब्दार्थयोः सङ्केतेन व्यज्यते ततो यत्र नास्ति न तत्र व्यज्येत । नह्यविद्यमानो घटो दीपेन व्यज्यते । तस्मात्सङ्केत एव वाचकत्वं, सङ्केतकृतामिति तु राहोः शिर इतिवदिति चेन्न । जनकत्वादेरपीश्वरसङ्केतरूपत्वापत्तेः । सर्वेषु च शब्देषु सर्वार्थसम्बन्धोऽस्त्येवेति नोक्तदोषः । सङ्केतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेव सम्बन्धं बोधयति। पितःपुत्रसंबन्धस्यायमस्य पितेति सङ्केतेन बोधवत् । एवं चेदं सूत्रं ईश्वरसङ्केतरूपम् । अन्यथास्य तत्त्वमपि भज्येत । एवञ्च यत्रार्थे ईश्वरसङ्केतः स तस्य वाच्यः । अन्यस्तु लक्ष्यादिरिति विवेकः । सङ्केतश्चाध्यासरूप इति तृतीये भाष्यकृद्वक्ष्यति । अध्यासश्चैश्वरो योऽयं शब्दः सोऽयमर्थ इत्याकार एव । अस्यायमर्थ इति तु विकल्पः । एवं च तद्विषयस्तन्मूलं चाविभागरूपतादात्म्यमेव शक्तिरिति बोध्यम् । प्रलये शब्दानां प्रधानसाम्ये जातेऽपि संस्कारवशात्सर्गान्तरे पूर्ववच्छक्तियुक्तानामेवाविर्भावः । पूर्वसङ्केतानुसारेण च भगवता सङ्केतः क्रियते । व्यवहारपरम्पराया नित्यतया च नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध इति आगामिनो योगिनः प्रतिजानते इति भाष्यकृतः ॥ २७ ॥

मणिप्रभा ।

एवमीश्वरं निरूप्य तत्प्रणिधानं वक्तुं तस्य रहस्यसंज्ञामाह—तस्येति ।

सुगमं सूत्रम् । ननु शब्दस्य वाचकत्वम् अभिधाऽऽख्या शक्तिः शब्दार्थयोः सम्बन्ध इत्युच्यते । सा किं सङ्केतेन क्रियते व्यज्यते वा ? नाद्यः, प्रतिकल्पं स्वतन्त्रेश्वरस्य सङ्केतभेदेन शब्दार्थाव्यवस्थाप्रसङ्गात् । न द्वितीयः, सूर्य्यादिशब्दानां पुत्रेषु पित्रा सङ्केतवैफल्यात् । न हि तत्र सङ्केतव्यङ्ग्या शक्तिरस्ति । न चासति व्यङ्ग्ये व्यञ्जकमर्थवत् तस्मादिदं सङ्केतसूत्रं व्यर्थमिति चेत् । उच्यते । स्थितैव शक्तिः सङ्केतेन व्यज्यते, यथा स्थित एव पितृपुत्रभावो ममायं पुत्र इति वाक्येन व्यज्यते तद्वद्गवादिशब्देषु प्रलये प्रधानसाम्यं गतेषु सर्गादौ पुनः शक्त्या सहोद्भूतेषु स्थितामेव तत्तच्छब्दस्य तत्तदर्थे शक्तिमीश्वरः सङ्केतेन ज्ञापयति जीवानां लुप्तसंस्कारत्वात् । अधुनातनपित्रादिसङ्केतस्तु शक्तेरुत्पादकः । केचित्तु सर्वशब्दानां सर्वार्थेषु शक्तिरस्त्यत एव पित्रादिसङ्केतोऽपि व्यञ्जकः, गवादिशब्दानां तु वेदार्थव्यवस्थाऽर्थमीश्वरसङ्केतेनार्थविशेषे शक्तिर्नियम्यत इत्याहुः । सर्वथाऽपि वैदिकशब्दार्थसम्बन्धो व्यवस्थितव्यवहारतया नित्य इति सिद्धम् ॥ २७ ॥

चन्द्रिका ।

सुगमोपायमाह—तस्येति । ईश्वराभिधायक ओंकारः ॥ २७ ॥

योगसुधाकरः ।

अथ तस्य नामधेयमाह—तस्येति ।

तस्य परमेश्वरस्य प्रणवः प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेनेति प्रणव ओंकारः वाचकोऽभिधायक इत्यर्थः ॥ २७ ॥

भोजवृत्तिः ।

उपासनमाह—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

तस्य सार्धत्रिमात्रस्य प्रणवस्य जपो यथावदुच्चारणं तद्वाच्यस्य चेश्वरस्य भावनं पुनः पुनश्चेतसि विनिवेशनमेकाग्रताया उपायः । अतः समाधिसिद्धये योगिना प्रणवो जप्यस्तदर्थश्च भावनीय इत्युक्तं भवति ॥ २८ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

प्रणिधानं लक्षयति—**तज्जप इति** ।

प्रणवस्य जपः प्रणवार्थस्य ब्रह्मणश्चिन्तनं धारणाध्यानसमाधिरूपं प्रणिधानमिति शेषः ।

जपंश्च प्रणवं नित्यं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ।
कोटिसूर्यसमं तेजो ध्यायेदात्मनि निर्मलम् ॥

इत्यादिस्मृतिभ्यः प्रणवजपस्य प्राथमिकध्यानाङ्गत्वमिति ब्रह्मविष्णुशिवात्मकं ब्रह्मादीनामप्यन्तर्यामि तेजश्चैतन्यम् ॥ २८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अथ तत्प्रणिधानमाह—**तज्जपस्तदर्थभावनम्** । तस्य प्रणवस्य जपस्तेन सहाचिन्त्यैश्वर्ययुक्तस्य तदर्थस्य परमात्मनः श्रद्धावीर्यैर्भावनं ध्यानम् । वाच्यवाचकभावं ज्ञात्वा क्रियमाणं सर्वार्थदमुपासनम् । सर्वाश्रितैकाग्र्यार्थम् । प्रणवे ब्रह्मविष्ण्वादिध्यानमपि तदन्तर्यामिचैतन्याभिप्रायेण ॥ २८ ॥

मणिप्रभा ।

एवं वाचकमुक्त्वा प्रणिधानमाह—**तज्जप इति** ।

अस्य भाष्यमेव लिख्यते—"प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावना तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतः चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते । तथा चोक्तम्—

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते" ॥ इति ॥ २८ ॥

चन्द्रिका ।

तज्जप इति । तस्य प्रणवस्य जपः प्रणववाच्यस्य ईश्वरस्य भावनं पुनःपुनश्चेतसि निवेशनमेकाग्रताया उपायः ॥ २८ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थं नामधेयमभिधाय पूर्वम् 'ईश्वरप्रणिधानाद्' इत्युक्तं तत्प्रणिधानं सफलमुपदर्शयति द्वाभ्याम्—**तज्जप इति** ।

एतदुक्तं भवति—तस्य प्रणवस्य यो जपः, तस्मिन्दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारैस्तदर्थासङ्गचिद्रूपेश्वरभावनापुरःसरं प्राधान्येन दृढमासेविते सति, पश्चात्स्वत एव वाग्व्यापाररूपे तस्मिन्प्रलीने, वाचकस्य न्यग्भावात्तदर्थासङ्गचिद्रूपगोचरवृत्तिसन्तानरूपभावनायां दीर्घकालादिभिर्दृढमासेवितायाम्, ततस्तत्प्रसादेन चित्तं निरोधाभिमुखं प्रत्यासत्त्यभावेन ईश्वरं विश्रान्तिभूमितया लभमानं सत् तत्सादृश्यात्स्वस्वामिनमसङ्गचिद्रूपमात्मानं स्मारयित्वा अविषयतया तमप्यलभमानं निरिन्धनाग्निवत्स्वयं संस्कारावशेषं भवति । ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमः । प्रत्यक्चासौ चेतना, तस्याः प्राप्तिरधिगमः । सर्वान्तरतया भासमाना चितिशक्तिः स्वे महिम्नि निरन्तरं निर्विघ्नमवतिष्ठते । अतः सर्वासां वृत्तीनां प्रविलयादन्तरायाभावश्च भवति । अयमेव ईश्वरप्रणिधानस्य विशेष इति ॥ २८ ॥ २९ ॥

भोजवृत्तिः ।

उपासनायाः फलमाह—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

तस्माज्जपात्तदर्थभावनाच्च योगिनः प्रत्यक्चेतनाधिगमो भवति, विषयप्रातिकूल्येन स्वान्तःकरणाभिमुखमञ्चति या चेतना दृक्शक्तिः सा प्रत्यक्चेतना तस्या अधिगमो ज्ञानं भवति। अन्तराया वक्ष्यमाणास्तेषामभावः शक्तिप्रतिबन्धोऽपि भवति ॥ २९ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

ईश्वरयोगस्य साङ्ख्ययोगापेक्षयातिश्रेष्ठत्वप्रतिपादनार्थमुत्कर्षयन्नाह—तत इति।

तत ईश्वरप्रणिधानात् प्रत्यक्चैतन्यस्य जीवस्य साक्षात्कारोऽपि भवति। चशब्द आसन्नतमयोगसमुच्चये। तथा योगान्तरायाणां योगविघ्नानां निवृत्तिश्च भवतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अस्योत्कर्षमाह—ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। तत ईश्वरप्रणिधानात्प्रतीपं विपरीतमञ्चति विजानाति स चासौ चेतनश्चेति प्रत्यक्चेतनो जीवस्तदधिगमस्तत्साक्षात्कारः। न चेश्वरविषयात्प्रणिधानात्कथं जीवसाक्षात्कारः? सादृश्यात्। यथैकशास्त्राभ्यासः सदृशार्थशास्त्रान्तरज्ञानजनकः। यथेश्वरः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथा बुद्धः प्रतिसंवेद्यपि जीव इति। अन्तरायाणां योगविघ्नानां निवृत्तिश्च भवतीत्येवमुत्कर्षोऽस्येति भावः ॥ २९ ॥

मणिप्रभा।

तस्येश्वरप्रणिधानस्यासन्नतमः समाधिलाभः फलमिति पूर्वमुक्तम्। अधुना फलान्तरमपि तदनुगुणमाह—तत इति।

प्रतीपं विपरीतमञ्चति जानातीति प्रत्यग् आत्मा इत्यर्थः। अनेनेश्वराद्भेद उक्तः बुद्धेरप्यन्तरं वा। प्रत्यक् चासौ चेतनश्च तस्याधिगमः साक्षात्कारः ततः प्रणिधानाद्भवति। अपि चान्तरायाणामभावश्च भवति। ननु स्वभिन्नेश्वरप्रणिधानात्स्वसाक्षात्कारः कथं स्यात् अभ्यासतज्जन्यज्ञानयोः षड्जादावेकविषयत्वदर्शनादिति चेद्। उच्यते। यथैवेश्वरोऽसङ्गश्चिद्रूपः कूटस्थः क्लेशादिशून्यस्तथैव जीव इति सादृश्यादीश्वरध्यानं तदनुग्रहद्वारा जीवस्वरूपसाक्षात्कारहेतुरित्यनवद्यम् ॥ २९ ॥

चन्द्रिका।

तत इति। तस्माज्जपात्तदर्थभावनाच्च विषयप्रातिकूल्येन अञ्चति या दृक्शक्तिस्तस्या अधिगमो ज्ञानं भवति वक्ष्यमाणान्तरायशक्तिप्रतिबन्धश्च भवतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

भोजवृत्तिः।

अथ केऽन्तराया इत्याशङ्कायामाह—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽऽलस्याऽविरतिभ्रान्तिदर्शनाऽलब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

नवैते रजस्तमोबलात्प्रवर्तमानाश्चित्तस्य विक्षेपा भवन्ति। तैरेकाग्रताविरोधिभिश्चित्तं विक्षिप्यत इत्यर्थः। तत्र व्याधिर्धातुवैषम्यनिमित्तो ज्वरादिः। स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य। उभयकोट्यालम्बनं ज्ञानं संशयः—योगः साध्यो न वेति। प्रमादोऽनुष्ठानशीलता समाधिसाधनेष्वौदासीन्यम्। आलस्यं कायचित्तयोर्गुरुत्वं योगविषये प्रवृत्त्यभावहेतुः। अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्धः। भ्रान्तिदर्शनं शुक्तिकायां रजतवद्विपर्ययज्ञानम्। अलब्धभूमिकत्वं कुतश्चिन्निमित्तात्समाधिभूमेरलाभोऽसंप्राप्तिः। अनवस्थितत्वं लब्धायामपि समाधिभूमौ चित्तस्य तत्राप्रतिष्ठा। त एते समाधेरेकाग्रताया यथायोगं प्रतिपक्षत्वादन्तराया इत्युच्यन्ते ॥ ३० ॥

भावागणेशवृत्तिः।

अन्तरायानाह—व्याधीति।

यतो व्याध्यादयश्चित्तविक्षेपका अतो योगान्तराया इत्यर्थः। तत्र व्याधिः धातुरसकरणानां वैषम्यम्।

धातवो वातपित्तकफाः, रसा आहारपरिणामाः, करणानि त्वक्चक्षुरादीनि एषां वैषम्यं स्वभावप्रच्यवः। स्त्यानमकर्मण्यता, योगानुष्ठानाक्षमत्वमिति यावत् । संशयो गुरुशास्त्रोक्तसाधनेषूभयकोटिकं ज्ञानम् । प्रमादोऽनवधानम् । आलस्यं कायचित्तयोर्गुरुत्वादप्रवृत्तिः । अविरतिर्विषयाभिलाषः । भ्रान्तिदर्शनं गुर्वादिप्रमितार्थविपरीतनिश्चयः । अलब्धभूमिकत्व वक्ष्यमाणानां योगभूमीनां साधनानुष्ठानेऽप्यलाभः । अनवस्थितत्वं योगभूमिलाभेऽपि योगभ्रंश इति ॥ ३० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तानन्तरायानाह—व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः । रजस्तमोजन्या एते नव चित्तविक्षेपकत्वाद्योगान्तरायाः । चित्तस्य विक्षेपोऽनेकवृत्तित्वम् । व्याधिर्वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यजन्यः । स्त्यानं योगानुष्ठानाक्षमत्वम् । संशयः शास्त्रोक्तसाधनेषूभयकोटिस्पृग्ज्ञानम् । प्रमादः शमादिभावनाभावः । आलस्यं कायचित्तयोर्गुरुत्वादप्रवृत्तिः । अविरतिर्विषयाभिलाषः । भ्रान्तिदर्शनं शास्त्रोक्तार्थविपरीतनिश्चयः । अलब्धभूमिकत्वं वक्ष्यमाणयोगभूमीनां साधनानुष्ठानेऽप्यलाभः । अनवस्थितत्वं योगभूमिलाभेऽपि योगभ्रंशः ॥ ३० ॥

मणिप्रभा ।

अन्तरायानाह—व्याधीति ।

ये चित्तं योगाद्विक्षिपन्ति भ्रंशयन्ति ते चित्तविक्षेपाः योगस्यान्तरायाः विघ्ना नव । तत्र व्याधिर्वातपित्तश्लेष्मणामन्नरसस्येन्द्रियाणां च वैषम्यम् । स्त्यानं चित्तस्य लुब्धत्वेऽपि कर्मानर्हता । संशयः प्रसिद्धः । योगाङ्गाननुष्ठानं प्रमादः । आलस्यं चित्तस्य गुरुत्वादप्रवृत्तिः । अविरतिर्विषयतृष्णा । भ्रान्तिदर्शनमेककोटिको विपर्ययः । अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूम्यलाभः । मधुमत्यादयः समाधिभूमयो वक्ष्यन्ते । अनवस्थितत्वं नाम लब्धायां भूमौ चित्तस्यास्थिरत्वम् । पूर्वभूमौ हि स्थितं चित्तम् उत्तरभूमिं जयेत् तस्मादस्थिरत्वं दोष इत्यर्थः ॥ ३० ॥

चन्द्रिका ।

व्याधीति । व्याधिर्ज्वरादिः, स्त्यानमकर्मण्यता, उभयकोट्यालम्बनं विज्ञानं संशयः, प्रमादोऽनवधानता, आलस्यं कायचित्तयोर्गुरुत्वम्, अविरतिर्विषयासक्तिः, भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम्, अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः, अनवस्थितत्वं चित्तस्य समाधावप्रतिष्ठा । एते नव विघ्नानीत्युच्यन्ते ॥ ३० ॥

योगसुधाकरः ।

के तेऽन्तराया इत्यपेक्षायामाह—व्याधीति ।

ये चित्तं योगाद्विक्षिपन्ति भ्रंशयन्ति ते नव विक्षेपा योगस्यान्तराया विघ्नाः । तत्र दोषत्रयवैषम्यनिमित्तो ज्वरादिर्व्याधिः । चित्तस्याकर्मण्यत्वं स्त्यानम् । विरुद्धकोटिद्वयावगाहि ज्ञानं संशयः । अहिंसासत्यादिसाधनानामभावनं प्रमादः । कायवाक्चित्तगुरुत्वादप्रवृत्तिरालस्यम् । विषयाभिलाषोऽविरतिः । अतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिदर्शनम् । कुतश्चिन्निमित्तात्समाधिभूमेरलाभोऽलब्धभूमिकत्वम् । लब्धायामपि तस्यां चित्तस्याप्रतिष्ठानवस्थितत्वमित्यर्थः ॥ ३० ॥

भोजवृत्तिः ।

चित्तविक्षेपकारकानन्यानप्यन्तरायान्प्रतिपादयितुमाह—

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

कुतश्चिन्निमित्तादुत्पन्नेषु विक्षेपेषु एते दुःखादयः प्रवर्तन्ते । तत्र दुःखं चित्तस्य राजसः परिणामो बाधनालक्षणः; यद्बाधात्प्राणिनस्तदपघाताय प्रवर्तन्ते । दौर्मनस्यं बाह्याभ्यन्तरैः कारणैर्मनसो दौःस्थ्यम् । अङ्गमेजयत्वं सर्वाङ्गीणो वेपथुरासनमनःस्थैर्यस्य बाधकः । प्राणो यद्बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः । यत्कौष्ठ्यं वायुं निःश्वसिति स प्रश्वासः । त एते विक्षेपैः सह प्रवर्तमाना यथोदिताभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्या इत्येषामुपदेशः ॥ ३१ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

व्याध्यादिभ्यश्चान्येऽप्यन्तराया भवन्तीत्याह—दुःखेति ।

दुःखं स्वतो द्वेष्यम् । दौर्मनस्यं चित्तचाञ्चल्यम् । अङ्गमेजयत्वमङ्गकम्पः । श्वासो देहान्तर्वायोरधिकप्रवेशः । प्रश्वासो देहाद्वायोराधिकनिर्गमः । एते विक्षेपसहभुवो व्याध्यादिव्यवधानेनैव जायन्त इत्यर्थः । अथवा दुःखादयो वृत्तिचाञ्चल्यरूपविक्षेपोद्भवा इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अन्यानप्यन्तरायानाह—दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः । दुःखं स्वतो द्वेष्यम् । दौर्मनस्यं चित्तचाञ्चल्यम् । अङ्गमेजयत्वमङ्गकम्पः । श्वासो बाह्यवायोरन्तःप्रवेशः । प्रश्वासः आन्तरवायोर्बहिर्निर्गमः । एते चित्तचाञ्चल्यरूपविक्षेपसहभुवः तज्जन्या इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

मणिप्रभा ।

न केवलमेते विक्षेपा योगनाशकाः किंतु दुःखादीनपि कुर्वन्तीत्याह दुःखेति ।

दुःखं व्याधिजं शारीरं, कामादिजं मानसं, तद्द्वयमाध्यात्मिकम् । व्याघ्रादिजमाधिभौतिकम् । ग्रहपीडादिजम् आधिदैविकम् । दौर्मनस्यमिच्छाविघातात् क्षोभो मनसि । अङ्गमेजयतो भावोऽङ्गमेजयत्वमङ्गानां कम्पनमित्यर्थः । अनिच्छतः प्राणो यं बाह्यवायुमन्तः प्रवेशयति स श्वासः समाध्यङ्गरेचकविरोधीत्यर्थः । एवमनिच्छतः कौष्ठ्यस्य वायोर्बहिर्गमनं प्रश्वासः पूरकविरोधी । एते विक्षेपैः सह भवन्ति, विक्षिप्तचित्तस्य भवन्तीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

चन्द्रिका ।

दुःखेति । तत्र दुःखं चित्तस्य राजसः परिणामो बाधनलक्षणः, दौर्मनस्यं करणैः सह मनसो दौस्थ्यम्, अङ्गमेजयत्वं सर्वाङ्गवेपथुः, प्राणो यत्र बाह्यवायुमाचामति स श्वासः,यत्कौष्ठ्यं वायुं निश्वासिति स प्रश्वासः, एते विक्षेपैः सह भवन्तीति अभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः ॥ ३१ ॥

योगसुधाकरः ।

न केवलमेते विक्षेपा योगनाशकाः, अपि तु उपद्रवकरा इत्याह दुःखेति ।

यथोक्तव्याधिजं दुःखम् । तच्चाध्यात्मिकादिभेदात्त्रिविधम् । विषयाभिलाषविघातान्मनसि क्षोभो दौर्मनस्यम् । सर्वाङ्गचलनमङ्गमेजयत्वम् । तच्च योगाङ्गासनविरोधि । अपानः श्वासः । स च रेचकविरोधी । प्राणः प्रश्वासः । स तु पूरकविरोधी । अथ वा श्वासो बाह्यकुम्भकविरोधी, प्रश्वासः आन्तरकुम्भकविरोधी, अङ्गमेजयत्वं कुम्भकद्वयाविरोधीत्यर्थः,

मोच्छ्वसेन्नैव निश्वस्यान्नैव गात्राणि चालयेत् ।

इति कुम्भके तन्निषेधश्रवणात् । अत एते दुःखादयो विक्षेपैः सह भवन्ति, विक्षिप्तचित्तस्य भवन्तीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

भोजवृत्तिः ।

सोपद्रवविक्षेपप्रतिषेधार्थमुपायान्तरमाह—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

तेषां विक्षेपाणां प्रतिषेधार्थमेकस्मिन्कस्मिंश्चिदभिमते तत्त्वेऽभ्यासश्चेतसः पुनः पुनर्निवेशनं कार्यः; यद्बलात् प्रत्युदितायामेकाग्रतायां विक्षेपाः प्रशम (१)मुपयान्ति ॥ ३२ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

सूत्रद्वयोक्ता अन्तराया ईश्वरप्रणिधाननिरस्या इति मुख्यकल्पाभिप्रायेणैवोक्तम् । तदसम्भवे तु यत्र कुत्रचिदेकाग्र्येणाप्येते बलवदभ्यासतो निरसनीया भवन्तीत्याह—तत्प्रतिषेधार्थमिति ।

तेषामन्तरायाणां प्रतिषेधार्थमन्ततो यत्र कुत्रचिदप्येकस्मिन्नर्थे अभ्यासः कार्य इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

---

(१) प्रणाशमिति पाठान्तरम् ।

नागोजीभट्टवृत्तिः।

ईश्वरप्रणिधानवतस्त्वेते स्वत एव न भवन्तीत्युक्तम् । तदभाववतस्तु बलवदभ्यासनिरसनीया एत इत्याह—तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः । तेषामन्तरायाणां प्रतिषेधार्थमन्तत्तो यत्र कुत्रचिदप्येकार्थेऽभ्यासः कार्यः । तेन चोदितायामेकाग्रतायां विक्षेपाः प्रशममुपयान्ति । एकाग्रतोपदेशादेव चित्तमेषामक्षणिकं स्थिरम् । अनुभूतस्मृतिदर्शनाच्च । स्वकृतकर्मोपभोगाच्च यदहमद्राक्षं तत्स्पृशामि यच्चास्प्राक्षं तत्पश्यामीति प्रत्यभिज्ञानाच्च अहंप्रत्ययगोचरश्चित्तमेव । एकाग्रतोपदेशादेव नाणु किन्तु विभुः; योगिनां सर्वावच्छेदेनैकदाखिलसाक्षात्काराच्च, अयोगिनामपि दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ अनेकेन्द्रियवृत्त्यनुभवाच्च । न च तेषां योगजधर्म एव प्रत्यासत्तिः । संयोगादिलौकिकप्रत्यासत्त्यैवोपपत्तौ तत्कल्पने गौरवात्, अन्योन्यव्यभिचाराच्च । तद्वारणाय साक्षात्कारेष्ववान्तरजातिकल्पने गौरवम् । अतएव न मध्यमपरिमाणम्, प्रलये विनाशेनादृष्टाधारतानुपपत्तेः । अतो विभु । तस्य च सर्वार्थग्रहणसमर्थस्य तमआख्यावरणभङ्ग एव योगेन क्रियते, सुषुप्तौ तमसो वृत्तिप्रतिबन्धकत्वसिद्धेः । विभोरपि गतिश्रुतिरात्मन इव प्राणेन्द्रियाद्युपाधिनोपपन्ना । कार्यकारणरूपेणान्तःकरणद्वैविध्येन कार्यान्तःकरणस्य स्वतोऽपि गतिसम्भवाच्च । विभोरपि प्रधानस्य कार्यरूपत्वदर्शनात् । तदुक्तं भाष्ये—एकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तम्-इति । विशोका वेति सूत्रे बुद्धिसत्त्वं भास्वरकल्पमिति चोक्तम् ॥ ३२ ॥

मणिप्रभा ।

ईश्वरप्रणिधानादेतेषामभाव इत्युक्तमुपसंहरति—तत्प्रतिषेधार्थमिति ।

विक्षेपाणां नाशार्थमेकतत्त्वस्येश्वरस्याभ्यासो ध्यानं कार्यमित्यर्थः । अत्र भाष्यकारैः स्थायि चित्तं स्यात्तस्यैकाग्रता सम्पादनीयेति क्षणिकमतमाशङ्क्य सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञानादिना चित्तमेकमनेकार्थावगाहि स्थायि वियत इति साधितम् ॥ ३२ ॥

चन्द्रिका ।

तत्प्रतिषेधार्थमिति । तेषां विक्षेपाणां निषेधार्थं कस्मिंश्चिदभिमते तत्त्वे अभ्यासः ॥ ३२ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थमन्तरायानुक्त्वा ते कस्मान्नाशनीया इत्यपेक्षायां प्रवोक्तमीश्वरप्रणिधानमेवास्मिन्नंशे स्मारयति—तदिति ।

तेषां सोपद्रवाणां विक्षेपाणां विनाशार्थमेकतत्त्वस्येश्वरस्याभ्यासः कर्तव्यः । एतदुक्तं भवति-एकतत्त्वगोचरमनोवृत्तिप्रवाहानुकूलो यत्नोऽभ्यासः । स च दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारैर्दृढमासेवितव्यः । आसेविते च तस्मिन्व्याध्यादयो वासनाः क्षणेनैव विशारुतां यान्ति । तदुक्तम्—

वासनासम्परित्यागे यदि यत्नं करोष्यलम् ।
तत्ते शिथिलतां यान्ति सर्वाधिव्याधयः क्षणात् ॥ इति ॥ ३२ ॥

भोजवृत्तिः।

इदानीं चित्तसंस्कारापादकपरिकर्मकथनमुपायान्तरमाह—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

मैत्री सौहार्दम् । करुणा कृपा । मुदिता हर्षः । उपेक्षौदासीन्यम् । एता यथाक्रमं सुखितेषु दुःखितेषु पुण्यवत्सु अपुण्यवत्सु च विभावयेत् । तथा हि—सुखितेषु साधु एषां सुखित्वमिति मैत्रीं कुर्यान्न तु ईर्ष्याम् । दुःखितेषु कथं नु नामैषां दुःखनिवृत्तिः स्यादिति कृपामेव कुर्यान्न ताटस्थ्यम् । पुण्यवत्सु पुण्यानुमोदनेन हर्षमेव कुर्यान्न तु किमेते पुण्यवन्त इति विद्वेषम् । अपुण्यवत्सु चौदासीन्यमेव भावयेन्नानुमोदनं न वा द्वेषम् । सूत्रे सुखदुःखादिशब्दैस्तद्वन्तः प्रतिपादिताः । तदेवं मैत्र्यादिपरिकर्मणा चित्ते प्रसीदति सुखेन समाधेराविर्भावो भवति । परिकर्म चैतद्बाह्यं कर्म; यथा गणिते मिश्रका-

दिव्यवहारो गणितनिष्पत्तये संकलितादिकर्मोपपादकत्वेन प्रधानकर्मनिष्पत्तये भवति, एवं द्वेषरागादिप्रतिपक्षभूतमैत्र्यादिभावनया समुत्पादितप्रसादं चित्तं सत्त्वाभिधं संप्रज्ञातादिसमाधियोग्यं संपद्यते। रागद्वेषावेव मुख्यतया विक्षेपमुत्पादयतः तौ चेत्समूलमुन्मूलितौ स्यातां तदा प्रसन्नत्वान्मनसो भवत्येकाग्रता ३३

भावागणेशवृत्तिः।

योगसाधनगतो विशेष उक्तः। इदानीं स्थितिसाधने श्रद्धावीर्याद्युपायाभ्यासे वशीकारद्वारेणाप्रतिबन्धहेतूनाह सूत्रैः—मैत्रीति।

प्रसादनं स्थितिनिबन्धनमिति तृतीयसूत्रस्थेनान्वयः। अन्यथा तत्र सूत्रे वाशब्दवैयर्थ्यात्। निबन्धनत्वं च स्थितिहेतुश्रद्धाद्यप्रतिबन्धद्वारा स्थित्यभ्रंशहेतुत्वं भाष्ये व्याख्यातत्वात्। सुखादिशब्दाश्च धर्मधर्म्यभेदात्सुखितादिवाचिनः। तथा सुखितदुःखितधार्मिकपापशीलेषु यथोक्तक्रमं मैत्र्यादीनामुत्पादाच्चित्तस्य प्रसादनं स्थितिनिबन्धनं भवति। रागद्वेषपापादिमलापसारणेन चित्तवशीकारात् सूत्रे वक्ष्यमाणादित्यर्थः। मैत्री सौहार्दम्। करुणा निरुपाधिः परदुःखप्रहाणेच्छा। मुदिता प्रीतिः। उपेक्षा औदासीन्यमिति ॥ ३३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

इदानीं श्रद्धावीर्यादिरूपाभ्यासे स्थितिसाधने वशीकारद्वारेणाप्रतिबन्धहेतूनाह—**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।** प्रसादनं स्थितिनिबन्धनम्। निबन्धनत्वं च स्थितिहेतुश्रद्धाद्यप्रतिबन्धद्वारा स्थित्यभ्रंशहेतुत्वम्। सुखादिशब्दाश्च सुखितादिवाचिनः। तेषु क्रमेण मैत्र्यादीनामुत्पादनाभ्यासात्प्रसन्नं चित्तमेकाग्रं स्थितिपदं लभते इत्यर्थः। मैत्री सौहार्दम्। करुणा निरुपाधिः परदुःखप्रहाणेच्छा। मुदिता प्रीतिः। उपेक्षा औदासीन्यम्। एषा च परिकर्मेति संज्ञा। एकाग्रताहेतुश्चित्तसंस्कारः परिकर्म। स च विषयकालुष्यराहित्यरूपश्चित्तप्रसादः। रागद्वेषेर्ष्यासूयामर्षपापादिमलापसारणद्वारा एते तद्धेतवः ॥ ३३ ॥

मणिप्रभा।

तस्य चित्तस्यासूयादिमलवतो योगायोगात्तन्मलनिरासोपायानाह मैत्रीति।

सुखिषु प्राणिषु मैत्रीं मित्रतां, दुःखितेषु करुणां दयां, पुण्यवर्तिषु मुदिताम् हर्षम्, अपुण्यशब्दितपापवृत्तिषु उपेक्षां मध्यस्थवृत्तिं भावयेत्। तया भावनया चित्तस्य प्रसादनं भवति। सुखादिषु यथाक्रममुक्तया भावनया सात्त्विको धर्मो जायते। तेनेर्ष्याऽपकारेच्छाऽसूयाद्वेषाणां चित्तमलानां विनाशात्तेन च शुक्लेन धर्मेण चित्तं प्रसन्नं भवति। प्रसन्नं च वक्ष्यमाणेभ्य उपायेभ्य एकाग्रं स्थितिपदं लभते इति तात्पर्यम् ॥ ३३ ॥

चन्द्रिका।

मैत्रीति। मैत्रीं सौहार्दं सुखितेषु, करुणां कृपां दुःखितेषु, मुदितां हर्षं पुण्यवत्सु, उपेक्षामौदासीन्यमपुण्यवत्सु भावयेत्। एवं मैत्र्यादिपरिकर्मणा चित्तं प्रसीदति रागद्वेषनिरासे सुखेन समाधेः प्रादुर्भावो भवत्येकाग्रता च ॥ ३३ ॥

योगसुधाकरः।

अधुना सम्प्रज्ञातभूमिरूपैकाग्रतोपायान् 'मैत्री—' इत्यादि 'यथाभिमत—'इत्यन्तेन सूत्रसप्तकेनाह—मैत्रीति।

चित्तं हि रागद्वेषपुण्यपापैः कलुषीक्रियते। तत्र स्वप्नादौ स्वेनानुभूयमानं सुखमनुशेते 'सर्वं सुखजातं मे भूयात्' इति कश्चिद्धीवृत्तिविशेषो रागः। स च सुखजातस्य दृष्टादृष्टसामग्र्यभावेन सम्पादयितुमशक्यत्वाच्चित्तं कलुषीकरोति। यदा तु सुखिप्राणिषु मैत्रीं भावयेत् 'सर्वेऽप्येते सुखिनो मदीयाः' इति, तदा तत्सुखं स्वकीयमेव सम्पन्नमिति तत्र रागो निवर्तते। न केवलं रागः, किं तु परगुणासहनदोषाविष्करणरूपासूयेर्ष्यादिकमपि निवर्तते। निवृत्ते च रागासूयेर्ष्यादौ वर्षास्वतीतासु शरत्सरिदिव चित्तं प्रसीदति। तथा दुःखमनुशेते 'सर्वं दुःखं सर्वथा मे मा भूत्' इति कश्चिन्मत्ययो द्वेषः। स च वैर्यादिषु

स्तु निवारयितुमशक्यत्वात्सदा हृदयं दहति। यदा 'स्वस्येव परेषां प्रतिकूलं दुःखं मा भूत्' इत्यनेन प्रकारेण करुणां दुःखिप्राणिषु भावयेत्, तदा वैर्यादिषु द्वेषो निवर्तते। न केवलं द्वेषः, किन्तु दुःखित्वप्रतियोगिकस्वसुखित्वप्रयुक्तो दर्पोऽपि निवर्तते। स च दर्पो भगवता दर्शितः—

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया॥ इति।

अत उभयनिवृत्तौ चित्तं प्रसीदति। तथा प्राणिनः स्वभावत एव पुण्यं नानुतिष्ठन्ति, पापं त्वनुतिष्ठन्ति। अतस्ते पुण्यपापे पश्चात्तापं जनयतः। यदि पुण्यपुरुषेषु मुदितां भावयेत्, तदा तद्वासनया स्वयमप्यप्रमत्तः पुण्ये प्रवर्तते। तथा पापिषूपेक्षां भावयन्स्वयमपि पापान्निवर्तते। अतः पश्चात्तापाभावेन चित्तं प्रसीदति। ननु पुण्यात्मसु मुदितां भावयतः पुण्ये प्रवृत्तिः फलत्वेनोक्ता; सा च योगिनो न युक्ता, तस्य पुनर्जन्मकरत्वात्। मैवम्। काम्यस्येष्टापूर्तादेर्जन्महेतुत्वादिह तु योगाभ्यासजन्यस्य जन्मानापादकस्याशुक्लकृष्णस्य पुण्यस्य विवक्षितत्वात्। वक्ष्यति च भगवान्सूत्रकारः—'कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्' इति। अतो मैत्र्यादिभावनया रागादिवासनानिवृत्तौ प्रसादं स्थैर्यमापन्नं सच्चित्तमेकाग्रतापदं लभत इत्यर्थः। तदुक्तम्

पौरुषेण प्रयत्नेन बलात्संत्यज्य वासनाम्।
स्थितिं बध्नासि चेत्तर्हि पदमासादयस्यलम्॥ इति॥ ३३॥

भोजवृत्तिः।

उपायान्तरमाह—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य॥ ३४॥

प्रच्छर्दनं कौष्ठ्यस्य वायोः प्रयत्नविशेषान्मात्राप्रमाणेन बहिर्निःसारणम्। विधारणं मात्राप्रमाणेनैव प्राणस्य वायोर्बहिर्गतिविच्छेदः। स च द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां बाह्यस्याभ्यन्तरा(१)पूरणेन पूरितस्य वा तत्रैव निरोधेन। तदेवं रेचकपूरककुम्भकभेदेन त्रिविधः प्राणायामश्चित्तस्य स्थितिमेकाग्रतया निबध्नाति, सर्वासामिन्द्रियवृत्तीनां प्राणवृत्तिपूर्वकत्वात्। मनःप्राणयोश्च स्वस्वव्यापारे परस्परमेकयोगक्षेमत्वात्क्षीयमाणः(२) प्राणः समस्तेन्द्रियवृत्तिनिरोधद्वारेण चित्तस्यैकाग्रतायां प्रभवति। समस्तदोषक्षयकारित्वं चास्याऽऽगमे श्रूयते। दोषकृताश्च सर्वा विक्षेपवृत्तयः; अतो दोषनिर्हरणद्वारेणाप्यस्यैकाग्रतायां सामर्थ्यम्॥ ३४॥

भावागणेशवृत्तिः।

प्रच्छर्दनेति। प्राणस्य प्रच्छर्दनं वमनं, रेचनमिति यावत्। विधारणं कुम्भकम्। तच्चार्थात्पूरकानन्तरं, रेचकोत्तरं पूरकं विना विधारणासम्भवात्, प्राणायामतयास्य भाष्ये प्रोक्तत्वाच्च। तथा च एतद्द्वयात्पूरणगर्भादपि चित्तप्रसादनं कुर्यादित्यर्थः। अथवा प्रच्छर्दनं रेचकं विधारणं तु पूरकम्। वसिष्ठसंहितायां नाडीशुद्ध्यर्थं रेचकपूरकमात्रस्यापि प्राणायामस्योक्तत्वादिति॥ ३४॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

प्रसादस्य साधनान्तरमाह—प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। प्राणस्य प्रच्छर्दनं वमनं रेचनम्। विधारणं कुम्भकम्। एतच्च पूरकोपलक्षणम्। एतद्वा चित्तप्रसादस्य कारणम्। वाशब्दो वक्ष्यमाणापेक्षया विकल्पे। मैत्र्यादिभावनायाः सर्वैः सह समुच्चयादिति मिश्राः।

इन्द्रियाणां बलं प्राणास्तेषां यत्नेन निग्रहात्।
विक्षेपहेतवोऽक्षाणां दह्यन्ते दोषराशयः॥ इति स्मृतिः।

यद्वा प्रच्छर्दनविधारणे रेचकपूरकौ तावन्मात्रप्राणायामस्यापि नाडीशुद्ध्यर्थं वसिष्ठसंहितादौ उक्तत्वात्॥ ३४॥

---

(१) बाह्यस्यान्तरेति पाठान्तरम्।
(२) क्षीयमाण इति पाठान्तरम्।

मणिप्रभा ।

इदानीं मैत्र्यादिभावनया प्रसन्नस्य चित्तस्य स्थित्युपायानाह—प्रच्छर्दनेति । प्रच्छर्दनं रेचनं, रेचितस्य प्राणस्य बहिरेव विधारणं, यथाशक्ति ताभ्यां चित्तमेकत्र लक्ष्ये स्थितिं लभते । प्राणजये चित्तस्य जयस्तयोरविभागात् प्राणायामस्य सर्वपापनिवर्तकत्वात्पापनिवृत्तौ चित्तं स्थिरं भवति । वाशब्दो वक्ष्यमाणोपायान्तरापेक्षया विकल्पार्थो न तु मैत्र्यादिभावनाऽपेक्षया । तद्भावनायाः सर्वोपायसहकारित्वेन समुच्चयादिति मन्तव्यम् ॥ ३४ ॥

चन्द्रिका ।

प्रच्छर्दनेति । प्रच्छर्दनं नाम यत्कोष्ठ्यस्य वायोः प्रयत्नविशेषाद्बहिर्निःसारणं, विधारणं मात्राप्रमाणेन प्राणस्यायामो गतिविच्छेदः ॥ ३४ ॥

योगसुधाकरः ।

प्रच्छर्दनेति । प्राणस्य शरीरान्तर्गतस्य वायोः प्रच्छर्दनं द्वात्रिंशन्मात्राप्रमाणेन शनैः शनैः पिङ्गलया बहिर्विरेचनम् । रेचितं पश्चादिडया षोडशमात्राप्रमाणेनान्तरापूर्य पूरितस्य पुनश्चतुःषष्टिमात्राप्रमाणेन विधारणमान्तरकुम्भकः । रेचितस्य प्रोक्तप्रमाणेन बहिरेव विधारणं बाह्यकुम्भकः । अनेन रेचकपूरकबाह्याभ्यन्तरकुम्भकरूपप्राणायामत्रयं भवति । तेन प्राणस्पन्दे निरुद्धे सति चित्तदोषाः प्रदह्यन्ते । तथा च श्रुतिः—

यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते धमता मलाः ।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणनिग्रहात् ॥ इति ।

तथोपपत्तिर्वसिष्ठेन दर्शिता—

यः प्राणपवनस्पन्दश्चित्तस्पन्दः स एव हि ।
प्राणस्पन्दजये यत्नः कर्तव्यो धीमतोच्चकैः ॥ इति ।

अतः प्राणमनःस्पन्दयोः सहभावित्वात्प्राणनिग्रहे मनो निगृह्यते । ननु सहस्पन्दो न युक्तः, सुषुप्तौ चेष्टमानेऽपि प्राणे मनसोऽचेष्टमानत्वात् । नैवम् । विलीनत्वेन तदानीं मनस एवाभावात् । ननु 'क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत' इति श्रुतिव्याहतमिति चेत् । न । अनुल्बणत्वस्य क्षयत्वेनात्र विवक्षितत्वात् । यथा पर्वतमारोहतः श्वासवेगो यावान्भवति न तावानासीनस्य विद्यते; तथा प्राणायामपाटवोपेतस्येतरस्मादल्पः श्वासो भवति । एतदेवाभिप्रेत्य श्रूयते—

भूत्वा तत्रायतः प्राणः शनैरेव समुत्सृजेत् ॥ इति ।

अतः प्राणायामपाटवेन प्राणे निरुद्धे सति निर्मृष्टनिखिलदोषं सच्चित्तमेकाग्रतापदं लभते इत्यर्थः ३४

भोजवृत्तिः ।

इदानीमुपायान्तरप्रदर्शनोपक्षेपेण संप्रज्ञातस्य समाधेः पूर्वाङ्गं कथयति—

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना स्थितिनिबन्धिनी ॥ ३५ ॥

मनस इति वाक्यशेषः । विषया गन्धरसरूपस्पर्शशब्दास्ते विद्यन्ते फलत्वेन यस्याः सा विषयवती प्रवृत्तिर्मनसः स्थैर्यं करोति । तथा हि—नासाग्रे चित्तं धारयतो दिव्यगन्धसंविदुपजायते । तादृश्येव जिह्वाग्रे रससंवित् । ताल्वग्रे रूपसंवित् । जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित् । जिह्वामूले शब्दसंवित् । तदेवं तत्तदिन्द्रियद्वारेण तस्मिंस्तस्मिन्दिव्यविषये जायमाना संविच्चित्तस्यैकाग्रताया हेतुर्भवति । अस्ति योगस्य फलमिति योगिनः समाश्वासोत्पादनात् ॥ ३५ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

प्रसादनापेक्षया स्थितिनिबन्धनान्तरमाह—

विषयवतीति । विषया गन्धादयो दिव्याः पञ्च विषयत्वेनास्याः सन्तीति विषयवती प्रवृत्तिः प्रकृष्टा साक्षात्काररूपा वृत्तिः योगशास्त्रोक्तप्रकारेण नासाग्रादौ चित्तधारणादल्पकालेनैव जायते । 'ना-

साग्रे दिव्यगन्धसंविदि'त्यादिभाष्यवचनात् । सा वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसो विषयान्तरेषु विवेकपर्यन्तेषु स्थितिनिबन्धनी भवति । शास्त्रोक्तार्थैकदेशे साक्षात्कारेणार्थान्तरेऽपि संशयादिनिरसनतः श्रद्धावीर्याद्यप्रतिबन्धादित्यर्थः ॥ ३५ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

उपायान्तरमाह स्थितौ—**विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी** । मनसो नासिकाग्रजिह्वाग्रतालुजिह्वामध्यजिह्वामूलेषु योगशास्त्रोक्तप्रकारेण धारणात् क्रमेण तन्मात्ररूपदिव्यगन्धदिव्यरसदिव्यरूपदिव्यस्पर्शदिव्यशब्दविषया वा प्रवृत्तिः प्रकृष्टा साक्षात्काररूपा वृत्तिः संविदुत्पद्यते । सा उत्पन्ना वृत्तयश्चित्तस्यैकाग्रताकारणानीत्यर्थः । एवं चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीपमणिरत्नादिवृत्तयोऽपि । शास्त्रोक्तार्थैकदेशसाक्षात्कारेणार्थान्तरेऽपि संशयादित्यागेन श्रद्धावीर्याद्यपातिबद्धं भवतीत्याशयः ॥३५॥

मणिप्रभा ।

उपायान्तरमाह—**विषयवतीति** ।

नासाऽग्रे चित्तस्य संयमाद्दिव्यगन्धसाक्षात्कारी भवति, जिह्वाऽग्रे संयमाद्दिव्यरसस्य संविद्भवति, तालुनि रूपसंवित्, जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित्, जिह्वामूले शब्दसंवित् । एताः संविदो गन्धादिविषयवत्यः प्रवृत्तयः शीघ्रमुत्पन्नाः सत्यो विश्वासमुत्पाद्यातिसूक्ष्मेश्वरादौ मनसः स्थितिं निबध्नन्तीत्यर्थः । शास्त्रोक्तविशेषस्य कस्यचिदनुभवे सत्यतिसूक्ष्मेऽपि श्रद्धया संयमार्थं योगी प्रवर्त्तते इति भावः ॥ ३५ ॥

चन्द्रिका ।

विषयवतीति । विषया दिव्यगन्धाद्या विद्यन्ते फलत्वेन यस्यां सा संविन्मनसः स्थैर्यं करोति इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

योगसुधाकरः ।

विषयवतीति । नासाग्रजिह्वाग्रतालुजिह्वामध्यजिह्वामूलेषु प्रदेशेषु चित्तस्य संयमाद्दिव्यगन्धरसरूपस्पर्शशब्दविषयवत्यः संविदः प्रवृत्तयः शीघ्रमुत्पन्नाः सत्यो विश्वासमुत्पाद्य अतिसूक्ष्मेश्वरादौ मनसः स्थितिं बध्नन्ति । अतो मन एकाग्रतां प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

भोजवृत्तिः ।

एवंविधमेवोपायान्तरमाह—

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

प्रवृत्तिरुत्पन्ना चित्तस्य स्थितिनिबन्धिनीति वाक्यशेषः । ज्योतिःशब्देन सात्त्विकः प्रकाश उच्यते । स प्रशस्तो भूयानतिशयवांश्च विद्यते यस्यां सा ज्योतिष्मती प्रवृत्तिः । विशोका विगतः सुखमयत्वाभ्यास(१)वशाच्छोको रजःपरिणामो यस्याः सा विशोका चेतसः स्थितिनिबन्धिनी । अयमर्थः । हृत्पद्मसंपुटमध्ये प्रशान्तकल्लोलक्षीरोदधिप्रख्यं चित्तसत्त्वं भावयतः प्रज्ञालोकात्सर्ववृत्तिपरिक्षये चेतसः स्थैर्यमुत्पद्यते ॥ ३६ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

स्थितिनिबन्धनान्तरमाह—**विशोकेति** । अन्तःकरणस्य पुरुषस्य वा योगजसाक्षात्काररूपा वृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते । सा यतः शोकनाशकत्वाद्विशोका, अतश्चाचल्यहेतुशोकनिवृत्त्या सा वा प्रवृत्तिर्मनसः स्थितिनिबन्धनीत्यर्थः । ननु आत्मसाक्षात्कारे पुनश्चित्तस्थितिः किमर्थमपेक्ष्यत इति चेत् । असंप्रज्ञातहेतुपरवैराग्योपादनायेत्यवेहि । तथा साक्षात्काराभ्यासं विना मिथ्याज्ञानवासनानुन्मूलनेन तदुन्मूलनार्थं परमात्मनि चित्तसमाधानार्थं चेति ॥ ३६ ॥

---

(१) सुखमयसत्त्वाभ्यासेति पाठान्तरम् ।

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

उपायान्तरमाह—**विशोका वा ज्योतिष्मती** । विगतशोका प्रकाशरूपा च प्रवृत्तिर्मनसः स्थैर्यहेतुरित्यर्थः । सा चान्तःकरणस्य पुरुषस्य वा योगजसाक्षात्काररूपा वृत्तिः तयोश्च विधूतरजस्तमोमलतया सत्त्वमयत्वेन सुखमयत्वाद्विशोकत्वम् । प्रकाशमयत्वाज्ज्योतिष्मतीत्वम् । सा च चाञ्चल्यहेतुशोकनाशकत्वाच्चित्तस्थैर्यकरा । नन्वात्मसाक्षात्कारे पुनश्चित्तस्थितेः क उपयोग इति चेत् । असम्प्रज्ञातहेतुपरवैराग्यायेति गृहाण । तथा साक्षात्काराभ्यासं विना मिथ्याज्ञानवासनानुन्मूलनेन तदुन्मूलनार्थं परमात्मनि चित्तसमाधानार्थं च ॥ ३६ ॥

मणिप्रभा ।

विशोकेति । अष्टदलं हृत्पद्मं रेचकेनोर्ध्वमुखं ध्यात्वा तत्कर्णिकास्थायाम् ऊर्ध्वमुख्यां सुषुम्नाऽऽख्यनाड्यां संयमनान्मनसः संविद्भवति । तन्मनः सूर्येन्दुग्रहमणीनां या या प्रभा तद्रूपेणानेकधा भवति तत्सात्त्विकं ज्योतिर्मनः । तस्य कारणं सात्त्विकोऽहङ्कारो निस्तरङ्गमहोदधिकल्पो व्यापी । तस्यापि ज्योतिःस्वरूपस्य संयमात्संविद्भवति । सैषा द्विविधा संविद् । ज्योतिष्मती मनोऽहङ्काराख्या ज्योतिर्विषया, विशोका दुःखशून्या, प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिहेतुरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

चन्द्रिका ।

विशोकेति । ज्योतिःशब्देन सात्त्विकः प्रकाश उच्यते, सोऽतिशयवान् यस्यां सा ज्योतिष्मती प्रवृत्तिरुत्पन्ना विशोका विगतशोका सुखमयसत्त्वाभ्यासबलाच्चेतःस्थितिकर्त्री ॥ ३६ ॥

योगसुधाकरः ।

विशोका वेति । अष्टदलहृदम्बुजं रेचकेनोर्ध्वमुखं नीत्वा तत्कर्णिकास्थायां सुषुम्नाख्यायां नाड्यां सौरचान्द्रमसवैद्युतादिप्रभाभिभस्य चित्तसत्त्वस्य ध्यानात्तज्ज्योतिर्गोचरा संविज्ज्योतिष्मती विशोका शोकशून्या प्रवृत्तिरुत्पन्ना सती मनसः स्थितिं सम्पादय ततस्तन्मनं एकाग्रतां लभत इत्यर्थः ॥३६॥

भोजवृत्तिः ।

उपायान्तरप्रदर्शनद्वारेण संप्रज्ञातसमाधेर्विषयं दर्शयति—

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

मनसः स्थितिनिबन्धनं भवतीति शेषः । वीतरागः परित्यक्तविषयाभिलाषस्तस्य यच्चित्तं परिहृतक्लेशं तदालम्बनीकृतं चेतसः स्थितिहेतुर्भवति ॥ ३७ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

स्थितिनिबन्धनान्तरमाह—**वीतरागेति** । वीतरागं यत्सनकादिचित्तं तद्विषयकं वा योगिचित्तं दृढस्थितये भवतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

उपायान्तरमाह—**वीतरागविषयं वा चित्तम्** । वीतरागं सनकादिचित्तं तद्विषयध्यानात् ध्यातृचित्तमपि तद्वत् स्थिरस्वभावं भवति । यथा कामुकचिन्तया चित्तं कामुकं भवतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

मणिप्रभा

वीतेति । व्यासशुकादीनां वीतरागं यच्चित्तं तद्विषयं तत्र धाव्यमानं योगिनश्चित्तं स्थितिपद लभत इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

चन्द्रिका ।

वीतेति । परित्यक्तविषयाभिलाषं चित्तं मनसः स्थितिनिबन्धनं भवतीति ॥ ३७ ॥

योगसुधाकरः ।

वीतेति । शुकादीनां यद्वीतरागं चित्तम्, तस्य ध्यानाद्योगिनश्चित्तं नीरागं सदेकाग्रतां लभत इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

भोजवृत्तिः ।

एवंविधमुपायान्तरमाह—

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

प्रत्यस्तमितबाह्येन्द्रियवृत्तेर्मनोमात्रेणैव यत्र भोक्तृत्वमात्मनः स स्वप्नः । निद्रा पूर्वोक्तलक्षणा । तदालम्बनं स्वप्नालम्बनं निद्रालम्बनं वा ज्ञानमालम्ब्यमानं चेतसः स्थितिं करोति ॥ ३८ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

स्थितिनिबन्धनान्तरमाह—स्वप्नेति । स्वप्नरूपं ज्ञानं स्वप्नज्ञानं पूर्वोक्तनिद्रारूपं च ज्ञानमेतयोरन्यतरस्य चिन्तकं वा चित्तं स्थितिनिबन्धनं भवति प्रपञ्चज्ञाने स्वप्नदृष्ट्या, संसारेषु सुषुप्तदृष्ट्या च चित्तस्य दृढस्थितिर्भवतीत्यर्थः । तथा चोक्तम्—

दीर्घस्वप्नमिमं विद्धि दीर्घं वा चित्तविभ्रमम् ।
दीर्घं वापि मनोराज्यं संसारं रघुनन्दन ! ॥ इत्यादि —
ब्रह्माद्यं स्थावरान्तं च प्रसुप्तं यस्य मायया ।
तस्य विष्णोः प्रसादेन यदि कश्चित्प्रमुच्यते ॥
चराचरं लय इव प्रसुप्तमिह पश्यताम् ।
किं मृषाव्यवहारेषु न विरक्तं भवेन्मनः ॥ इत्यादि चेति ॥ ३८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

उपायान्तरमाह—स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा । यदा जाग्रज्ज्ञाने स्वप्नज्ञानदृष्टिः क्रियते भङ्गुरविषयकत्वात्तदा ततो विरक्तं चित्तं स्थिरं भवति । तथा जाग्रत्पुरुषज्ञानेषु सुषुप्तिज्ञानदृष्टिः क्रियते स्वरूपावरणसाम्यात्तदा तद्विरक्तं चित्तं स्थिरं भवतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

मणिप्रभा ।

स्वप्नेति । ज्ञानशब्दो ज्ञेयपरः । स्वप्ने भगवतो मूर्तिमत्यन्तमनोहरामाराधयन्नेव प्रबुद्धः तत्रैव चित्तं धारयेत् । निद्रायां सुषुप्तौ यत्सुखं जायते तत्र धारयेत् । एवं स्वप्ननिद्राज्ञेयालम्बनं चित्तं स्थितिं लभते ॥ ३८ ॥

चन्द्रिका ।

स्वप्नेति । प्रत्यस्तमितबाह्यवृत्तेर्मनोमात्रेणैव यत्र भोक्तृत्वमात्मनः स स्वप्नः । निद्रा तदालम्बनं ज्ञानं चेतसः स्थितिहेतुः ॥ ३८ ॥

योगसुधाकरः ।

स्वप्नेति । स्वप्ने शार्ङ्गीयं यन्मनोहरं वस्तु दृष्टं सुषुप्तौ यत्सुखं ज्ञायते, तत्र ध्यानाज्ज्ञेयालम्बनं चित्तं निश्चलं सदेकाग्रता लभते इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

भोजवृत्तिः ।

नानारुचित्वात्प्राणिनां यस्मिन् कस्मिंश्चिद्वस्तुनि योगिनः श्रद्धा भवति तस्य ध्यानेनापीष्टसिद्धिरिति प्रतिपादयितुमाह—

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

यथाभिमतवस्तुनि बाह्ये चन्द्रादावाभ्यन्तरे नाडीचक्रादौ वा भाव्यमाने चेतः स्थिरीभवति ॥ ३९ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

यथाभिमतेति । किं बहुना यदेवाभिमतं हृदि हरिहरमूर्त्यादिकं तदेवादौ ध्यायेत् । तस्मादपि ध्यानान्नियतास्थातिकं भवतीत्यर्थः । प्रसादमारभ्यैतानि स्थितिनिबन्धनानि चित्तसंस्काररूपत्वाच्छास्त्रे परिकर्मशब्देन परिभाषितानि 'परिकर्म प्रसाधनम्' इति कोशादिति ॥ ३९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

उपायान्तरमाह—**यथाभिमतध्यानाद्वा**। यदेवाभिमतं हरिहरमूर्त्यादि तदेव ध्यायेत्। तत्र लब्धस्थितिपदमन्यत्रापि स्थिरं भवतीत्यर्थः। मत्रादमारभ्यैतदन्तानां परिकर्मसंज्ञा शास्त्रे। एषामनुष्ठाने ऐच्छिको विकल्पः॥ ३९॥

मणिप्रभा।

यथेति। किं बहुना यदेवेष्टं शिवरामकृष्णादिरूपं तदेव ध्यायेत्। तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिं लभते। अभिमतमनतिक्रम्य यथाऽभिमतं तस्य ध्यानादिति विग्रहः॥ ३९॥

चन्द्रिका।

यथेति। यथाभिमते वस्तुनि बाह्ये आभ्यन्तरे नाडीचक्रादौ वा भाव्यमाने चेतसः स्थितिर्हेतुर्भवति॥ ३९॥

योगसुधाकरः।

यथेति—किं बहुना? यथेष्टं यद्यच्छास्त्रार्थं दैवं रूपम्, तद्ध्यानाच्चित्तमचञ्चलं सदेकाग्रतां लभत इत्यर्थः॥३९॥

भोजवृत्तिः।

एवमुपायान्प्रदर्श्य फलदर्शनायाऽऽह—

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः॥ ४०॥

एभिरुपायैश्चित्तस्य स्थैर्यं भावयतो योगिनः सूक्ष्मविषयभावनाद्वारेण परमाण्वन्तो वशीकारोऽप्रतिघातरूपो जायते, न क्वचित्परमाणुपर्यन्ते सूक्ष्मे विषयेऽस्य मनः प्रतिहन्यत इत्यर्थः। एवं स्थूलमाकाशादिपरममहत्पर्यन्तं भावयतो न क्वचिच्चेतसः प्रतिघात उत्पद्यते—,सर्वत्र स्वातन्त्र्यं भवतीत्यर्थः॥ ४०॥

भावागणेशवृत्तिः।

परिकर्मनिष्पत्तेः फलरूपं लक्षणमाह—**परमाण्विति**।

अस्य परिकर्मितस्य चेतसः परमाणुमारभ्य परममहत्पर्यन्तेष्वर्थेषु वशीकारो धारणायामप्रतिघातः क्वाप्यप्रतिबन्धो (विधीयते इति यावत्।) भवतीति शेषः। परमं महत्त्वमेषामिति परममहत्त्वाः पुरुषाः। तदेवमभ्यासवैराग्यादिकं परिकर्मान्तं योगस्यान्तरङ्गसाधनमुक्तम्। योगद्वितयं चावान्तरभेदैरुक्तम्॥४०॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

चित्तस्थैर्यमनकपरिकर्मनिष्पत्तेः फलमाह—परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः। तत्सञ्ज्ञकमस्य वैराग्यमित्यर्थः। तदुक्तं न पुनः परिकर्माभ्यासमपेक्षते। तदेवमभ्यासवैराग्यादिकं परिकर्मान्तयोगस्यान्तरङ्गसाधनमुक्तम्। योगद्वयं चावान्तरभेदैरुक्तम्॥ ४०॥

मणिप्रभा।

ननु चित्तस्थितिर्जायत इत्यत्र किं ज्ञापकमित्यत्राह—**परमाण्विति**। अस्य चित्तस्य सूक्ष्मे निविशमानस्य यः परमाण्वन्तो वशीकारः अप्रतिघातः। तथा स्थूले निविशमानस्य परममहत्त्वाकाशान्तोऽप्रतिघातः। तेन परेण वशीकारेण चित्तं लब्धस्थितिकमिति ज्ञात्वा स्थित्युपायानुष्ठानादुपरमतीत्यर्थः॥ ४०॥

चन्द्रिका।

परमाण्विति। एभिश्चित्तस्थैर्यं भावयतो योगिनः सूक्ष्मभावनद्वारेण परमाण्वन्तो वशीकारः परमाणुपर्यन्ते सूक्ष्मे आकाशादिस्थूले चेतसोऽप्रतिघातो भवति॥ ४०॥

योगसुधाकरः ।

नन्वेतैरुपायैरेकाग्रतालाभे किं ज्ञापकमित्यत्राह—परमाण्विति । अस्यैकाग्रतामापन्नस्य चित्तस्य सूक्ष्मे स्थूले वा वस्तुनि निविशमानस्य परमाण्वन्तः परममहत्त्वान्तो वशीकारोऽप्रतिघातो भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

भोजवृत्तिः ।

एवमेभिरुपायैः संस्कृतस्य(१) चेतसः कीदृग्रूपं भवतीति (अतः) आह—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

क्षीणा वृत्तयो यस्य तत्क्षीणवृत्ति तस्य ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु आत्मेन्द्रियविषयेषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिर्भवति । तत्स्थत्वं तत्रैकाग्रता, तदञ्जनता तन्मयत्वं, क्षीणभूते(२) चित्ते विषयस्य भाव्यमानस्यैवोत्कर्षः, तथाविधा समापत्तिः, तद्रूपः परिणामो भवतीत्यर्थः । दृष्टान्तमाह—अभिजातस्येव मणेः। यथाऽभिजातस्य निर्मलस्य स्फटिकमणेस्तत्तदुपाधिवशात्तत्तद्रूपापत्तिरेवं निर्मलस्य चित्तस्य तत्तद्भावनीयवस्तूपरागात्तत्तद्रूपापत्तिः । यद्यपि ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु इत्युक्तं तथाऽपि भूमिकाक्रमवशाद् ग्राह्यग्रहणग्रहीतृषु इति बोध्यम् । यतः प्रथमं ग्राह्यनिष्ठ एव समाधिस्ततो ग्रहणनिष्ठस्ततोऽस्मितामात्ररूपो ग्रहीतृनिष्ठः, केवलस्य पुरुषस्य ग्रहीतुर्भाव्यत्वासम्भवात् । ततश्च स्थूलसूक्ष्मग्राह्योपरक्तं चित्तं तत्र समापन्नं भवति । एवं ग्रहणे ग्रहीतरि च समापन्नं तद्रूपपरिणामत्वं(३) बोद्धव्यम् ॥ ४१ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

इतः परं योगयोर्मुख्यफलं पादसमाप्तिपर्यन्तं वक्तव्यम् । तत्रादौ संप्रज्ञातस्य फलमुच्यते सूत्रैः—

क्षीणवृत्तेरिति । क्षीणवृत्तेर्निरुद्धध्येयातिरिक्तवृत्तेर्निष्पन्नसंप्रज्ञातयोगस्येति यावत् । एतच्च हेतुगर्भविशेषणम् । समापत्तिरिति च साक्षात्कारपरिभाषा । तथाच यतश्चित्तं स्वत एव सर्वार्थग्रहणसमर्थं विषयान्तराभ्यासरूपदोषादेव तत्प्रतिबद्धमतो वृत्त्यन्तरनिरोधरूपे प्रतिबन्धापगमे सति ग्रहीत्रादिषु ध्येयेषु समापत्तिः साक्षात्काररूपवृत्तिः चित्तस्य स्वत एव भवति । सा च तत्स्थतदञ्जनतारूपा तेषु ग्रहीत्रादिषु स्थितस्य चित्तस्याशेषविशेषैः सम्यक्तदाकारतारूपेत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तः—अभिजातस्येव मणेरिति । यथाऽभिजातस्य स्वभावतो निर्मलस्य मणेर्बाह्यमलापगमे सन्निकृष्टवस्त्वाकारता तद्वदित्यर्थः । अत्र ग्रहीता पुरुषसामान्यम् । ग्रहणं च गृह्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या करणसामान्यं त्रयोदशविधम् । ग्राह्यं च स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतररूपेण त्रिविधम् । पञ्चभूतपञ्चतन्मात्रप्रकृतिरूपम् । अतो ग्रहीत्रादित्रैविध्येन योगस्य विषयः सर्ववस्तु संगृहीतमिति सामान्यतः समापत्तिरुक्ता । तत्र ग्रहीतृसमापत्तौ स्थूलसूक्ष्मविषयकत्वरूपविशेषाभावात् सा एकविधैव । ग्राह्यग्रहणसमापत्त्योस्तु विशेषसत्त्वात्तयोर्विशेषो त्रिभिः सूत्रैर्वक्ष्यते । स्थूलं कार्यं सूक्ष्मं च तत्कारणम् । अतः स्थूलं तन्मात्रकार्याणि भूतानि अहङ्कारकार्याणीन्द्रियाणि । प्रकृतिपर्यन्तं चान्यत्सर्वं सूक्ष्मम् । तद्विषये च स्थूलसूक्ष्मसमापत्ती प्रत्येकं वक्ष्यमाणरीत्या हि द्विविधे भवतः ॥ ४१ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अथ सम्प्रज्ञातफलमाह—क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः । क्षीणवृत्तेर्निरुद्धध्येयातिरिक्तवृत्तेः निष्पन्नसम्प्रज्ञातयोगस्येति यावत् । हेतुगर्भं चैतत् । समापत्तिरिति साक्षात्कारसञ्ज्ञा । स्वत एव सर्वार्थग्रहणसमर्थस्य चित्तस्य विषयान्तराभ्यासरूपदोषरूपतत्तद्ग्रहणे प्रतिबन्धकवृत्त्यन्तरनिरोधेन तदपगमे सति ग्रहीत्रादिषु ध्येयेषु समापत्तिः साक्षात्काररूपा वृत्तिः स्वत एव भवति । सा च तत्स्थतदञ्जनतारूपा तेषु ग्रहीत्रादिषु स्थितस्य चित्तस्याशेषविशेषैः

(१) संस्कृतस्येति पाठान्तरम् । (२) म्यग्भूते इतिपाठः ।
(३) समापन्नमिति पाठान्तरम् ।

सम्यक्तदाकारतारूपेत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तोऽभिजातस्य मणेरिति । यथाभिजातस्य स्वभावतो निर्मलस्य स्फटिकादेः बाह्यमलापकर्षे सान्निकृष्टवस्त्वाकारता तद्वत् । अत्र ग्रहीता पुरुषसामान्यम् । ग्रहणं त्रयोदशविधं करणम् । ग्राह्यं च स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतररूपेण त्रिविधं पञ्चमहाभूतपञ्चतन्मात्रप्रकृतिरूपम् । अनेन योगविषयः सर्वोऽपि संगृहीतः । तत्र ग्रहीतृसमापत्तौ स्थूलसूक्ष्मविषयकत्वरूपविशेषाभावः सा एकविधैवास्मितारूपा । ग्राह्यग्रहणसमापत्ती तु स्थूलसूक्ष्मविषयत्वात्सविशेषे । तत्र स्थूलं तन्मात्रकार्याणि भूतानि अहङ्कारकार्याणि च । तदितरत्प्रकृतिपर्यन्तं सूक्ष्मम् ॥ ४१ ॥

मणिप्रभा ।

एवं चित्तस्थितेरुपाया उक्ताः । ज्ञापकश्च वशीकार उक्तः । सम्प्रति लब्धस्थितिकस्य चित्तस्य किं विषयः किंरूपश्च सम्प्रज्ञातो योगो भवत्यत उत्तरं पठति—क्षीणवृत्तेरिति । यथाऽभिजातस्य कुलीनस्यातिस्वच्छस्य स्फटिकमणेर्जपाकुसुमाद्युपरक्तस्य स्वरूपाभिभवेन रक्ताद्याकारता भवति तथाऽभ्यासवैराग्याभ्यां क्षीणरजस्तमोवृत्तिकस्य चित्तमणः स्थूलसूक्ष्मभूतात्मकग्राह्येण ग्रहणैरिन्द्रियैर्गृहीत्रा पूर्वोक्तास्मिताऽऽख्यपुरुषेण चोपरक्तस्य स्वरूपाभिभवेन या ग्राह्याकारताऽऽपत्तिः स सम्प्रज्ञातः पूर्वोक्तवितर्कविचारानन्दास्मिताऽनुगमाच्चतुर्विधश्चतुर्विषयकः प्रत्येतव्यः । अत्र सूत्रेऽर्थक्रमबलात्पाठक्रमं भङ्क्त्वा ग्राह्यग्रहणगृहीतृषु तदुपरक्तस्य चित्तस्य तदञ्जनतः स्वरूपपरित्यागेन तद्रूपता तस्याः सम्यगापत्तिरिति व्याख्येयम् । स्थूलसूक्ष्मक्रमेणैव चित्तस्य गृहीत्रपरागात् । तत्स्थेति भिन्नं पदम् । अविभक्तिकं स्यान्तं कृत्वा क्षीणवृत्तेः तत्स्थस्येति योज्यम् । यद्वा तत्स्थं च तदञ्जनं च तस्य भावस्तत्ता क्षीणवृत्तेस्तया समापत्तिरित्यर्थः ॥ ४१ ॥

चान्द्रिका ।

क्षीणवृत्तेरिति । क्षीणा वृत्तयो यस्य तस्य चेतसः स्फटिकमणारिव ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थं तदेकाग्रता तदञ्जनता तन्मयत्वं तद्रूपपरिणामो भवतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थमेकाग्रतोपायान्सावान्तरफलानुक्त्वा तत्समस्तैकाग्रताभिवृद्धिलक्षणस्य सबीजसमाधेः सविषयं स्वरूपमाह—क्षीणवृत्तेरिति ।

अभिजातस्यात्यवदातस्य स्फटिकमणेर्यथा जपाकुसुमोपरागात् स्वरूपाभिभवेन रक्ताकारता भवति एवं क्षीणवृत्तेर्विधूतरजस्तमोवृत्तिकस्य चित्तस्य भूतेन्द्रियतन्मात्रान्तःकरणरजस्तमोलेशानुविद्धाहङ्कारविधूतरजस्तमोमलशुद्धसत्त्वात्मकमहत्तत्त्वेषु ग्राह्यग्रहणग्रहीतृषु तत्स्थस्य तदुपरक्तस्य तदञ्जनता स्वरूपपरित्यागेन तत्तद्रूपता तस्य सम्यगापत्तिः सम्प्रज्ञातसमापत्तिरित्यर्थः ॥ ४२ ॥

भोजवृत्तिः ।

इदानीमुक्ताया एव समापत्तेश्चातुर्विध्यमाह—

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥४२॥

श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यः स्फोटरूपो वा शब्दः । अर्थो जात्यादिः । ज्ञानं सत्त्वप्रधाना बुद्धिवृत्तिः । विकल्प उक्तलक्षणः । तैः संकीर्णा यस्यामेते शब्दादयः परस्पराध्यासेन प्रतिभासन्ते गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्यनेनाऽऽकारेण सा सवितर्का समापत्तिरुच्यते ॥ ४ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

तासु चतसृषु समापत्तिषु मध्ये स्थूलसमापत्तेः सवितर्कनिर्वितर्काख्यौ विशेषौ क्रमेण दर्शयत्याद्यसूत्रद्वयेन—तत्रेति ।

तृतीयसूत्रे सूक्ष्मसमापत्तेर्वक्ष्यमाणतया आद्यसूत्रयोः स्थूलविषयत्वं परिशेषाल्लभ्यते । तत्र समा-

पत्तिसामान्ये गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्यादिरूपैः शब्दार्थज्ञानानां ये विकल्पा अभेदभ्रमाः, तद्युक्ता गवादिस्थूलसमापत्तिः विपरीततर्कयोगात्सवितर्कसंज्ञेत्यर्थः । अत एव तत्कालीनयोग एव सविकल्प इत्यप्युच्यते । विकल्पसंकल्पसंकीर्णत्वात् । एतद्विकल्पशून्य एव च निर्विकल्पकयोग इति । एतेन यदाधुनिका आहुः—यत्किंचिद्धर्मपुरस्कारेणैव प्रवर्तमानो योगः सविकल्पकः, निर्धर्मकश्च निर्विकल्पक इति—तदप्रामाणिकत्वादुपेक्षणीयम् । अत्र च शब्दाद्यभेदविकल्प आरोपसामान्योपलक्षकम् । एवमुत्तरसूत्रेऽपि ॥ ४२ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तत्र स्थूलसमापत्तेः सवितर्कनिर्वितर्काख्यौ विशेषावाह—**तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः** । सूक्ष्मविषयायास्तृतीयसूत्रे वक्ष्यमाणतयाऽत्र सूत्रे स्थूलविषयाग्रहणम् । तत्र गौरितिशब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्यविभागरूपा ये शब्दार्थज्ञानविकल्पा अभेदभ्रमास्तद्युक्ता गवादिस्थूलसमापत्तिर्विपरीततर्कणयोगात्सवितर्कसंज्ञेत्यर्थः । अतएव स योगः सविकल्प इत्युच्यते । लोकेऽपीदृशं ज्ञानं सविकल्पकमुच्यते । एतद्विकल्पशून्यश्च निर्विकल्पकयोग इति । वस्तुत उदात्तत्वादिधर्मैः शब्दस्य जडत्वमूर्तत्वादिभिरर्थस्य प्रकाशमूर्तिविरहादिभिर्ज्ञानस्य परस्परस्माद्भेद एव । शब्दाद्यभेदविकल्प आरोपसामान्योपलक्षकः ॥ ४२ ॥

मणिप्रभा ।

सेयं संप्रज्ञाताख्या समापत्तिः पुनरवान्तरभेदाच्चतुर्धा भवति । सवितर्का निर्वितर्का सविचारा निर्विचारा चेति । तत्र सवितर्कायाः स्वरूपमाह—तत्रेति ।

तत्र तासु समापत्तिषु मध्ये सवितर्का समापत्तिरेषा ज्ञेया । तथा हि गौरित्युक्ते शब्दार्थज्ञानानि त्रीण्यभिन्नानि भासन्ते । तत्र गौरिति शब्द इत्येको विकल्पः, अयं हि गौरित्युपात्तयोरर्थज्ञानयोः शब्दाभेदविषयकः । तथा गौरित्यर्थ इत्येको विकल्पः, तत्र गौरित्युपात्तयोः शब्दज्ञानयोरर्थाभेदविषयकः । एवं गौरिति ज्ञानमित्येको विकल्पः, अयं तु गौरित्युपात्तयोः शब्दार्थयोर्ज्ञानाभेदगोचरः । त एते विकल्पाः, असदभेदगोचरत्वात् । एवं घटः पट इत्यादयो विकल्पा ज्ञेयाः । तत्र शब्दज्ञानाभ्यामभेदेन विकल्पिते स्थूले गवाद्यर्थे समाहितचित्तस्य योगिनः समाधिजन्यसाक्षात्कारो यथा कल्पितार्थमेव गृह्णाति तथा सा समाधिप्रज्ञा शब्दार्थज्ञानानां विकल्पैः संकीर्णा तैस्तुल्या भवति विकल्पत्वाविशेषात् सा सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिरित्यर्थः ॥ ४२ ॥

चन्द्रिका ।

शब्दार्थेति । शब्दः, अर्थो जात्यादिः, ज्ञानं बुद्धिवृत्तिः, विकल्पः एते यस्यां भासन्ते सा सवितर्का ॥ ४२ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थं सामान्यतः संप्रज्ञातसमापत्तिमुक्त्वा अधुना वितर्कविचाररूपग्राह्यसमापत्तेः सवितर्कनिर्वितर्कसविचारनिर्विचारभेदेन चातुर्विध्यमाह त्रिभिः ।

गौरिति शब्दः गौरित्यर्थः गौरिति ज्ञानम्, तेषां परस्परतादात्म्यगोचरा ये विकल्पास्तैः संकीर्णा तत्तुल्या सवितर्का समापत्तिः, तस्या विकल्पत्वाविशेषादित्यर्थः ॥ ४२ ॥

भोजवृत्तिः ।

उक्तलक्षणविपरीतां निर्वितर्कामाह—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

शब्दार्थस्मृतिप्रविलये सति प्रत्युदितस्पष्टग्राह्याकारप्रतिभासितया न्यग्भूतज्ञानांशत्वेन स्वरूपशून्येव निर्वितर्का समापत्तिः ॥ ४३ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

स्मृतीति । पूर्वसूत्रे यो विकल्प उक्तस्तत्र शब्दसङ्केतस्मृतिरेव बीजम् । श्रवणमनननिदिध्यासनैर्हि

समापत्तिर्जायते । तत्र श्रवणं संकेतस्मरणकार्यम् । सङ्केतश्च शब्दार्थयोर्विकाल्पताभेदमात्र इत्यतः सङ्केतस्मृतिजन्ये शाब्दबोधेऽपि तयोरभेद उपनीतत्वाद्भासते । ततश्च श्रवणकार्ये मनने निदिध्यासने प्राथमिकसाक्षात्कारे च भासते, उपनयसाम्यात् । यदा तु ध्येयाविशवशात्तस्या विकल्परूपायाः सङ्केतस्मृतेः परिशुद्धिरपगमो भवति समापत्तिश्च स्वरूपशून्येव जायमाना भवति, तदा शब्दज्ञानयोरस्फुरणेनाभेदारोपासम्भवात् अर्थमात्रनिर्भासा ध्येयार्थमात्रावगाहिनी विकल्पशून्या स्थूलसमापत्तिर्निर्वितर्कसंज्ञेत्यर्थः । इयं समापत्तिः परं प्रत्यक्षमुच्यते अविद्यालेशेनाप्यसंपर्कात् । पूर्वसूत्रोक्ता च समापत्तिरपरं प्रत्यक्षमविद्यालेशत्वादिति ॥ ४३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

स्थूलसमापत्तेर्द्वितीयं भेदमाह—स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का । पूर्वसूत्रोक्तविकल्पे संकेतग्राह्यशक्तिस्मृतिरेव बीजम् । श्रवणमनननिदिध्यासनैर्हि समापत्तिर्जायते । तत्र श्रवणं शक्तिस्मृतिकार्यं शक्तिश्च शब्दार्थयोर्वृत्त्येश्वरकल्पिताभेदकल्पिताभेदाध्यवसायरूपसंकेतग्राह्योऽभेद एवेति तज्जन्ये शाब्दबोधेऽपि तयोरभेद उपनीतत्वाद्भासते । ततः श्रवणकार्ये मनने निदिध्यासनरूपे प्रथमसाक्षात्कारे च भासते, उपनयसाम्यात् । यदा ध्येयाविशवशाच्छक्तिस्मृतेः परिशुद्धिरपगमो भवति तज्जन्यश्रुतानुमितसाक्षात्काराणामपि विकल्परूपाणां परिशुद्धिरपगमः तदा समापत्तिः स्वरूपशून्येव भवति, शब्दज्ञानास्फुरणेनाभेदारोपासंभवात् । तदा स्वरूपमात्रनिर्भासाऽविकाल्पितरूपा परिच्छिन्ना ध्येयार्थमात्रावगाहिनी स्थूलसमापत्तिर्निर्वितर्कसंज्ञेत्यर्थः । इयं समापत्तिः परं प्रत्यक्षमुच्यते, अविद्यालेशेनाप्यसंपर्कात् । पूर्वा चापरं प्रत्यक्षमविद्यालेशसत्त्वात् । स चार्थः क इत्यत्रोक्तं भाष्ये-महत्त्वसमानाधिकरणैकत्वविषयैकबुद्धिविषयोऽणुप्रचयविशेषरूपावयवी घटादिरूपः । अणुशब्देन तन्मात्राणि परमाणवश्च तत्र च रूपरसादिपरमाणूनां नैरन्तर्येण संकलिततयावस्थानम् । स च तेभ्यो नात्यन्तभिन्नः गवाश्ववद्धर्मधर्मिभावानुपपत्तेः, नात्यन्तमभिन्नः धर्मिवदेव तदनुपपत्तेः, तस्मात्ततो भिन्नोऽभिन्नश्च । स च तदनुभवतद्व्यवहाराभ्यां विप्रतिपन्नं प्रत्यनुमेयः । कारणाभेदादेव तदाकारः धर्मान्तरस्य कपालादेरुदये च तिरोभवन्नष्ट इति व्यवह्रियमाणः अणुसाध्यक्रियाभिन्नतदसाध्यमधूदकादिसाधारणलक्षणाक्रियावान् स्पर्शवान् महत्त्ववान् एकत्ववान् किञ्चिदपेक्षयाणुत्वांश्चेति ॥ ४३ ॥

मणिप्रभा ।

निर्वितर्कामाह—स्मृतीति ।

गवादिशब्दानां शक्तिरूपः सङ्केतो विकल्पितार्थेष्वेव लोके गृह्यते तस्य स्मृत्या शाब्दज्ञानं परार्थानुमितिश्च विकल्प एव जायते । तथा च श्रुते वाऽनुमिते वाऽर्थे श्रुत्यनुमितिरूपविकल्पमूला समापत्तिः सवितर्का भवति स्मृतिपरिशुद्धौ सत्याम् अर्थमात्रतात्पर्यवता चित्तेनार्थमात्राध्यासात्सङ्केतस्मृतेस्त्यागे सति तत्कार्यस्य विकल्पस्य त्यागात्समाधिप्रज्ञा स्वीयं ग्राहकत्वं प्रज्ञारूपं यत्तेन शून्येव भूत्वाऽर्थमात्रनिर्भासादविकाल्पितार्थरूपं यद्ग्राह्यं तत्स्वरूपेणैव निर्भास्यमाना निर्वितर्का समापत्तिरित्यर्थः । तत्र सवितर्कसाक्षात्कारो यस्तदपरं प्रत्यक्षं विकल्पत्वात् । निर्वितर्कप्रत्यक्षं तु परं सत्यार्थविषयत्वात् । स च सत्यार्थो गोघटादिरवयवी ज्ञेयः । अत्र परमाणुपुञ्जातिरिक्तोऽवयवी नास्तीति बौद्धमतमाशङ्क्य महानेको घट इत्यबाधितानुभवादस्ति, स चास्माकं मते भूतसूक्ष्मरूपाणां परमाणूनां परिणामः । तस्य च स्वोपादानेन भेदाभेदात्मकं तादात्म्यमिति भाष्ये साधितम् ॥ ४३ ॥

चन्द्रिका ।

स्मृतीति । शब्दार्थस्मृतिप्रविलये स्पष्टग्राह्याकारप्रतिभासतया स्वरूपशून्या इव निर्वितर्का समापत्तिः ॥ ४३ ॥

योगसुधाकरः ।

स्मृतीति । शब्दज्ञानाभ्यां विकल्पिते पदार्थे शब्दसंकेतो गृह्यते, तस्य स्मृत्या शाब्दबोधो विकल्प

एव जायते । अतः संकेतस्मृतेः परिशुद्धौ प्रलये सति तत्कार्यस्य विकल्पस्य प्रलयात्समाधिभावना स्वीयभावनात्वशून्येव भूत्वा अविकल्पितार्थमात्रेणैव निर्भास्यमाना निर्वितर्का समापत्तिरित्यर्थः ॥ ४३ ॥

भोजवृत्तिः ।

भेदान्तरं प्रतिपादयितुमाह —

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥

एतयैव सवितर्कया निर्वितर्कया च समापत्त्या सविचारा निर्विचारा च व्याख्याता । कीदृशी ? सूक्ष्मविषया सूक्ष्मस्तन्मात्रेन्द्रियादिर्विषयो यस्याः सा तथोक्ता । एतेन पूर्वस्याः स्थूलविषयत्वं प्रतिपादितं भवति । सा हि (१)महाभूतेन्द्रियालम्बना । शब्दार्थविषयत्वेन शब्दार्थविकल्पसहितत्वेन देशकालधर्मावच्छिन्नः सूक्ष्मोऽर्थः प्रतिभाति यस्यां सा सविचारा । देशकालधर्मादिरहितो धर्मिमात्रतया सूक्ष्मोऽर्थस्तन्मात्रेन्द्रियरूपः प्रतिभाति यस्यां सा निर्विचारा ॥ ४४ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

स्थूलविषये समापत्तिद्वैविध्यं प्रदर्श्य सूक्ष्मेऽपि विषये तस्य द्वैविध्यमतिदिशति—**एतयैवेति** ।

एतयैव सवितर्कनिर्वितर्करूपया स्थूलविषयकसमापत्त्या सूक्ष्मविषयापि सविचारनिर्विचाररूपा समापत्तिद्वयी व्याख्याता । अन्योपरागानुपरागसाम्येनेत्यर्थः । अत्र हि विकल्पतच्छून्यत्वयोर्नातिदेशः । स्थूलविषयिण्यां निर्वितर्काख्यपूर्वभूमिकायां त्यक्तस्य यथोक्तविकल्पस्य सूक्ष्मविषयिण्यामुत्तरभूमिकायामसंभवादिति । तत्र स्थूलरूपं तत्कार्यं तदुपरागेण सूक्ष्मे समापत्तिः सविचारा कार्यकारणविचारघटितत्वात् । तदुत्तरोत्पद्यमाना च केवलसूक्ष्मविषयिणी निर्विचारेति विभागः ॥ ४४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

उक्तं द्वैविध्यं सूक्ष्मविषयसमापत्तावतिदिशति—**एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता** । एतयैव सवितर्कनिर्वितर्करूपया स्थूलविषयसमापत्त्या सूक्ष्मविषयापि सविचारनिर्विचाररूपा समापत्तिद्वयी व्याख्याता । अन्योपरागानुपरागसाम्येनेत्यर्थः । अत्र विकल्पतच्छून्यत्वयोर्नातिदेशः स्थूलविषयायां निर्वितर्काख्यपूर्वभूमिकायां त्यक्तस्य विकल्पस्य सूक्ष्मविषयोत्तरभूमिकायामसंभवादिति । तदुक्तं भाष्ये 'एवमुभयोरेतयोर्नि(२)र्वितर्कया विकल्पहानिर्व्याख्याता' इति । तत्र स्थूलरूपं यत्कार्यं तदुपरागेण सूक्ष्मे समापत्तिः सविचारा, कार्यकारणविचारघटितत्वात् । तस्यां हि स्थूलकार्यघटादिवैशिष्ट्यं तत्र चाणूनामुपर्यधोदेशावच्छिन्नत्वम् । पार्थिवपरमाणौ गन्धतन्मात्रप्रधानपञ्चतन्मात्रानुगमः । आप्ये गन्धतन्मात्रभिन्नरसतन्मात्रप्रधानचतुरनुगमः । तैजसे तद्द्वयरहितरूपतन्मात्रप्रधानत्र्यनुगमः । वायवीये स्पर्शशब्दतन्मात्रानुगमः । नाभसे शब्दतन्मात्रानुगमस्तद्विशिष्टा बुद्धिरुपजायते । एवं च तत्तत्परमाणुस्तत्तन्मात्रप्रचयात्मा तन्मात्रमपि गन्धाद्यणुप्रचयात्मकमिति बोध्यम् । तदुत्तरोत्पद्यमाना च केवलसूक्ष्मविषया निर्विचारेति विभागः । यद्यपि तन्मात्रादिसूक्ष्ममपि सर्वधर्मात्मकं तद्वच्च, तथापि साक्षात्काराभ्यासेनातीतानागतवर्तमानसकलतद्धर्मापगम इति दिक् ॥ ४४ ॥

मणिप्रभा ।

एतयैवेति । स्थूलपरिणामघटादिषु उपादानत्वेनानुगता ये परमाणवः पञ्चतन्मात्राणां विकारा भूतरूपेण संस्थिताः सूक्ष्मास्तेषु विषयेषु स्वीयकार्यकारणदेशकालनानाविशेषणविशिष्टेषु स्ववाचकशब्दज्ञानाभ्यामभेदेन विकल्पितेषु या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते । तेष्वेव सर्वविशेषणशून्यस्वर्थमात्रेषु परमाणुषु या समापत्तिः सा निर्विचारा । सा खलु सत्यार्थमात्रस्वरूपा समाधिप्रज्ञा स्वरूपशून्येव निर्भासते । तया च स्थूलगोचरया सवितर्कया निर्वितर्कया च व्याख्यातया सूक्ष्मविषया सविचारा निर्विचारा च व्याख्याता भवतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

---

(१) महाभूतालम्बनेति पाठान्तरम् । (२) 'एतयैव' इति पाठान्तरम् ।

चन्द्रिका ।

एतयैवेति । एतयैव सवितर्कया निर्वितर्कया सविचारा निर्विचारा च व्याख्याता । सूक्ष्मस्तन्मात्रेन्द्रियादिर्विषयो यस्याः सा । पूर्वा स्थूलविषया ॥ ४४ ॥

योगसुधाकरः ।

उक्तन्यायमन्यत्रातिदिशति—**एतयैवेति** । एतयैव विकल्पितस्थूलाकारया सवितर्कया अविकल्पित स्थूलाकारया निर्वितर्कया च सूक्ष्मविषया स्वशब्दज्ञानाभ्याममभेदेन विकल्पितसूक्ष्मतन्मात्रेन्द्रियगोचरा सविचारा अविकल्पितसूक्ष्मतन्मात्रेन्द्रियगोचरा निर्विचारा च व्याख्याता भवतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

भोजवृत्तिः ।

अस्या एव सूक्ष्मविषयायाः किंपर्यन्तः सूक्ष्मविषय इत्याह—

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

सविचारनिर्विचारयोः समापत्त्योर्यत्सूक्ष्मविषयत्वमुक्तं तदलिङ्गपर्यवसानं—न क्वचिल्लीयते न वा किंचिल्लिङ्गति गमयतीत्यलिङ्गं प्रधानं—तत्पर्यन्तं सूक्ष्मविषयत्वम् । तथा हि—गुणानां परिणामे चत्वारि पर्वाणि विशिष्टलिङ्गमविशिष्टलिङ्गं लिङ्गमात्रमलिङ्गं चेति । विशिष्टलिङ्गं भूतेन्द्रियाणि(१) अविशिष्टलिङ्गं तन्मात्रेन्द्रियाणि, लिङ्गमात्रं बुद्धिः, अलिङ्गं प्रधानमिति । नातः परं सूक्ष्ममस्तीत्युक्तं भवति ॥४५॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु सूक्ष्मो विषयः कियत्पर्यन्त इत्यपेक्षायामाह—**सूक्ष्मेति** ।

सूक्ष्मश्चासौ विषयश्चेति सूक्ष्मविषयः । अलिङ्गाख्यप्रकृतिपर्यन्तम् । न तु पुरुषः सूक्ष्म इत्यर्थः । अतोऽत्र सूक्ष्मत्वं तत्त्वान्तरप्रकृतित्वम् । न च जलादिचतुष्टयेऽतिव्याप्तिः, भूतानामुत्तरोत्तरभूतेष्वाधारकारणमात्रत्वात्, तन्मात्राणामेव भूतोपादानत्वात्, अन्यथाष्टप्रकृतिसिद्धान्तविरोध दिति ॥ ४५ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

सूक्ष्मो विषयः कियत्पर्यन्त इत्याकाङ्क्षायामाह—**सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्** । न क्वापि गच्छतीत्यलिङ्गं प्रधानं तत्पर्यन्तं सूक्ष्मो विषय इत्यर्थः । तत्त्वान्तरप्रकृतित्वमत्र सूक्ष्मत्वं विवक्षितमित्यर्थः । न च जलादिभूतचतुष्टयेऽतिव्याप्तिः, भूतानामुत्तरोत्तरभूतेषु आधारकारणमात्रत्वात्तन्मात्राणामेव भूतोपादानत्वात्, अन्यथाष्टप्रकृतित्वसिद्धान्तविरोधः स्यात् । पुरुषस्तु न परिणामिकारणं किन्त्वधिष्ठानकारणं तेषां संसर्गे निमित्तकारणं चेति न तस्येदृशसौक्ष्म्यमिति भावः ॥ ४५ ॥

मणिप्रभा ।

ननु किमस्याः ग्राह्यसमापत्तेः परमाणुष्वेवावसानं, नेत्याह—**सूक्ष्मेति** ।

अस्याः समापत्तेः सूक्ष्मविषयत्वमलिङ्गे प्रधाने पर्यवस्यति । तथा हि—पार्थिवः परमाणुर्गन्धतन्मात्रादितरतन्मात्राङ्गकाज्जायते । आप्यस्तु गन्धतन्मात्रवर्जितादसतन्मात्रादितरतन्मात्राङ्गकाद् । तैजसस्तु गन्धरसद्वयवर्जितादूपतन्मात्रादितरद्वयाङ्गकाद् । वायव्यस्तु पूर्वहीनात्स्पर्शतन्मात्राच्छब्दतन्मात्राङ्गकात् । नाभसः परमाणुस्त्वेकस्मादेव शब्दतन्मात्राज्जायत इति प्रक्रिया । अतो विकारेभ्यः परमाणुभ्य उपादानानि पञ्च तन्मात्राणि सूक्ष्माणि, तेभ्योऽप्यहङ्कारः सूक्ष्मः, तस्मादपि महान्महतोऽपि प्रधानं, तद्धि लयं न गच्छतीत्यलिङ्गमुच्यते । ततः परं सूक्ष्ममुपादानं नास्ति पुरुषस्य सत्त्वेऽप्यनुपादानत्वाद् । पुरुषो हि भोगापवर्गार्थी सन् पुरुषार्थनिमित्तके सर्गे निमित्तमात्रं भवति । तस्मात्सूक्ष्मग्राह्यसमापत्तिः प्रधानपर्यन्तेति सिद्धम् ॥ ४५ ॥

चन्द्रिका ।

सूक्ष्मेति । सविचारनिर्विचारयोः समापत्त्योर्यत्सूक्ष्मविषयत्वं तदलिङ्गपर्यवसानं न क्वचिल्लीयते न वा किंचिल्लिङ्गति गमयतीत्यलिङ्गं प्रधानं तत्पर्यन्तं सूक्ष्मविषयत्वम् ॥ ४५ ॥

---

(१) भूतानीति पाठान्तरम् ।

योगसुधाकरः।

किं निर्विचारसमापत्तेस्तन्मात्रेष्वेवावसानम् ! नेत्याह —सूक्ष्मेति ।

अस्याः समापत्तेः सूक्ष्मविषयत्वमलिङ्गे प्रधाने पर्यवस्यति । तथा हि-तन्मात्रेभ्योऽहंकारः सूक्ष्मः, तस्मादपि महान् ततोऽपि प्रधानम् । तद्धि न लीयत इत्यालिङ्गमुच्यते । ततः परं न सूक्ष्मा प्रकृतिः समस्ति । पुरुषस्तु न प्रकृतिः सर्गे निमित्तमात्रमिति ध्येयम् ॥ ४५ ॥

भोजवृत्तिः।

एतासां समापत्तीनां प्रकृते प्रयोजनमाह—

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

ता एवोक्तलक्षणाः समापत्तयः, सह बीजेनाऽऽलम्बनेन वर्तते इति सबीजः संप्रज्ञातः समाधिरित्युच्यते, सर्वासां सालम्बनत्वात् ॥ ४६ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

वितर्कविचारे सूत्रेण पूर्वं संप्रज्ञातस्यावान्तरविभाग एव कृतः, नतु संप्रज्ञातसामान्यं लक्षितमतो यथोक्तसमापत्त्याख्यकार्यमुखेन सबीजपरिभाषापूर्वकं संप्रज्ञातसामान्यलक्षणमाह—**ता एवेति** ।

ता एव ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु समापत्तय एव सबीजः समाधिः सम्प्रज्ञातयोग इत्यर्थः । समापत्तिरूपसाक्षात्कारहेतुत्वात् योगस्य समापत्तित्वं कार्यकारणाभेदेनोक्तम् । आनन्दस्य बुद्धिधर्मत्वेनानन्दसमापत्तेर्ग्रहणसमापत्तावेव प्रवेशः । समापत्तीनां दुःखनिवृत्तिबीजसंस्कारहेतुत्वात् तद्धेतोर्वृत्तिनिरोधरूपस्य योगस्यापि सबीजत्वम् । समाधिशब्दश्चाङ्गाङ्गिनोरभेदेन योगे प्रयुक्तः ॥ ४६ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

इदानीं यथोक्तसमापत्त्याख्यकार्यमुखेन सबीजपरिभाषापूर्वकं सम्प्रज्ञातसामान्यलक्षणमाह— **ता एव सबीजः समाधिः** । ता एव ग्राह्यग्रहणग्रहीतृषु समापत्तय एव सबीजः समाधिः सम्प्रज्ञातयोग इत्यर्थः । समापत्तिरूपसाक्षात्कारहेतुत्वात् योगस्य समापत्तित्वं कार्यकारणाभेदात् । आनन्दस्य बुद्धिधर्मत्वेनानन्दसमापत्तेर्ग्रहणसमापत्तावेव प्रवेशः, समापत्तीनां दुःखनिवृत्तिबीजसंस्कारहेतुत्वात् तद्धेतोः वृत्तिनिरोधरूपस्य योगस्यापि सबीजत्वम् । समाधिशब्दश्चाङ्गाङ्गिनोरभेदेन योगे प्रयुक्त इति दिक् ॥४६॥

मणिप्रभा।

एवं स्थूले सूक्ष्मे च ग्राह्ये चतस्रः समापत्तय उक्ताः, संप्रति तासां संप्रज्ञातत्वमुपसंहरति—**ता एवेति** ।

ग्रहणग्रहीत्रोरपि सविकल्पत्वनिर्विकल्पत्वभेदेन सानन्दा आनन्दमात्रा सास्मिता अस्मिता चेति चतस्रः समापत्तयो भवन्ति उक्तन्यायसाम्यात् । एवमष्टसमापत्तयो यास्ता एव सबीजः समाधिः संप्रज्ञातः । विवेकख्यात्यभावेन बन्धबीजसत्त्वात् सबीजत्वं द्रष्टव्यम् ॥ ४६ ॥

चन्द्रिका।

एतयैवेति । ता एवोक्तलक्षणाः समापत्तयः सह बीजेनावलम्बनेन वर्त्तन्त इति सबीजः सम्प्रज्ञातसमाधिरुच्यते इत्यर्थः, सर्वासां सालम्बनत्वात् ॥ ४६ ॥

योगसुधाकरः।

संप्रज्ञातसमापत्तीरुपसंहरति—**ता एवेति** ।

ता एव पूर्वोक्ता एव विवेकख्यात्यभावेन बन्धबीजसत्त्वात्सबीजः समाधिरित्यर्थः ॥ ४६ ॥

भोजवृत्तिः।

अथेतरासां समापत्तीनां निर्विचारफलत्वान्निर्विचारायाः फलमाह—

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

निर्विचारत्वं व्याख्यातम् । वैशारद्यं नैर्मल्यम् । सवितर्का स्थूलविषयामपेक्ष्य निर्वितर्कायाः प्राधान्यम् । ततोऽपि सूक्ष्मविषयायाः सविचारायाः; ततोऽपि निर्विकल्परूपाया निर्विचारायाः, तस्यास्तु

निर्विचारायाः प्रकृष्टाभ्यासवशाद्वैशारद्ये नैर्मल्ये सत्यध्यात्मप्रसादः समुपजायते । चित्तं क्लेशवासनारहितं (१)स्थिरप्रवाहयोग्यं भवति । एतदेव चित्तस्य वैशारद्यं यत्स्थितौ दार्ढ्यम् ॥ ४७ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

उक्तासु समापत्तिषु निर्विचारकाष्ठायाः कश्चनोत्कर्षमाह—**निर्विचारेति** ।

ध्येयगताशेषविशेषप्रतिबिम्बोद्ग्राहिणी निश्चलैकाग्रता चित्तस्य वैशारद्यम् । निर्विचारसमापत्तेरेव वैशारद्ये सति अध्यात्मप्रसादो भवति । आत्मनि बुद्धौ वर्तते इत्यध्यात्मम् । तादृशप्रसादो नैर्मल्यं भवति । येन प्रसादेन पुरुषादिसाक्षात्कारस्तद्योगं विनापि भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

उक्तासु समापत्तिषु इतरासां निर्विचारफलकत्वान्निर्विचारायाः फलमाह—**निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः** । ध्येयगताशेषविशेषग्राहिणी निश्चलैकाग्रता चित्तस्य वैशारद्यम् । निर्विचारसमापत्त्या एव एव वैशारद्ये सति अध्यात्ममात्मनि बुद्धौ प्रसादो भवति येन पुरुषादिसाक्षात्कारस्तद्योगं विनापि भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

मणिप्रभा ।

तत्र निर्विचारसमापत्तेः फलतोऽतिशयमाह—**निर्विचारेति** ।

रजस्तमोमलापेतस्य बुद्धिसत्त्वस्य स्वच्छस्थितिरूपवृत्तिप्रवाहः प्रधानान्तसूक्ष्मग्राह्यगोचरः यः सोऽयं निर्विचारसमाधेर्वैशारद्यं तस्मिन्सत्यक्रमेण परमाण्वादिप्रधानान्ततत्त्वसमूहालम्बनः स्वात्मनिष्ठोऽध्यात्मप्रसादो भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

चन्द्रिका ।

निर्विचारेति । निर्विचारायाः प्रकृष्टाभ्यासवशाद्वैशारद्ये नैर्मल्ये सति अध्यात्मप्रसादः समुपजायते, चित्तस्यैतदेव वैशारद्यम् । किं ? यत् स्थितौ दार्ढ्यम् ॥ ४७ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थं संप्रज्ञातमुपसंहृत्यासंप्रज्ञातमुपायप्रत्ययमुपसंहर्तुं तस्य पूर्वरङ्गं निर्विचारातिशयमाह—**निर्विचारेति** ।

निर्विचारस्य प्रधानपर्यन्तसूक्ष्मगोचरस्य यद्वैशारद्यमभ्यासपाटवेन तस्य प्रधानान्त्यग्भावाच्चितिशक्तेरुद्वोधः, तस्मिन् सत्यध्यात्मनश्चितिशक्तेः प्रसादः ख्यातिर्जायते ॥ ४७ ॥

भोजवृत्तिः ।

तस्मिन्सति किं भवतीत्याह—

ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

ऋतं सत्यं बिभर्ति कदाचिदपि न विपर्ययेणाऽऽच्छाद्यते सा ऋतंभरा प्रज्ञा तास्मिन्सति भवतीत्यर्थः । तस्माच्च प्रज्ञालोकात्सर्वं यथावत्पश्यन्योगी प्रकृष्टं योगं प्राप्नोति ॥ ४८ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

पूर्वोक्ते सबीजयोगे जायमानायाः समापत्त्याख्यप्रज्ञाया अन्वर्थां तान्त्रिकीं संज्ञामाह—**ऋतम्भरेति** ।

तत्र सबीजयोगे जायमाना प्रज्ञा समापत्त्याख्या ऋतम्भरसंज्ञा भवति । ऋतस्य सत्यस्यैव भरणात् विषयत्वेन धारणादित्यर्थः । सवितर्कप्रज्ञायाश्च विकल्पसत्त्वेऽपि ऋतम्भरजातीयत्वेन संग्रहः । अथवा ततः किं तत्राह—ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा । तत्र ध्यात्मप्रसादे जायमाना आत्मसाक्षात्काररूपा प्रज्ञा ऋतम्भरेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तदेवाह—**ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा** । ऋतं सत्यं कूटस्थनित्यं पुरुषं बिभर्ति तादृशी तत्संज्ञा प्रज्ञा

(१) स्थितिप्रवाहेति पाठान्तरम् ।

साक्षात्कारस्तत्र प्रसादे सति भवतीत्यर्थः । तदुक्तम्—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥ इति ।

पूर्वार्धेन श्रवणमनननिदिध्यासनान्युक्तानि ॥ ४८ ॥

मणिप्रभा ।

अस्य प्रसादस्य योगिसंमतां संज्ञामाह—ऋतम्भरेति ।

तत्र वैशारद्ये सति या प्रज्ञा निर्विचारा समाधिजन्या तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति । ऋतमविकल्पितं सत्यं बिभर्तीति व्युत्पत्तेरित्यर्थः ॥ ४८ ॥

चन्द्रिका ।

ऋतम्भरेति । ऋतं सत्यं बिभर्ति कदाचिदपि न विपर्ययेणाच्छाद्यते सा ऋतम्भरा तस्मिन् सति भवति, तस्माच्च प्रज्ञालोकात् सर्वं यथावत्पश्यन् योगी प्रकृष्टं योगं प्राप्नोति ॥ ४८ ॥

योगसुधाकरः ।

ततः किम्—ऋतम्भरेति । तत्र पुरुषख्यातौ सत्याम् ऋतं सत्यमात्मानं बिभर्ति प्रकाशयतीति ऋतम्भरा प्रज्ञा धर्ममेघः समाधिर्जायत इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

भोजवृत्तिः ।

अस्याः प्रज्ञान्तराद्वैलक्षण्यमाह

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यां सामान्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥

श्रुतमागमज्ञानम्, अनुमानमुक्तलक्षणम्, ताभ्यां जायते प्रज्ञा सा सामान्यविषया। न हि शब्दालिङ्गयोरिन्द्रियवद्विशेषप्रतिपत्तौ सामर्थ्यम् । इयं पुनर्निर्विचारवैशारद्यसमुद्भवा प्रज्ञा ताभ्यां विलक्षणा विशेषविषयत्वात् । अस्यां हि प्रज्ञायां सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टानामपि विशेषः स्फुटेनैव रूपेण भासते । अतस्तस्यामेव योगिना परः प्रयत्नः कर्तव्य इत्युपदिष्टं भवति ॥ ४९ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु आगमानुमानाभ्यामेव प्रमाणाभ्यामर्थतत्त्वं गृह्यतामलम् तदुत्तरं योगेनेत्याशङ्कायामाह—श्रुतेति ।

सा तु योगसामान्यजा प्रज्ञा श्रवणमननाभ्यामतिरिक्तविषया विशेषार्थत्वात् । विशेषविषयत्वादित्यर्थः । शब्दानुमाने हि सामान्यमात्रविषयके भवतः सामान्यपुरस्कारेणैव सङ्केतग्रहात्, व्याप्तिग्रहाच्च । न तु सङ्केतग्राह्यानवच्छेदकविशेषग्राहके । योगजप्रज्ञा तु तद्ग्राहिकेति । अतोऽनधिगताधिगन्तृत्वाद्योगजप्रज्ञायाः प्रामाण्यम् । ननु पुरुषे विशेषाभावात्तत्प्रज्ञा किंविशेषग्रहणेन सफला स्यादिति चेन्न । अन्ततः स्वस्वोपाधिप्रतिबिम्बानामेवातीतानागतवर्तमानानां भोगरूपाणां मुक्तामुक्तसकलपुरुषेष्वन्योन्यं विशेषत्वादिति ॥ ४९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

नन्वागमानुमानाभ्यां अर्थतत्त्वनिर्णयेऽलं तदुत्तरयोगेनेत्यत आह—श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् । शब्दानुमाने हि सामान्यविषये तद्विषयातिरिक्तविषया च योगजप्रज्ञा विशेषविषयत्वादित्यर्थः । लौकिकप्रत्यक्षमपि न सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टविषयमित्यपि बोध्यम् । योगजज्ञानं तु सकलविशेषग्राहकमिति अनधिगतार्थगन्तृत्वात्तस्य प्रामाण्यम् । ननु पुरुषेषु विशेषाभावात्तत्प्रज्ञा केन विशेषेण सफला स्यादिति चेन्न । अन्ततः स्वस्वोपाधिप्रतिबिम्बानामेवातीतानागतवर्तमानानां भोगरूपाणां मुक्तामुक्तसकलपुरुषेष्वन्योन्यं विशेषत्वादिति बोध्यम् ॥ ४९ ॥

मणिप्रभा ।

तस्याः प्रमाणान्तरप्रमाणेभ्यो विषयतावैशेष्यमाह श्रुतेति । गवादिशब्दानां गोत्वादिसामान्ये शक्तिः,

न व्यक्तिविशेषेषु तेषामानन्त्येनाशक्यग्रहत्वात्। एवं व्याप्तेरपि वन्हित्वादिसामान्यं गृह्यते । अतः श्रुतानुमानप्रज्ञयोः सामान्यं वस्तु विषयः । तथाहि लोके शब्दालिङ्गज्ञानानन्तर गोवन्ह्यादिवस्तुमात्रं ज्ञायते न व्यक्तिविशेष इति स्वसाक्षिकमेतत् । ऐन्द्रियिकप्रत्यक्षं यद्यपि गोपटादिविशेषविषयं तथाऽपि सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टवस्तुविशेषः समाधिप्रज्ञाया असाधारणो विषयः । न च सूक्ष्मादिषु श्रुतानुमानप्रकाशितेषु प्रसरन्ती समाधिप्रज्ञा कथं स्वमूलश्रुतानुमानागोचरविशेषगोचरा स्यादिति वाच्यम् । बुद्धेः स्वतः सर्वग्रहणशक्तत्वात् । बुद्धिसत्त्वं हि प्रकाशस्वभावं सर्वार्थग्रहणसमर्थमपि तमसाऽऽवृतं सद् मानमपेक्ष्याल्पविषयं भवति । यदा तु समाधिना विगततमःपटलं सर्वतः प्रकाशमानमतिक्रान्तमानमर्य्यादं भवति तदा प्रकाशनान्त्यात् किं नामागोचरः स्यात् । तस्मात् समाधिप्रज्ञा विशेषार्थगोचरत्वाद् मानान्तरविषयादन्याविषयेत्यर्थः । तदुक्तम्—

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य ह्यशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुशोचति ॥ इति ।
जनान् समाधिशून्यान् मानभृत्यानित्यर्थः ॥ ४९ ॥

चन्द्रिका ।

श्रुतेति । श्रौतमागमज्ञानम् । अनुमानमुक्तलक्षणम् । ताभ्यां या जायते प्रज्ञा सा सामान्यविषया, इयं निर्विचारवैशारद्यसमुपेता ताभ्यां विलक्षणा विशेषविषयत्वात्, अस्यां हि सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टा विषयाः स्फुटं भासन्ते अतस्तस्यां यत्नो विधेयः ॥ ४९ ॥

योगसुधाकरः ।

ऋतंभरत्वोपपत्तिमाह—श्रुतेति । सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टवस्तुषु योगिप्रत्यक्षं निर्वर्तते । आगमानुमानाभ्यां तानि वस्तूनि ज्ञायन्ते । ते च श्रुतानुमानजन्ये प्रज्ञे सामान्यमेव गोचरयतः । इदं तु योगिप्रत्यक्षं विशेषगोचरत्वादृतम्भरामित्यर्थः ॥ ४९ ॥

भोजवृत्तिः ।

अस्याः प्रज्ञायाः फलमाह—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

तया प्रज्ञया जनितो यः संस्कारः सोऽन्यान्व्युत्थानजान्समाधिजांश्च संस्कारान्प्रतिबध्नाति स्वकार्यकरणाक्षमान्करोतीत्यर्थः । यतस्तत्त्वरूपतयाऽनया जनिताः संस्कारा निरालंबनत्वात् अतत्त्वरूपप्रज्ञाजनितान्संस्कारान्बाधितुं शक्नुवन्ति । अतस्तामेव प्रज्ञामभ्यसेदित्युक्तं भवति ॥ ५० ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु तथापि प्रज्ञोत्पत्तिपर्यन्तं सम्प्रज्ञातयोगापेक्षा प्रज्ञोत्पत्त्यनन्तरं सम्प्रज्ञातपरम्परया किं फलमित्याकाङ्क्षायामाह—तज्ज इति ।

तज्जः एकाग्रसाक्षात्कारधारारूपया समाधिप्रज्ञया जनितः संस्कारोऽन्येषां व्युत्थानसंस्काराणां प्रतिबन्धी स्मृत्याख्यकार्यविरोधीत्यर्थः । तथा च समाधिपरम्परया समाधिप्रज्ञासंस्कारदार्ढ्येन व्युत्थानसंस्कारस्याभिभवः क्रमेण भवति । ततश्च दुःखहेतुव्युत्थानसंस्काराभिभवरूपे प्रज्ञाकृत्ये समाप्ते प्रज्ञायामप्यलम्बुद्ध्या सर्ववृत्तिनिरोधरूपोऽसम्प्रज्ञातः स भविष्यतीति संप्रज्ञातपरम्परायाः फलमिति भावः । मोक्षान्यथानुपपत्त्यैवाविद्यासंस्कारस्य विद्यासंस्कारदार्ढ्येन नाशः सिध्यति । अविद्यासंस्कारातिरिक्तानां च संस्काराणां चित्तनाशेनैव नाशो न तु संस्कारान्तरस्य तन्नाशकत्वं कल्प्यते, गौरवात् । संस्काराणां विरोधिसंस्काराभिभावकत्वं तु लोके बहुधा सिद्धमतः संस्कारप्रतिबन्धीत्येव सूत्रितं न तु तन्नाशक इति ॥ ५० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अथ सम्प्रज्ञातपरम्परायाः फलमाह—तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी । तज्जः एका-

यत्साक्षात्कारधारारूपया सम्प्रज्ञातप्रज्ञया जनितः संस्कारोऽन्येषां व्युत्थानसंस्काराणां प्रतिबन्धी तज्जन्यवृत्त्याख्यकार्यविरोधीत्यर्थः । अत्र सम्प्रज्ञातपरम्परया समाधिप्रज्ञासंस्कारदार्ढ्येन दुःखहेतुव्युत्थानसंस्काराभिभवः, तस्य धर्ममेघसमाधिना परिसमाप्तिः । स च सिद्धिकामनात्यागेन निरन्तरोत्पन्नात्सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिप्रवाहात्सवासनाविद्यासंस्कारनिवृत्तौ तस्यामपि ख्यातौ प्रयोजनाभावेन दुःखात्मिकायामलम्प्रत्ययरूपवैराग्ये सति जायते इति ज्ञेयम् । यदुत्तरमसम्प्रज्ञातोदयः सर्वज्ञत्वादिजनकं प्रकृष्टं धर्मं मेहति वर्षतीति व्युत्पत्तेः । अस्यामवस्थायां जीवन्मुक्त उच्यते, ततः प्राक् मन्यां कामनायां भूतेन्द्रियप्रकृतिजयोत्थः स्वेच्छाभोगश्च भवति । मोक्षान्यथानुपपत्त्यैवाविद्यासंस्काराणां विद्यासंस्कारदार्ढ्येन नाशः । अविद्यासंस्कारातिरिक्तसंस्काराणां च चित्तनाशेनैव नाशः । कस्यचित्तु सर्वज्ञत्वादिजनकधर्ममेघाभावेऽपि ज्ञानादविद्यानिवृत्तौ उत्तरक्लेशाभावात्कर्मविपाकाभावेऽपि प्रारब्धकर्मभोगहेतुवासनानामनुच्छेदेन प्रारब्धकर्मभोगानन्तरं देहपाते कैवल्यं भवतीति ज्ञेयम् । यत्तु योगस्याशेषपापनाशकत्वं श्रूयते तत्तु ज्ञानप्रतिबन्धकाशेषपापनाशपरम् । यत्तु तज्जन्यज्ञानस्य सर्वकर्मनाशकत्वं तत्प्रारब्धातिरिक्तसर्वकर्मनाशपरम् । ज्ञानेन प्रारब्धनाशे जीवन्मुक्तिप्रतिपादकश्रुतिविरोधश्च स्यात्तस्य सर्वकर्मनाशकत्वमविद्यादिक्लेशसहकार्युच्छेदेन स्वविपाकानारम्भकत्वं, प्रारब्धकर्मभोगे तु वासनैव तद्धेतुः सहकारिणीति बोध्यम् ॥ ५० ॥

मणिप्रभा ।

नन्वनादिना शब्दादिविषयभोगसंस्कारेणातिबलीयसाऽभिहता समाधिप्रज्ञा न स्थितिं लभते इत्यत आह-तज्ज इति ।

निर्विचारसमाधिप्रज्ञाजन्यः संस्कारो व्युत्थानसंस्कारस्य प्रतिबन्धी बाधक इत्यर्थः । अनादिरपि व्युत्थानसंस्कारस्तत्त्वास्पर्शित्वात् तत्त्वस्पर्शिप्रज्ञासंस्कारेण बाध्यते । तद्बाधे व्युत्थानप्रत्यया न भवन्ति । समाधिप्रज्ञा तु भवति । ततः संस्कारः पुनः पुनरिति समाधिसंस्कारोपचयात्सर्वात्मना क्लेशक्षये सति भोगान्निर्विण्णं चित्तं पुरुषाभिमुखं विवेकख्यातिं कृत्वा कृतकृत्यं लीनं भवति समाप्ताधिकारत्वात्, ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितमिति ॥ ५० ॥

चन्द्रिका ।

तज्ज इति । तया प्रज्ञया जनितो यः संस्कारः सोऽन्यान् व्युत्थानजान् समाधिजांश्च संस्कारान् प्रतिबध्नाति ॥ ५० ॥

योगसुधाकरः ।

तस्याः प्रज्ञाया असंप्रज्ञातसमाधौ बहिरङ्गत्वसिद्ध्यर्थमुपकारित्वमाह—**तज्ज इति** ।

तस्याः प्रज्ञाया अभ्यासजन्यो यः संस्कारः, स चान्यान्व्युत्थानसंस्कारान्प्रतिबध्नाति बाधत इति तत्प्रतिबन्धीत्यर्थः ॥ ५० ॥

भोजवृत्तिः ।

एवं संप्रज्ञातं समाधिमभिधायासंप्रज्ञातं वक्तुमाह—

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

तस्यापि संप्रज्ञातस्य निरोधे प्रविलये सति सर्वासां चित्तवृत्तीनां स्वकारणे प्रविलयाद्या या संस्कारमात्राद्वृत्तिरुदेति तस्यास्तस्या नेति नेतीति केवलं पर्युदसनान्निर्बीजः समाधिराविर्भवति । यस्मिन्सति पुरुषः स्वरूपनिष्ठः शुद्धो भवति ।

तत्राधिकृतस्य(१) योगस्य लक्षणं चित्तवृत्तिनिरोधपदानां च व्याख्यानमभ्यासवैराग्यलक्षणं तस्योपायद्वयस्य स्वरूपं भेदं चाभिधाय संप्रज्ञातासंप्रज्ञातभेदेन योगस्य मुख्यामुख्यभेदमुक्त्वा योगाभ्यासप्रदर्शनपू-

---

(१) तदत्राधिकृतस्येति पाठा० ।

र्वकं विस्तरेणोपायान्प्रदर्श्य सुगमोमायप्रदर्शनपरतयेश्वरस्य स्वरूपप्रमाणप्रभाववाचकोपासनाक्रमं(१) तत्फलानि [च] निर्णीय चित्तविक्षेपास्तत्सहभुवश्च दुःखादीन्विस्तरेण च तत्प्रतिषेधोपायानेकतत्त्वाभ्यासमैत्र्यादान्प्राणायामादीन्सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातपूर्वाङ्गभूतविषयवती प्रवृत्तिरित्यादीन् (च) आख्यायोपसंहारद्वारेण च समापत्तिं लक्षणफलसहितां(२) स्वस्वविषयसहितां चोक्त्वा(३) संप्रज्ञातासंप्रज्ञातयोरुपसंहारमभिधाय सबीजपूर्वको निर्बीजः समाधिरभिहित इति व्याकृतो योगपादः ॥ ५१ ॥

इति श्रीधारेश्वरभोजराजाविरचितायां राजमार्तण्डाभिधानायां पातञ्जलयोगशास्त्रसूत्रवृत्तौ योगाख्यः प्रथमपादः ॥ १ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येत्यादिसूत्रैः संप्रज्ञातस्य फलं प्रपञ्चितम् । असंप्रज्ञातस्य फलमुच्यते—**तस्यापीति**।

पूर्वपूर्वासंप्रज्ञाते तावत्प्रज्ञैव निरुध्यते । प्रज्ञासंस्कारस्य तानवमात्रम् । एवं क्रमेण तस्यापि प्रज्ञाकृतसंस्कारस्याप्यसंप्रज्ञातपरम्परया निरोधे अत्यन्ताभिभवे जायमाने चरमासंप्रज्ञातव्यक्तिर्निर्बीजयोगस्य परा काष्ठा भवति । अपुनरुत्थानेत्यर्थः । सैष च महानिद्रा परमो मोह इति गीयते । अयं च योगेन स्वेच्छया मोक्षः श्रुतिषूक्तो बहूनाम् । तदानीं च पुरुषार्थसमापत्त्या चित्तस्यात्यन्तलयात्तदाश्रितानां दग्धसंस्कारभावानां नाश इति । सर्वनिरोधादिति निर्बीजत्वे हेतुरुक्तः । यतः प्रज्ञा तत्संस्कारश्चात्यन्तं विलापितौ, अतो दुःखबीजैः संस्कारादिभिः शून्यत्वान्निर्बीज इति । पूर्वपूर्वासंप्रज्ञातेषु तु निर्बीजजातीयतया निर्बीजत्वव्यवहारः । अत्र सर्ववृत्तिनिरोधस्य संप्रज्ञातकृताखिलसंस्कारोन्मूलकत्ववचनात्तस्य संस्कारजनकत्वं सिध्यति । क्रमेणैव ह्यसंप्रज्ञातपरम्परया चरमासंप्रज्ञाते निःशेषतः संप्रज्ञातसंस्कारदाहो वक्तव्यः । तत्र पूर्वपूर्वासंप्रज्ञातानां विनष्टतया संस्कारातिरिक्तं द्वारं न सम्भवति । तथा उत्तरोत्तरासंप्रज्ञातेषु कालवृद्ध्यापि पूर्वपूर्वासंप्रज्ञातानां संस्कारजनकत्वं सिध्यति । संस्कारवृद्ध्यैव कालवृद्ध्यौचित्यादिति । ननु ज्ञानेन प्रारब्धातिरिक्ताखिलकर्मक्षये प्रारब्धस्य भोगेन समाप्त्या कर्माभावादेवापुनर्जन्मरूपो मोक्षो भविष्यति किमर्थमसंप्रज्ञातेनाखिलसंस्कारोन्मूलनमपेक्ष्यत इति चेत् । प्रारब्धस्यातिक्रमणाज्झटिति नश्यति मोक्षार्थमित्यवेहि । भोगवासनारूपस्य हि सहकारिण उच्छेदे सति प्रारब्धमपि कर्म फलाक्षमं भवतीति दिक् ॥ ५१ ॥

इति श्रीभावागणेशभट्टकृतायां योगदीपिकायां पातञ्जलवृत्तौ समाधिपादः प्रथमः ॥ १ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ननु व्युत्थानसंस्काराभिभवेऽपि प्रज्ञासंस्काराभिभवाभावात्तत्प्रवाहानिवृत्तौ तत्रैव जन्मनि शीघ्रं मोक्षो न स्यादत आह—**तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः**। परवैराग्येण स्वसंस्कारद्वारा प्रज्ञाकृतसंस्काराणां प्रज्ञायाश्च निरोधे कारणाभावेन कार्यानुत्पादान्निर्बीजः समाधिर्भवतीत्यर्थः। तत्र पूर्वपूर्वासंप्रज्ञातसंस्कारस्याप्युत्तरोत्तरासंप्रज्ञातेनात्यन्ताभिभवे जायमाने चरमासंप्रज्ञातो निर्बीजकाष्ठा भवति। उत्तरोत्तरासंप्रज्ञातेषु कालवृद्ध्या पूर्वपूर्वासंप्रज्ञातानां संस्कारजनकत्वं सिध्यति संस्कारवृद्ध्यैव कालवृद्ध्यौचित्यात् । स च यथायथातिशीयते तथातथा तत्त्वज्ञानपर्यन्ताखिलसंस्कारान् संप्रज्ञातयोगजांस्तनूकरोति । एवं पूर्वपूर्वसंस्कारसहकृतचरमासंप्रज्ञातेन निःशेषतः प्रज्ञातत्संस्कारदाहः । ततः प्रारब्धमपि कर्म न स्वविपाकसमर्थम् , सहकारिणां दग्धत्वात् । प्रारभवीयभोगसंस्कारा हि तत्सहकारिणः ततः पुरुषार्थसमाप्त्या चरिताधिकारं चित्तमसमाप्तभोगकेनैव प्रारब्धकर्मणा निरोधसंस्कारैश्च सह स्वकारणेऽत्यन्तं लीयते । इयमेव चित्तस्य महानिद्रा पुरुषस्य कैवल्यमात्यन्तिको दुःखात्मकाखिलदृश्यवियोगः, तदुक्तं—'मनसो-

(१) पासनानीति पाठा० ।
(२) समापत्तीः सलक्षणाः सफलाः इति पाठा० । (३) सहिताश्चोक्त्वेति पाठान्तरम् ।

भ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदय' इति । ननु ज्ञानेनैव प्रारब्धभोगोत्तिरमोक्षसिद्धौ किमनेन योगेनेति चेन्न। प्रारब्धस्याप्यतिक्रमेण झटिति मोक्षार्थत्वात्। अत्र वदन्ति–विवेकसाक्षात्काररूपं ज्ञानं सांख्यपदवाच्यं सर्वासर्वचित्तवृत्तिनिरोधरूपो द्विविधो योगश्चोभयमपि व्यापारभेदात्स्वातन्त्र्येण मोक्षकारणमत्र शास्त्रे विवक्षितम्। तत्र केवलज्ञानेन मोक्षे जनयितव्येऽभिमाननिवर्तकात्मसाक्षात्कारपर्यन्त एव संप्रज्ञातोऽपेक्ष्यते नतु वृत्त्यन्तरवासनाक्षयाद्यर्थं संप्रज्ञानपरंपरापि । प्रारब्धसमाप्तौ तु सत्यां सर्ववासनानां चित्तेन सह नाशात्। अन्ये तु तमेवं विदित्वेति श्रुतेः कस्यचिन्स्वल्पयोगेनापि ज्ञानं, एतदन्तयोगेन तु भवत्येव ज्ञानमित्याशयः । 'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते' इति गीतावाक्ये सम्यक्ख्यातं संख्या तत्त्वसाक्षात्कारस्तदुपायैर्गोबलीवर्दन्यायेन श्रवणमनननिदिध्यासनरूपैर्ज्ञानं प्राप्यते तद्योगैरपि प्राप्यते इति न तद्विरोध इत्याहुः ॥ ५१ ॥

॥ इति श्रीनागोजीभट्टीयायां पातञ्जलवृत्तौ समाधिपादः प्रथमः ॥

मणिप्रभा ।

ननु संप्रज्ञातसमाधिप्रज्ञासंस्कारप्रचुरं चित्तं तत्प्रज्ञापरम्परामेव कुर्वत् कथं निर्बीजसमाधिं कुर्यादित्यत आह तस्यापीति ।

पुरुषख्यात्यनन्तरं परवैराग्यसंस्कारप्रचयेन तस्य संप्रज्ञातसमाधिप्रज्ञासंस्कारस्य "अपि"शब्दात्प्रज्ञायाश्च निरोधे सति सर्वस्य प्रज्ञातज्जसंस्कारप्रवाहस्य निरोधादवसिताधिकारत्वेन चित्तस्य कृत्याभावात् "निमित्तापाये नैमित्तिकापाय" इति न्यायेन निर्बीजः समाधिर्भवति । तदुक्तम्—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥ इति ।

श्रवणेन मननेन पुरुषमात्रध्यानाभ्यासो धर्ममेघाख्यः तद्रसेन परवैराग्येण प्रज्ञाप्रसादात्मना, पुरुषं साक्षात्कुर्वन्निर्बीजं योगं लभत इत्यर्थः । कालक्रमेण निर्बीजनिरोधसंस्कारप्रचये सति स्वप्रकृतौ चित्तं लीयते हेत्वभावात् । कृत्यशेषलक्षणाधिकारो हि चित्तस्य स्थितिहेतुः । न हि कृतभोगविवेकख्यातिनश्चित्तस्य कृत्यशेषोऽस्ति । तस्माच्चित्तस्य प्रलये पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठः केवलो मुक्त इति सिद्धम् ॥ ५१ ॥

इति मणिप्रभायां समाधिपादः ॥ १ ॥

चन्द्रिका ।

तस्यापीति । तस्यापि निरोधे तस्य सम्प्रज्ञातस्य निरोधे प्रविलये सति सर्वासां चित्तवृत्तीनां स्वकारणे प्रविलयात् या संस्कारमात्रात् वृत्तिरुदेति तस्या नेति नेतीति पर्युदसनान्निर्बीजः समाधिराविर्भवति यस्मिन् सति पुरुषः शुद्धो भवति ॥ ५१ ॥

इति योगचन्द्रिकायां प्रथमः पादः ।

योगसुधाकरः ।

इत्थमसंप्रज्ञातसमाधेर्बहिरङ्गसाधनमभिधाय निरोधप्रयत्नस्यान्तरङ्गसाधनतां सूचयन्निर्बीजमुपसंहरति—तस्यापीति ।

परवैराग्यसहकृतविरामप्रत्ययेन प्रज्ञासंस्कारस्यापि निरोधे सत्युत्पत्स्यमानप्रज्ञासंस्कारस्य सर्वस्यापि निरोधादशेषबन्धनिवृत्तेर्निर्बीजः समाधिर्लभ्यते । तस्मिन्समाधौ लब्धे सति पुनर्व्युत्थातुमशक्तं सच्चित्तं नश्यति । ततः कूटस्थनित्यानन्ता शुद्धा चितिशक्तिः स्वे महिम्नि निरन्तरं निर्विघ्नमवतिष्ठत इत्यतिशोभनम् ॥ ५१ ॥

इति श्रीमत्पतञ्जलिप्रणीते योगशास्त्रे योगसुधाकराभिधायां वृत्तौ समाधिपादः समाप्तः ॥

अथ द्वितीयः साधनपादः ।

भोजवृत्तिः ।

ते ते दुष्प्रापयोगर्द्धिसिद्धये येन दर्शिताः ।
उपायाः स जगन्नाथस्त्र्यक्षोऽस्तु प्रार्थितात्तये ॥

तदेवं प्रथमे पादे समाहितचित्तस्य सोपायं योगमभिधाय व्युत्थितचित्तस्यापि कथमुपायाभ्यासपूर्वको योगः सात्म्यम् (स्वास्थ्यम्) उपयातीति तत्साधनानुष्ठानप्रतिपादनाय क्रियायोगमाह—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

तपः शास्त्रान्तरोपदिष्टं कृच्छ्रचान्द्रायणादि । स्वाध्यायः प्रणवपूर्वाणां मन्त्राणां जपः । ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां तस्मिन्परमगुरौ फलनिरपेक्षतया समर्पणम् । एतानि क्रियायोग इत्युच्यते ॥ १ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

समाहितचित्तस्योत्तमाधिकारिणो योगारोहयोग्यस्याभ्यासवैराग्याभ्यामेव क्रियायोगनिरपेक्षाभ्यां योगनिष्पत्तिः पूर्वपादे प्रतिपादिता । इदानीं व्युत्थितचित्तो बहिर्मुखोऽपि यथा योगयुक्तः स्यात्तानि साधनान्युच्यन्ते—तप इति ।

तपोऽत्र चित्तप्रसादाविरोधिशास्त्रोक्तोपवासादिकम् । स्वाध्यायः प्रणवजपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा । ईश्वरप्रणिधानं परमेश्वरे सर्वकर्मार्पणम् । न तु प्रथमपादोक्तं, तस्योत्तमाधिकारिणं प्रत्येवोक्तत्वात् । अर्पणं च कौर्मे प्रोक्तम्—

नाहं कर्ता सर्वमेतद्ब्रह्मैव कुरुते तथा ।
एतद्ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ इति ।

एतानि तपआदीनि क्रियारूपो योगो योगसाधनत्वादित्यर्थः । यद्यपि वक्ष्यमाणा यमनियमासनादयः सर्वेऽपि क्रियायोगास्तथापि तेभ्यः समाहृत्य प्रकृष्टसाधनत्रयं मध्यमाधिकारिणं प्रत्युपदिष्टमन्ततः केवलेनैतेनापि तीव्रतरेण योगो भवतीति सूचयितुम् ॥ १ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

योगाधिकारिणस्त्रिविधा मन्दमध्यमोत्तमाः क्रमेण रुरुक्षुयुञ्जानयोगारूढरूपाः । तत्रोत्तमा ये पूर्वजन्मानुष्ठितबहिरङ्गक्रियायोगसाधनतया तन्निरपेक्ष्येणैव योगारूढाः, यथा जडभरतादयस्तेषामभ्यासवैराग्याभ्यामेव योगनिष्पत्तिः पूर्वपादे प्रतिपादिता—

आरूढयोगवृक्षाणां ज्ञानत्यागौ परौ मतौ ।
शिशुपालः सिद्धिमाप स्मरणाभ्यासगौरवात् ॥ इति गारुडाच्च ।

त्यागोऽत्र प्रकृतत्वाद्योगान्तरायस्य बाह्यकर्मणः क्रियायोगरूपस्य । योगारूढश्च—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥

इति गीतायां लक्षितः । तत्राभ्यासश्चित्तस्य निश्चलैकाग्रताधारारूपस्थितौ ध्येयाद्बहिर्गच्छतश्चित्तस्य पुनः पुनरानयने यत्नः । वैराग्यं च तत्रतत्रालंबुद्धिरूपोपेक्षेत्युक्तम् ।

इदानीं व्युत्थितचित्तस्य मध्यमाधिकारिणो वानप्रस्थादेः क्रियायोगरूपं साधनमाह—**तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः** । तपश्चित्तप्रसादाविरोधिशास्त्रोक्तोपवासादिकम्, स्वाध्यायः प्रणवादिजपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा । ईश्वरप्रणिधानमत्र परमेश्वरे सर्वकर्मार्पणं तत्फलन्यासश्च । अर्पणं च—

नाहं कर्ता सर्वमेतद्ब्रह्मैव कुरुते तथा ।
एतद्ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ इति कौर्मे उक्तम् ।

कर्मफलन्यासश्च सर्वकर्मफलानामीश्वरो भोक्तेति चिन्तनम् । यदैव जीवान् कर्मफलानि भोजयन्प-

रमेश्वरः प्रीणाति स एवेश्वरस्य तत्फलभोगः । यथार्थिभ्यो धनानि यच्छन् दाता तद्धनभोक्ता । यद्यप्यस्य नित्यानन्दभोगो नित्य एव तथापि जीवानां कर्मफलप्रदानाभिव्यक्तत्वेनैश्वर्यानुगतानन्दोत्पत्तिरौपचारिकी । यद्वा—

कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥

इत्यर्पणम् । फलन्यासश्च फलमनभिसंधाय कर्मकरणम् । एते क्रियारूपा योगा योगसाधनत्वादिति भावः । यद्यपि वक्ष्यमाणा यमादयोऽपि क्रियायोगा एव, तथापि तेभ्यः समुद्धृत्य प्रकृष्टं साधनत्रयं मध्यमाधिकारिणं युञ्जानं प्रति उपदिष्टमेतैरपि तीव्रतरैर्योगो भवतीति सूचयितुम् । मध्यमाधिकारिणा अभ्यासवैराग्यादिकं यथाशक्त्यनुष्ठेयम् ॥ १ ॥

मणिप्रभा ।

पूर्वस्मिन्पादे योगमुद्दिश्य लक्षणमुक्त्वा वृत्तीर्निरूप्य तन्निरोधोपायाभ्यासवैराग्ये प्रतिपाद्य चित्तस्थित्युपायान् कांश्चिदुक्त्वा द्विविधो योगः सावान्तरभेदः प्रतिपादितः । तत्राभ्यासवैराग्ये चित्तशुद्धिसाध्ये इति मत्वा तस्य शुद्धिहेतुमादौ क्रियायोगमाह—**तप इति** ।

पूर्वपादोक्तस्य योगस्यास्मिन्पादे साधनान्युच्यन्त इत्यनयोः पादयोः सङ्गतिः । ब्रह्मचर्यगुरुसेवासत्यवचनकौष्ठमौनाकारमौनस्वाश्रमधर्मद्वन्द्वसहनामिताशनादिकं तपः, न कायशोषः । धातुवैषम्ये योगविघातात् । स्वाध्यायः प्रणवश्रीरुद्रपुरुषसूक्तादीनां पवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं च । फलाभिसन्धिं विना कृतानां कर्मणां परमगुरावीश्वरे समर्पणमीश्वरप्रणिधानम्, तानि क्रियारूपो योगो योगसाधनत्वादित्यर्थः ॥ १ ॥

चन्द्रिका ।

समाहितचित्तस्य योगमभिधाय व्युत्थितचित्तस्य योगः कथं सिद्ध्यतीति तत्साधनप्रतिपादनाय क्रियायोगमाह—**तप इति** ।

तपः कृच्छ्रादि, स्वाध्याय ओंकारपूर्वकमन्त्राणां जपः, सर्वक्रियाणां समपर्णमेतानि क्रियायोगः ॥१॥

योगसुधाकरः ।

परापश्यन्त्यादिभेदाभिन्नामेकां निसर्गतः ।
चिदानन्दमयीं नित्यां वाचं कांचिदुपास्महे ॥

पूर्वं सावान्तरभेदं सान्तरङ्गसाधनं सफलं समाधिमभिधायाधुना पूर्वाभिहितसाधनेऽप्रवर्तमानमानसमपक्वकषायकरणं प्रति बहिरङ्गसाधनं क्रियायोगमाह—**तप इति** ।

हितमितमेध्याशनं तपः । परमपवित्रप्रणवादिमन्त्रजपः स्वाध्यायः । ईश्वरे लीलया स्वीकृतातिमनोहराङ्गे परमगुरौ कायवाङ्मनोभिर्निर्वर्तितो भक्तिविशेषः प्रणिधानम् । तानि क्रियारूपत्वाद्योगसाधनत्वाच्च क्रियायोग इति शुद्धसारूप्यलक्षणाश्रयणेन निरूप्यन्ते 'आयुर्घृतम्' इतिवदित्यर्थः ॥ १ ॥

भोजवृत्तिः ।

स किमर्थ इत्यत आह —

(१)समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

क्लेशा वक्ष्यमाणास्तेषां तनूकरणं स्वकार्यकरणप्रतिबन्धः । समाधिरुक्तलक्षणस्तस्य भावना चेतसि पुनः पुनर्निवेशनं सोऽर्थः प्रयोजनं यस्य स तथोक्तः । एतदुक्तं भवति—एते तपःप्रभृतयोऽभ्यस्यमानाश्चित्तगतानविद्यादीन्क्लेशाञ्छिथिलीकुर्वन्तः समाधेरुपकारकतां भजन्ते । तस्मात्प्रथमतः(२) क्रियायोगावधानपरेण योगिना भवितव्यमित्युपदिष्टम् ॥ २ ॥

---

(१) क्रियायोगस्य किं फलमित्यत आह समाधीत्यादि ।

(२) प्रथममिति पाठान्तरम् ।

भावागणेशवृत्तिः ।

तपआदीनां योगोत्पादने द्वारमाह—**समाधीति** ।

स क्रियायोगः योगहेतुसमाधिं चित्तैकाग्र्यमुत्पादयति, वक्ष्यमाणांश्च क्लेशान्योगप्रतिबन्धकान्प्रकर्षेण तनूकरोति सत्त्वशुद्ध्यादिद्वारेणेत्यर्थः । तनुत्वं च विवेकख्यातिप्रतिबन्धकतावच्छेदकस्योत्कटत्वस्याभावः ॥२॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

एवं योगोत्पादने द्वारमाह—**समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च** । स क्रियायोगः समाधेर्योगहेतुचित्तैकाग्र्यस्योत्पादकः, वक्ष्यमाणक्लेशानां योगप्रतिबन्धकानां सत्त्वशुद्धिद्वारेण तनूकरणार्थश्चेत्यर्थः । तनुत्वं च विवेकख्यातिप्रतिबन्धकतावच्छेदकोत्कटत्वस्याभावः । एवञ्च प्रतिबन्धकाभावाद्विवेकख्यात्यात्मकप्रसंख्यानोदये ते क्लेशा दग्धबीजवद्वन्ध्या भवन्ति । वन्ध्येषु च तेषु समाप्ताधिकारं चित्तं विलीयते इति दिक् । तत्र क्रियायोगस्य क्लेशतानवं दृष्टादृष्टद्वारा फलमभिमानरागद्वेषादिप्राबल्ये क्रियायोगासंभव एव, संभवे वाङ्गविकल इति स्वनिष्पत्तये स क्लेशतानवं करोति । एवं क्रियायोगेन चित्तशुद्धौ अधर्माख्यकारणतानवादविद्यादेरपि तानवं भवति । एवं योगोऽपि क्रियायोगस्य दृष्टादृष्टद्वारा फलम् । तत्र सत्त्वशुद्धिरदृष्टद्वारम् । दृष्टं तु चित्तनियमनम् । एवं क्रियायोगेन क्लेशतानवे सति अन्तरा क्लेशैरप्रतिबद्धो विवेकख्यातिप्रवाहः साक्षात्कारपर्यवसायी भवति । ततस्तेन साक्षात्कारेणाग्निना दग्धबीजकल्पाः क्लेशाः प्ररोहसमर्था न भवन्ति । एषा जीवन्मुक्तिः । ततः प्रारब्धसमाप्तौ चित्तेन सह दग्धबीजकल्पा अनागतावस्थाः सूक्ष्मक्लेशाः तत्कारणे लीयन्ते । ततः कारणाभावात्पुनर्जन्माभाव इति परममुक्तिः । न च ज्ञानाग्निचित्ते विद्यमान एव क्लेशानां नाशोऽस्तु किं दाहकल्पनयेति वाच्यम् । कार्यानागतावस्थाया एव कारणशक्तित्वेन शक्तेश्च यावद्द्रव्यभावितया अग्न्यादिनिष्ठदाहादिशक्तेर्दृष्टत्वात् चित्ते विद्यमाने तन्नाशासंभवेन दाहकल्पनात् । एष एवार्थोऽग्रिमसूत्रेषु स्फुटः ॥ २ ॥

मणिप्रभा ।

क्रियायोगस्य फलमाह—**समाधीति** ।

निबिडेषु क्लेशेषु सत्सु समाधिर्न सिध्यति । तस्मात्क्रियायोगः क्लेशान् तनूकृत्य समाधिं भावयति । तनुकरणं क्लेशानां सदोद्भवतां कादाचित्क उद्भवः । भावनं समाधेरुत्पादनम्, तदर्थः फलं यस्य स तथोक्तः । क्रियायोगेन क्लेशच्छिद्रेषु लब्धावसरः समाधिः विवेकख्यातिमुत्पाद्य सवासनक्लेशान्दहतीति भावः ॥ २ ॥

चन्द्रिका ।

समाधीति । उक्तलक्षणसमाधिभावनार्थो वक्ष्यमाणक्लेशशिथिलीकरणार्थश्च ॥ २ ॥

योगसुधाकरः ।

स किमर्थं इत्यत आह—**समाधीति** ।

समाधेर्भावनं निष्पादनमर्थः प्रयोजनं यस्य स तथोक्तः, क्लेशानां तनूकरणं शिथिलीकरणमर्थः प्रयोजनं यस्य स तथोक्तः । एतदुक्तं भवति—दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारानुबन्धितपआदिक्रियायोगानुष्ठानेन क्लेशा विशरारुतामिताः सन्तः पुरुषान्यताख्यातावनुपप्लवायां जातायां समूलकाषं कषिता भवन्तीति ॥ २ ॥

भोजवृत्तिः ।

क्लेशतनूकरणार्थं इत्युक्तं, तत्र के क्लेशा इत्यत आह—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः(१) ॥ ३ ॥

अविद्यादयो वक्ष्यमाणलक्षणाः पञ्च, ते च बाधनालक्षणं परितापमुपजनयन्तः क्लेशशब्दवाच्या भवन्ति । ते हि चेतसि प्रवर्तमानाः संस्कारलक्षणं(२) गुणपरिणामं दृढयन्ति ॥ ३ ॥

(१) पञ्च क्लेशाः—इति पाठान्तरम् । (२) संसारलक्षणमिति पाठा० ।

भावागणेशवृत्तिः ।

इतः परं क्लेशाः कियन्तो वा तनूकरणस्य वा किं फलमित्यादिकं महाप्रघट्टकेन प्रदर्शयितुमुपक्रमते—अविद्येति ।

अविद्यादयः पञ्च क्लेशत्वेन परिभाषिताः क्लेशाख्या दुःखनिदानत्वादित्यर्थः ॥ ३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अथ क्लेशानाह—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः । एते पञ्च क्लेशा इत्यर्थः । ते हि चेतसि वर्तमानाः संसारधर्माधर्मकर्ममयं गुणपरिणामं द्रढयन्ति । कर्मभिः क्लेशाः क्लेशैश्च कर्माणीत्यनवस्था तु बीजाङ्कुरवदनादित्वान्न दोषाय ॥ ३ ॥

मणिप्रभा ।

अथ क्लेशाः कीदृशाः कियन्तो वेत्यत आह—अविद्येति ।

क्लिश्यन्ति कर्मतत्फलप्रवर्तकाः सन्तः पुरुषं दुःखाकुर्वन्तीति क्लेशाः ते च पञ्चेत्यर्थः ॥ ३ ॥

चन्द्रिका ।

अविद्येति । वक्ष्यमाणलक्षणा अविद्यादयस्तापं जनयन्तः क्लेशशब्दवाच्या भवन्ति ॥ ३ ॥

योगसुधाकरः ।

के ते क्लेशाः कियन्त इत्यपेक्षायामाह—अविद्येति ।

पुरुषं क्लेशयन्ति दुःखाकुर्वन्तीति क्लेशाः । ते पञ्चेत्यर्थः ॥ ३ ॥

भोजवृत्तिः ।

सत्यपि सर्वेषां तुल्ये क्लेशत्वे मूलभूतत्वादविद्यायाः प्राधान्यं प्रतिपादयितुमाह—

(१) अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

अविद्या मोहः, अनात्मन्यात्माभिमान इति यावत् । सा क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां प्रत्येकं प्रसुप्ततन्वादिभेदेन चतुर्विधानाम् । अतो यत्राविद्या विपर्ययज्ञानरूपा शिथिलीभवति तत्र क्लेशानामस्मितादीनां नोद्भवो दृश्यते । विपर्यज्ञानसद्भावे च तेषामुद्भवदर्शनात्स्थितमेव मूलत्वमविद्यायाः । प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणामिति । तत्र ये क्लेशाश्चित्तभूमौ स्थिताः प्रबोधकाभावे स्वकार्यं नाऽऽरभन्ते ते प्रसुप्ता इत्युच्यन्ते-यथा बालावस्थायां, बालस्य हि वासनारूपेण स्थिता अपि क्लेशाः प्रबोधकसहकार्यभावे नाभिव्यज्यन्ते । ते तनवो ये स्वस्वप्रतिपक्षभावनया शिथिलीकृतकार्यसंपादनशक्तयो वासनावशेषतया चेतस्यवस्थिताः प्रभूतां सामग्रीमन्तरेण स्वकार्यमारब्धुमक्षमाः-यथाऽभ्यासवतो योगिनः । ते विच्छिन्ना ये केनचिद्बलवता क्लेशेनाभिभूतशक्तयस्तिष्ठन्ति—यथा द्वेषावस्थायां रागः, रागावस्थायां वा द्वेषः, न ह्यनयोः परस्परविरुद्धयोर्युगपत्संभवोऽस्ति । त उदारा ये प्राप्तसहकारिसंनिधयः स्वं स्वं कार्यमभिनिर्वर्तयन्ति-यथा सदैव योगपरिपन्थिनो व्युत्थानदशायाम् । एषां प्रत्येकं चतुर्विधानामपि मूलभूतत्वेन स्थिताऽप्यविद्याऽन्वयित्वेन प्रतीयते । न हि क्वचिदपि क्लेशानां विपर्ययान्वयनिरपेक्षाणां स्वरूपमुपलभ्यते । तस्यां च मिथ्यारूपायामविद्यायां(२) सम्यग्ज्ञानेन निवर्तितायां दग्धबीजकल्पानामेषां न क्वचित्प्ररोहोऽस्ति । अतोऽविद्यानिमित्तत्वमविद्यान्वयश्चैतेषां निश्चीयते; अतः सर्वेऽपि अविद्याव्यपदेशभाजः । सर्वेषां च क्लेशानां चित्तविक्षेपकारित्वाद्योगिना प्रथममेव तदुच्छेदे यत्नः कार्य इति ॥ ४ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

अविद्यादयोऽग्रे लक्षणीयाः । आदौ तु स्थूलसूक्ष्माणां सर्वेषामेव क्लेशानां ज्ञाननाश्यत्वं वक्ष्यमाणमुपपादयितुमविद्यामूलकत्वमन्यक्लेशानामाह—अविद्येति ।

उत्तरेषामस्मितादीनां प्रसुप्तादिचतुर्विधानामप्यविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरित्यन्वयः । यद्यप्यविद्यापञ्चक-

---

(१) हेयानां क्लेशानामविद्यामूलत्वं दर्शयति अविद्येत्यादि ।

(२) मिथ्याज्ञानरूपायामिति पाठान्तरम् ।

स्यान्तःकरणमेव प्रसवभूमिस्तथाप्यविनाभावरूपेणोपादानसाधर्म्येणात्र निमित्तकारणस्यापि प्रसवभूमित्वं गौणम्, यदेव हि वस्तु अहं ममेत्यविद्याविषयो भवति तत्रैव रागादिकं भवतीति। अत्र प्रसुप्तिर्ज्ञानाग्न्यदग्धयाऽव्यक्तावस्थयाऽवस्थानम्। ज्ञानाग्निदग्धानां हि कदाप्यनुत्पादात्प्रसवभूम्यसंभवः। तनुत्वं तु पूर्वसूत्रे व्याख्यातम्। विच्छिन्नत्वं च अल्पप्रतिबन्धवशाद्व्यञ्जकसत्त्वेऽप्यन्तरान्तरानभिव्यक्तिरतः सुषुप्तितोऽस्य भेदः, व्यञ्जकविलम्बेन द्वित्रिजन्मादिबहुकालव्याप्त्यानभिव्यक्तेरेव प्रसुप्तित्वात्, प्रशब्देन प्रकर्षलाभात्। तदारब्धं चाभिव्यक्तत्वमुदारत्वमिति ॥ ४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अथ सर्वेषां क्लेशानां ज्ञाननाश्यत्वमुपपादयितुमविद्यामूलकत्वमन्यक्लेशानामाह—**अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।** उत्तरेषामस्मितादीनां प्रसुप्तादिभेदेन चतुर्विधानामप्यविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरित्यर्थः॥ यद्यप्यन्तःकरणमेव सर्वेषां प्रसवभूमिः, तथाप्यविनाभावरूपेण तत्संश्लिष्टत्वरूपेण चोपादानसाधर्म्येणात्र निमित्तकारणस्यापि प्रसवभूमित्वं गौणम्। यदेव हि अहं ममेत्यविद्याविषयो भवति तत्रैव रागादिकं भवति। तत्र प्रसुप्तिर्ज्ञानाग्न्यदग्धया अव्यक्तावस्थया कार्योन्मुखतारूपयाऽवस्थानम्। यथा विदेहप्रकृतिलयानाम्। विवेकख्यातिरूपज्ञानाग्निदग्धानां न कदापि कार्योन्मुखता इति सा पञ्चमी अवस्था। तनुत्वं द्वितीयसूत्रे व्याख्यातम्॥ विच्छिन्नत्वमल्पप्रतिबन्धवशाद्व्यञ्जकसत्त्वेऽप्यन्तरान्तरानभिव्यक्तिरतः प्रसुप्तितोऽस्य भेदः। व्यञ्जकविलम्बेन तज्जन्मपर्यन्तबहुकालव्याप्त्यनभिव्यक्तेरेव प्रसुप्तित्वात्, प्रशब्देन प्रकर्षलाभात्। विच्छिन्नत्वं यथा रागकाले द्वेषस्य द्वेषकाले रागस्य क्रोधसमाविष्टेन मिष्टान्नस्यापि त्यागात्। यथा वा विषयान्तररागेण विषयान्तररागः। स हि तदा प्रसुप्तस्तनुर्विच्छिन्नश्च। प्रतिपक्षभावनाऽप्रतिबन्धकत्वं च तनुत्वम्। उदारत्वं विषये लब्धवृत्तित्वाख्यमभिव्यक्तत्वम्।

> प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम्।
> विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसङ्गिनाम्॥ इति संग्रहः॥ ४॥

मणिप्रभा।

तत्र चतुर्णामविद्याकार्यत्वेनाविद्यात्मत्वमाह—**अविद्येति**।

उत्तरेषामस्मितादीनामविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिः। तेषामवान्तरभेदमाह प्रसुप्ताः तनवो विच्छिन्ना उदाराश्च तेषाम्। तत्र विदेहप्रकृतिलयानां योगिनां क्लेशाः प्रसुप्ताः विवेकख्यात्यभावेनादग्धतया शक्तिरूपेणावस्थानाद् अत एवान्ते पुनरुद्भवन्ति। क्रियायोगिनां तनवः। विषयसङ्गिनां विच्छिन्ना उदाराश्च भवन्ति। यथा चैत्रस्य यस्यां रागस्तत्र क्रोधो विच्छिन्नो रागः उदारः। एवं यत्र क्रोध उदारस्तत्र रागो विच्छिन्नः, कालेनोदारो भूत्वा पुरुषपशुं क्लेशयति। एते क्लेशा अविद्यामूलाः। तस्याः पुरुषापरोक्ष्यख्यात्या निवृत्तौ निवर्तन्ते। यथा जीवन्मुक्तस्य क्लेशाः। क्षीणा इति पञ्चमी क्लेशानामवस्था द्रष्टव्या ४॥

चन्द्रिका।

अविद्येति। अविद्या अनात्मन्यात्माभिमानः सा क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां प्रत्येकं सुप्तादिभेदेन चतुर्विधानाम्। तत्र ये क्लेशाश्चित्तभूमौ स्थिताः प्रबोधकाभावे स्वकार्यं नारभन्ते ते प्रसुप्ताः(१)। तनवः सूक्ष्माः(२)। विच्छिन्नाः परस्परमितरोत्कर्षे उच्छिन्नाः(३)। ये स्वं स्वं कार्यमभिनिर्वर्त्तयन्ति ते उदारास्तेषाम्॥ ४॥

---

(१) यथा बालानां वासनारूपेणावस्थिताः क्लेशाः प्रबोधकाभावेन न व्यज्यन्ते।

(२) ये स्वस्वप्रतिपक्षभावनया शिथिलीकृतकार्यसम्पादनशक्तयः वासनारूपेणावस्थिताः न स्वकार्यमारब्धुं क्षमाः।

(३) ये केनचिद्बलवता क्लेशेन अभिभूतशक्तयः न स्वकार्यक्षमाः यथा उत्कटरागावस्थायां द्वेषः द्वेषावस्थायां वा रागः।

योगसुधाकरः।

अथाऽस्मितादीनामविद्यानिदानत्वमाह—**अविद्येति**

प्रसुप्तास्तनवो विच्छिन्ना उदाराश्चास्मितादयश्चत्वारः। तेषामुत्तरेषामविद्या भावरूपो विपर्ययः, सा क्षेत्रं प्रसवभूमिः। तत्र प्रसुप्तत्वं प्रबोधसहकारस्याभावेनानभिव्यक्तिः। तनुत्वं प्रतिपक्षभावनया शिथिलीकरणम्। विच्छिन्नत्वं बलवता क्लेशेनाभिभवः। उदारत्वं सहकारिसंनिधिवशात्कार्यकारित्वमित्यर्थः॥४॥

भोजवृत्तिः।

अविद्याया लक्षणमाह—

(१) अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या॥५॥

अतस्मिंस्तदिति प्रतिभासोऽविद्येत्यविद्यायाः सामान्यलक्षणम्। तस्या एव भेदप्रतिपादनम्—अनित्येषु घटादिषु नित्यत्वाभिमानोऽविद्येत्युच्यते। एवमशुचिषु कायादिषु शुचित्वाभिमानः, दुःखेषु च विषयेषु सुखत्वाभिमानः, अनात्मनि शरीर आत्मत्वाभिमानः। एतेनापुण्ये पुण्यभ्रमोऽनर्थे चार्थभ्रमो व्याख्यातः॥५॥

भावागणेशवृत्तिः।

अविद्यादीन्पञ्च क्रमण पञ्चभिः सूत्रैर्लक्षयति—**अनित्येति**।

यथासंख्यमनित्यादिचतुष्के नित्यादिचतुष्कबुद्धिरविद्येत्यर्थः। इदं चोपलक्षणम्। नित्यादिचतुष्टयेऽनित्यादिचतुष्टयबुद्धिः, पापादौ पुण्यादिबुद्धिरपि विवक्षिता, तासामपि संसारहेत्वविद्यात्वात्। शुक्तिरजताद्यविद्यानां तु संसाराहेतुत्वान्नात्र गणना। सूत्रोक्ताविद्यास्वप्यनात्मन्यात्मबुद्धिरेव संसारस्य मूलकारणमुत्तरसूत्रे वक्ष्यमाणत्वात्,

> अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या अस्वे स्वमिति या मतिः।
> अविद्यातरुसंभूतिबीजमेतद्द्विधा स्थितम्॥ इति स्मृतेः॥

अन्यास्त्वविद्यास्तच्छेषतयैव संसारहेतव इति। तत्रानित्ये नित्यबुद्धिर्यथा ध्रुवा पृथिवी, अमृता देवाः, इत्याद्या। अशुचौ शुचिबुद्धिश्च शरीरं पवित्रमित्यादि। तथा दुःखप्रचुरत्वाद्दुःखे जगति सुखप्रचुरबुद्धिस्तृतीयाऽविद्या। तथा अनात्मनि चतुर्विंशतितत्त्व आत्मबुद्धिश्चतुर्थी॥५॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

तत्राविद्यालक्षणमाह—**अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या**। यथासंख्यमनित्यादिचतुष्के नित्यादिचतुष्कबुद्धिश्चतुर्धर्मावच्छिन्ने नित्यत्वादिचतुर्धर्मावच्छिन्नत्वबुद्धिरविद्येत्यर्थः। उपलक्षणं चैतत्। नित्यादिचतुष्टयेऽनित्यादिचतुष्टयबुद्धिः पापादौ पुण्यादिबुद्धिरप्येवं तासामपि संसारहेत्वविद्यात्वात्। शुक्तिरजताद्यविद्यानां तु तदहेतुत्वान्नात्र गणना। सूत्रोक्ताविद्यास्वपि अनात्मन्यात्मबुद्धिरेव संसारबीजम्। अत्रात्मशब्द आत्मीयपरोऽपि तेनानात्मीये आत्मीयबुद्धिरपि सङ्गृहीता—

> अनात्मन्यात्मबुद्धिर्याऽस्वे स्वीयमिति या मतिः।
> अविद्यातरुसंभूतिबीजमेतद्द्विधा स्थितम्॥ इति स्मृतेः।

अन्यास्त्वविद्यास्तच्छेषतयैव संसारहेतवः। तत्रानित्ये नित्यबुद्धिर्यथा ध्रुवा पृथिवी, अमृता देवा इत्यादि। तत्रैषां नित्यत्वामृतत्वे मन्यमानास्तद्भावाय तत्तदुपासनां सोमपानादि चाचरन्ति। द्वितीयाऽशुचौ शरीरे शुचिबुद्धिः।

> स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निस्यन्दान्निधनादपि।

---

(१) अनित्येषु नित्यख्यातिः अशुचिषु शुचिख्यातिः दुःखेषु सुखख्यातिः अनात्मसु आत्मख्यातिरित्यर्थः। अत्र "एषा भवति चतुष्पदा अविद्ये"ति भाष्यम्।

कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥

स्थानं मातुरुदरम् । उपष्टम्भोऽशितपीतादिरसभावः । निष्यन्दः स्वेदः । निधनं मरणं, मृतशरीरस्पर्शे स्नानाद्युक्तेः । कामिनीनामङ्गरागादिभिः सुगन्धितेव मृज्जलादिभिराधेयशौचम् । कान्तादिमुखे चन्द्रत्वादिबुद्धिरप्येवम् । एवमपुण्ये हिंसादौ पुण्यप्रत्ययः । अर्जनादिदुःखबहुलतयाऽनर्थे धनादावर्थप्रत्ययोऽपि जुगुप्सितत्वेनाशुचित्वात् । सुखस्यापि दुःखतया वक्ष्यमाणत्वात्तन्मये जगति सुखबुद्धिः । अनेन सुखरूपमीश्वरस्य पुरुषमात्रस्य सिद्धम् । तथानात्मनि चतुर्विंशतितत्त्वात्मके आत्मत्वबुद्धिरात्मीयत्वबुद्धिश्चतुर्थी । एवं च विद्याविरोधि विपरीतज्ञानमविद्येत्युक्तम् ॥ ५ ॥

मणिप्रभा ।

तेष्वविद्यारूपमाह—**अनित्येति** ।

अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यर्थः । अमरा देवा इत्यनित्येषु नित्यत्वभ्रान्त्या देवत्वार्थं कर्म कृत्वा बध्यन्ते । एवमशुचौ स्त्रीकाये शुचित्वभ्रान्त्या बध्यन्ते । तदुक्तं भगवता वेदव्यासेन—

स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥ इति ।

विण्मूत्रसङ्कुलं मातुरुदरं स्थानं, शुक्रशोणितं बीजम्, अन्नपरिणामश्लेष्मादिरुपष्टम्भः, सर्वद्वारैर्मलानां स्रवणं निष्यन्दः, निधनं मरणं, तेन हि श्रोत्रियकायोऽप्यत्यन्ताशुचिर्भवति । आधेयशौचत्वं स्नानानुलेपनादिना शुचित्वापादनं, तथा परिणामदुःखे भोगे सुखत्वभ्रान्तिः । अनात्मनि बुध्यादावात्मत्वख्यातिः । अविद्या तत्त्वविद्याविरोधिनीत्यर्थः । यद्यपि शुक्तिरूप्याद्यविद्याः सन्ति तथाऽपीयं चतुर्विधैवाविद्या बन्धमूलमिति भावः ॥ ५ ॥

चन्द्रिका ।

अनित्येति । अतस्मिंस्तदिति प्रतिभासोऽविद्येत्यविद्यालक्षणम् । घटकायदुःखशरीरेषु नित्यशुचिसुखात्मत्वाभिमानोऽविद्या ॥ ५ ॥

योगसुधाकरः ।

अथाविद्यास्वरूपमाह—**अनित्येति** ।

अतस्मिंस्तद्बुद्धिर्विपर्यय इत्युक्तं भवति । तद्यथा—अनित्ये स्वर्गादौ नित्यत्वाभिमानः । अशुचौ मांसासृक्पूयविण्मूत्रादिशालिनि काये शुचित्वप्रत्ययः । दुःखे स्रक्चन्दनवनितादौ सुखत्वारोपः । अनात्मनि देहादावात्मबुद्धिः इत्याविद्या चतुष्पदेत्यर्थः ॥ ५ ॥

भोजवृत्तिः ।

अस्मितां लक्षयितुमाह—

(१)दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतै(ते)वास्मिता ॥ ६ ॥

दृक्शक्तिः पुरुषः, दर्शनशक्ती रजस्तमोभ्यामनभिभूतः सात्त्विकः परिणामोऽन्तःकरणरूपः, अनयोर्भोग्यभोक्तृत्वेन जडाजडत्वेनात्यन्तभिन्नरूपयोरेकताभिमानोऽस्मितेत्युच्यते, यथा प्रकृतिर्वस्तुतः कर्तृत्वभोक्तृत्वरहिताऽपि कर्त्र्यहं भोक्त्र्यहमित्यभिमन्यते । सोऽयमस्मिताख्यो विपर्यासः क्लेशः ॥ ६ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

दृगिति । दृग्द्रष्टा । दृश्यतेऽनयेति दर्शनं बुद्धिः । प्रलयादौ फलोपधानं नास्तीति शक्तिपदम् । दृक्शक्तेर्दर्शनशक्तेश्चैकात्मतेव धर्मतश्च रूपतश्चात्यन्तमेकाकारबुद्धिरस्मिता अहङ्कार इत्यर्थः । अवि-

---

(१) अविद्यामुक्त्वा तस्याः कार्यमस्मिता लक्षयातं दृगित्यादि । दृक् च दर्शनं च ते एव शक्ती तयोरात्मानात्मनोरनात्मन्यात्मज्ञानलक्षणा अविद्या आपादिता या एकात्मतेव न तु परमार्थत एकात्मता सा अस्मितेत्यर्थः । वास्तवकर्तृत्वभोक्तृत्वराहित्येपि कर्तृत्वाद्यभिमानः अस्मितेत्यर्थः ।

यातश्चास्मितायाः अयं भेदो यद्बुद्ध्यादौ सामान्यतोऽहंबुद्धिर्भेदाभेदसहिष्णुरुदेत्यत्यन्ताभेदाग्रहणात् सैवाविद्या । अस्मिता तु स्वतो धर्मतश्च तयोरखण्डत्वभ्रमरूपेति ॥ ६ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अस्मितामाह—**दृक्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता** । दृक् द्रष्टा पुरुषः, दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं बुद्धिः प्रलयादौ फलोपधानाभावाच्छक्तिपदम् । अनयोरेकात्मतेव धर्मतः स्वरूपतश्चात्यन्तमेकाकारा बुद्धिरस्मिता अहंकार इत्यर्थः । अविद्या तु बुद्ध्यादौ सामान्यतो भेदाभेदसहिष्णुः, अत्यन्ताभेदाग्रहणात् । तिरस्कृतभेदा सैवास्मितेति बोध्यम् । वस्तुतः परिणामित्वादिधर्मैस्तयोर्भेद एव । अस्मितायां सत्यामेव भोगो भवति । तत्र भोग्यशक्तिबुद्धिरशुद्धाऽनुदासीना जडा च, भोक्तृशक्तिः पुरुषः सदा शुद्धः उदासीनश्चैतन्यरूपश्चेति ॥ ६ ॥

मणिप्रभा ।

दृगिति । दृक्शक्तिः पुरुषः, दृश्यते इति दर्शनं तच्छक्तिः बुद्धिः, शक्तिशब्दो योग्यताऽर्थकः भोक्तृभोग्यत्वयोग्ययोरत्यन्तविविक्तयोर्दृग्दृश्ययोराविद्याकृतैकात्मता तादात्म्यम्, "इव"शब्देनाहमस्मीतिभ्रान्तिकृतत्वं तादात्म्यस्य द्योतयति । साऽस्मितेत्यर्थः । अयं हृदयग्रन्थिरित्युच्यते ब्रह्मवादिभिः ॥ ६ ॥

चन्द्रिका ।

दृगिति । दृक्शक्तिः पुरुषो दर्शनशक्तिरन्तःकरणस्य सात्त्विकः परिणामस्तयोर्भोक्तृभोग्यत्वेन भिन्नत्वेऽपि एकताभिमानोऽस्मिता ॥ ६ ॥

योगसुधाकरः ।

अविद्यामूलास्मितामाह—**दृगिति** ।

सत्त्वपुरुषयोरहमस्मीत्येकताभिमानोऽस्मितेत्यर्थः ॥ ६ ॥

भोजवृत्तिः ।

रागस्य लक्षणमाह—

सुखानुशयी रागः(१) ॥ ७ ॥

सुखमनुशेत इति सुखानुशयी, सुखज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वकं सुखसाधनेषु तृष्णारूपो गर्धो रागसञ्ज्ञकः क्लेशः ॥ ७ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

सुखेति । सुखतत्साधनमात्रविषयकः क्लेशो राग इत्यर्थः । मात्रपदादविद्यादिव्यावृत्तिः । क्लेशपदाज्जीवन्मुक्तादीच्छाव्यावृत्तिः ॥ ७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तथास्मितापूर्वकत्वाद्रागादीनां तदनन्तरं तांल्लक्षयति—**सुखानुशयी रागः** । सुखे तत्साधने वा तत्त्वेन गृहीते तृष्णारूपः क्लेशो राग इत्यर्थः । क्लेशपदाच्च जीवन्मुक्तादीच्छाव्यावृत्तिः ॥ ७ ॥

मणिप्रभा ।

अस्मितायाः कार्यं रागं निरूपयति—**सुखेति** ।

सुखानुभवे सति स्मृत्या तज्जातीयसुखान्तरे तत्साधने वा या तृष्णा स रागः सुखमनुशेते विषयीकरोतीति सुखानुशयीत्यर्थः ॥ ७ ॥

---

(१) सुखाभिज्ञस्य सुखस्मृतिपूर्वकः सुखतत्साधनविषयको यो गर्द्धः स राग इत्युच्यते । स्मर्यमाणे सुखे सुखस्मृतिपूर्वकः रागः अनुभूयमाने तु सुखे नानुस्मृतिमपेक्षते । तत्साधने तु सुखस्मृतिपूर्व एव रागः दृश्यमानमपि सुखसाधनं तज्जातीयस्य सुखहेतुतां स्मृत्वा सुखसाधनजातीयतया अस्य सुखसाधनत्वमनुमाय इच्छतीति भावः ।

चन्द्रिका ।

सुखेति । सुखमनुशेत इति सुखानुशयी रागः सुखसाधने गर्द्धः सोऽयं रागलक्षणः क्लेशः ॥७॥

योगसुधाकरः ।

रागं निरूपयति—सुखेति ।

सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वकं सुखसाधनेषु तृष्णारूपो राग इत्यर्थः ॥ ७ ॥

भोजवृत्तिः ।

द्वेषस्य लक्षणमाह—

दुःखानुशयी द्वेषः(१) ॥ ८ ॥

दुःखमुक्तलक्षणं, तदभिज्ञस्य तदनुस्मृतिपूर्वकं तत्साधनेषु अनभिलषतो योऽयं निन्दात्मकः क्रोधः स द्वेषलक्षणः क्लेशः ॥ ८ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

दुःखेति । सर्वं पूर्ववत् ॥ ८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

दुःखानुशयी द्वेषः । दुःखे तत्साधने तत्त्वेन गृहीते यः क्रोधः स द्वेषः इत्यर्थः ॥ ८ ॥

मणिप्रभा ।

दुःखेति । दुःखानुभवितुः स्मृत्या दुःखतत्साधनयोर्यः क्रोधः स द्वेष इत्यर्थः ॥ ८ ॥

चन्द्रिका ।

दुःखेति । उक्तलक्षणदुःखाभिज्ञस्यानुस्मृतिपूर्वकं तत्साधनेष्वनभिलाषिता निन्दात्मको द्वेषलक्षणः क्लेशः ॥ ८ ॥

योगसुधाकरः ।

दुःखेति । दुःखाभिज्ञस्य तदनुस्मृतिपुरःसरं तत्साधनेषु निन्दा द्वेष इत्यर्थः ॥ ८ ॥

भोजवृत्तिः ।

अभिनिवेशस्य लक्षणमाह—

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढो(२)ऽभिनिवेशः(३) ॥ ९ ॥

पूर्वजन्मानुभूतमरणदुःखानुभववासनाबलाद्भयरूपः समुपजायमानः शरीरविषयादिभिः(४) मम वियोगो मा भूदिति अन्वहमनुबन्धरूपः सर्वस्यैवाऽऽकृमेर्ब्रह्मपर्यन्तं निमित्तमन्तरेण प्रवर्तमानोऽभिनिवेशाख्यः क्लेशः ॥ ९ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

स्वरसेति । स्वस्य रसेन संस्कारेणैव वहतीति स्वरसवाही । अपिशब्दसमुच्चितमविद्वांसं तथेति तच्छब्दः परामृशति । रूढः प्रसिद्धः । तथाच यथाऽविदुषः तथा विदुषोऽपि स्वरसवाहित्वहेतुना यज्जातीयो यत्क्लेशो भयाख्यः प्रसिद्धोऽस्ति सोऽभिनिवेश इत्यर्थः । विदुषामपि मरणत्रासकृतं भयमस्तीति भाष्यकृतोक्तम् । पूर्वपूर्वजन्मसु मरणकाले यस्त्रासो जातो 'मा न भूवं भूयासम्' इत्युत्कण्ठारूपो

---

(१) दुःखज्ञानवतः दुःखस्मृतिपूर्वकः दुःखतत्साधनविषयको यो निन्दात्मको मन्युः स द्वेषः इति पूर्ववदेवार्थः ।

(२) तन्वनुबन्धोऽभिनिवेश इति पाठान्तरम् ।

(३) तथारूढो ऽभिनिवेश इति भाष्यादिसम्मतः पाठः । तथारूढोऽन्वनुबन्धो ऽभिनिवेश इति पाठान्तरम् ।

(४) शरीरविषयादेरिति पाठान्तरम् ।

भयनामा तज्जनितसंस्कारमात्रादविदुषामिवात्मविदामपि स जायते, न तत्राविद्यादिकं कारणमिति । एतज्जातीयं च भयसामान्यमभिनिवेशशब्देन परिभाषितमिति भावः ॥ ९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अभिनिवेशमाह—स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः । स्वस्य रसेन संस्कारेणैव वहतीति स्वरसवाही । अपिशब्दसमुचितस्तथाशब्दोऽविद्वांसं परामृशति । रूढः प्रसिद्धः । एवं च विद्वदविदुषोः स्वरसवाहित्वहेतुना यज्जातीयः क्लेशो भयाख्यः प्रसिद्धोऽस्ति सोऽभिनिवेशः इत्यर्थः । सर्वस्य चेयमिच्छा दृश्यते माभूवं मे मृतिर्जीव्यासमिति । स च जन्मान्तरेऽनुभूतमरणत्रासस्य तत्रासस्मरणजन्यभयेनाभिनिवेशाख्येन हि इयमिच्छा । स चायं दुःखजनकत्वात्क्लेशः यथा चायं जातमात्रस्य क्रिम्यादेस्तथा श्रुतानुमानाभ्यां ज्ञातसंसारकैवल्यतत्त्वस्य विदुषोऽपि मरणत्रासरूपोऽभिनिवेश इत्यर्थः । एतज्जातीयं च भयसामान्यमभिनिवेशशब्देनोच्यते । ननु पञ्चमी क्लेशावस्था दग्धबीजभावावस्था कुतो नोक्तेति चेन्न । पुरुषप्रयत्नसाध्यहानिका ह्युक्ता न चैषा तथा, चित्तलये तेनैव सह तासां नाशात् । 'ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्मा' इति तु भाष्यमेव न सूत्रमिति वाचस्पतिस्वरसः । प्रतिप्रसवश्चित्तलयः ॥ ९ ॥ १० ॥

मणिप्रभा ।

विदुषो मूर्खस्य वा जन्तुमात्रस्य यो मरणत्रासः सोऽभिनिवेशः । यथा मूर्खस्याहं सदा स्यामिति रूढत्रासः तथा विदुषोऽपि रूढो दृश्यते । यतः स्वरसवाही सः, पूर्वजन्मस्वसकृन्मरणदुःखानुभवजन्यवासनासङ्घः स्वरसः । तेन वहति प्रवहतीति स्वरसवाही । अनेन भयेन देहातिरिक्तात्मा भाष्ये प्रसङ्गाद्दर्शितः । दृश्यते हि जातमात्रस्य बालस्य मरणाद्भयं तच्च पूर्वमरणस्मरणं विनाऽनुपपन्नमिति । एते चाविद्याऽऽदयः पञ्च क्रमेण तमो मोहो महामोहः तामिस्रः अन्धतामिस्र, इत्युच्यन्ते । तत्राऽव्यक्तमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्रेष्वष्टस्वनात्मस्वात्मबुद्धिरविद्या तमः, अणिमाद्यष्टैश्वर्येषु अणुरस्मि महानस्मीति तादात्म्यं मोहः, तेन दिव्यादिव्यभेदेन शब्दादिदशविषयेषु रागो महामोहः, कुतश्चिदैश्वर्यविघाते तन्निमित्तकदशविषयभोगालाभे सत्यष्टादशेष्टविघातके द्वेषस्तामिस्रः, एतेषामेवाष्टादशानामिष्टानां नाशाद्भयमन्धतामिस्र इति । तथा च सांख्यकारिका—

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः ।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः । इति ॥ ९ ॥

चन्द्रिका ।

स्वरसेति । पूर्वजन्मानुभूतवासनाबलाज्जायमानो मरणदुःखानुभवः शरीरादिभिर्मम वियोगो माभूदिति(१) सर्वेषामभिनिवेशः ॥ ९ ॥

योगसुधाकरः ।

स्वरसतः प्रवाहशीलो विदुषोऽपि तथा मूढवदारूढो भयत्रासोऽभिनिवेशः । पूर्वजन्मानुभूतमरणदुःखानुभववासनाबलात्सर्वस्य प्राणभृन्मात्रस्य आ क्रिमेरा च विदुषः संजायमानः शरीरविषयादेर्मम वियोगो मा भूदिति प्रत्यहं निमित्तमन्तरेण प्रवर्तमानो भयरूपोऽभिनिवेश इति ॥ ९॥

भोजवृत्तिः ।

तदेवं व्युत्थानस्य क्लेशात्मकत्वादेकाग्रताभ्यासकामेन प्रथमं क्लेशाः परिहर्तव्याः । न चाज्ञातानां तेषां परिहारः कर्तुं शक्य इति तज्ज्ञानाय तेषामुपदेशं(२ क्षेत्रं विभागं लक्षणं चाभिधाय स्थूलसूक्ष्मभेद-

---

(१) शरीरादिभिर्मम वियोगो मा भूत्‌ मा न भुवं भूयासमिति इयमात्माशीः आकृमेः सर्वस्यैव भवति न खल्वननुभूतमरणधर्मकस्येयं भवति एतया च पूर्वजन्मानुभवोऽनुमीयते स चाशीरूपः अभिनिवेशाख्यः क्लेशः ।

(२) मुद्देशमिति पाठान्तरम् ।

भिन्नानां तेषां प्रहाणोपायविभागमाह—

(१) ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

ते सूक्ष्माः क्लेशा ये वासनारूपेणैव स्थिता न वृत्तिरूपं परिणाममारभन्ते, ते प्रतिप्रसवेन प्रतिलोमपरिणामेन हेयास्त्यक्तव्याः । स्वकारणास्मितायां कृतार्थं सवासनं चित्तं यदा प्रविष्टं भवति तदा कुतस्तेषां निर्मूलानां सम्भवः ॥ १० ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

क्रियायोगः क्लेशतनूकरणार्थ इत्युक्तम् । तत्र क्लेशा व्याख्याताः । इदानीं तनूकरणस्य फलमाह—त इति ।

क्लेशानामेव संसारनिदानत्वं प्रपञ्चयिष्यते । अतस्ते क्लेशा अनागतावस्था वक्ष्यमाणज्ञानाग्निना दग्धबीजवत्कार्याक्षमीकृताः प्रतिप्रसवेन चित्तस्य प्रलयेनात्यन्तिकेन हेया धर्मिनाशेनोच्छेद्या इत्यर्थः । ननु दग्धबीजकल्पस्यानर्थहेतुत्वासम्भवात्तन्नाशो न पुरुषार्थ इति चेत् । तथाप्यस्य सूत्रस्य [न]स्वरूपाख्यानमात्रत्वं सम्भवति । वस्तुतस्तु क्लेशत्वावच्छेदेनैव दुःखनिदानतया क्लेशसामान्याभावत्वेनैव पुरुषार्थतेति॥१०॥

मणिप्रभा ।

ते च पञ्च क्लेशा द्विविधाः । पुरुषख्यात्या दग्धाः संस्काररूपाः सूक्ष्माः, क्रियायोगेन मैत्र्यादिभावनारूपपरिकर्मणा च तनूकृताः स्थूला इति । तत्र सूक्ष्माणां हानोपायमाह—ते इति ।

चित्तस्य कृतकृत्यस्यास्मितायां स्वप्रकृतौ प्रलयः प्रतिप्रसवः तेन हेयाः सूक्ष्माः ते क्लेशाः । धर्मिनाशादेव तद्धर्माणां संस्काराणां नाश इत्यर्थः ॥ १० ॥

चन्द्रिका ।

त इति । ते सूक्ष्माः क्लेशाः प्रतिलोमपरिणामेन हेयास्त्यक्तव्याः ॥ १० ॥

योगसुधाकरः ।

पूर्वं कर्मयोगमभिधाय तेन विरलाः क्लेशास्तत्समनन्तरभाविपुरुषख्यात्या दग्धा भवन्तीत्यर्थादभिहितम् । तत्र सूक्ष्माणां दग्धानामधुना समूलोन्मूलनोपायमाह—त इति ।

चित्तस्य निवृत्ताधिकारस्य प्रकृतौ प्रलयः प्रतिप्रसवः । तेन हेयाः सूक्ष्माः क्लेशाः । स्वमूलभूतचित्तहानौ तत्संस्काररूपाः सूक्ष्माः समूलघातं हता भवन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

भोजवृत्तिः ।

स्थूलानां हानोपायमाह—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

तेषां क्लेशानामारब्धकार्याणां याः सुखदुःखमोहात्मिका वृत्तयस्ता ध्यानेनैव चित्तैकाग्रतालक्षणेन हेया हातव्या इत्यर्थः । चित्तपरिकर्माभ्यासमात्रेणैव स्थूलत्वात्तासां निवृत्तिर्भवति-यथा वस्त्रादौ स्थूलो मलः प्रक्षालनमात्रेणैव निवर्तते, यस्तु तत्र सूक्ष्मः स तैस्तैरुपायैरुत्तापनप्रभृतिभिरेव निवर्तयितुं शक्यते ११

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु भवत्वेवं, तनूकरणस्य तु किं फलमित्याकाङ्क्षायामाह—ध्यानेति ।

तेषां क्लेशानां या वृत्तयः स्थूला अभिव्यक्तावस्थास्ताः प्रथमं क्रियायोगेन तनूकृताः सत्यः ध्यानेनात्मसाक्षात्काररूपप्रवाहरूपेण हातव्याः प्रतिबद्धोत्पत्तिकाः कर्तव्या इति यावत्। अभिव्यक्तिप्रतिबन्धतः

---

(१) अज्ञातानां क्लेशानां प्रहाणासम्भवात् तज्ज्ञानाय तेषामुद्देशं क्षेत्रं विभागं लक्षणं चाभिधाय स्थूलसूक्ष्मभेदभिन्नानां तेषां हानोपायमाह ते इति द्वाभ्याम् । सूक्ष्मा इति । वासनारूपेण स्थिताः न वृत्तिरूपं परिणाममारभन्त इत्यर्थः । तथा च स्वकारणे चित्तं यदा प्रविशति तदा कुतस्तेषां निर्मूलानां सम्भव इति प्रथमस्य द्वितीयस्य तु तेषां आरब्धकार्याणां क्लेशानां याः सुखदुःखमोहात्मिकाः वृत्तयस्ते ध्यानेन हेयाः । चित्तपरिकर्माभ्यासमात्रेण स्थूलत्वात्तासां निवृत्तिरिति तात्पर्यार्थः ।

क्लेशवासनानुत्पत्त्या प्राचीनवासनानां च क्षयात्ता एवानागतावस्थाः क्लेशाः दग्धबीजतुल्या भवन्तीत्यर्थः। क्लेशानां बीजशक्तिदाहश्च वासनाख्यसहकार्युच्छेदनं यथा धान्यादौ बीजशक्तिदाहो रसाख्यसहकार्युच्छेदनमिति । तथा च क्रियायोगात्क्लेशानां तनूकरणं विवेकाभ्यासप्रतिबन्धाक्षमत्वं भवति । ततश्च निर्विघ्नविवेकख्यातिप्रवाहनिष्पत्त्या निःशेषतोऽविद्यावासनोच्छेदो भवति । ततश्च दग्धबीजकल्पा अनागतावस्थाः क्लेशाश्चित्तेन सह लीयन्ते इति सिद्धम् ॥ ११ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

तनूकृतानां हानोपायमाह सूत्रकृत्—**ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः** । तेषां क्लेशानां या वृत्तयः स्थूला अभिव्यक्तावस्थास्ताः प्रथमं क्रियायोगेन तनूकृतास्ता ध्यानेनात्मसाक्षात्कारप्रवाहेण हातव्याः प्रतिबद्धोत्पत्तिकाः दग्धबीजकल्पाः कार्याः । अभिव्यक्तिरूपोत्पत्तिप्रतिबन्धाच्चाग्रे न वासनोत्पत्तिः । क्लेशानां बीजशक्तिदाहश्च वासनाख्यसहकार्युच्छेदनम् । यथा धान्यादौ बीजशक्तिदाहो रसाख्यसहकार्युच्छेदनम् । एवं च क्रियायोगात् क्लेशानां तनूकरणं विवेकाभ्यासप्रतिबन्धाक्षमत्वम् । ततो निर्विघ्नविवेकख्यातिप्रवाहनिष्पत्त्या निःशेषतोऽविद्यावासनोच्छेदे दग्धबीजकल्पा अनागतावस्थाः क्लेशाश्चित्तेन सह लीयन्त इति सिद्धम् ॥ ११ ॥

मणिप्रभा ।

स्थूलानां हानोपायमाह—**ध्यानेति** ।

याः क्रियायोगेन विरलाः क्लेशवृत्तयः स्थूलाः सुखदुःखमोहात्मिकाः, ताः पुरुषध्यानेनैव हातव्या इत्यर्थः । यथा लोके वस्त्रस्यातिस्थूलो मलः प्रक्षालनेनैवादौ शोध्यते, पश्चाद्विरलः क्षारसंयोगादिना, मलवासना तु वस्त्रनाशेनैव नश्यति । तथा क्रियायोगेनातिनिबिडाः क्लेशा विरला भवन्ति, विरलास्तु ध्यानेन तनूकृताः, सूक्ष्मास्तु चित्तनाशेन नश्यन्तीति भावः ॥ ११ ॥

चन्द्रिका ।

ध्यानेति । तेषां वृत्तयः सुखाद्यास्ता ध्यानेन चित्तैकाग्र्येण हेयाः ॥ ११ ॥

योगसुधाकरः ।

अथ स्थूलानां समूलं कषणोपायमाह—**ध्यानेति** ।

क्रियायोगेण शिथिलाः स्थूलास्ताः क्लेशवृत्तयः पुरुषध्यानेनैव हातव्याः । हीनाश्च स्वमूलचित्तोन्मूलनेनोन्मूलिता भवन्तीत्युक्तम् ॥ ११ ॥

भोजवृत्तिः ।

एवं क्लेशानां तत्त्वमभिधाय कर्माशयस्य तदभिधातुम्(१)आह—

(२)क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

कर्माशय इत्यनेन तस्य स्वरूपमभिहितम् । यतो वासनारूपाण्येव कर्माणि । क्लेशमूल इत्यनेन कारणमभिहितम् । यतः कर्मणां शुभाशुभानां क्लेशा एव निमित्तम् । दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय इत्यनेन फलमुक्तम् । अस्मिन्नेव जन्मनि अनुभवनीयः दृष्टजन्मवेदनीयः। जन्मान्तरानुभवनीयोऽदृष्टजन्मवेदनीयः। तथा

---

(१) कर्माशयस्याभिधातुमिति पाठान्तरम् ।

(२) ननु जात्यायुर्भोगहेतवः क्लिश्नन्तः क्लेशाः कर्म्माशय एव तथा भवितुमर्हति न त्वविद्यादयस्तथा तत्कथमुक्तमविद्यादयः क्लेशा इतीमां शङ्कां कर्म्माशयस्वरूपकारणफलप्रतिपादनपूर्वकं परिहरति क्लेशमूल इति । कर्म्माशय इत्यनेन स्वरूपमुक्तं कर्म्मणां वासनात्मकत्वात् । क्लेशमूल इत्यनेन कारणमुक्तं क्लेशो मूलं यस्य स तथा । दृष्टदृष्टेत्यनेन फलमुक्तम् । तथा च आविद्यामूलः कर्म्माशयः जात्यादिहेतुः अतः अविद्यादयोऽपि तद्धेतवस्तस्मात्ते क्लेशा इति भावः । एवं च क्रियायोगेन क्लेशतनूकरणे कर्म्माशयो न जन्यते ततश्च जात्यायुर्भोगानामभावः कारणाभावादिति तात्पर्यम् ।

हि-कानिचित्पुण्यानि कर्माणि देवताराधनादीनि तीव्रसंवेगेन कृतानीहैव जन्मनि जात्यायुर्भोगलक्षणं फलं प्रयच्छन्ति-यथा नन्दीश्वरस्य भगवन्महेश्वराराधनबलादिहैव जन्मनि जात्यादयो विशिष्टाः प्रादुर्भूताः। एवमन्येषां विश्वामित्रादीनां तपःप्रभावाज्जात्यायुषी । केषांचिज्जातिरेव—यथा तीव्रसंवेगेन दुष्टकर्मकृतां नहुषादीनां जात्यन्तरादिपरिणामः । ऊर्वश्याश्च कार्तिकेयवने लतारूपतया । एवं व्यस्तसमस्तरूपत्वेन यथायोगं योज्यम् ॥ १२ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

इदानीं क्लेशाः किमर्थं हेया इत्याकाङ्क्षायां येन द्वारेण दुःखनिदानत्वं तद्द्वारमाह—क्लेशेति ।

दृष्टादृष्टजन्मनी वर्तमानभाविष्यती । वेदनं भोगः । कर्माशयो धर्माधर्मौ । तथाच दृष्टादृष्टजन्मभोग्यो धर्माधर्मप्रचयः क्लेशमूलकस्तत्कार्यमित्यर्थः,

रागद्वेषादयो दोषाः सर्वे भ्रान्तिनिबन्धनाः ।
कार्यो ह्यस्य भवेद्दोषः पुण्यापुण्यमिति श्रुतेः ॥
तद्वशादेव सर्वेषां सर्वदेहसमुद्भवः ।

इति कौर्मादिभ्य इति भावः ॥ १२ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अथ क्लेशानां दुःखनिदानत्वे द्वारमाह—क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः । दृष्टादृष्टजन्मनी वर्तमानभविष्यती, वेदनं भोगः, कर्माशयो धर्माधर्मौ । एवं च वर्तमानभाविजन्मभोग्यो धर्माधर्मप्रचयः क्लेशमूलः क्लेशकार्यमित्यर्थः ।

रागद्वेषादयो दोषाः सर्वे भ्रान्तिनिबन्धनाः ।
कार्यो ह्यस्य भवेद्दोषः पुण्यापुण्यमिति श्रुतेः ।
तद्वशादेव सर्वेषां सर्वदेहसमुद्भवः ॥ इति कौर्मात् ॥

तत्रोत्कटौ धर्माधर्मौ च वर्तमानजन्मभोग्यौ ॥ १२ ॥

मणिप्रभा ।

क्लेशान्निरूप्य, ननु कथं तेषां क्लेशत्वमित्याशङ्क्य कर्मतत्फलमूलत्वेन बन्धकत्वात्तेषां क्लेशत्वमित्याह--क्लेशेति । अत्र त्रिभिः पदैः क्रमेण कर्मणां हेतुस्वरूपकार्य्याण्युच्यन्ते ।

आशेरते सांसारिकाः पुरुषा अस्मिन्नित्याशयः कर्मणां धर्माधर्मरूपः संस्कारः । क्लेशाः कामक्रोधादयो मूलमस्येति क्लेशमूलः । स च द्विविधः—दृष्टजन्मवेदनीयः, अदृष्टजन्मवेदनीयश्चेति । यन देहेन कर्म कृतं तद् दृष्टं जन्म, तेनैव देहेन भोक्तव्य आद्यः । यथा नन्दीश्वरो बाल एव मनुष्यदेहेन तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभिः ईश्वराराधनं कृत्वा सद्य एव देवत्वजातिं, दीर्घमायुः, दिव्यभोगांश्च लब्धवान् । तथा विश्वामित्रो जात्यायुषी लब्धवान् । तथा भीतव्याधितकृपणविश्वस्तमहाऽनुभावेषु कृतोऽपराधः सद्य एव पच्यते । यथा नहुषस्य महर्ष्यपराधेन सद्यः सर्पत्वमभवत् । द्वितीयस्तु जन्मान्तरभोग्यस्वर्गनरकादिहेतुः कर्माशय इत्यर्थः ॥ १२ ॥

चन्द्रिका ।

क्लेशेति । अविद्यादिक्लेशमूला वासना अस्मिन् जन्मनि अनुभवनीया जन्मान्तरे वा ॥ १२ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थं क्लेशांस्तद्धानोपायं च अभिधाय अधुना कर्माशयस्य क्लेशनिदानत्वमुपदर्शयन्नाह–क्लेशेति ।

रागद्वेषादिक्लेशनिदानः कर्मणां धर्माधर्मरूपः संस्कारः कर्माशयः । स च दृष्टजन्मवेदनीय इहैवानुभाव्यः, अदृष्टजन्मवेदनीयश्चामुत्रानुभाव्यः । तत्राद्यो यथा नन्दिकेश्वरस्तीव्रतपश्चर्यादिसाधनैरीश्वरं समाराध्य सद्य एव देवत्वादिकमलभत, नहुषो महर्ष्यपराधेन सद्यः सर्पत्वमगमत् । द्वितीयस्तु स्वर्गनरकादिहेतुरित्यर्थः ॥ १२॥

भोजवृत्तिः।

इदानीं कर्माशयस्य स्वभेदभिन्नस्य (१) फलमाह—

(२)सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

मूलमुक्तलक्षणाः क्लेशाः, तेष्वनभिभूतेषु सत्सु कर्मणां कुशलाकुशलरूपाणां विपाकः फलं जात्यायुर्भोगा भवन्ति। जातिर्मनुष्यत्वादिः। आयुश्चिरकालमेकशरीरसंबन्धः। भोगा विषया इन्द्रियाणि सुखसंविद्दुःखसंविच्च, कर्मकरणभावसाधनव्युत्पत्त्या भोगशब्दस्य। इदमत्र तात्पर्यम्· चित्तभूमावनादिकालसंचिताः कर्मवासना यथा यथा पाकमुपयान्ति तथा तथा गुणप्रधानभावेन स्थिता जात्यायुर्भोगलक्षणं स्वकार्यमारभन्ते ॥ १३ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

न केवलं कर्माशयेष्वेव क्लेशाः कारणमपि तु तत्फलेष्वपीत्याह—सतीति।

धर्माधर्ममूले क्लेशे सत्येव धर्माधर्मयोर्विपाकः फलं जात्यायुर्भोगरूप भवति। तत्र जातिर्जन्म, आयुर्जीवनकालः, भोगश्चात्र सुखदुःखमोहात्मकशब्दादिवृत्तिरित्यर्थः। अत्र विपाको विपाकारम्भः, भाष्यकारैर्व्याख्यातत्वात्। अतो निःशेषाऽविद्याक्षयेऽपि जीवन्मुक्तानां प्रारब्धभोग उपपद्यते। अत्र प्रमाणं च वार्तिके द्रष्टव्यम् ॥ १३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अथ क्लेशकारणकमेव तत्फलमाह—सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। धर्माधर्ममूल क्लेशे सत्येव तयोर्विपाकः फलं जात्यायुर्भोगरूपं भवति। तत्र जातिर्जन्म, आयुर्जीवनकालः, भोगः सुखदुःखमोहात्मकशब्दादिवृत्तिः। अत्र भोगो मुख्यं फलम्। तन्नान्तरीयके च जन्मायुषी। क्लेशस्य सत्ता च प्रसंख्यानदग्धबीजभावेनैव। अत्र विपाको विपाकारम्भः। अतो निःशेषाविद्याक्षयेऽपि जीवन्मुक्तानां प्रारब्धभोग उपपद्यते। अत्रेदं बोध्यम्। एककर्म नैकस्य जन्मनः कारणम्, एकस्मिन्नपि जन्मनि विचित्रविचित्रसुखन्मदुःखानुभवात्। अनादिकालानेकजन्मार्जितासंख्येयकर्मणां मध्ये एकजन्मोपभुक्तैकैककर्मणोऽवशिष्टकर्मणां फलदाने विनिगमनाविरहाच्च। सत्प्रतिपक्षन्यायेन सर्वेषां फलदानप्रतिबन्धे कर्मानुष्ठानेऽनाश्वासापत्तेश्च। नाप्येकमनेकस्य। एकस्यैवानेकजन्मनिमित्तत्वेऽन्येषां विपाककालाभावेन तद्वैफल्ये तदननुष्ठानापत्तेः। उक्तदोषाच्च। नाप्यनेकं कर्मानेकजन्मकारणम्। अयोगिनामनेकजन्मनां युगपदसम्भवेन क्रमेणैव वाच्यतया तत्तज्जन्मसु क्रियमाणकर्मणां विपाककालाभावेन तत्र तत्र कर्माननुष्ठानापत्तेः। तस्माज्जन्ममरणान्तरे कृतकर्मसमूहो विचित्रफलद उद्भूतत्वादिभिः क्रमेण फलदो मरणेन कार्यारम्भाभिमुख्यं नीतः युगपदेकलोलीभावापन्न एकं जन्म करोति, तेनैव कर्मणा तत्र लब्धायुष्को भोगवांश्चेति स त्रिविपाकः, एवमेषः अदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः। एकजन्मावच्छिन्नक्लेशकर्मविपाकानुभवजाः स्मृतिहेतुसंस्काररूपा वासनास्तु अनादयोऽनेकजन्मपूर्विकाः। अत एव मनुष्यस्तिर्यग्योनिमापन्नस्तज्जातीयोचितभोजने प्रवर्तते। स कर्माशयो द्विविधः। आरब्धफलोऽनारब्धफलश्च। तत्रारब्धफल उक्त एकजन्मावच्छिन्नः। अनारब्धफलोऽपि त्रिविधः शुक्लः कृष्णः शुक्लकृष्णश्च। परपीडारहिततपःस्वाध्यायादिः आद्यः स उदित एवान्ययोर्द्वयोर्नाशक इति तस्यैका गतिरनारब्धफल-

---

(१) स्वभेदाभिन्नामिति पाठान्तरम्।

(२) माभूत् कर्म्माशयान्तरं नाम प्राक्तनानां कर्म्माशयानामनादिभवपरम्परासञ्चितानामनियतविपाककालानां भोगेन क्षपयितुमशक्यत्वात् संसारोच्छेदोऽशक्य इत्यत आह सतीति। अयमाशयः। सुखदुःखफलः कर्म्माशयः तदर्थं जन्मायुषी नान्तरीयकतया प्रसूते। सुखदुःखे च रागद्वेषानुषक्ते रागाद्यभावे न भवतः। यः सुखादौ न तुष्यति नं वा उद्विजते तत्र सुखं दुःखं वा दुःखं वा न भवन्ति; क्लेशसलिलावसिक्ता चित्तभूमिः कर्म्मफलप्रसवक्षेत्रं क्लेशानां फलदानसमये कर्म्माशयसहकारित्वेनेति सहकारिवैकल्यात् प्रसंख्यानदग्धबीजभावकल्पाः न फलाय कल्पत इति।

स्य । किंचित्तु कृष्णं कर्म यज्ञान्तर्गतपशुहिंसादिजन्यं पापम् । अनारब्धफलमपि प्रधानकर्मविपाकेन सहात्मफलदम् । एतदेव प्रधानकर्मण्यावापगमनम्। एतदन्तर्गतपशुहिंसादि च प्रधानाङ्गत्वेन विधानात् तदुपकारकं, न हिंस्यादिति निषेधात्पापजनकं च ॥ एतदेव यज्ञादि कृष्णशुक्लम् । किञ्चित्त्वनारब्धफलमारब्धविपाककर्मणाऽभिभूतं चिरमवतिष्ठते यावत्तदाभिव्यञ्जककालागमनम् । दृष्टजन्मवेदनीयस्तु एकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वात् । द्विविपाकारम्भी वा भोगायुर्हेतुत्वात् । एवं कर्मगतिश्चित्रा दुर्विज्ञाना चेति भाष्ये स्पष्टम् ॥ १३ ॥

मणिप्रभा ।

अयं क्षीणक्लेशानां नास्तीति विशेषमाह—**सतीति** ।

क्लेशरूपे मूले सत्येव कर्मणो विपाकः फलं भवति । न ह्यक्लेशो भुङ्क्ते, न ह्यकामस्य क्वचिदपि कर्मजे फले सुखबुद्धिरस्ति, न ह्यनुद्वेगः शोचति । अतो विवेकख्यात्यग्निदग्धेषु क्लेशेषु कर्मबीजं वितुषव्रीह्यादिवत न फलं प्रसूते । स विपाकस्त्रिविधः। जातिर्जन्म देवत्वादिर्वा, आयुश्चिरकालं देहप्राणयोर्योगः, इन्द्रियैर्विषयानुभवो भोग, इति । तत्र भोगो मुख्यः, जात्यायुषी तच्छेष, इति विभागः । तत्रैकस्मिन् देहे विचित्रभोगदर्शनादनेकानि कर्माणि मरणकालाभिव्यक्तानि एकं जन्मारभन्त इत्येकभाविकः कर्माशय उच्यते । तस्य क्वचिज्जातिः, क्वचिदायुः, क्वचिद्भोगः, क्वचिद् द्वयं, क्वचित्त्रय मिति फलवैचित्र्यं ज्ञेयम् । तदुक्तं भगवता "गहना कर्मणो गति" रिति । विस्तरस्तु भाष्ये द्रष्टव्यः ॥ १३ ॥

चन्द्रिका ।

सतीति । अविद्यादौ सति, कर्मणो विपाकः फलं, जात्यायुर्भोगाः-ब्राह्मणत्वादिर्जातिः, चिरकालं कायसम्बन्ध आयुः, भोगा विषयाः ॥ १३ ॥

योगसुधाकरः ।

न केवलं क्लेशमूलत्वं कर्माशयस्यैव, किन्तु तद्विपाकस्यापीत्याह—**सतीति** ।

क्लेशरूपे मूले सत्येव कर्मणो विपाकः फलम् । स च त्रिविधः—जातिर्जन्म देवत्वादिर्वा । आयुश्चिरकालं देहप्राणयोगः । इन्द्रियैर्विषयानुभवो भोग-इति । तत्र भोगो मुख्यः, जात्यायुषी तच्छेषभूते इति विभागः । सूत्रद्वयस्यायमभिसंध्यर्थः—सत्सु क्लेशेषु कर्मतत्फले भवतः; विवेकख्यात्याग्निदग्धेषु कर्मालब्धात्मकं सद्वितुषशाल्यादिवन्न फलं प्रसूत इति ॥ १३ ॥

भोजवृत्तिः ।

उक्तानां कर्मफलत्वेन जात्यादीनां स्वकारणकर्मानुसारिणां(१) कार्यकर्तृत्वमाह—

(२)ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

ह्लादः सुखः, परितापो दुःखं, ह्लादपरितापौ फलं येषां ते तथोक्ताः । पुण्यं कुशलं कर्म, तद्विपरीतमपुण्यं, ते पुण्यापुण्ये कारणं(३) येषां ते तेषां भावस्तस्मात् । एतदुक्तं भवति-पुण्यकर्मारब्धा जात्यायुर्भोगा ह्लादफला अपुण्यकर्मारब्धास्तु परितापफलाः । एतच्च प्राणिमात्रापेक्षया द्वैविध्यम् ॥ १४ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

उक्ताभ्यां कर्मतद्विपाकाभ्यां द्वाराभ्यां क्लेशानां मुख्यं फलमनर्थमाह—**ते इति** ।

ते विपाकाः सर्व एव समुच्चितसुखदुःखफलकाः समुच्चितपुण्यापुण्यहेतुत्वादित्यर्थः । सुखदुःखयोश्च फलं पुरुषस्य भोग इति प्रसिद्धत्वान्नोक्तम् । तदित्थमनर्थहेतुत्वात्क्लेशास्तनूकरणादिक्रमेण हेया इति प्रघट्टकार्थः ॥ १४ ॥

---

(१) कर्मानुसारेणेति पाठान्तरम् ।

(२) पूर्वसूत्रे जात्यादीनां कर्म्मफलत्वमुक्त्वा सम्प्रति स्वस्वकारणकर्म्मानुसारेण जात्यादीनां कार्यकर्त्तृत्वमाह त इति । (३) कारणमिति पाठान्तरम् ।

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अथैतेषां सर्वेषां त्याज्यतामूलं विपाकानां फलमाह—ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् । ते जन्मायुर्भोगाः समुच्चितपुण्यापुण्यहेतुकत्वात्समुच्चितसुखदुःखफलका इत्यर्थः । एवं पुण्यहेतुकाः सुखफला अपुण्यहेतुकाश्च दुःखफला इति । ननु सुखदुःखानन्तरभावी तदनुभवात्मा भोग इति कथं भोगफलत्वमेतयोरिति चेन्न । भोगविषयतामात्रेण तत्फलत्वात् । यद्वा कर्मकरणव्युत्पत्त्या भोगशब्देन विषया इन्द्रियाण्येव तत्र, अत्र च सुखदुःखशब्दौ तद्भोगपरौ । तदित्थमनर्थहेतुत्वात्क्लेशाः तनूकरणादिक्रमेण हेया इति प्रघट्टकार्थः ॥ १४ ॥

मणिप्रभा ।

अधुना जात्यादीनां हेयत्वार्थं फलमाह—ते ह्लादेति ।

ते जन्मायुर्भोगाः । पुण्यहेतुकाः सुखफलाः । अपुण्यं पापं तद्धेतुका दुःखफलाः । अत्र भोगो विषयानुभवः । मिश्रास्तु—सुखदुःखानुभवो भोगः तस्य कर्मतया साध्यत्वेन सुखदुःखे फले गमनस्येव ग्राम-इत्याहुः ॥ १४ ॥

चन्द्रिका ।

तइति । ते पूर्वोक्ताः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ह्लादपरितापौ सुखदुःखे तत्फलौ भवन्ति । एतच्च सर्वसाधारणम् ॥ १४ ॥

योगसुधाकरः ।

अधुना जात्यादीनां हेयत्वार्थं फलमाह—ते इति ।

ते जात्यायुर्भोगाः पुण्यहेतुकाः सुखफलाः, अपुण्यहेतुका दुःखफला भवन्ति विभागेनाविवेकिनामित्यर्थः ॥ १४ ॥

भोजवृत्तिः ।

योगिनस्तु सर्वं दुःखमित्याह—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति(त्य)विरोधाच्च(१)दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

विवेकिनः परिज्ञातक्लेशादिविवेकस्य परिदृश्यमानं सकलमेव भोगसाधनं सविषं स्वाद्वन्नमिव दुःखमेव प्रतिकूलवेदनीयमेवेत्यर्थः । यस्मादत्यन्ताभिजातो योगी दुःखलेशेनाप्युद्विजते -यथाऽक्षिपात्रमूर्णातन्तुस्पर्श(२)मात्रेणैव महतीं पीडामनुभवति नेतरदङ्गं, तथा विवेकी स्वल्पदुःखानुबन्धेनापि उद्विजते । कथमित्याह—परिणामतापसंस्कारदुःखैः । विषयाणामुपभुज्यमानानां यथायथं गर्धाभिवृद्धेस्तदप्राप्तिकृतस्य दुःखस्यापरिहार्यतया दुःखान्तरसाधनत्वाच्चास्त्येव दुःखरूपतेति परिणामदुःखत्वम् । उपभुज्यमानेषु सुखसाधनेषु तत्प्रतिपन्थिनं प्रति द्वेषस्य सर्वदैवावस्थितत्वात्सुखानुभवकालेऽपि तापदुःखं दुष्परिहरमिति तापदुःखता । संस्कारदुःखत्वं च स्वाभिमतानाभिमतविषयसंनिधाने सुखसंविद्दुःखसंविच्चोप-

---

(१) परिणामतापसंस्कारदुःखैरिति । उपभुज्यमानानां विषयाणां यथायथं तृष्णावृद्धेस्तदप्राप्तिजस्य दुःखस्यापरिहार्य्यतया दुःखान्तरकारणतया च दुःखरूपतेति परिणामदुःखत्वम् । उपभुज्यमानेषु सुखसाधनेषु तत्प्रतिपन्थिनं प्रति द्वेषस्य सर्वदैव अवस्थितत्वात् सुखानुभवकालेऽपि दुःखं दुष्परिहरमिति तापदुःखत्वम् । स्वाभिमतानभिमतविषतसान्निध्येऽपि सुखसम्विद्दुःखसंविच्चोपजायमाना तथाविधमेव संस्कारमारभते संस्काराच्च तथाविधः संविदनुभवः इत्यपरिमितसंस्कारोत्पत्तिद्वारेण संस्कारानुच्छेदात् संस्कारदुःखत्वम् । गुणवृत्तिविरोधादिति । गुणानां सत्त्वरजस्तमसां या वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः परस्पराभिभाव्याभिभावकत्वेन विरुद्धा जायन्ते तासां च सर्वत्रैव दुःखानुवेधात् दुःखत्वमिति भावः ॥

(२) मूर्णातन्तुस्पर्शेति पाठान्तरम् ।

जायमाना तथाविधमेव स्वक्षेत्रे संस्कारमारभते, संस्काराश्च पुनस्तथाविधसंविदनुभव इत्यपरिमितसंस्कारोत्पत्तिद्वारेण संसारानुच्छेदात्सर्वस्यैव दुःखत्वम् । गुणवृत्तिविरोधाच्चेति । गुणानां सत्त्वरजस्तमसां या वृत्तयः सुखदुःखमोहरूपाः परस्परमभिभाव्याभिभावकत्वेन विरुद्धा जायन्ते तासां सर्वत्रैव दुःखानुबन्धाद्दुःखत्वम् । एतदुक्तं भवति—ऐकान्तिकीमात्यन्तिकीं च दुःखनिवृत्तिमिच्छतो विवेकिन उक्तरूपकारणचतुष्टयं यावत्सर्वे(१) विषया दुःखरूपतया प्रतिभान्ति तावत्(२) सर्वकर्मविपाको दुःखरूप एवेत्युक्तं भवति ॥ १९ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

नन्वेवं यथा दुःखनिदानत्वेन क्लेशा हेयास्तथा सुखनिदानत्वेनोपादेया अपि स्युस्तत्राह—**परिणामेति** ।

परिणामश्च तापश्च संस्कारश्च तज्जन्यानि दुःखानि । तैः सम्बन्धात्तत्कारणत्वादिति यावत् । तथा गुणानां सत्त्वरजस्तमसां या वृत्तयः सुखदुःखमोहास्तासामेककालानवस्थानरूपविरोधाभावाच्च सर्वं प्रकृतितत्कार्यसुखादिकं विवेकिनः सुखदुःखतत्त्वसाक्षात्कारिणो दुःखमेव मतम्, दुःखकारणत्वदुःखसंभिन्नत्वाभ्यामित्यर्थः । तथाच सुखरागापेक्षया दुःखद्वेषस्य बलवत्त्वात्सुखापेक्षया दुःखप्राचुर्याच्च सुखमपि दुःखयोगाद्धेयमिति भावः । तत्र परिणामदुःखं यथा सुखभोगकाले सुखं रागो हिंसादिकं च तन्नान्तरीयकं भवति । ताभ्यां चादृष्टादिद्वारोत्तरकाले दुःखमिति । तापदुःखं च दुःखकालेऽप्यनुतापादिभिर्दुःखान्तरम् । संस्कारदुःखं तु सुखदुःखसंस्कारतत्साधनेषु प्रवृत्तिनिवृत्त्याद्युत्थं दुःखमिति गुणवृत्त्याविरोधात्सुखकालेऽपि सूक्ष्मं दुःखमनुमेयं, सर्वकार्याणां त्रिगुणात्मकत्वादिति ॥ १९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ननु दुःखनिदानत्वेन हेयत्ववत्सुखनिदानत्वेनोपादेयत्वमपि स्यादत आह—**परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्त्यविरोधाच्च सर्वमेव दुःखं विवेकिनः** । परिणामश्च तापश्च संस्कारश्च तज्जन्यानि दुःखानि तैः सम्बन्धात् तत्कारणत्वात्, तथा गुणानां सत्त्वरजस्तमसां या वृत्तयः सुखदुःखमोहास्तासामेककालानवस्थानरूपाविरोधाभावाच्च सर्वं प्रकृतिस्तत्कार्यसुखादिकं च विवेकिनः सुखदुःखतत्त्वसाक्षात्कारवतो दुःखमेव मतम् । दुःखकारणत्वदुःखसंभिन्नत्वाभ्यामित्यर्थः । तथाच सुखरागापेक्षया दुःखद्वेषस्य बलवत्त्वात्सुखापेक्षया दुःखस्य प्राचुर्याच्च सुखमपि दुःखयोगाद्धेयमिति भावः । तत्र परिणामदुःखं यथा सुखभोगकाले सुखे रागस्तत्प्रतिघातके द्वेषः । विना प्राणिवधमुपभोगाभावेन हिंसादिकं च तन्नान्तरीयकं भवति । ताभ्यां चादृष्टादिद्वारोत्तरकाले दुःखमिति । अतएव विषयसुखमविद्या विपर्यासलक्षणेति वृद्धाः । नच विषयतृष्णैव दुःखं भोगेन तृप्तौ तन्निवृत्तिरेव सुखमिति तस्या रागानुविद्धत्वाभावेन न परिणामदुःखतेति वाच्यम् । तृष्णाक्षयस्य सुखत्वेऽपि भोगाभ्यासस्य तदनुपायत्वात् । तेन तृष्णावृद्धेरेव दर्शनात् । तस्याश्च दुःखरूपत्वात् । किंच तृष्णाक्षयसुखस्यापि बुद्धिधर्मत्वेन त्रिगुणत्वाद्दुःखरूपतया हेयमेवेति जैगीषव्यव्याधसंवादेन भाष्ये दर्शितं तृतीयपादे । तापदुःखं च सुखकालेऽन्यदीयाधिकसुखं दृष्ट्वा तापजं दुःखम् । तस्य द्वेषानुविद्धत्वाद्द्वेषजः कर्माशयः । तथा सुखसाधनप्रार्थनया कंचिदनुगृह्णाति कंचित्पीडयति । तत्र परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मोपचयो भवतीत्येषा तापदुःखता । संस्कारदुःखं च सुखानुभवात्संस्कारातिशयेन तत्स्मरणं ततस्तदुपपादके रागस्तदुपघातके द्वेषः, ताभ्यां कर्माणि तेभ्यो विपाकास्ततस्तदनुभवस्ततो वासनेति । तदिदमनादिदुःखस्रोतो योगिनमेव क्लिश्नाति, निर्मूलत्वात् । यथोर्णातन्तुरक्षिण्यस्तो दुःखयति नान्यगात्रेषु । इतरं पृथग्जनं स्वकर्मोपहतमुपात्तं दुःखं त्यजन्तं त्यक्तं त्यक्तमुपाददानमनादिवासनाविचित्रया चित्तवृत्तिरूपयाऽविद्यया हातव्येऽहंकारममकारौ कुर्वाणं सर्वे तापा उपतिष्ठन्ते । योगी त्वनादिदुःखोपहतः सर्वदुःखनाशकसम्यग्दर्शनमेव

(१) चतुष्टयात्सर्वे इति पाठान्तरम् ।

(२) तस्मादिति पाठान्तरम् ।

शरणीकरोति । गुणवृत्त्यविरोधाच्चेति । गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि बुद्धिरूपेण परिणताः परस्परानुग्राहकस्वभावतयाऽविरुद्धास्त्रिगुणामेव सर्वां वृत्तिं जनयन्ति । उपादानकारणस्य त्रितयात्मकत्वात् कारणाभेदाच्च कार्यस्य । तेन सुखवृत्तिकालेऽपि सूक्ष्मं दुःखमनुसंधेयम्, क्षिप्रपरिणामितया चित्तस्यात्यन्तास्थिरत्वाच्च तद्वृत्तेरपि दुःखमयत्वं च । स्थूलसुखा सूक्ष्मदुःखा सुखवृत्तिरित्युच्यते । स्थूलदुःखा सूक्ष्मसुखा च दुःखवृत्तिः । न सङ्करः । स्थूलानां स्थूलैः सह विरोधेऽपि सूक्ष्मैः सहाविरोध एव । उपादानकारणेनाप्यत्यन्ताभेदाभावाद्बुद्धेः सुखमित्यादिव्यपदेशस्यापि न हानिः । सामान्यरूपेणाभेदः स्थूलात्मना च भेद इत्यवगन्तव्यम् । अस्य च महतो दुःखस्य मूलमविद्या । विवेकसाक्षात्काराच्च तन्निवृत्तौ तन्मूलक्लेशान्तराणां निवृत्तिः । ततः कारणाभावाद्धर्माद्यनुत्पत्तिः । अनारब्धफलैश्च संचितकर्मभिः क्लेशाख्यसहकार्युच्छेदात्फलानुत्पादः । आरब्धफलकर्मणां च भोगादेव नाशे सति देहपाते कारणाभावादपुनर्जन्म । तदेव च दुःखनिवृत्तिरूपो मोक्ष इति दिक् । तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहं—हेयं, हेयहेतुः, हानं, हानोपाय—इति । दुःखं हेयम् । दुःखहेतुरविद्या । दुःखात्यन्तनिवृत्तिः हानम् । विवेकसाक्षात्कारो हानोपायः । उपकरणसङ्ग्रहाय सर्वत्र व्यूहपदं राश्यर्थकम् ॥ १५ ॥

मणिप्रभा ।

ननु ते दुःखफला हेया भवन्तु सुखफलास्तु कथं हेया इत्यत आह—**परिणामेति** ।

परिणामोऽन्यथाभावः । तापो वर्तमानः । संस्कारो भूतः । एतान्येव दुःखानि तैरिति विग्रहः । तथा हि विषयसुखभोगात्कामानलो वर्द्धते । वृद्धौ सत्यां काम्यालाभे दुःखमवश्यंभावि । लाभेऽपि कुतश्चिद्भोगसङ्कोचे दुःखम् । सङ्कोचके द्वेषः । ततः कामद्वेषाभ्यां पापोपचयाद् दुःखम् । असङ्कोचे व्याधिः पापश्च ततो दुःखमेवं भोगस्य परिणामदुःखता । तथा सुखभोगकाले विषयनाशभीत्या दुःखं वर्तते । नाशके द्वेषाच्च तापोऽस्तीति तापदुःखता भोगस्य । तथा सुखभोगनाशे संस्कारो भवति तेन स्मृत्या रागे सति पुण्यापुण्योपचयात्सुखदुःखभोगः पुनः संस्कार इत्यनन्ता दुःखसन्ततिः । यदि भोगनाशे संस्कारो न स्यात् तदा न दुःखसन्ततिः । भवत्येव तु संस्कार इति संस्कारदुःखता । इमानि दुःखानि विवेकिनोऽक्षिपात्रकल्पस्य योगिन उद्वेजकानि । न तु काठिनचित्तानां कर्मिणाम् । यथाऽक्षिपात्रं मृदुकल्पः ऊर्णातन्तुरपि उद्वेजयति नान्यमवयवम् । तस्माद्विवेकिनः सर्वमेव भोगसाधनं विषमिश्रान्नवद्दुःखमेव परिणामतापसंस्कारदुःखैर्योगाद् गुणवृत्तिविरोधाच्च । गुणाश्चित्तात्मना परिणतानि सत्त्वरजस्तमांसि तेषां वृत्तयः सुखदुःखमोहास्तासां विरोधः परस्परमभिभाव्याभिभावकत्वं तस्मादित्यर्थः । चलं हि गुणवृत्तं तत्र चित्ते या गुणवृत्तिराविर्भवति धर्मोद्भवात्सा पुनरधर्मोद्भवाद्धर्माभिभवे सति तिरोभवति । दुःखत्वं स्वाभाविकं तस्याः स्फुटयति स्वभावतो दुःखरूपैव सुखवृत्तिः दुःखात्मकरजोमिश्रसत्त्वपरिणामत्वात्किन्तु स्वकाले सत्त्वप्राधान्यात्तस्याः दुःखत्वमस्फुटं रजसः सत्त्वतिरोभावे सति स्फुटेयमिति सुखदुःखयोर्भेदव्यपदेशः । एतेन सुखस्य मोहत्वं व्याख्यातम् । अतो गुणपरिणामात्मकं सर्वमेव जगद् दुःखमोहात्मकं हेयमिति सिद्धम् ॥ १५ ॥

चन्द्रिका ।

परिणामेति । योगिनस्तु ज्ञातक्लेशादिविवेकस्य सकलमेव भोगसाधनं परिणामतापसंस्कारदुःखैः सविषान्नवदाद्यन्ते मध्ये भोगकालेऽपि प्रतिकूलवेदनीयमेव ॥ १५ ॥

योगसुधाकरः ।

विवेकिना तु ते सर्वे दुःखफला एवेत्याह—**परिणामेति** ।

परिणामदुःखं तापदुःखं संस्कारदुःखम्, तैरित्यर्थः । तत्र सुखे सत्यागामिनस्तावृशस्य सुखस्य कारणं पुण्यमननुष्ठाय वृथैव तदपेक्षा तामसी वृत्तिर्जायमाना चित्तं दुःखीकरोतीति परिणामदुःखम् । सुखभोगकाले रोगादिनिमित्तेन रजोगुणविकाररूपा संतापात्मिका प्रतिकूला वृत्तिर्जायते; सा च 'अहं

पापी धिङ्मां दुरात्मानम्' इत्येवं चित्तं संतापयति; तदिदं तापदुःखम् । तथा सुखनाशे तत्संस्कारः सुखं स्मारयित्वा स्मारयित्वा हृदयं दहति; तदिदं संस्कारदुःखम् । एतैर्दुःखैर्योगात् । किञ्च गुणवृत्तिविरोधाच्च, गुणानां सत्त्वरजस्तमसां या वृत्तयः प्रकाशप्रवृत्तिमोहात्मिकास्तासामतिचपलकल्लोलवन्निरन्तरं परिणततानां विरोधः परस्परं बाध्यबाधकत्वं तस्माच्च सर्वमेव भोगसाधनं जगद्विवेकिनो दुःखमेव, विवेकिनमक्षिपात्रमूर्णातन्तुरिवात्यन्तमुद्वेजयति । अतः सर्वं दुःखं हेयमिति भावः ॥ १५ ॥

भोजवृत्तिः ।

तदेवमुक्तस्य क्लेशकर्माशयविपाकराशेरविद्याप्रभवत्वादविद्यायाश्च मिथ्याज्ञानरूपतया सम्यग्ज्ञानोच्छेद्यत्वात्सम्यग्ज्ञानस्य च साधनहेयोपादेयावधारणरूपत्वात्तदभिधानायाऽऽह—

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

भूतस्यातिक्रान्तत्वादनुभूयमानस्य च त्यक्तुमशक्यत्वादनागतमेव संसारदुःखं हातव्यमित्युक्तं भवति ॥ १६ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

तदेवमत्र पादे व्युत्थितचित्तस्य योगसाधनं क्रियायोगमुक्त्वा तत्फलप्रसङ्गेन क्लेशास्तद्धानप्रकारस्तेषां हेयत्वाय दुःखनिदानत्वं दुःखत्वं च प्रतिपादितम् । इदानीं संक्षेपेणोक्तं समस्तशास्त्रार्थमतिविस्तरतः प्रतिपादयिष्यति शास्त्रसमाप्तिपर्यन्तैः सूत्रैः । तदादौ योगफलं परमपुरुषार्थमाह—हेयमिति ।

अतीतं स्वयमेव गतं, वर्तमानं च बहुकालसाध्यसाधनानुष्ठानात्प्रागेव तृतीयक्षणे नंक्ष्यति । अतः पारिशेषादनागतावस्थमेव दुःखं योगादिभिर्हेयमित्यर्थः ॥ १६ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तत्रादौ हेयमाह—हेयं दुःखमनागतम् । अतीतं स्वयमेव नष्टम् । वर्तमानं बहुकालसाध्यसाधनानुष्ठानात्प्रागेव तृतीयक्षणे नङ्क्ष्यति । पारिशेषादनागतावस्थमेव दुःखं योगेन हेयमित्यर्थः ॥ १६ ॥

मणिप्रभा ।

तत्र यथा चिकित्साशास्त्रे रोगो रोगहेतुः आरोग्यं तद्धेतुरिति चतुष्टयं व्युत्पाद्यं तथाऽस्मिन्नपि शास्त्रे हेयं हेयहेतुर्मोक्षस्तद्धेतुरिति चतुष्टयं व्युत्पादयितुं विशिष्य हेयं दर्शयति—हेयमिति ।

अतीतस्य दुःखस्य भोगेन गतत्वाद्वर्तमानदुःखस्य भोगेनैव क्षयादनागतमेव दुःखं हेयमित्यर्थः ॥१६॥

चन्द्रिका ।

हेयमिति । भूतस्य व्यतिक्रान्तत्वादनुभूयमानस्य च त्यक्तुमशक्यत्वादनागतमेव संसारदुःखं हातव्यम् ॥ १६ ॥

योगसुधाकरः ।

अधुनानागतदुःखस्य विशिष्य हेयत्वमाह —हेयमिति ।

अतीतस्य गतत्वाद्वर्तमानस्य भोगेनैव क्षयादनागतमेव दुःखं हेयमित्यर्थः ॥ १६ ॥

भोजवृत्तिः ।

हेयहेतुमाह—

(१)द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

द्रष्टा चिद्रूपः पुरुषः, दृश्यं बुद्धिसत्त्वं, तयोरविवेकख्यातिपूर्वको योऽसौ संयोगो भोग्यभोक्तृत्वेन संनिधानं स हेयस्य दुःखस्य गुणपरिणामरूपस्य(२) संसारस्य हेतुः कारणं तन्निवृत्त्या संसारनिवृत्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

---

(१) हेयस्य दुःखस्य हेतुमाह द्रष्टृदृश्ययोरिति

(२) गुणपरिणामस्येति पाठान्तरम् ।

भावागणेशवृत्तिः ।

हेतूच्छेदे पुरुषव्यापाराद्धेयहेतुं प्रदर्शयति—द्रष्टृदृश्ययोरिति।

सुखदुःखमोहात्मकाखिलदृश्याकारत्वेनाखिलदृश्यरूपया बुद्ध्या द्रष्टुः पुरुषस्य जन्माख्यः संयोगविशेषो दुखहेतुरित्यर्थः ॥ १७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

हेतुच्छेदे पुरुषव्यापाराद्धेयहेतुमाह—द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः। सुखमोहदुःखात्मकाखिलदृश्याकारत्वेनाखिलदृश्यरूपया बुद्ध्या तादृशबुद्धिप्रतिबिम्बत्वेन द्रष्टुः पुरुषस्य यः संयोगो भोग्यभोक्तृत्वनियामको जन्माख्यः स दुःखहेतुरित्यर्थः। दृश्यं हि अयस्कान्तमणिः स्वसंनिधिमात्रेण लोहमिव पुरुषमाकर्षति। पुरुषायात्यन्ताभेदेनात्मानं दर्शयति। तावतैव तद्रूपानुभवविषयता चापद्यते। इदमेव च तस्य दृश्यत्वम्। पुरुषस्य द्रष्टृत्वं च भोग्यभोक्तृत्वं च तत्स्वामित्वं च। स च संयोगोऽनादिनिमित्ताविद्याप्रभवतयाऽनादिः। क्लेशकर्मतद्वासनासंतानोऽप्यनादिः। प्रतिसर्गावस्थायां सहान्तःकरणेन प्रधानसाम्यमुपगतोऽपि सर्गादौ पुनः कालवशादेव तादृगेव भवति। वर्षात्यये मृद्भावमुपगतो मण्डूको यथा वृष्टौ पुनर्मण्डूकभावमापद्यते तद्वत्। अयं हि संयोगश्चित्तस्यैव दुःखहेतुस्तास्मिंस्तु दुःखिते तदाकारानुरोधी दुःखित इवेति दिक् ॥ १७ ॥

मणिप्रभा।

हेयहेतुमाह—द्रष्टृति।

द्रष्टा चिद्रूपः पुरुषो बुद्धिस्थस्वच्छायात्मकदर्शनवान्। दृश्यं बुद्धिसत्त्वम्। तयोः संयोगः स्वस्वामिभावः। बुद्धिसत्त्वं हि विविधशब्दाद्याकारेणेन्द्रियादिद्वारा परिणतं चिच्छायाऽऽपन्नस्या पुरुषाभेदेन दृश्यमानं सन्निधिमात्रेणायस्कान्तमणिवदुपकारकं स्वनिष्ठभोगापवर्गौ पुरुषं दर्शयत्स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिनः। सोऽयमभेदभ्रान्तिरूपाविद्याकृतः पुरुषार्थाधीनस्थितिकः संयोगो हेयस्य दुःखस्य हेतुरित्यर्थः ॥ १७ ॥

चन्द्रिका।

द्रष्टृति। द्रष्टा चिद्रूपः पुरुषो दृश्यं बुद्धितत्त्वम्। तयोरविवेकख्यातिपूर्वको योऽसौ संयोगो भोक्तृभोग्यत्वेन सन्निधानं स हेयस्य दुःखस्य संसारस्य हेतुः कारणम् ॥ १७ ॥

योगसुधाकरः।

अथ हेयहेतुमाह—द्रष्टृदृश्ययोरिति।

द्रष्टा दृग्रूपः पुरुषः, दृश्यं बुद्धिसत्त्वम्, तयोः संयोगः स्वस्वामिभावः, स चेन्द्रियप्रणाडिकया चित्ते विविधशब्दाद्याकारेण परिणते सति तत्र चितिच्छायायां प्रतिबिम्बितायां तदविवेकरूपाविद्याकृतः। स च हेयस्य दुःखस्य हेतुरित्यर्थः ॥ १७ ॥

भोजवृत्तिः।

द्रष्टृदृश्ययोः संयोग इत्युक्तं, तत्र दृश्य(१)स्वरूपं कार्यं प्रयोजनं चाऽऽह—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

प्रकाशः सत्त्वस्य धर्मः, क्रिया प्रवृत्तिरूपा रजसः, स्थितिर्नियमरूपा तमसः, ताः प्रकाशक्रियास्थितयः शीलं स्वाभाविकं रूपं यस्य तत्तथाविधमिति स्वरूपमस्य निर्दिष्टम्। भूतेन्द्रियात्मकमिति। भूतानि स्थूलसूक्ष्मभेदेन द्विविधानि पृथिव्यादीनि गन्धतन्मात्रादीनि च। इन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियान्तःकरणभेदेन त्रिविधानि। उभयमेतद्ग्राह्यग्रहणरूपमात्मा स्वरूपाभिन्नः परिणामो यस्य तत्तथाविधमित्यनेनास्य कार्यमुक्तम्। भोगः कथितलक्षणः, अपवर्गो विवेकख्यातिपूर्विका संसारनिवृत्तिः, तौ भोगापवर्गावर्थः प्रयोजनं यस्य तत्तथाविधं दृश्यमित्यर्थः ॥ १८ ॥

---

(१) दृश्यस्येति पाठान्तरम्।

भावागणेशवृत्तिः ।

द्रष्टृदृश्यसंयोगः सूत्रैर्लक्षणीयस्तत्रादौ दृश्यस्वरूपं लक्षयति—प्रकाशेति ।

प्रलये प्रकाशादिकार्याभावाच्छीलपदम् । अत्र प्रकाशो बुद्धिवृत्त्यादिरूपालोकः । क्रिया प्रयत्नचेष्टादिः । स्थितिश्च प्रकाशक्रिययोः प्रतिबन्धः । एतत्त्रयशीलं यच्छास्त्रप्रसिद्धं सत्त्वादिगुणत्रयं तद्दृश्यं पुरुषभोग्यत्वेन दृश्यशब्दवाच्यम् । तस्य प्रकाशादिरूपतायां हेतुगर्भं विशेषणं भूतेन्द्रियात्मकमिति । स्थूलसूक्ष्माणां भूतानां कारणं तेन स्थितिशीलत्वं लब्धम् । स्थूलसूक्ष्माणामिन्द्रियाणां च कारणम् । तेन प्रकाशक्रियाशीलत्वं लब्धम् । तत्र स्थूलेषु दशेन्द्रियेषु हेतुत्वात्क्रियाशीलत्वम् । सूक्ष्मेषु चान्तःकरणरूपेन्द्रियेषु हेतुत्वात्प्रकाशशीलत्वम् । इति गुणानां स्वरूपसत्ता । तत्प्रवृत्तेः प्रयोजनमाह भोगापवर्गार्थमिति । पुरुषस्य भोगापवर्गावेवार्थो यस्य तथेत्यर्थः ॥ १८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तत्र दृश्यपदार्थमाह—प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् । प्रलये प्रकाशादिकार्याभावाच्छीलपदम् । तत्र प्रकाशो बुद्धिवृत्त्यादिरूपालोकस्तच्छीलं सत्त्वम् । क्रिया प्रयत्नचेष्टादिस्तच्छीलं रजः । स्थितिः प्रकाशक्रिययोः प्रतिबन्धस्तच्छीलं तमः । ते गुणाः परस्परोपरक्ता इतरेतराश्रयेण कार्यमारभन्ते । तत्र क्वचित्कार्ये जननीये एकस्य प्राधान्यमपरयोः सहकारित्वम् । यथा दिव्यशरीरे जनयितव्ये सत्त्वं प्रधानं, मानुषे रजः, तिर्यक्शरीरे तमः । ते च पुरुषस्य भोगापवर्गार्थं संनिधिमात्रोपकारकतया प्रवर्तन्ते । तदाह—भूतेन्द्रियात्मकमिति । तत्र स्थूलसूक्ष्मभूतकारणत्वेन स्थितिशीलत्वं, स्थूलदशेन्द्रियहेतुत्वात्क्रियाशीलत्वं, अन्तःकरणरूपसूक्ष्मेन्द्रियहेतुत्वात्प्रकाशशीलत्वम् । तत्प्रवृत्तेः प्रयोजनमाह—भोगापवर्गार्थमिति । तत्र सुखदुःखरूपाया बुद्धेः पुरुषेणाविभागापन्नतयावधारणं भोगः । भोक्तुः स्वरूपावधारणमपवर्ग इति भाष्यम् । तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ योद्धृगतजयपराजयौ राजनीव पुरुषे व्यपदिश्येते । बन्धमोक्षावप्येवमिति च भाष्यम् १८

मणिप्रभा ।

दृश्यं प्रपञ्चयति—प्रकाशेति ।

प्रकाशशीलं सत्त्वम् । क्रियाशीलं रजः । स्थितिः प्रकाशक्रिययोः प्रतिबन्धः तच्छीलं तमः । तत्र सत्त्वं मृदुत्वात्सुखम् । तापकं रजः । एवं सत्त्वरजसोरुत्पत्तापकभावे सति मोहो भवति पुरुषस्य ममतयेति । तदिदं गुणत्रयं स्वस्वकार्ये मिथः सहायमविवेकि भाग्यं विवेकित्याज्यं परस्पराभिभावकं परस्पराङ्गाङ्गिभावं सुखप्रकाशलाघवदुःखक्रियोपष्टम्भमोहावरणगौरवकार्यलक्षणत्रयभेदं स्वतःपरस्परानविभागाद् दुर्ज्ञानभेदं प्रधानशब्दवाच्यं भूतेन्द्रियात्मकम् । भूतानि स्थूलानि तन्मात्राणि, इन्द्रियाणि ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि दश, बुद्ध्यहङ्कारमनांसि त्रीण्यन्तःकरणानि, आत्मा स्वाभिन्नः परिणामो यस्य तत्, भोगापवर्गार्थं भोगमोक्षप्रयोजकं दृश्यमित्यर्थः ॥ १८ ॥

चन्द्रिका ।

दृश्यस्य स्वरूपं कार्यं प्रयोजनं चाह प्रकाशेति । प्रकाशः सत्त्वरूपः क्रिया प्रवृत्तिरूपा रजः स्थितिर्नियमरूपा तम एतद्रूपम् । भूतानीन्द्रियाणि आत्मा स्वरूपं यस्य कार्यमुक्तम् । भोगोऽपवर्गः संसारनिवृत्तिस्तावर्थः प्रयोजनं यस्य दृश्यस्य ॥ १८ ॥

योगसुधाकरः ।

दृश्यं प्रपञ्चयति—प्रकाशेति ।

प्रकाशः प्रख्यारूपः, क्रिया प्रवृत्तिरूपा, स्थितिर्नियमरूपा, ताः सत्त्वरजस्तमसां धर्माः शीलं स्वाभाविकं रूपं यस्य तत्तथोक्तम्, भूतेन्द्रियात्मकं भूतानि महाभूततन्मात्रभेदभिन्नानि इन्द्रियाणि बुद्धिकर्मेन्द्रियान्तःकरणभेदभिन्नानि एतद्ग्राह्यग्रहणरूपमात्मा स्वाभिन्नः परिणामो यस्य तत्तथोक्तम्, भोगापवर्गार्थं भोगमोक्षप्रयोजकं तद् दृश्यमित्यर्थः ॥ १८ ॥

भोजवृत्तिः ।

तस्य च दृश्यस्य नानावस्थारूपपरिणामात्मकस्य हेयत्वेन ज्ञातव्यत्वात्तदवस्थाः कथयितुमाह—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

गुणानां पर्वाण्यवस्थाविशेषाश्चत्वारो ज्ञातव्या इत्युपदिष्टं भवति । तत्र विशेषा महाभूतेन्द्रियाणि, अविशेषास्तन्मात्रान्तःकरणानि, लिङ्गमात्रं बुद्धिः, अलिङ्गमव्यक्तमित्युक्तम् । सर्वत्र त्रिगुणरूपस्याव्यक्तस्यान्वयित्वेन प्रत्यभिज्ञानादवश्यं ज्ञातव्यत्वेन योगकाले चत्वारि पर्वाणि निर्दिष्टानि ॥ १९ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

नन्वेवं कारणरूपस्य सत्त्वादिगुणत्रयस्यैव दृश्यत्वं प्राप्तं न विकाराणामित्यतो गुणपर्वविभागं कार्यकारणभेदस्तानपि संगृह्णातीत्याह—**विशेषेति** ।

सत्त्वादिगुणात्मको वंशः, तस्य विशेषादीनि पर्वाणि पत्रशाखाङ्कुरबीजवदभेदात् नात्यन्तं भिन्नानीत्यर्थः । तत्र विशेषाः षोडश विकारा एकादशेन्द्रियपञ्चमहाभूतरूपाः । अविशेषाश्च पञ्चतन्मात्राहङ्काररूपाः षट् : लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वम्, अलिङ्गं च साम्यावस्थितिः ॥ १९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

दृश्यानां गुणानां स्वरूपभेदमाह—**विशेषाविशेषालिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि** । सत्त्वादिगुणात्मकस्य वृक्षस्य पत्रशाखाङ्कुरबीजवदवस्थाभेदादेतानि पर्वाणि नात्यन्तं भिन्नानीत्यर्थः । तत्र विशेषाः एकादशेन्द्रियपञ्चमहाभूतरूपाः षोडशविकाराः शान्तघोरमूढलक्षणविशेषवत्त्वात् । तद्धीत्यात्र पञ्चतन्मात्राहंकाररूपाः षडविशेषाः । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्तन्मात्राणि एकद्वित्रिचतुःपञ्चलक्षणानि । आत्मना पूर्वेण शब्देन च द्विलक्षणं स्पर्शतन्मात्रमेवमुत्तरोत्तराणि आत्मना पूर्वाभ्यां पूर्वैश्च त्रिचतुःपञ्चलक्षणानीति बोध्यम् । सकलपुरुषार्थस्य शब्दादिभोगसत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूपस्य गमकत्वेन महत्तत्त्वं लिङ्गमात्रम् । क्वापि लयागमनादलिङ्गं प्रधानम् । तच्च गुणानां साम्यावस्थारूपम् । तच्च पुरुषार्थक्रियाक्षमत्वसत्ताभावादसत्, कार्यजनकत्वरूपसत्तावत्त्वात्सदिति चोच्यते । न सत् नासदिति चोच्यते । ताभ्यां च पुरुषार्थहेतुत्वासंभवात्सा नित्या । यदि सा भोगादिरूपपुरुषार्थहेतुः स्यात्तदा साम्यावस्थात्वमेव त्यज्येत । एवं च तस्याः पुरुषार्थकारणत्वाज्ज्ञानाच्च सा स्वतः पुरुषार्थहेतुः । अतो नित्या । महदाद्यवस्थास्तु पुरुषार्थहेतुत्वादानित्याः । तदुत्पत्तिलयव्यवहारेणैव गुणानां तद्व्यवहारो नतु स्वतो गुणानामुत्पत्तिर्लयो वास्ति यथा धननाशादेवदत्तस्य नष्टत्वव्यवहारः ॥ १९ ॥

मणिप्रभा ।

एतेषां गुणानां परिणामं विभज्य दर्शयति—**विशेषेति** ।

विशिष्यन्त इति विशेषा व्यावृत्ताः षोडशविकाराः खवायुतेजोऽबवनयः स्थूलभूतानि पञ्च, ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि दश, मनश्चेत्येते षोडश विकारा एव न तत्त्वान्तरप्रकृतयः । एतेषां विकाराणां प्रकृतयो बुद्धेर्विकृतयः षडविशेषाः पञ्चतन्मात्राहङ्काराः । अहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राणीति साङ्ख्याः । अहङ्कारस्यानुजानि बुद्धेरपत्यानि तन्मात्राणीति योगाः । तत्र पञ्चतन्मात्राणि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यानि स्थूलभूतानां प्रकृतयः । अहङ्कारः सत्त्वेन रजसा उभयेन ज्ञानकर्मेन्द्रियमनसां प्रकृतिः । लयं गच्छतीति लिङ्गं, तन्मात्रं महत्तत्त्वं मात्रपदेन च विशेषाविशेषाभ्यां वैलक्षण्यं द्योत्यते । तद्धि निर्विकल्पकाध्यवसायात्मकं प्रधानस्याद्यकार्यम् । अलिङ्गं गुणानां साम्यावस्थारूपं प्रधानम् । एतानि चत्वारि गुणानां पर्वाणि परिणामाः गुणत्वं चेतनं प्रति शेषत्वं मन्तव्यम् ॥ १९ ॥

चन्द्रिका ।

विशेषेति । गुणानां पर्वाणि अवस्थाविशेषाश्चत्वारो ज्ञातव्याः । विशेषा भूतेन्द्रियाणि, अविशेषास्त-

न्मात्रान्तःकरणं, लिङ्गमात्रं बुद्धिः, अलिङ्गमव्यक्तम् । अव्यक्तस्य सर्वव्याप्यायित्वेन ज्ञानादवश्यं ज्ञातव्यानि ॥ १९ ॥

योगसुधाकरः ।

एतस्य गुणत्रयात्मकस्य दृश्यस्य परिणामं विभज्य दर्शयति—विशेषेति ।

विशेषा महाभूतेन्द्रियमनोरूपाः षोडश विकाराः, अविशेषास्तन्मात्राहंकाराः षट् प्रकृतिविकृतयः, लयं गच्छतीति लिङ्गमात्रं प्रकृतिविकाररूपं महत्तत्त्वम्, अलिङ्गं गुणानां सम्यावस्थारूपं प्रधानम्; एतानि चत्वारि गुणानां पर्वाणि अवस्थाविशेषा इत्यर्थः ॥ १९ ॥

भोजवृत्तिः ।

एवं हेयत्वेन दृश्यस्य प्रथमं ज्ञातव्यत्वाचदवस्थासहितं व्याख्यायोपादेयं द्रष्टारं व्याकर्तुम्(१) आह—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

द्रष्टा पुरुषो दृशिमात्रश्चेतनामात्रः । मात्रग्रहणं धर्मधर्मिनिरासार्थम् । केचिद्धि चेतनामात्मनो धर्ममिच्छन्ति । स शुद्धोऽपि परिणामित्वाद्यभावेन सुप्रतिष्ठोऽपि(२) प्रत्ययानुपश्यः प्रत्यया विषयोपरक्तानि ज्ञानानि तानि अनु अव्यवधानेन प्रतिसंक्रमाद्यभावेन पश्यति । एतदुक्तं भवति—जातविषयोपरागायामेव बुद्धौ संनिधिमात्रेणैव पुरुषस्य द्रष्टृत्वमिति ॥ २० ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

सूत्राभ्यां दृश्यशब्दार्थो व्याख्यातः । द्रष्टृशब्दार्थो व्याख्यायते—द्रष्टेति ।

दृशिमात्रो ज्ञानमात्ररूपः द्रष्टृशब्दार्थः । तत्र प्रमाणमाह शेषेण, स च शुद्धोऽपीति । निर्विकारोऽपि प्रत्ययानुपश्यः । प्रत्ययं बौद्धं वृत्तिजातं तदनुकारीव सन्पश्यति । वृत्तेः स्वेनैव ग्रहणे कर्मकर्तृविरोधाद्वृत्तिप्रवाहकल्पने चानवस्थानाद्वृत्तिसाक्षितया पुरुषः सिध्यतीत्यर्थः । निर्विकारस्य व्यर्थग्रहणमनुशब्देनोपपादितम् । वृत्तेरर्थग्रहणमर्थाकारतारूपो विकारः स्वप्नादौ सिद्ध एवास्ति । अतस्तद्दृष्टान्तेन पुरुषस्यापि वृत्तिग्रहणं वृत्त्याकारता वाच्या । सा च वृत्तिप्रतिबिम्बरूपा वृत्त्यनुकारितेति ॥ २० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अथ द्रष्टृपदार्थमाह—द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः । दृशिमात्रो ज्ञानमात्ररूपः । एतेन ज्ञानधर्मकत्वं निरस्तम् । स बुद्धेः प्रतिसंवेदी तदविभागापन्न इति यावत् । अविभाग एव च प्रतिबिम्ब इत्युच्यते । स च तया नात्यन्तमभिन्नः । कदाचिदेव तत्तद्विषयाकारताधारणेन तस्याः परिणामित्वात् । संप्रज्ञातव्युत्थानयोः सदा ज्ञातविषयत्वेनापरिणामित्वात्पुरुषस्य । परिणामी तु न सदा ज्ञातविषयो यथा श्रोत्रादिः । किञ्च बुद्धिः परार्था क्लेशकर्मवासनाविषयेन्द्रियादिभिः सह पुरुषार्थकारित्वात्, शय्यादिवत् । पुरुषस्तु नैवमिति नात्यन्ताभेदः । नात्यन्तभिन्नो व्युत्थानदशायां यतः शुद्धोऽप्यपरिणाम्यपि प्रत्ययं बौद्धं प्रत्ययं वृत्तिजातमनुकुर्वन्निव पश्यति विषयजातमित्यर्थः । तमनुकुर्वन्नतदात्मापि तदात्मक इव भाति । तदुक्तं—प्राप्तचैतन्योपग्रहस्वरूपा बुद्धिवृत्तेरनुकारणम् । तदविशिष्टः स आख्यायत—इति भाष्ये । वृत्तेः स्वेनैव ग्रहणे कर्तृकर्मविरोधः, वृत्तिप्रवाहकल्पने चानवस्था तत्साक्षी तदविभागमापन्नः पुरुषः सिध्यति । वृत्तेरर्थग्रहणं ह्यर्थाकारतारूपो विकारः । तद्दृष्टान्तेन पुरुषस्यापि वृत्तिग्रहणं वृत्त्याकारतैव । सा चोक्तप्रतिबिम्बरूपा वृत्त्यनुकारितैवेति दिक् ॥ २० ॥

मणिप्रभा ।

एवं दृश्यं निरूप्य द्रष्टारं निरूपयति—द्रष्टेति ।

द्रष्टा पुरुषो दृशिमात्रश्चिन्मात्रो न ज्ञानादिधर्मकः । अतः शुद्धोऽपरिणाम्यपि प्रत्ययं बुद्धिवृत्तिमनुसृत्य पश्यतीति प्रत्ययानुपश्यः स्वस्य बुद्ध्यविवेकाद्वृत्तिभिरेकीभूतः शब्दादीन् पश्यतीत्यर्थः । तदुक्तं-वृत्तिसारूप्यमितरत्र-इति ॥ २० ॥

---

(१) व्याख्यातुमिति पाठान्तरम् । (२) स्वप्रतिष्ठोऽपीति पाठान्तरम् ।

चन्द्रिका ।

द्रष्टृस्वरूपमाह—द्रष्टेति ।

द्रष्टा पुरुषो दृशिस्वरूपश्चेतनामात्रस्वरूपः स शुद्धोऽपि प्रत्यानुपश्यः, प्रत्यया विषयोपरक्तज्ञानानि तानि अनुपश्यतीति अव्यवधानेन सन्निधानमात्रेण बुद्धावुपरागे सति पुरुषस्य द्रष्टृत्वमिति ॥२०॥

योगसुधाकरः ।

इत्थं हेयं दृश्यं प्रथमं निरूप्य उपादेयं द्रष्टारं निरूपयितुमाह—द्रष्टेति ।

द्रष्टा पुरुषो दृशिमात्रश्चिन्मात्रो न ज्ञानादिधर्मकः, तद्धर्मकत्वे तस्य वृत्तिरूपतया विनाशशीलत्वात् 'उपयन्नपयन्धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' इति न्यायेनात्मनः कौटस्थ्यं हीयेत । अतः शुद्धः अपरिणाम्यपि प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति । तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मभूत इव प्रतिभासत इत्यर्थः ॥ २० ॥

भोजवृत्तिः ।

स एव भोक्तेत्याह—

(१) तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा ॥ २१ ॥

दृश्यस्य प्रागुक्तलक्षणस्याऽऽत्मा यत्स्वरूपं स तदर्थस्तस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वसंपादनं नाम स्वार्थपरिहारेण प्रयोजनम् । न हि प्रधानं प्रवर्तमानमात्मनः किंचित्प्रयोजनमपेक्ष्य प्रवर्तते किन्तु पुरुषस्य भोक्तृत्वं संपादयितुमिति (२) ॥ २१ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

द्रष्टरि प्रमाणान्तरमाह—तदर्थ इति ।

तस्य द्रष्टुरर्थः प्रयोजनं भोगापवर्गावेव प्रयोजनं यस्य स तदर्थः । तथाच द्रष्टुर्भोगापवर्गप्रयोजनकमेव दृश्यस्यात्मा स्वरूपं कार्यकारणात्मकं गुणत्रयं न स्वार्थमित्यर्थः । तथा च—गुणाः परार्थाः संहत्यकारित्वात् शय्यादिवदित्यनुमानेन प्रकृत्यादिभ्योऽतिरिक्तस्य द्रष्टुः सिद्धिरिति । [ ] । संहत्यकारित्वं स्वकार्ये सहकारिसापेक्षत्वम् ॥ २१ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अथ संयोगाङ्गदृश्यस्य द्रष्टृत्वमाह—तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा । तस्य द्रष्टुरर्थः प्रयोजनं भोगापवर्गावेव प्रयोजनं यस्य स तदर्थः । द्रष्टुर्भोगापवर्गफलकं दृश्यस्यात्मा स्वरूपं कार्यकारणात्मकं गुणत्रयं न स्वार्थमित्यर्थः । यतो दृश्यमेव पुरुषस्य भोग्यम् । यतो रूपशब्दादयो विषयाः सुखदुःखात्मतयानुकूलयितारः प्रतिकूलयितारश्च । अनुकूलनीयादिश्चेतनः पुरुष एव । न स्वात्मा कर्तृकर्मविरोधात् । किं च यतो दृश्यस्वरूपं यावत्पुरुषार्थमनुवर्तते तन्निवृत्तौ च निवर्ततेऽतो न स्वार्थम् । तदनेन गुणाः परार्थाः संहत्यकारित्वाच्छय्यादिवदित्यनुमानं प्रकृत्याद्यतिरिक्तपुरुषे मानमपि दर्शितम् । संहत्यकारित्वं कार्ये सहकारिसापेक्षत्वम् ॥ २१ ॥

मणिप्रभा ।

एवं दृश्यद्रष्टारावुक्तौ तयोः शेषशेषित्वमाह—तदर्थ इति ।

दृश्यस्य भोग्यस्य स्वरूपं द्रष्टुरर्थमेव न स्वार्थम् अचेतनत्वादित्यर्थः ॥ २१ ॥

चन्द्रिका ।

तदर्थ इति । उक्तलक्षणस्य दृश्यस्यात्मा स्वरूपं तदर्थः पुरुषभोक्तृत्वसम्पादनमेव प्रयोजनमस्य २१

योगसुधाकरः ।

इत्थं दृश्यद्रष्टारावभिधाय तयोः शेषशेषित्वमाभिधातुमाह—तदर्थ इति ।

---

(१) स्वस्वामिभावलक्षणसम्बन्धाङ्गं दृश्यस्य द्रष्टृर्थत्वमाह तदर्थ इति ।

(२) भोगं संपादयामीति पाठान्तरम् ।

दृश्यस्य भोग्यस्यात्मा स्वरूपं द्रष्ट्रर्थमेव न स्वार्थम्, अचेतनत्वादित्यर्थः ॥ २१ ॥

भोजवृत्तिः ।

यद्येवं पुरुषस्य भोगसंपादनमेव प्रयोजनं तदा संपादिते तस्मिंस्तन्निष्प्रयोजनं विरतव्यापारं स्यात्, तस्मिंश्च परिणामशून्ये शुद्धत्वात्सर्वे द्रष्टारो बन्धरहिताः स्युः, ततश्च संसारोच्छेद इत्याशङ्क्याऽऽह—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

यद्यपि विवेकख्यातिपर्यन्ताद्भोगसंपादनात्कमपि कृतार्थं पुरुषं प्रति तन्नष्टं विरतव्यापारं तथाऽपि सर्वपुरुषसाधारणत्वादन्यान्प्रत्यनष्टव्यापारमवतिष्ठते । ततः (२)प्रधानस्य सकलभोक्तृसाधारणत्वान्न कृतार्थता, नापि (३) विनाशः । एकस्य मुक्तौ वा न सर्वमुक्तिप्रसङ्ग इत्युक्तं भवति ॥ २२ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु पुरुषार्थमेव चेत्प्रकृत्यादिकं तर्हि पुरुषस्य मुक्तौ तत्सर्वं नश्येव, स्थितिहेतोः पुरुषार्थस्याभावादिति, तत्राह—कृतार्थमिति ।

कृतार्थं समाप्तपुरुषार्थमेकं कञ्चिन्मुक्तरूपं प्रति गुणादिकं प्रयोजनाकरणाद्राज्ञो राज्यवन्नष्टमप्यर्थक्रियाकारित्वरूपसत्ताशून्यमपि सर्वथा न नष्टम् । कस्मात्कृतार्थेऽन्यपुरुषे चं तस्य साधारणत्वादित्यर्थः । तथा च पुरुषान्तराणामर्थे प्रकृत्यादिस्थितिरिति भावः ॥ २२ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

नन्वेवं पुरुषस्य भोगापवर्गसमाप्तौ निष्प्रयोजनत्वाद्विरतव्यापारं स्यात, स्थितिहेतोः पुरुषस्यार्थस्याभावात , नश्येतैव वा, एवञ्च संसारोच्छेदः स्यादत आह—**कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्** । कञ्चित्कृतार्थं समाप्तपुरुषार्थं प्रति गुणादिकं प्रयोजनाकरणात् नष्टमपि अर्थक्रियाकारित्वरूपसत्ताशून्यमपि न नष्टं तदन्योऽकृतार्थस्तत्साधारणत्वादित्यर्थः । एवं च पुरुषान्तराणामर्थे प्रकृत्यादिस्थितिः प्रवृत्तिश्चेति भावः । प्रधानस्यैकत्वं पुरुषस्यानेकत्वं च 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' इति श्रुतिराह । एकत्वश्रुतयश्च देशकालविभागाभावेन गौणाविभागरूपत्वपरा इति दिक् ॥ २२ ॥

मणिप्रभा ।

ननु तर्हि द्रष्टुः प्रयोजने निष्पन्ने सति कृत्याभावाददृश्यं प्रधानं निर्व्यापारं स्यात् तथा चाधुना संसारो नोपलभ्येतेत्यत आह—**कृतार्थमिति** ।

प्रधानमेकं पुरुषा अनन्ता इति स्थितिः । 'अजामेकामिति' श्रुतेः । तत्र प्रधानं यं पुरुषं प्रति भोगापवर्गौ कृतवत् स कृतार्थः स्वामित्वात् । यथा भृत्येन कृतजयेन स्वामी कृतजय इत्युच्यते । तद्वत्तं कृतार्थं मुक्तपुरुषं प्रति नष्टमदर्शनं गतमपि तद्दृश्यमनष्टं पुरुषान्तरसाधारणत्वात् । एतदुक्तं भवति । पुरुषार्थो ह्यनागतावस्थः प्रधानस्य प्रवृत्तिहेतुः । तत्र कृतार्थं प्रति प्रवर्त्तकाभावात्प्रधानस्याप्रवृत्तावपि अकृतार्थं प्रति महदाद्याकारेण प्रवृत्तिर्घटते । तथा चैकस्य मुक्तौ सर्वेषां मुक्तिप्रसङ्गो नास्तीति ॥ २२ ॥

चन्द्रिका ।

कृतार्थमिति । यद्यपि विवेकख्यातिपर्यन्ताद्भोगसम्पादनात् कमपि कृतार्थं पुरुषं प्रति तन्नष्टं तथापि सर्वपुरुषसाधारणत्वादन्यान् प्रत्यनष्टव्यापारमवतिष्ठते अतस्तदविनाशित्वैकमुक्तौ न सर्वमुक्तिप्रसङ्गः २२

---

(१) ननु पुरुषभोगसम्पादनमेव चेत् प्रयोजनं तदा सम्पादिते तस्मिन् तन्निष्प्रयोजनं व्यापाररहितं परिणामरहितं च स्यात् ततः शुद्धत्वात् सर्वे बन्धरहिताः स्युस्ततश्च संसारोच्छेद इत्यत आह कृतार्थमिति ।

(२) अत इति पाठान्तरम् । (३) न कदाचिदपि विनाश इति पाठान्तरम् ।

योगसुधाकरः ।

ननु द्रष्टुः प्रयोजने निष्पन्ने सति कृतकृत्यतया प्रधाने निर्व्यापारेऽद्धुना संसारो नोपलभ्येतेति चेद्, नेत्याह—कृतार्थमिति ।

प्रधानमेकं पुरुषा अनन्ताः । तथा च पुरुषख्यातिपर्यन्तं भोगापवर्गौ दत्त्वा कंचन कृतार्थं प्रति नष्टं निर्व्यापारमपि पुरुषान्तरसाधारणत्वादनष्टमेवावतिष्ठते। तथा चैकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसङ्गानवकाश इति भावः ॥ २२ ॥

भोजवृत्तिः ।

दृश्यद्रष्टारौ व्याख्याय संयोगं व्याख्यातुमाह—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

कार्यद्वारेणास्य लक्षणं करोति, स्वशक्तिर्दृश्यस्य स्वभावः, स्वामिशक्तिर्द्रष्टुः स्वरूपं, तयोर्द्वयोरपि संवेद्यसंवेदकत्वेन व्यवस्थितयोर्या स्वरूपोपलब्धिस्तस्याः कारणं यः स संयोगः । स च सहजभोग्यभोक्तृभावस्वरूपान्नान्यः । न हि तयोर्नित्ययोर्व्यापकयोश्च स्वरूपादतिरिक्तः कश्चित् संयोगः । यदेव भोग्यस्य भोग्यत्वं भोक्तुश्च भोक्तृत्वमनादीसिद्धं स एव संयोगः ॥ २३ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

अत्र सूत्रेषु पुरुषबहुत्वं सिद्धम् । द्रष्टृदृश्ये व्याख्याते तयोः कीदृशः संयोगो हेतुस्तदुच्यते स्वेति ।

प्रलये भोग्यभोक्तृभावाभावाच्छक्तिग्रहणम् । स्वस्वामिशक्तिकयोर्भोग्यभोक्तृत्वयोग्ययोर्दृश्यद्रष्ट्रोः स्वरूपोपलब्धौ विषयभोगात्मदर्शने तयोर्हेतुर्यः संयोगविशेषो जन्माख्यः स एव पूर्वसूत्रे द्रष्टृदृश्यसंयोगशब्दार्थः । द्रष्टृदृश्यसंयोगसामान्यस्य सार्वकालिकत्वेन हेयाहेतुत्वाद्वक्ष्यमाणज्ञाननिवर्त्यत्वासम्भवाच्चेति भावः ॥ २३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अथ तयोः संयोगमाह—स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः । प्रलये भोग्यभोक्तृत्वाभावाच्छक्तिग्रहणम् । स्वं भोग्यं, स्वामी भोक्ता । स्वरूपयोः दृश्यपुरुषस्वरूपयोः उपलब्धिर्विषयभोगात्मदर्शनरूपा तस्या हेतुर्यः स्वस्वबुद्धिजन्माख्यः स एव जातोऽहमित्यादिबुद्धिविषयस्वरूपः संयोग इत्यर्थः। संयोगसामान्यस्य सार्वकालिकत्वेन हेयाहेतुत्वाद्वक्ष्यमाणज्ञाननिवर्त्यत्वासम्भवाच्चेति भावः सम्यग्दर्शनाद्भोगकारणाविद्यानाशे भोगाभावरूपो बन्धाभाव एव मोक्षः । अत आत्मदर्शनमपि संयोगहेतुकमेवेति दिक् ॥ २३ ॥

मणिप्रभा।

एवं दृश्यद्रष्टारौ व्याख्याय हेयहेतुं संयोगं निरूपयति—स्वेति ।

स्वं दृश्यं तस्य शक्तिर्जडत्वेन दृश्यत्वयोग्यता स्वामी तु पुरुषस्तस्य शक्तिश्चेतनत्वेन द्रष्टृत्वयोग्यता स्वरूपात्मिकैव। तयोः स्वस्वामिस्वरूपयोः शक्त्योः विविधशब्दाद्याकारदृश्यबुद्धिस्वस्वरूपस्योपलब्धिर्भोगः । स्वामिस्वरूपस्योपलब्धिरपवर्गः । तद्धेतुः संयोगः स्वस्वामिभावाख्यः । स एव द्रष्टृदृश्यभावो भोक्तृभोग्यभाव इत्याख्यायते । यस्याभावे दृग्दृश्ययोः स्वरूपोपलब्धिर्न भवति यद्भावे सा भवति स संयोगः कार्येणैव ज्ञेय इत्युपदिष्टं भवति ॥ २३ ॥

चन्द्रिका ।

स्वेति । स्वशक्तिर्दृश्यस्वभावः स्वामिशक्तिर्द्रष्टुः स्वरूपं तयोर्द्वयोर्या स्वरूपोपलब्धिस्तस्याः कारणं यः संयोगः स च स्वरूपान्नातिरिक्तो नित्यव्यापकयोः संयोगादिसम्बन्धासम्भवाद्भोक्तृभोग्यरूपः स्वरूपसम्बन्ध एव ॥ २३ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थं दृश्यद्रष्टारौ व्याख्याय तत्संयोगं व्याख्यातुमाह—स्वेति ।

स्वशक्तिर्दृश्यस्वभावः, स्वामिशक्तिर्दृक्स्वभावः । तयोश्चैतचेतनत्वेन व्यवस्थितयोः स्वरूपोपलब्धिर्भोगापवर्गरूपा । तस्या हेतुः प्रत्ययः संयोगो द्रष्टृदृश्यभावोऽविद्याकृत इति व्याख्यातम् । एवं च यस्याभावे दृग्दृश्ययोः स्वरूपोपलब्धिर्न भवति, यद्भावे सा भवति, स संयोगः कार्यैकोन्नेय इत्युपदिष्टं भवति ॥ २३ ॥

भोजवृत्तिः ।

तस्यापि कारणमाह—

(१) तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

या पूर्वं विपर्यासात्मिका मोहरूपाऽविद्या व्याख्याता सा तस्य विवेकख्यातिरूपस्य संयोगस्य कारणम् ॥ २४ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

द्रष्टृदृश्यसंयोगस्यापि कारणं दर्शयति—तस्येति ।

तस्य जन्माख्यस्य द्रष्टृदृश्यसंयोगस्याविद्या मूलकारणमित्यर्थः । अविद्याशब्देनात्रानात्मन्यात्मबुद्धिरूपा मिथ्याज्ञानवासना ग्राह्या । तस्या एव जन्मप्राक्काले सम्भवाद्भाष्यकृतोक्तत्वाच्च ॥ २४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तस्य संयोगस्य कारणमाह—तस्य हेतुरविद्या । तस्य जन्माख्यस्य द्रष्टृदृश्यसंयोगस्याविद्या मूलकारणमित्यर्थः । अविद्याशब्देनात्रानात्मन्यात्मबुद्धिरूपमिथ्याज्ञानवासना तस्या एव जन्मप्राक्काले संभवात् । सर्गान्तरीयाविद्यायाः स्वाश्रयचित्तेन सह प्रधाने निरुद्धायाः प्रधाने स्थिता या वासना तद्वासितं च प्रधानं पुनः सर्गादौ अविद्याविशिष्टमेव चित्तं तत्पुरुषसंयोगो (?) सृजाति । एवं पूर्वपूर्वसर्गेष्वित्यनादितास्याः । अविद्यावासनासत्त्वादेव च प्रलये न मुक्तिः । यदा तु विवेकख्यातिधर्ममेघसमाधिरूपां निष्ठां प्राप्ता तदा दग्धबीजतुल्यसवासनचित्तनिवृत्त्या स्वरूपमात्रेण पुरुषस्थितिरूपो मोक्षः । हेयहेतुरूपं व्यूहद्वयं प्रतिपादितम् ॥ २४ ॥

मणिप्रभा ।

एवं संयोगस्य स्वरूपं कार्यं चोक्त्वा कारणमाह—तस्येति ।

भ्रान्तिज्ञानवासना संयोगस्य कारणमित्यर्थः । अहमिति दृग्दृश्ययोरभेदप्रत्ययो भ्रान्तिः । तद्वासनावासितं चित्तं प्रलये लीनं प्रधानभावमुपगतं सर्गकाले पुरुषं प्रति स्वत्त्वेनैव जायते । तेन संयोगेनाविवेकिनो बन्धो विवेकिनो मोक्षश्च भवति । एतया ह्यनादिवासनाविचित्रया चित्तवर्तिन्या अविद्यया सममूततो मत्स्यजालमिवानुविद्धं पुरुषपशुं स्वकर्मोपाहितं दुःखमुपात्तं त्यजन्तं, त्यक्तमुपाददानं, हातव्य एवानात्मन्यहङ्कारममकारानुपातिनं जातं जातं बाह्याध्यात्मिकोभयनिमित्तास्त्रिपर्वाणस्तापा अनुस्रवन्ते॥२४॥

चन्द्रिका ।

तस्येति । या पूर्वोक्ता अविद्या सा तस्य संयोगस्य हेतुर्भवति ॥ २४ ॥

योगसुधाकरः ।

संयोगस्याप्युपायमाह—तस्येति ।

तस्य संयोगस्य पूर्वोक्ताविद्या हेतुः कारणमित्यर्थः ॥ २४ ॥

---

(१) सम्बन्धस्य हेतुमाह तस्येति ।

भोजवृत्तिः ।

हेयं हानक्रियाकर्मोच्यते, किं पुनस्तद्धानमित्यत आह—

(१) तदभावात् (२) संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

तस्या अविद्यायाः स्वरूपविरुद्धेन सम्यग्ज्ञानेनोन्मूलिताया योऽयमभावस्तस्मिन्सति तत्कार्यस्य संयोगस्याप्यभावस्तद्धानमित्युच्यते । अयमर्थः—नैतस्य मूर्तद्रव्यवत्परित्यागो युज्यते किंतु जातायां विवेकख्यातावविवेकनिमित्तः संयोगः स्वयमेव निवर्तते इति तस्य हानम् । यदेव च संयोगस्य हानं तदेवं नित्यं केवलस्यापि पुरुषस्य कैवल्यं व्यपदिश्यते ॥ २५ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

तदेवं हेयहेतुरूपं व्यूहद्वयं प्रतिपादितं, हानव्यूह इदानीमुच्यते—**तदभावादिति** ।

तस्याश्चाविद्याया अत्यन्तोच्छेदाज्जन्माख्यसंयोगात्यन्तनिवृत्तिर्हानं दुःखात्यन्तोच्छेदरूपो मोक्षः । कार्यकारणभेदात्तदेव च दृशेः चैतन्यस्य कैवल्यमित्यप्युच्यते । तद्द्वितीयासङ्गरूपत्वादित्यर्थः ॥ २५ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

इदानीं हानमाह—**तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्** । तस्या अविद्याया अभावात्सवासनया दाहात् जन्माख्यसंयोगस्यात्यन्तनिवृत्तिर्हानमात्यन्तिकदुःखोपरमरूपो मोक्षः । कार्यकारणाभेदात् । तदेवं दृशेश्चैतन्यस्य कैवल्यमसंगतेत्यर्थः । ननु पुरुषस्य नित्यनिर्दुःखत्वात्कथं दुःखहानिः पुरुषार्थं इति चेन्न । भोग्यत्वरूपस्वस्वसंबन्धेनैव दुःखहानस्य पुरुषार्थत्वात् । यद्यपि भोगोऽपि साक्षात्काररूपो नित्य एव तथापि घटाकाशवदनित्यता । दुःखभोगस्य दुःखवृत्त्यविभागापन्नत्वेनावधृतचित्स्वरूपत्वादिति दिक् ॥ २५ ॥

मणिप्रभा ।

एवं हेयं तद्धेतुं चोपपाद्य हेयस्य हानं मोक्षं व्युत्पादयति—**तदभावादिति** ।

तस्या अविद्यायाः अभावाद्विद्यया नाशात्तत्कार्यस्य बुद्धिपुरुषसंयोगस्य दुःखस्य हेयस्य हेतोरभावो विनाशो हानं यत्तदेव दृशेः नित्यमुक्तस्य कैवल्यमित्यर्थः ॥ २५ ॥

चन्द्रिका ।

तदभावादिति । तस्या ज्ञानेनोन्मूलिताया अविद्याया योऽभावस्तस्मिन सति तत्कार्यसंयोगस्याप्यभावः तदेव तद्धानं तद्दृशेः पुरुषस्य कैवल्यमिति ॥ २५ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थं हेयं तद्धेतु च अभिधाय अधुना हानं तद्धेतु च निरूपयितुमाह द्वाभ्याम्—**तदभावादिति** ।

तस्या अविद्याया अभावाद्विद्यया विनाशात्तत्कृतसंयोगविनाशो हानं यत् तदेव दृशेर्नित्यमुक्तायाश्चितिशक्तेः कैवल्यमित्यर्थः ॥ २५ ॥

भोजवृत्तिः ।

तदेवं दृश्यसंयोगस्य (३)स्वरूपं कारणं कार्यं चाभिहितम् । अथ हानोपायकथनद्वारेणोपादेयकारणमाह—

(४)विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः । २६ ॥

---

(१) हेयं दुःखं हेयकारण च संयोगाख्यमुक्तं किं पुनर्हानमित्यत आह तदभावादिति ।

(२) तदभावे इति पाठान्तरम् । (३) संयोगस्येति पाठान्तरम् ।

(४) हानोपायकथनद्वारेण उपादेयकारणमाह विवेकेत्यादि । आगमानुमानाभ्यामपि विवेकख्यातिरस्ति न च सा व्युत्थानं तत्संस्कारं वा निवर्तयति अत आह अविप्लवेति । न विद्यते विप्लवो विच्छेदोऽन्तरान्तरा व्युत्थानरूपो यस्याः सा अविप्लवा । अयमाशयः । श्रुतमयेन ज्ञानेन विवेकं गृहीत्वा युक्त्या च व्यवस्थाप्य दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेविताया भावनायाः प्रकर्षपर्यन्तं समधिगता साक्षात्कारवती विवेकख्यातिः विनिवृत्तज्ञातृकर्तृत्वाद्यभिमाना अविप्लवा हानस्य उपाय इति ।

अन्ये गुणा अन्यः पुरुष इत्येवंविधस्य विवेकस्य या ख्यातिः प्रख्या साऽस्य हानस्य दृश्यदुःख-(१) परित्यागस्योपायः कारणम्। कीदृशी ? अविप्लवा न विद्यते विप्लवो विच्छेदोऽन्तराव्युत्थानरूपो यस्याः साऽविप्लवा। इदमत्र तात्पर्यम्—प्रतिपक्षभावनाबलादविद्याप्रविलये विनिवृत्तज्ञातृत्वकर्तृत्वाभिमानायाः(२) रजस्तमोमलानभिभूतायाः बुद्धेरन्तर्मुखा या(३) चिच्छायासंक्रान्तिः सा विवेकख्यातिरुच्यते। तस्यां च संततत्वेन प्रवृत्तायां सत्यां दृश्यस्याधिकारनिवृत्तेर्भवत्येव कैवल्यम् ॥ २६ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

इतः परं हानोपायव्यूहं चतुर्थस्यापि कियत्पर्यन्तं प्रपञ्च्यते—**विवेकेति**।

मिथ्याज्ञानवासनयाऽन्तराभिभवो विप्लवस्तद्रहितो विवेकतः पुरुषसाक्षात्कारो मोक्षोपायः सवासनाविद्योन्मूलनद्वारेत्यर्थः। नन्वेवं ज्ञानादेव मोक्ष इति वचनादसंप्रज्ञातयोगवैफल्यमिति चेन्न। ज्ञानद्वारतया ज्ञानमध्य एवासंप्रज्ञातान्तर्भाव इत्याशयादिति ॥ २६ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अथ हानोपायमाह—**विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः**। मिथ्याज्ञानवासनयान्तराभिभवो विप्लवस्तद्रहिता विवेकख्यातिः प्रकृतिविवेकतः पुरुषसाक्षात्कारो मोक्षोपायः सवासनाविद्योन्मूलनद्वारेत्यर्थः। नन्वेवं ज्ञानादेव मोक्षश्रुतेरसंप्रज्ञातो निष्फल इति चेन्न, ज्ञानद्वारतया ज्ञानमध्ये तदन्तर्भाव इत्याशयात्॥२६॥

मणिप्रभा।

मोक्षमुक्त्वा तद्धेतुमाह—**विवेकेति**।

दृग्दृश्ययोर्भेदो विवेकस्तस्य ज्ञानं ख्यातिः। विप्लवो मिथ्याज्ञानम्। आदौ खल्वागमात्सामान्यतो विवेकख्यातिरुदेति साऽनाद्यविद्यां न हन्ति परोक्षत्वात्। यदा सा मननेन स्थापिता सती सर्वतो विरक्तेन पुरुषाभिमुखेन चित्तेन निरन्तरमभ्यस्यते तदा ध्यानप्रकर्षपर्यन्तजा चित्प्रतिबिम्बवती साक्षात्काररूपा सवासनमिथ्याज्ञानं निहन्त्यविप्लवा सती परवैराग्यपूर्वकनिरोधेन संस्कारशेषस्य कृतकृत्यस्य प्रारब्धावसाने आत्यन्तिकनिवृत्तिद्वारा भाविदुःखहानस्य मोक्षस्योपाय इत्यर्थः ॥ २६ ॥

चन्द्रिका।

विवेकेति। पुरुषगुणभेदविवेकस्य या ख्यातिः प्रख्या अविप्लवा विगतोऽन्तरा व्युत्थानरूपो विप्लवो यस्याः सा हानस्य दृश्यपरित्यागस्योपायः ॥ २६ ॥

योगसुधाकरः।

विवेकेति। अविप्लवा अविद्याविरोधिनी सत्त्वपुरुषयोरन्यताख्यातिर्हानस्य कैवल्यस्य हेतुरित्यर्थः।

अयं सूत्रद्वयस्याभिसंध्यर्थः—आदरनैरन्तर्यदीर्घकालानुबन्धियमनियमाद्यष्टाङ्गानुष्ठानेन सत्त्वपुरुषान्यताख्यातावविप्लवायां जातायामविद्यादयः पञ्च क्लेशास्तत्कृतसंयोगश्च समूलकाषं कषिता भवन्ति। कुशलाकुशलकर्माशयास्तद्विपाकाश्च समूलघातं हता भवन्ति ततश्च परवैराग्येणान्यताख्यातिनिवृत्तौ निरोधसमाध्यध्यासेन चित्ते निवर्तिते सति पुरुषस्य निर्लेपस्य स्वरूपप्रतिष्ठारूपं कैवल्यं भवतीति ॥२६॥

भोजवृत्तिः।

उत्पन्नविवेकख्यातेः पुरुषस्य यादृशी प्रज्ञा भवति तां कथयन्विवेकख्यातेरेव स्वरूपमाह—

तस्य(४)सप्तधा प्रान्तभूमिप्रज्ञा(५) ॥ २७ ॥

---

(१) दृश्यपरित्यागस्येति पाठान्तरम्। (२) कर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमानाया इति पाठान्तरम्।

(३) या या इति पाठान्तरम्।

(४) परिज्ञातं ज्ञेयं नास्ति किञ्चित् परिज्ञेयं १ क्षीणा हेयहेतवः न क्षेतव्यं किञ्चिदस्ति २ साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानं ३ प्राप्तो विवेकख्यातिरूपो हानोपायः ४। इति चतुष्टयी कार्यविमुक्तिः। चरितार्था बुद्धिः १ गुणा गिरिशिखरतटच्युता इव ग्रावाणः निरवस्थानाः स्वाकारणे प्रलयाभिमुखाः अस्तं गच्छन्ति न पुनरेषामस्त्युत्पादः २ स्वात्मीभूतः समाधिः तस्मिन् सति स्वरूपमात्रज्योतिरमलः पुरुषोऽह १ मिति त्रयी चित्तविमुक्तिः। (५) प्रान्तभूमौ प्रज्ञेति पाठान्तरम्।

भोजवृत्तिः ।

तस्योत्पन्नविवेकज्ञानस्य ज्ञातव्यविवेकरूपा प्रज्ञा प्रान्तभूमौ सकलसालम्बनसमाधिभूमिपर्यन्ते सप्तप्रकारा भवति, तत्र कार्यविमुक्तिरूपा चतुष्प्रकारा—ज्ञातं मया ज्ञेयं न ज्ञातव्यं किञ्चिदस्ति, क्षीणा मे क्लेशा न किञ्चित्क्षेतव्यमस्ति, अधिगतं मया ज्ञानं, प्राप्ता मया विवेकख्यातिरिति प्रत्ययान्तरपरिहारेण तस्यामवस्थायामीदृश्येव प्रज्ञा जायते । ईदृशी प्रज्ञा कार्यविषयं निर्मलं ज्ञानं कार्यविमुक्तिरित्युच्यते । चित्तविमुक्तिस्त्रिधा—चरितार्था मे बुद्धिर्गुणा हृताधिकारा गिरिशिखरनिपतिता इव ग्रावाणो न पुनः स्थितिं यास्यन्ति, स्वकारणे प्रविलयाभिमुखानां गुणानां मोहाभिधानमूलकारणाभावान्निष्प्रयोजनत्वाच्चामीषां कुतः प्ररोहो भवेत्, सात्मीभूतश्च मे समाधिस्तस्मिन्सति स्वरूपप्रतिष्ठोऽहमिति । ईदृशी त्रिप्रकारा चित्तविमुक्तिः । तदेवमीदृश्यां सप्तविधप्रान्तभूमिप्रज्ञायामुपजातायां पुरुषः कुशलः(१) इत्युच्यते २७

भावागणेशवृत्तिः ।

विवेकख्यातेरविप्लवाख्यानिष्ठाया लक्षणमाह—तस्येति

तस्य विवेकख्यातिरूपस्य हानोपायस्य प्रान्तभूमिकारूपिणी प्रज्ञा योगजसाक्षात्काररूपिणी सप्तप्रकारा भवति । तद्यथा हेयं दुःखं मया परिज्ञातमतः न मेऽत्र किमपि ज्ञातव्यमवशिष्यते इत्येका प्रज्ञा जायते । तथा विवेकख्यातिरूपो हानोपायो मया निष्पादितो नास्य निष्पाद्यमवशिष्यते, तत्फलानुभवादिति द्वितीया । तथा हेयहेतवोऽविद्याकामकर्मादयो ममाशेषतः क्षीणाः, न तेषां क्षेतव्यमवशिष्यत इति तृतीया । तथा दुःखहानरूपं मोक्षाख्यफलं तत्रोचरासंप्रज्ञातयोगेन साक्षात्कृतं न पुरुषार्थस्यापि ज्ञातव्यमवशिष्यत इति चतुर्थी प्रज्ञा । तदेतत्स्वस्य कृत्यसमाप्त्यनुभवरूपं प्रज्ञाचतुष्टयमुक्तम् । भावि विदेहकैवल्यकालीनावस्थानुभवरूपं चान्यत्प्रज्ञात्रयं यथा—समाप्तभोगापवर्गा मे बुद्धिर्भविष्यतीत्येवमाकारा प्रथमा । तथाबुद्धिरूपेण परिणताः सत्त्वादयो गुणाः स्वकारणे लयमेष्यन्तीत्येवमाकारा द्वितीया । तथाप्रलीनानां तेषां न पुनर्बुद्धिरूपेण परिणामो भविष्यतीत्येवमाकारा तृतीयेत्येवं सप्तप्रकारोऽनुभवो यस्य विदुषो जायते तस्य ज्ञाननिष्ठा सद्योमुक्तिदा ज्ञातव्येत्यर्थः ॥ २७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

विवेकख्यातेरविप्लवाख्यनिष्ठायाः फलमाह—**तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ।** तस्य विवेकख्यातिरूपहानोपायस्य प्रान्तभूमिकारूपिणी प्रज्ञा योगजसाक्षात्काररूपिणी सप्तप्रकारा भवति । तद्यथा हेयं दुःखं मया परिज्ञातं न मे ज्ञातव्यमवशिष्यत इत्येका प्रज्ञा । विवेकख्यातिरूपो हानोपायो निष्पादितो न निष्पाद्यमवशिष्यते तत्फलानुभवादिति द्वितीया । हेयहेतवोऽविद्याकामकर्मादयोऽशेषतः क्षीणा न किंचित्क्षेतव्यमवशिष्यत इति तृतीया । तथा दुःखहानरूपमोक्षाख्यफलं तत्रोचरासंप्रज्ञातयोगेन साक्षात्कृतं न पुरुषार्थस्यापि ज्ञातव्यमवशिष्यत इति चतुर्थी । तदेतत्स्वस्य कृत्यसमाप्त्यनुभवरूपं प्रज्ञाचतुष्टयं प्रयत्नसाध्यतया कार्या विमुक्तिरित्युच्यते । विदेहकैवल्यकालिकावस्थानुभवरूपं चान्यत्प्रज्ञात्रयं यथा—समाप्तभोगापवर्गा मे बुद्धिर्भविष्यतीति प्रथमा, बुद्धिरूपेण परिणताः सत्त्वादयः स्वकारणे लयमेष्यन्तीति द्वितीया, लयं गच्छन्तीति वा द्वितीयाः, प्रलीनानां च तेषां बुद्धिरूपः परिणामो न भविष्यतीति तृतीया । एवं सप्तप्रकारानुभववतो ज्ञाननिष्ठा सद्योमुक्तिदेत्यवगन्तव्यम् । एवमुत्तमस्य केवलं ज्ञानमेव साधनं यथा सनकादीनां, मध्यमस्य ज्ञानकर्मणी समुच्चिते यथा हिरण्यगर्भादीनामिति विष्णुपुराणादौ स्पष्टम् ॥ २७ ॥

मणिप्रभा ।

स्थिरविवेकख्यातेर्जीवन्मुक्तस्य ज्ञानवैभवमाह—तस्येति ।

प्रकृष्टोऽन्तोऽवसानं फलत्वेन यासां ताः प्रान्ताश्चरमा इति यावत् । प्रान्ता भूमयोऽवस्था यस्याः

---

(१) केवल इति पाठान्तरम् ।

सा प्रज्ञा प्रान्तभूमिः स्थिराविप्लवात्मख्यातेर्दुःखप्रत्ययान्तरतिरस्कारेण सप्तप्रकाराः प्रज्ञाऽवस्थाश्चरमा भवन्ति । ज्ञातव्यमखिलं ज्ञातमतः परं न किञ्चिज्ज्ञातव्यमस्तीत्येका । सर्वजिज्ञासानिवर्त्तकत्वादियं प्रान्ता, न हीयमनात्मज्ञस्य सम्भवति ततस्तदालम्बनसमाधिना प्रधानान्तप्रज्ञायां स्थिरायामपि आत्मजिज्ञासायाः सत्त्वेन तत्प्रज्ञाया अचरमत्वात् । एवमग्रिमावस्थानां प्रान्तत्वं मन्तव्यम् । हातव्याः सर्वे बन्धहेतवो हताः न किञ्चिन्मम हेयमस्तीति द्वितीया । कैवल्यप्राप्त्या प्राप्तव्यमखिलं प्राप्तमतोऽन्यन्न किञ्चिदपि मम प्राप्तव्यमस्तीति तृतीया । विवेकख्यातिसम्पादनेन कर्त्तव्यमखिलं कृतं न किंचित्कार्यमस्तीति चतुर्थी । एताश्चतस्रः कार्यविमुक्तिसंज्ञाः । चित्तविमुक्तिसंज्ञाः तिस्रः । यथा कृतार्थं मे बुद्धिसत्त्वमित्येका । बुद्ध्यादिरूपा गुणा अपि गिरिशिखरच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः संहतेनास्तमात्यन्तिकं गच्छन्ति तेषां नास्ति पुनः प्ररोहः प्रयोजनाभावादिति द्वितीया । तथा गुणातीतः स्वरूपमात्रावस्थितश्चिदेकरस इति तृतीया । प्रज्ञाऽवस्थेत्यर्थः । जिज्ञासाजिहासाप्रेप्साचिकीर्षाशोकभयविकल्पान्तफलाः सप्त प्रज्ञाभूमयः प्रान्ता मन्तव्या इत्यर्थः ॥ २७ ॥

चन्द्रिका ।

विवेकख्यातिः स्वरूपमाह—तस्येति ।

तस्योत्पन्नविवेकज्ञानस्य ज्ञातव्यविवेकरूपा या प्रज्ञा सा प्रान्तभूमौ सालम्बनसमाधिभूमिपर्यन्तं सप्तप्रकारा भवति ते प्रकारा ज्ञातं मया ज्ञेयमित्यादयः ॥ २७ ॥

योगसुधाकरः

अथ जीवन्मुक्तस्य पुरुषस्य ज्ञानवैभवमाह—तस्येति ।

तस्य संजातविवेकख्यातेः पुरुषस्य सप्तधा सप्तप्रकारा प्रान्तभूमिः प्रकर्षेणान्तो निवृत्तिः फलत्वेन यासां ता भूमयोऽवस्था यस्याः सा प्रज्ञा प्रान्तभूमिः सप्तप्रकारा । अयमर्थः—संजातविवेकख्यातेः पुरुषस्य सप्त प्रज्ञाभूमयः । तत्र चतस्रः कार्यविमुक्तिसंज्ञाः, तिस्रश्चित्तविमुक्तिसंज्ञाः । तद्यथा—ज्ञातव्यमखिलं ज्ञातं मम न किञ्चिज्ज्ञातव्यमस्तीति जिज्ञासानिवृत्तिरेका । हातव्यं सर्वं बन्धजातं हीनं मम न किञ्चिद्धेयमस्तीति जिहासानिवृत्तिर्द्वितीया । कैवल्यप्राप्त्या प्राप्तव्यमखिलं प्राप्तं ततो न किञ्चित्प्राप्तव्यमस्तीति प्रेप्सानिवृत्तिस्तृतीया । विवेकख्यातिलाभेन कर्तव्यमखिलं कृतं न किंचिन्मम कार्यमस्तीति चिकीर्षानिवृत्तिश्चतुर्थी । कृतार्थं मे बुद्धिसत्त्वमिति शोकनिवृत्तिरेका । मम बुद्ध्यादयो गुणाः प्रलीनाः प्रयोजनाभावात्पुनर्न प्ररोहन्तीति भयनिवृत्तिर्द्वितीया । तदाह गुणातीतस्वरूपमात्रेणावस्थितश्चिदेकरस इति सकलविकल्पनिवृत्तिस्तृतीया । इति सप्तधा प्रान्तभूमिर्द्रष्टव्येति ॥ २७ ॥

भोजवृत्तिः ।

विवेकख्यातिः संयोगाभावहेतुरित्युक्तं, तस्यास्तूत्पत्तौ किं निमित्तमित्यत आह—

(१)योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

योगाङ्गानि वक्ष्यमाणानि तेषामनुष्ठानाज्ज्ञानपूर्वकादभ्यासादा विवेकख्यातेरशुद्धिक्षये चित्तसत्त्वस्य प्रकाशावरणलक्षणक्लेशरूपाशुद्धिक्षये या ज्ञानदीप्तिस्तारतम्येन सात्त्विकः परिणामो विवेकख्यातिपर्यन्तः स तस्याः ख्यातेर्हेतुरित्यर्थः ॥ २८ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

अतः परं विवेकख्यात्युपायप्रतिपादकं सूत्रजातं प्रवर्तते—योगेति ।

योगाङ्गान्यष्टौ वक्ष्यमाणानि तेषामनुष्ठानात्पापक्षये सति ज्ञानस्य पृथिव्यादितत्त्वविषयकस्य दीप्तिवृद्धिर्भवति, प्रकृतिपुरुषविवेकसाक्षात्कारं यावदित्यर्थः ॥ २८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अथारुरुक्षोर्मन्दाधिकारिणो धारणादिरूपोऽभ्यासो यमनियमादिरूपक्रियायोगश्च यथाक्रममनुष्ठेय

(१) विवेकख्यातिः संयोगाभावे हेतुरित्युक्तं, विवेकख्यात्युत्पत्तौ निमित्तमाह योगाङ्गेति ।

इत्युपदिशन् आदौ यमाद्यनुष्ठानमिति दर्शयन् विवेकख्यात्युपायं दर्शयन्नाह—**योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः** । योगाङ्गान्यष्टौ वक्ष्यमाणानि तेषामनुष्ठानात्पापक्षये सति ज्ञानस्य पृथिव्यादितत्त्वविषयकस्य दीप्तिः वृद्धिः प्रकृतिपुरुषविवेकसाक्षात्कारपर्यन्ता भवतीत्यर्थः ॥२८॥

मणिप्रभा ।

सम्प्रति प्रज्ञासाधनान्याह—**योगाङ्गेति** ।

योगाङ्गानां योगस्य चानुष्ठानादशुद्धेः क्लेशकर्मरूपायाः क्रमेण क्षये जायमाने ज्ञानस्य दीप्तिर्विशुद्धिः आ निर्विकल्पविवेकख्यातेर्भवतीत्यर्थः । साङ्गयोगानुष्ठानशुद्धिद्वारा प्रज्ञासाधनमिति भावः ॥ २८ ॥

चन्द्रिका ।

योगाङ्गेति । वक्ष्यमाणयोगाङ्गानुष्ठानादाविवेकख्यातेरशुद्धिक्षये चित्तसत्त्वावरणरूपाशुद्धिक्षये या ज्ञानदीप्तिः सात्त्विकः परिणामो विवेकख्यातिपर्यन्तः स तस्याः ख्यातेर्हेतुः ॥ २८ ॥

योगसुधाकरः ।

पूर्वस्मिन्पादे समाहितचित्तस्यान्तरङ्गसाधने अभ्यासवैराग्ये अभिधाय आदावस्मिन्पादे व्युत्थितचित्तस्य क्रियायोगोऽभिहितः । अधुना ततोऽपि व्युत्थितचित्तस्य सम्प्रज्ञातसाधनान्यष्टाङ्गान्यभिधातुमाह—**योगाङ्गेति** ।

वक्ष्यमाणयोगाङ्गानामनुष्ठानादशुद्धेः क्लेशरूपायाः क्रमेण क्षये जायमाने ज्ञानस्य दीप्तिर्वृद्धिराविवेकख्यातेर्भवतीत्यर्थः । योगाङ्गानुष्ठानं शुद्धिद्वारा प्रज्ञासाधनमिति भावः ॥ २८ ॥

भोजवृत्तिः ।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षय इत्युक्तं, कानि योगाङ्गानीति तेषामुद्देशमाह—

(१)यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

इह कानिचित्समाधेः साक्षादुपकारकत्वेनान्तरङ्गाणि, यथा धारणादीनि । कानिचित्प्रतिपक्षभूतहिंसादिवितर्कोन्मूलनद्वारेण समाधिमुपकुर्वन्ति—यथा यमनियमादीनि । तत्राऽऽसनादीनामुत्तरोत्तरमुपकारकत्वम् । तद्यथा—सत्यासनजये प्राणायामस्थैर्यम् । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ॥ २९ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

कानि तानि योगाङ्गानीत्यपेक्षायामाह—**यमेति** । सुगमम् ॥ २९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तत्र योगाङ्गान्याह—**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टौ योगाङ्गानि** । एतानि ज्ञानस्येव योगस्यापि साधनतया योगाङ्गानि ॥ २९ ॥

मणिप्रभा ।

कानि योगाङ्गानीत्यत आह—**यमेति** ॥ २९ ॥

चन्द्रिका ।

कानि तानि योगाङ्गानीत्यपेक्षायां तान्याह—**यमनियमेति** सूत्रेण । तेषां व्याख्या अग्रिमसूत्राणि ॥२९॥

योगसुधाकरः ।

कानि पुनस्तानि योगाङ्गानीत्यपेक्षायामाह—**यमेति** ॥ २९ ॥

भोजवृत्तिः ।

क्रमेणैषां स्वरूपमाह—

(तत्र) अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

---

(१) सम्प्रति योगाङ्गानि अवधारयति यमेत्यादिभिः । अत्र धारणादीनि समाधेः साक्षादुपकारकानि यमादीनि तु प्रतिपक्षहिंसाद्युन्मूलनद्वारा परम्परयेति विशेषः ।

तत्र प्राणवियोगप्रयोजनव्यापारो हिंसा, सा च सर्वानर्थहेतुः, तदभावोऽहिंसा। हिंसायाः सर्वकालं(१) परिहार्यत्वात्प्रथमं तदभावरूपाया अहिंसाया निर्देशः। सत्यं वाङ्मनसयोर्यथार्थत्वम्। स्तेयं परस्वापहरणं तदभावोऽस्तेयम्। ब्रह्मचर्यमुपस्थसंयमः। अपरिग्रहो भोगसाधनानामनङ्गीकारः। त एतेऽहिंसादयः पञ्च यमशब्दवाच्या योगाङ्गत्वेन निर्दिष्टाः॥ ३०॥

भावागणेशवृत्तिः।

एतानि च ज्ञानस्येव योगस्यापि साधनतया योगाङ्गानीति यमादीन्सूत्रैः क्रमेण लक्षयति—तत्रेति।

तत्र तेषु यमादिषु मध्येऽहिंसादयः पञ्च यमा इत्यर्थः। तत्र अहिंसा प्राणिनामद्रोहः। सत्यं वाङ्मनसयोर्यथार्थता। अस्तेयं परस्वानादानम्। ब्रह्मचर्यमष्टविधमैथुनानिवृत्तिः।

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः॥

इत्यष्टविधमैथुनस्य लक्षणमुक्तम्। अपरिग्रहश्च हिंसाद्यसंख्यदोषदर्शनतः पदार्थानामस्वीकार इति ३०

नागोजीभट्टवृत्तिः।

तत्र यमं लक्षयति—अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। तत्राहिंसा प्राणिनामद्रोहः। शौचाचमनादावपरिहार्यहिंसायां तु न दोषः। सत्यं वाङ्मनसयोर्यथार्थता। अस्तेयं परस्वानादानम्। ब्रह्मचर्यमष्टविधमैथुनत्यागः।

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥ इत्यष्टविधम्।

अपरिग्रहश्च हिंसाद्यसंख्यदोषदर्शनात्पदार्थानामस्वीकरणम्॥ ३०॥

मणिप्रभा।

अन्यानपेक्षत्वेन सफलत्वाद् यमा आदावुच्यन्ते। पश्चाद्यमसापेक्षा नियमाः। एतदुभयाधीनशुद्ध्यपेक्षा आसनादय उत्तरोत्तरहेतवः पश्चादुच्यन्ते—अहिंसेति।

तत्राहिंसा नाम मनोवाक्कायैः सर्वदा सर्वभूतानामपीडनं परः शुक्ल एव धर्मः। अन्ये यमादयः एतस्या एव शुद्ध्यर्थाः। तथा चोक्तम्—स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सति तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति—इति। सत्यं परहितार्थं यथार्थकथनम्। बलाद्रहसि वा परवित्तहरणं स्तेयं तदभावोऽस्तेयं परद्रव्यास्पृहेत्यर्थः। ब्रह्मचर्यम् उपस्थसंयमः। स्त्रियाः प्रेक्षणालापस्पर्शश्रवणध्यानत्यागः तदङ्गम्। अपरिग्रहो नाम देहयात्रातिरिक्तभोगसाधनास्वीकारः। एते पञ्च यमाः योगस्य विरोधिहिंसाऽनृतस्तैयस्त्रीसङ्गपरिग्रहानिरासकत्वेनाङ्गत्वं भजन्ते॥ ३०॥

चन्द्रिका।

तानि क्रमेण दर्शयति—अहिंसेत्यादिना। तत्र प्राणवियोगहेतुर्व्यापारो हिंसा तदभावोऽहिंसा। सत्यं वाङ्मनसयोर्यथार्थत्वम्। अस्तेयं परस्वापहरणाभावः। ब्रह्मचर्यमुपस्थसंयमः। अपरिग्रहो भोगसाधनानामस्वीकरणमेते पञ्च यमाः॥ ३०॥

योगसुधाकरः।

तत्र के यमा इत्यपेक्षायामाह—अहिंसेति।

अहिंसादिभ्यो निषिद्धकर्मभ्यो योगिनं यमयन्ति निवर्तयन्तीति यमाः। तत्राहिंसा कायवाङ्मनोभिः सर्वदा सर्वभूतानामहिंसनम्। सत्यं सर्वदानृतानभिभाषणम्। अस्तेयं परस्वस्यानपहारः। ब्रह्मचर्यमष्टविधमैथुनत्यागः। अपरिग्रहः शरीरस्थितिमात्रव्यतिरिक्तभोगसाधनास्वीकारः। एत पञ्च यमा इत्यर्थः ३०॥

(१) सर्वप्रकारेणैवेति पाठान्तरम्।

भोजवृत्तिः ।

एषां विशेषमाह—

एते(१)जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सर्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

जातिर्ब्राह्मणत्वादिः । देशस्तीर्थादिः । कालश्चतुर्दश्यादिः । समयो ब्राह्मणप्रयोजनादिः । एतैश्चतुर्भिरनवच्छिन्नाः पूर्वोक्ता अहिंसादयो यमाः सर्वासु क्षिप्तादिषु चित्तभूमिषु भवा महाव्रतमित्युच्यन्ते(२) । तद्यथा—ब्राह्मणं न हनिष्यामि तीर्थे न कंचन हनिष्यामि चतुर्दश्यां न हनिष्यामि देवब्राह्मणप्रयोजनव्यतिरेकेण कमपि न हनिष्यामीति । एवं चतुर्विधावच्छेदव्यतिरेकेण किंचित्क्वचित्कदाचित्कस्मिंश्चिदर्थे न हनिष्यामीत्यनवच्छिन्नाः । एवं सत्यादिषु यथायोगं योज्यम् । इत्थमानियतीकृताः सामान्येनैव प्रवृत्ता महाव्रतमित्युच्यते न पुनः परिच्छिन्नावधारणम् ॥ ३१ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

यमेष्ववान्तरविशेषनिमित्तमुत्कर्षमाह—**जातीति** ।

जातिः मनुष्यब्राह्मणादिः । देशस्तीर्थादिः । कालश्चतुर्दश्यादिः । समयो युद्धादिः । एतैरनवच्छिन्नाः मनुष्यान्न हनिष्ये, तीर्थे न हनिष्ये, चतुर्दश्यां न हनिष्ये, युद्धातिरिक्ते न हनिष्ये इत्यादिविशेषैरनियमिता अत एव सार्वभौमाः सर्वजात्यादिसाधारणास्तेऽहिंसादयो यमा महाव्रता इत्युच्यन्ते । अन्वर्था चेयं संज्ञा ॥ ३१ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

यमानामुत्कर्षमाह—**जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्** । जातिर्मनुष्यत्वादिः, देशस्तीर्थादिः, कालश्चतुर्दश्यादिः, समयो युद्धादिः. एतैरनवच्छिन्नाः मनुष्यान् न हनिष्ये तीर्थे न हनिष्ये चतुर्दश्यां न हनिष्ये युद्धातिरिक्ते न हनिष्ये इत्येवंविशेषैरनियमिता अत एव सार्वभौमाः सर्वविषयेषु विदिताः सर्वजातिदेशकालादिसाधारणास्तेऽहिंसादयो महाव्रतमित्युच्यन्ते । अन्वर्था चेयं संज्ञा ॥ ३१ ॥

मणिप्रभा ।

एतेषां योगिभिरुपादेयविशेषमाह—**जातीति** ।

जातिर्गोत्वब्राह्मणत्वादिः । देशस्तीर्थादिः । कालो नियतश्चतुर्दश्यादिः । अनियतो ब्राह्मणभोजनाद्यवसरः समयः । तत्र सदा गोब्राह्मणं न हनिष्यामीत्यहिंसा जात्या परिच्छिन्ना । कमपि तीर्थे वा चतुर्दश्यां वा न हनिष्यामीति देशकालाभ्यामवच्छिन्ना । देवब्राह्मणाद्यर्थभोजनादिसमयातिरेकेण न हनिष्यामीति समयावच्छिन्ना । प्राणिमात्रं क्वचिदपि कस्यापि कृतेऽहं न हनिष्यामीति जात्यादिभिश्चतुर्भिरनवच्छिन्ना भवत्यहिंसा पुष्कला । एवं सत्यादयोऽपि अनवच्छिन्ना ऊहनीयाः । एवं सर्वासु जात्यादिषु भूमिषु क्षिप्ताद्यवस्थासु विदिताः सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यन्त इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

चन्द्रिका ।

तेषां विशेषमाह—**एत इति** । जातिर्ब्राह्मणत्वादिः देशस्तीर्थादिः कालश्चतुर्दश्यादिः समयो ब्राह्मणप्रयोजनादिरेतैरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यन्ते सर्वास चित्तभूमिषु भवाः ॥ ३१ ॥

योगसुधाकरः ।

एतेषां योगिभिरुपादेयं विशेषमाह—**जातीति** ।

---

(१) एत इति नास्ति भाष्यवाचस्पतिटीकापुस्तकयोः । सामान्यतः अहिंसादीनुक्त्वा यादृशाः पुनर्योगिनामुपादेयास्तादृशानाह एत इत्यादिना । जातीत्यादिचतुष्टयानवच्छिन्ना ब्राह्मणं न हनिष्यामि १ तीर्थे न हनिष्यामि २ चतुर्दश्यां न हनिष्यामि ३ ब्राह्मणप्रयोजनव्यतिरेकेण न हनिष्यामि ४ इत्येतैरनवच्छिन्ना इत्यर्थः ।

(२) मित्युच्यते इति पाठान्तरम् ।

जातिर्ब्राह्मणत्वादिकम् , तत्सदाहं न हनिष्यामीत्यहिंसा जात्या परिच्छिन्ना । देशे तीर्थादौ काले नियतचतुर्दश्यादौ वा कमपि न हनिष्यामीति देशकालाभ्यामवच्छिन्ना । देवब्राह्मणाद्यर्थातिरेकेण न हनिष्यामीति समयावच्छिन्ना । समयो नियतोऽवसर इत्यर्थः । प्राणिमात्रं क्वचिदपि कदाचिदपि कस्यापि कृतेऽहं न हनिष्यामीति जात्यादिभिश्चतुर्भिरनवच्छिन्ना भवत्यहिंसा पुष्कला । एवं सत्यादयोऽप्यनवच्छिन्ना ऊहनीयाः । इत्थमेते सर्वासु जात्यादिषु भूमिषु विदिताः सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यन्त इत्यर्थः ३१

भोजवृत्तिः ।

नियमानाह—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

शौचं द्विविधं—बाह्यमाभ्यन्तरं च । बाह्यं मृज्जलादिभिः कायादिप्रक्षालनम् । आभ्यन्तरं मैत्र्यादिभिश्चित्तमलानां प्रक्षालनम् । सन्तोषस्तुष्टिः । शेषाः प्रागेव कृतव्याख्यानाः । एते शौचादयो नियमशब्दवाच्याः ॥ ३२ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

यमान्व्याख्याय नियमान्व्याचष्टे—शौचेति ।

शौचं मृज्जलादिना बाह्यं, पञ्चगव्यादिभोजनेन चाभ्यन्तरम् । एतदुभयं शारीरम् । मानसं तु रागद्वेषादिमलक्षालनम् । संतोषः संनिहितोपकरणादाधिकानुपादित्सा । तपश्चान्द्रायणादि । स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राध्ययनं प्रणवजपो वा । ईश्वरप्रणिधानं परमगुरौ परमेश्वरे सर्वकमार्पणम् । एतानि नियमा इत्यर्थः । अर्पणं चोक्तं कौर्मे—

नाहं कर्ता सर्वमेतद्ब्रह्मैव कुरुते तथा ।
एतद्ब्रह्मार्पणं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ इत्यादि ॥ ३२ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

नियमानाह—**शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः** । शौचं मृज्जलादिना बाह्यं पञ्चगव्यादिभोजनेन च, आभ्यन्तरं रागद्वेषादिमलक्षालनम् । संतोषः संनिहितोपकरणादधिकस्यानुपादित्सा । तपश्चान्द्रायणादि, क्षुत्तृषे शीतोष्णे स्थानासनरूपद्वन्द्वसहनं, इङ्गितेनापि स्वाभिप्रायाप्रकाशनरूपकाष्ठमौनमवचनरूपाकारमौनादि । स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राध्ययनम् । ईश्वरप्रणिधानं परमेश्वरे सर्वकर्मार्पणं तत्पूजनादि च ॥ ३२ ॥

मणिप्रभा ।

नियमानाह—शौचेति ।

शौचं मृज्जलादिकृतं गोमूत्रपावकादिमेध्याहारकृतं च बाह्यम् । आन्तरं मैत्र्यादिभावनया चित्तस्यासूयाऽऽदिमलराहित्यम् । सन्तोषः सन्निहितप्राणधारणमात्रहेतुना तुष्टिः । तपो द्वन्द्वसहनं यथायोगं कृच्छ्रादिकं च । स्वाध्यायः प्रणवाद्यभ्यासः ।

ज्ञानतोऽज्ञानतो वाऽपि यत्करोमि शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥
कर्मणा मनसा वाचा या चेष्टा मम नित्यशः ।
केशवाराधने सा स्याज्जन्मजन्मान्तरेष्वपि ॥

इति परमगुरौ सर्वपुण्यकर्मार्पणमीश्वरप्रणिधानमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

चन्द्रिका ।

शौचेति । शौचं द्विधा मृज्जलादिभिर्बाह्यमान्तरं मैत्र्यादिभिश्चित्तप्रसादनं, सन्तोषस्तुष्टिः, शेषाः प्राग्व्याख्याता एते नियमाः ॥ ३२ ॥

योगसुधाकरः।

अथ नियमानाह— शौचेति।

जन्महेतून्काम्यधर्मान्निवर्त्य मोक्षहेतौ निष्कामे धर्मे नियमयन्ति प्रेरयन्तीति नियमाः। शौचं मृज्जलाभ्यां बाह्यमलनिवृत्तिः, मैत्र्यादिभावनयान्तरसूयादिमलनिवृत्तिः। संतोषो यथालाभपरितुष्टिः। तपः कायशोषणम्, तदुक्तं योगयाज्ञवल्क्ये—

विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः।
शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम्' ॥ इति।

स्वाध्यायो गायत्रीप्रभृतीनां मन्त्राणामध्ययनम् ते च मन्त्रा द्विविधा वैदिकास्तान्त्रिकाश्च। वैदिकाः प्रगीताप्रगीतभेदेन द्विविधाः। तान्त्रिकाः स्त्रीपुंनपुंसकभेदेन त्रिविधाः। तदलं मन्त्ररहस्योद्घोषेण। ईश्वरप्रणिधानं नाम अभिहितानामनभिहितानां च सर्वासां क्रियाणां परमेश्वरे फलानपेक्षतया समर्पणम्। तदुक्तम्—

कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम्।
तत्सर्वं त्वयि विन्यस्य त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥ इति।

फलाभिसंधेरुपघातकत्वमभिहितं महद्भिः—

अपि प्रयत्नसंपन्नं कामेनोपहतं तपः।
न तुष्टये महेशस्य श्वलीढमिव पायसम् ॥ इति।

एतानि शौचादीनि पञ्च नियमा इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

भोजवृत्तिः।

कथमेषां योगाङ्गत्वमित्यत आह—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्(१) ॥ ३३ ॥

वितर्क्यन्त इति वितर्का योगपरिपन्थिनो हिंसादयस्तेषां प्रतिपक्षभावने सति यदा बाधा भवति तदा योगः सुकरो भवतीति भवत्येव यमनियमानां योगाङ्गत्वम् ॥ ३३ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

उक्तेषु यमनियमेषु विघ्ननिवृत्त्युपायमाह—वितर्केति।

वक्ष्यमाणवितर्कैर्यमादिबाधने क्रियमाणे वक्ष्यमाणं प्रतिपक्षभावनं कार्यमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

एतेषु यमनियमेष्वभ्यस्यमानेषु प्राप्तविघ्नानां निवृत्त्युपायमाह—वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्। वक्ष्यमाणैर्वितर्कैर्यमादीनां बाधने क्रियमाणे वक्ष्यमाणप्रतिपक्षभावनं कार्यमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

मणिप्रभा।

वितर्केति। एतेषां यमनियमानां वितर्कैर्हिंसाऽऽदिभिरङ्कुरैर्हनिष्याम्येनमपकारिणं, अनृतं वक्ष्यामि, परस्वमादास्य, इत्यादिभिर्बाधने प्राप्ते सति यमादिपरो ब्राह्मणः प्रतिपक्षभावनं कुर्यात् घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपगताः सर्वभूताभयप्रदानेन यमादिधर्माः स खल्वहं त्यक्त्वा हिंसाऽऽदीन् पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्तेनेति। यथा श्वा वान्ताशी तथा त्यक्तस्य पुनरादातेति वितर्कप्रतिपक्षान् भावयेदित्यर्थः ॥ ३३ ॥

चन्द्रिका।

कथमेषां योगाङ्गत्वमित्याह वितर्केति। वक्ष्यमाणवितर्कादिप्रतिपक्षभावने सति योगः सुकरो भवति एते वितर्कादयो बाधकाः ॥३३॥

---

(१) यदायं पुरुषः हिंसादिवितर्कैर्बाध्यमानो भवेत् तदा तत्प्रतिपक्षान् भावयेदिति सूत्रार्थः।

योगसुधाकरः ।

ननु सति पारिपन्थिनि जाग्रति कथं यमादिसिद्धिरित्यत आह—वितर्केति ।

एतेषां यमनियमादीनां वितर्कैर्हिंसादिसंकल्पैः 'हनिष्याम्येनम्' 'अनृतं वदिष्यामि' 'परस्वमादास्ये' इत्यादिभिर्बाधने प्राप्ते सति, यमादिपरो योगी 'संसाराङ्गारेष्वहं तप्यमानो यमादिकं शरणमुपगतोऽहिंसादिकमत्यजन्; पुनस्तदाददानः कौलेयकेन वान्ताशिना समः' इत्यनेन प्रकारेण वितर्कप्रतिपक्षान्भावयेदित्यर्थः ॥ ३३ ॥

भोजवृत्तिः ।

इदानीं वितर्काणां स्वरूपं भेदप्रकारं फलं च क्रमेणाऽऽह—

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्(१) ॥ ३४ ॥

एते पूर्वोक्ताः (वितर्काः) हिंसादयः प्रथमं त्रिधा भिद्यन्ते कृतकारितानुमोदिता(त)भेदेन । तत्र स्वयं निष्पादिताः कृताः । कुरु कुर्विति प्रयोजकव्यापारेण समुत्पादिताः कारिताः । अन्येन क्रियमाणाः साध्वित्यङ्गीकृता अनुमोदिताः । एतच्च त्रैविध्यं परस्परव्यामोहनिवारणायोच्यते, अन्यथा मन्दमतिरेवं मन्येत—न मया स्वयं हिंसा कृतेति नास्ति मे दोष—इति । एतेषां कारणप्रतिपादनाय लोभक्रोधमोहपूर्वका इति । यद्यपि लोभक्रोधौ(२) प्रथमं निर्दिष्टौ(३) तथाऽपि सर्वक्लेशानां मोहस्यानात्मनि आत्माभिमानलक्षणस्य निदानत्वात्तस्मिन्सति स्वपरविभागपूर्वकत्वेन लोभक्रोधादीनामुद्भवान्मूलत्वमवसेयम् । मोहपूर्विका सर्वा दोषजातिरित्यर्थः । लोभस्तृष्णा । क्रोधः कृत्याकृत्यविवेकोन्मूलकः प्रज्वलनात्मकश्चित्तधर्मः । प्रत्येकं कृतादिभेदेन त्रिप्रकारा अपि हिंसादयो मोहादिकारणत्वेन त्रिधा भिद्यन्ते । एषामेव पुनरवस्थाभेदेन त्रैविध्यमाह—मृदुमध्याधिमात्राः । मृदवो मन्दा न तीव्रा नापि मध्याः । मध्या नापि मन्दा नापि तीव्राः । अधिमात्रास्तीव्राः । पाश्चात्या नव भेदाः । इत्थं त्रैविध्ये सति सप्तविंशतिर्भवति । मृदुमध्याधिमात्रभेदात्त्रैविध्यं सम्भवति । तद्यथायोगं योज्यम् । तद्यथा—मृदुमृदुर्मृदुमध्यो मृदुतीव्र इति । एषां फलमाह—दुःखाज्ञानानन्तफलाः । दुःखं प्रतिकूलतयाऽवभासमानो राजसश्चित्तधर्मः, अज्ञानं मिथ्याज्ञानं संशयविपर्ययरूप, ते दुःखाज्ञाने अनन्तमपरिच्छिन्नं फलं येषां ते तथोक्ताः । इत्थं तेषां स्वरूपकारणादिभेदेन ज्ञातानां प्रतिपक्षभावनया योगिना परिहारः कर्तव्य इत्युपदिष्टं भवति ॥ ३४ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ये ते वितर्का यच्च तेषां प्रतिपक्षचिन्तनं तद्द्वयमाह—वितर्का इति ।

यमनियमविपरीता हिंसादयो दश वितर्कशब्देन तन्त्रे पारिभाषिताः । ते च कृता वा कारिता वा सा-

---

(१) वितर्काणां स्वरूपप्रकारकारणधर्मफलभेदान् प्रतिपक्षभावनाविषयान् दर्शयति वितर्का इत्यादिना । हिंसादय इति स्वरूपकथनं कृतेत्यादिना प्रकारकथनं लोभेत्यादिना कारणमुक्तं मृद्वित्यादिना धर्म्माभिधानं दुःखेत्यादिना फलमुक्तं वेदितव्यम् । तत्र प्रथमतः हिंसादयः कृतादिभेदेन त्रिधा भिद्यन्ते । ततो लोभादिकारणकत्वेन त्रिधा इति नवभेदाः ततः पुनर्मृद्वादिभेदेन त्रिधेति सप्तविंशतिभेदा भवन्ति । लोभस्तृष्णा क्रोधः कृत्याकृत्यविवेकोन्मूलकः प्रज्वलनात्मकश्चित्तधर्म्मः मोहोऽनात्मन्यात्माभिमानः । दुःखाज्ञानानन्तफला इति दुःखं प्रतिकूलतया अवभासमानो राजसश्चित्तधर्मः अज्ञानं मिथ्याज्ञानं अनन्तमपरिच्छिन्नं फलं येषां ते तथोक्ता इत्यर्थः ।

(२) लोभ इति पाठान्तरम् । (३) निर्दिष्टस्तथेति पाठान्तरम् ।

धुसाध्वित्यनुमोदिता वा स्युः । तथा लोभोत्थाः क्रोधोत्था मोहोत्था वा स्युः । तथा मृदवो मध्या अतिप्रमाणा वा स्युः सर्व एव दुःखाज्ञानानन्तफला इत्येवं वितर्कप्रतिपक्षरूपदुःखज्ञानानन्तफलत्वस्य चिन्तनं कुर्यादित्यर्थः । दुःखं चाज्ञानं च ते एवानन्ते फले येषामिति विग्रहः ॥ ३४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तदेवाह—**वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ।** अहिंसादिविपरीता हिंसादयो दश वितर्का इति परिभाषितास्ते स्वयं कृता अन्येन कारिता साधुसाध्वित्यनुमोदिता इति त्रिविधास्ते पुनर्लोभक्रोधमोहपूर्वकत्वेन त्रिविधाः । लोभादयः पुनस्त्रिविधा मृदवो मध्या अतिप्रमाणा इति । सर्व एते दुःखं विपर्ययज्ञानरूपमज्ञानं च संसारमूलकारणं फलं येषां ते इति प्रतिपक्षभावनया तेषां परिहारः कार्य इत्यर्थः ॥३४॥

मणिप्रभा ।

सम्प्रति वितर्काणां स्वरूपप्रकारकारणावान्तरभेदफलानि पञ्चभिः पदैः क्रमेण वदन् प्रतिपक्षभावनं स्फुटयति—**वितर्का इति ।**

वितर्क्यन्त इति वितर्का हिंसाऽऽदय इति स्वरूपोक्तिः । तत्र हिंसा त्रिप्रकारा । स्वयंकृता, कुरु इति कारिता, साधु साध्वित्यनुमोदिता, चेति । तत्रैकैका पुनस्त्रिविधा भवति कारणभेदात् । मांसचर्मादिलोभेन, अपकृतमनेनेति क्रोधेन, धर्मो मे भविष्यतीति मोहेन । एवं नवविधा जाता हिंसा । पुनः लोभक्रोधमोहाः प्रत्येकं त्रिविधा भवन्ति मृदुमध्याधिमात्रत्वेन तत्पूर्वका हिंसादयोऽपि मृदवो, मध्या, अधिमात्राश्च भवन्ति, तथा कृता, कारिता, अनुमोदिता, च प्रत्येकं नवधा भवतीति हिंसायाः सप्तविंशतिभेदा भवन्ति । मृदुमध्याधिमात्रा अपि प्रत्येकं त्रिधा भवन्ति । मृदुमृदुः, मध्यमृदुः तीव्रमृदुः, मृदुमध्यो मध्यमध्यस्तीव्रमध्यः, मृदुतीव्रो, मध्यतीव्रस्तीव्रतीव्र, इति । एवं लोभो नवविधः । एवं क्रोधमोहाविति । तत्पूर्वा कृता हिंसा सप्तविंशतिभेदा भवति । तथा कारितानुमोदिता चेत्येकाशीतिभेदा हिंसा भवति । एवमनृतादिष्वपि योज्यम । एवंभूता वितर्काः ।

दुःखं नरकादिकं, अज्ञानं स्थावरादिभावं भ्रान्तिसंशयरूपं, चानन्तं फलयतीति प्रतिपक्षाणां वितर्कशत्रूणां भावनमित्यर्थः । तेन द्वेषचिन्तनेन वितर्का हेया इत्युपदिष्टं भवति । तद्धाने सति निर्विघ्ना यमनियमा दश सिध्यन्ति । तत्सिद्धौ चित्तशुद्धिद्वारा कैवल्यम् । अतो योगः सिध्यतीति तात्पर्यम् ॥३४॥

चन्द्रिका ।

के वितर्कादयस्तानाह—**वितर्का इति ।**

पूर्वोक्ताहिंसाद्या वितर्कादयः कृतकारितानुमोदितभेदेन त्रिधा । कारणमाह—लोभक्रोधमोहपूर्वका इति । पुनस्त्रैविध्यं मृदुमध्याधिमात्राः । तेषां फलमाह—दुःखाज्ञानानन्तफलाः ॥ ३४ ॥

योगसुधाकरः ।

अधुना वितर्काणां स्वरूपप्रकारकारणावान्तरभेदफलानि पञ्चभिः पदैः क्रमेण कथयन् प्रतिपक्षभावनं स्फुटयति—**वितर्का इति ।**

वितर्का हिंसादय इति स्वरूपनिर्देशः । तत्र हिंसा त्रिप्रकारा—स्वयं कृता, कुर्विति कारिता, साधु साध्वित्यनुमोदिता चेति । तत्रैकैका कारणभेदात्पुनस्त्रिविधा भवति—धनादिलोभेन, अपकृतमनेनेति क्रोधेन, धर्मो भविष्यतीति मोहेन । एवं नवविधा जाता हिंसा । लोभक्रोधमोहाः प्रत्येकं त्रिविधा भवन्ति मृदुमध्याधिमात्रत्वेन । तत्पूर्वका हिंसादयोऽपि मृदुत्वादिना त्रिविधा भवन्ति । तथा कृता कारितानुमोदिता च प्रत्येकं नवधा भवतीति हिंसायाः सप्तविंशतिभेदा भवन्ति । मृदुमध्याधिमात्रा अपि प्रत्येकं त्रिविधा भवन्ति—मृदुमृदुर्मध्यमृदुस्तीव्रमृदुः, मृदुमध्यो मध्यमध्यस्तीव्रमध्यः, मृदुतीव्रो मध्यतीव्रस्तीव्रतीव्र इति । एवं लोभो नवविधस्तथा क्रोधमोहाविति तत्पूर्वा कृता हिंसा सप्तविंशतिभेदा भवति । तथा कारितानुमोदिता चेत्येकाशीतिभेदा हिंसा भवति । एवमनृतादिष्वपि योज्यम् । इत्थंभूता वितर्का दुःखं

नरकादिकम्, अज्ञानं स्थावरादिभावम्, भ्रान्तिसंशयरूपं च अनन्तं फलं प्रयच्छन्तीति प्रतिपक्षाणां बितर्कशत्रूणां भावनामित्यर्थः। अनेन भावनेन तद्धाने सति निर्विघ्ना यमादयः सिध्यन्ति। तत्सिद्धौ चित्तपरिकर्मद्वारा कैवल्यं सिध्यतीत्यभिसंधिः ॥ ३४ ॥

भोजवृत्तिः।

एषामभ्यासवशात्प्रकर्षमागच्छतामनुनिष्पादिन्यः सिद्धयो यथा भवन्ति तथा क्रमेण प्रतिपादयितुमाह-

(१)अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

तस्याहिंसां भावयतः संनिधौ सहजविरोधिनामप्यहिनकुलादीनां वैरत्यागो निर्मत्सरतयाऽवस्थानं भवति। हिंस्रा अपि हिंस्रत्वं परित्यजन्तीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

यमनियमनिष्पत्तिसूचकानां सिद्धीनां सूत्राण्यतः परं प्रवर्तन्ते—**अहिंसेति**।

अहिंसास्थैर्ये सति तत्संनिधिस्थानां मार्जारमूषकादीनामन्योन्यवैरत्यागो भवति ॥ ३५ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अथ यमादिनिष्पत्तिसूचिकाः सिद्धीराह—**अहिंसाप्रतिष्ठायां वैरत्यागः**। अहिंसास्थैर्ये सति तत्संनिधिस्थानां मार्जारमूषकादीनामप्यन्योन्यं वैरत्याग इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

मणिप्रभा।

सम्प्रति दशानां सिद्धिसूचकमवान्तरफलं क्रमेण दर्शयति -**अहिंसेति**।

अहिंसासिद्धौ सत्यां तस्याहिंसकस्य मुनिवर्यस्य सन्निधौ स्वभावविरुद्धानामहिनकुलादीनामपि वैरत्यागो भवतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

चन्द्रिका।

तेषां यमनियमादीनामभ्यासोत्कर्षात् याः सिद्धयो भवन्ति ता आह—**तत्सन्निधाविति**।

तस्याहिंसां भावयतः सन्निधौ सहजविरोधिनामप्यहिनकुलादीनां वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

योगसुधाकरः।

अधुना यमादीनां सिद्धिसूचकमवान्तरफलं क्रमेण दर्शयति—**अहिंसेति**।

सत्यहिंसास्थैर्ये, तस्याहिंसकस्य योगिधौरेयस्य संनिधौ स्वभावविरुद्धानां गोव्याघ्रादीनामपि वैरत्यागो भवतीत्यर्थः। एतदेवाभिप्रेत्योक्तं वासिष्ठे—

मातरीव परं यान्ति विषमाणि मृदूनि च।
विश्वासमिह भूतानि सर्वाणि शमशालिनि ॥ इति ॥ ३५ ॥

भोजवृत्तिः।

सत्याभ्यासवतः किं भवतीत्याह—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

क्रियमाणा हि क्रिया यागादिका(२) फलं स्वर्गादिकं प्रयच्छति(३)। तस्य तु सत्याभ्यासवतो योगिनस्तथा सत्यं प्रकृष्यते यथा क्रियायामकृतायामपि योगी फलमाप्नोति, तद्वचनाद्यस्य कस्यचित्क्रियामकुर्वतोऽपि क्रियाफलं भवतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

सत्येति। सत्यस्थैर्ये सति तद्वचनमात्रेणान्येषां धर्मादिक्रियावत्त्वम्। तत्फलस्वर्गादिमत्त्वं च भवति ॥ ३६ ॥

---

(१) यमनियमाभ्यासात् यानि तत्तत्सिद्धिपरिज्ञानसूचकानि चिह्नानि तत्परिज्ञानाद् योगी तत्र तत्र कृतकृत्यमात्मानं मन्यमानः कर्त्तव्येषु प्रवर्त्तते तान्याह **अहिंसेत्यादिभिः** सूत्रैः।

(२) यागादिकाः इति पाठान्तरम्। (३) प्रयच्छन्तीति पाठान्तरम्।

नागोजीभट्टवृत्तिः

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

मणिप्रभा ।

सत्येति । सत्यप्रतिष्ठायां सत्यां क्रिया धर्माधर्मरूपा, तत्फलं स्वर्गादिकं, तयोराश्रयो वाङ्मात्रेण दाता तस्य भावः तत्त्वं भवति । यथा धार्मिको भूया इत्युक्ते भवति धार्मिकः स्वर्गमाप्नुहीत्युक्तिमात्रादधार्मिकोऽपि तथैव भवतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

चन्द्रिका ।

सत्याभ्यासोत्कर्षस्य फलमाह—सत्येति ।

सत्यप्रतिष्ठायां यागादिक्रियाफलाश्रयत्वं नाम अकृत्वापि यागादिक्रियास्तद्वचनादन्यस्यापि स्वर्गादिफलदानसामर्थ्यमायाति । किं पुनः स्वस्य वक्तव्यम् ॥३६ ॥

योगसुधाकरः ।

सत्येति । क्रिया धर्माधर्मरूपा, तस्याः फलं स्वर्गादिकम्, तयोराश्रयो वाङ्मात्रेण दाता, तस्य भावस्तत्त्वम् । योगिनः स्वर्गादिफलदातृत्वं वाङ्मात्रेण सिध्यतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

भोजवृत्तिः ।

अस्तेयाभ्यासवतः फलमाह—

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

अस्तेयं यदाऽभ्यस्यति तदाऽस्य तत्प्रकर्षान्निरभिलाषस्यापि सर्वतो दिव्यानि रत्नानि उपतिष्ठन्ते ॥३७

भावागणेशवृत्तिः ।

अस्तेयेति । अस्तेयस्थैर्ये तस्मै स्वयमेव सर्वरत्नान्युपतिष्ठन्ते ॥ ३७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अस्तेयेति । अस्तेयस्थैर्ये तद्वचनमात्रेण सर्वदिग्भ्यः सर्वरत्नान्युपतिष्ठन्ते ॥ ३७ ॥

मणिप्रभा ।

अस्तेयेति । अचौर्यदार्ढ्ये सति सर्वेषां दिव्यरत्नानामहर सङ्कल्पमात्रेण प्राप्तिर्भवतीत्यर्थः ॥३७॥

चन्द्रिका ।

अस्तेयेति । अस्तेयं यदाभ्यस्यति योगी तदा तस्य प्रकर्षान्निरभिलाषस्यापि तस्य सर्वतो रत्नान्युपतिष्ठन्ति ॥ ३७ ॥

योगसुधाकरः ।

अस्तेयेति । दिव्यानि रत्नानि योगिनः पुरत उपस्थितानि भवन्तीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

भोजवृत्तिः ।

ब्रह्मचर्याभ्यासस्य फलमाह—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

यः किल ब्रह्मचर्यमभ्यस्यति तस्य तत्प्रकर्षान्निरतिशयं वीर्यं सामर्थ्यमाविर्भवति वीर्यनिरोधो हि ब्रह्मचर्यं तस्य प्रकर्षाच्छरीरेन्द्रियमनःसु वीर्यं प्रकर्षमागच्छति ॥ ३८ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ब्रह्मचर्येति । ब्रह्मचर्यस्थैर्ये सति वीर्यलाभः सामर्थ्यविशेषो भवति । येन स्वयं ज्ञानक्रियाशक्तिमान्भूत्वा परेषु पुरुषः क्षमत इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः । स्वयंज्ञानक्रियाशक्तिरूपसामर्थ्यवान् भूत्वाऽन्येषामपि तदादधाति ॥ ३८ ॥

मणिप्रभा ।

ब्रह्मचर्येति । वीर्यनिरोधो हि ब्रह्मचर्यं तत्सिद्धौ निरतिशयं सामर्थ्यं भवति । येनाणिमाद्युपस्थितिर्भवति । शिष्येषूपदेशः सद्यः फलतीति भावः ॥ ३८ ॥

चन्द्रिका ।

ब्रह्मचर्येति । यः किल ब्रह्मचर्यमभ्यस्यति तस्य तत्प्रकर्षान्निरतिशयं वीर्यं सामर्थ्यमाविर्भवति । वीर्यनिरोधो हि ब्रह्मचर्यं तस्य प्रकर्षाच्छरीरेन्द्रियमनःसु वीर्यं प्रकर्षमागच्छति ॥ ३८ ॥

योगसुधाकरः ।

ब्रह्मचर्येति । वीर्यनिरोधो हि ब्रह्मचर्यम् । तत्सिद्धौ निरतिशयं सामर्थ्यं भवति । निरतिशयसामर्थ्यशालिना योगिना कृतः शिष्येषूपदेशः सद्यः फलतीति भावः ॥ ३८ ॥

भोजवृत्तिः ।

अपरिग्रहाभ्यासस्य फलमाह—

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥३९॥

कथमो(१) भावः कथंता जन्मनः कथंता जन्मकथंता तस्याः सम्बोधः सम्यग्ज्ञानं जन्मान्तरे कोऽहमासं कीदृशः किंकार्यकारीति जिज्ञासायां सर्वमेव सम्यग्जानातीत्यर्थः । न केवलं भोगसाधनपरिग्रह एव परिग्रहो यावदात्मनःशरीरपरिग्रहोऽपि परिग्रहः, भोगसाधनत्वाच्छरीरस्य । तस्मिन्सति रागानुबन्धाद्बहिर्मुखायामेव प्रवृत्तौ न तात्त्विकज्ञानप्रादुर्भावः । यदा पुनः शरीरादिपरिग्रहनैरपेक्ष्येण माध्यस्थ्यमवलम्बते तदा मध्यस्थस्य रागादित्यागात्सम्यग्ज्ञानहेतुर्भवत्येव पूर्वापरजन्मसम्बोधः ॥ ३९ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

अपरिग्रहेति । अपूर्वेण देहेन्द्रियादिसंघातेन ज्ञानहेतुः संयोगो जन्म, तस्य कथन्ता च किंप्रकारता तयोः संबोधः साक्षात्कारो जातिस्मरणं भवति ॥ ३९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः । पूर्वापरजातिस्मरणं भवतीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

मणिप्रभा ।

अपरिग्रहेति । अपरिग्रहशीलस्य तत्स्थैर्ये सति अतीतवर्तमानभाविजन्मनां या कथन्ता किंप्रकारता तस्याः सम्यग्बोधो जिज्ञासापूर्वको भवतीत्यर्थः । किंरूपं, जन्म किंप्रकारकं, किंहेतुकं, किंफलकं, किमवसानमिति शरीरपरिग्रहविरोधिनां जिज्ञासा भवति । ततः कार्यकारणसम्बन्धः पुरुषस्याजस्य जन्म नरदेवतिर्यक्त्वप्रकारं क्लेशकर्महेतुकं दुःखैकफलकं पुरुषतत्त्वसम्बोधात्त्रसानमित्याचार्यागमतो निश्चित्याशरीरः सन्नपरिग्रहकाष्ठामनुभवतीति भावः ॥ ३९ ॥

चन्द्रिका ।

अपरिग्रहेति । साधनपरिग्रह एव परिग्रहो नं किं तु शरीरपरिग्रह एव परिग्रहस्तस्मिन् सति बहिर्मुखवृत्तौ न प्रश्नोद्भवः, अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता कथमित्यस्य भावः कथन्ता जन्मनः कथन्ता तस्याः सम्बोधः सम्यग्ज्ञानं जन्मान्तरे कोऽहमासमित्यादि सर्वं जानातीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

योगसुधाकरः ।

अपरिग्रहेति । कथमित्यस्य भावः कथंता जन्मनि कथंता तस्याः संबोधः साक्षात्कारः, पूर्वजन्मनि कोऽहं कीदृशोऽतिष्ठं किं कार्यमकरवमिति जिज्ञासायां सर्वमनेन योगिनां सम्यग्ज्ञायत इत्यर्थः ३९

भोजवृत्तिः ।

उक्ता यमानां सिद्धयः, अथ नियमानामाह—

---

(१) कथमित्यस्येति पाठान्तरम् ।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

यः शौचं भावयति तस्य स्वाङ्गेऽष्वपि कारणस्वरूपपर्यालोचनद्वारेण जुगुप्सा घृणा समुपजायतेऽशुचिरयं कायो नात्राऽऽग्रहः कार्य इति । अमुनैव हेतुना परैरन्यैश्च कायवद्भिरसंसर्गः संसर्गाभावः संसर्गपरिवर्जनमित्यर्थः । यः किल स्वमेव कायं जुगुप्सते तत्तदवद्यदर्शनात्स कथं परकीयैस्तथाभूतैः कायैः संसर्गमनुभवति ॥ ४० ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

यमसिद्धय उक्ताः । नियमसिद्धय उच्यन्ते—शौचादिति ।

शौचस्थैर्यात्स्वाङ्गे जुगुप्सा कुत्साऽशुचिदोषदर्शनरूपा भवति । अत एव परैरसंसर्गोऽपि भवति ४०

नागोजीभट्टवृत्तिः

नियमसिद्धीराह—शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः । स्वाङ्गे जुगुप्सा मृज्जलादिभिः शोधयतोऽपि कायशुध्यदर्शनात् । अत एव परकायेष्वपि तादृशत्वदर्शी तैरसंसृष्टो भवति ॥ ४० ॥

मणिप्रभा ।

उक्ता यमसिद्धयः । अधुना नियमसिद्धय उच्यन्ते—शौचादिति ।

यो बाह्यशौचसिद्धः तस्य स्वाङ्गे काये शुद्धिमपश्यतो जुगुप्सा भवति । अशुचिस्वभावोऽयं कायः नात्राहङ्कारः कार्य इति । शौचपरस्य मम कायो न शुद्ध्यति किमु प्रमत्तपरकाय इति दोषदर्शिनः परकायैरसंसर्गो भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

चन्द्रिका ।

शौचादिति । यः किल शौचं भावयति तस्य कारणपर्यालोचनात् स्वाङ्गेऽप्यपि जुगुप्सा घृणा जायते नात्राग्रहः कार्यो ऽशुचित्वात् ततश्च परैः कायवद्भिः सह संसर्गाभाव उपजायते ॥ ४० ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थं यमसिद्धीरभिधाय अधुना नियमसिद्धीः क्रमेणाभिदधाति—शौचादिति ।

शौचमाचरतो योगिनः स्वाङ्गे शुद्धिमपश्यतो जुगुप्सा भवति । अशुचिस्वभावोऽयं कायः । अतस्तास्मिन्नवभिश्छिद्रैर्निरन्तरं स्रवत्सु मलेषु रोमकूपैरसंख्यातैः स्विन्ने गात्रे को नामाखेदेन प्रक्षालयितुं शक्नुयात् ? तदुक्तम्—

> नवच्छिद्रकृता देहाः स्रवन्ति घटिका इव ।
> बाह्यशौचैर्न शुध्यन्ति नान्तःशौचं तु विद्यते ॥ इति ।

एवं स्वकाये जुगुप्सावतः परकाया एतादृशा इति दोषदर्शिनस्तैः संसर्गो न कदाचिदपि भवति । यदि स्वकायदुर्गन्धेन जुगुप्सा न स्यात्किं नामैतस्य निर्वेदकारणं भवेत् ? तदुक्तम् –

> स्वदेहाशुचिगन्धेन न विरज्येत यः पुमान् ।
> विरागकारणं तस्य किमन्यदुपदिश्यते ॥ इति ॥ ४० ॥

भोजवृत्तिः ।

शौचस्यैव फलान्तरमाह—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्ते(१)न्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

भवन्तीति वाक्यशेषः । सत्त्वं प्रकाशसुखाद्यात्मकं तस्य शुद्धी रजस्तमोभ्यामनभिभवः । सौमनस्यं खेदाननुभवेन मानसी प्रीतिः । एकाग्रता नियतेन्द्रियविषये चेतसः स्थैर्यम् । इन्द्रियजयो विषयपराङ्मुखाणामिन्द्रियाणामात्मनि अवस्थानम् । आत्मदर्शने विवेकख्यातिरूपे चित्तस्य योग्यत्वं समर्थत्वम् । शौचाभ्यासवत एतं सत्त्वशुद्ध्यादयः क्रमेण प्रादुर्भवन्ति । तथा हि-सत्त्वशुद्धेः सौमनस्यं सौमनस्यादेका-

(१) काग्र्यान्द्रियेति पाठान्तरम् ।

ग्र्यमैकाग्र्यादिन्द्रियजय इन्द्रियजयादात्मदर्शनयोग्यतेति ॥ ४१ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

बहिःशौचस्थैर्यसिद्धिमुक्त्वाऽन्तःशौचसिद्धिमाह—सत्त्वेति ।

चित्तमलक्षालनरूपाच्छौचात्सत्त्वशुद्धिः सत्त्वोद्रेकः । ततः सौमनस्यं स्वाभाविकी प्रीतिः । ततः प्रीतचित्तस्याविक्षेपादैकाग्र्यम् । तत इन्द्रियजयस्ततश्चात्मसाक्षात्कारयोग्यत्वमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अन्तःशौचसिद्धिमाह—सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च । भवन्तीति शेषः । चित्तमलक्षालनरूपाच्छौचात्सत्त्वशुद्धिः सत्त्वगुणोद्रेकस्ततः सौमनस्यं सर्वत्र प्रीतिः, ततः प्रीतचित्तस्याविक्षेपादैकाग्र्यं, तत इन्द्रियजयस्तत आत्मसाक्षात्कारयोग्यता ॥ ४१ ॥

मणिप्रभा ।

एवं बाह्यशौचसिद्धिमुक्त्वाऽन्तःशौचसिद्धिमाह—सत्त्वेति ।

शौचादित्यनुवर्तते । भवन्तीति वाक्यशेषः । बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोमलेर्ष्यादिमलध्वंसः शुद्धिः । ततः सत्त्वोत्कर्षः । ततः स्थैर्यम् । ततो बाह्येन्द्रियजयः । ततः पुरुषख्यात्यर्हत्वमिति विभागः ॥४१॥

चन्द्रिका ।

शौचफलमाह—सत्त्वेति । सत्त्वं प्रकाशात्मकं तस्य शुद्धी रजस्तमोभ्यामनभिभवः, सौमनस्यं, मानसी प्रीतिः, ऐकाग्र्यं चेतसः स्थैर्यम्, इन्द्रियजयो विषयपराङ्मुखत्वेनात्मन्यवस्थापनमात्मदर्शने चित्तस्य समर्थत्वमेते क्रमेण प्रादुर्भवन्ति ॥ ४१ ॥

योगसुधाकरः ।

संप्रत्यन्तःशौचसिद्धिमाह—सत्त्वेति ।

सत्त्वस्य बुद्धेरसूयेर्ष्यादिमलनिवृत्तिः शुद्धिः, ततः सौमनस्यं सत्त्वोत्कर्षः, तत ऐकाग्र्यं नैश्चल्यम्, ततो बाह्येन्द्रियजयः, तत आत्मदर्शनयोग्यत्वं पुरुषसाक्षात्कारार्हत्वम् तान्येतानि परस्परहेतुहेतुमद्भावेन शौचाद्भवन्तीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

भोजवृत्तिः ।

सन्तोषाभ्यासवतः(१) फलमाह—

सन्तोषादनुत्तमः (२)सुखलाभः ॥ ४२ ॥

सन्तोषप्रकर्षेण योगिनस्तथाविधमान्तरं सुखमाविर्भवति । यस्य बाह्यं सुखं लेशेनापि(३) न समम् ॥ ४२ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

सन्तोदिति । सन्तोषस्य तृष्णाक्षयस्य स्थैर्यादनुत्तमस्य विषयसुखापेक्षया प्रकृष्टस्य सुखस्य लाभो भवति ॥ ४२ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

संतोषादनुत्तमसुखलाभः । सुगमेत्यर्थः ॥ ४२ ॥

मणिप्रभा ।

सन्तोषादिति । तृष्णाक्षयसिद्धौ अवश्यं निष्कामस्य निरतिशयसुखानुभवो भवति शुद्धसत्त्वोत्कर्षात् । तथा च महाभारते ययातिगीता—

---

(१) संतोषाभ्यासस्येति पाठान्तरम् ।
(२) अनुत्तमसुखेति पाठान्तरम् ।
(३) बाह्यविषयसुखं शतांशेनापीति पाठान्तरम् ।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ इति ॥ ४२ ॥

चन्द्रिका ।

सन्तोषफलमाह— सन्तोषादिति ।

सन्तोषप्रकर्षे योगिनस्तथाविधमान्तरं सुखमाविर्भवति यस्य बाह्यसुखं शतांशेनापि न समम् ॥ ४२ ॥

योगसुधाकरः ।

संतोषादिति । संतुष्टस्य योगिनः सत्त्वोत्कर्षादन्तर्निरतिशयं सुखमाविर्भवति । न केवलमेवम्; प्रत्युत वैषयिकं सुखं विषमिव प्रतिकूलं भवतीत्यर्थः । तदुक्तम्—

संतोषामृतपानेन ये शान्तास्तृप्तिमागताः ।
भोगश्रीरतुला तेषामेषा प्रतिविषीयते ॥ इति ॥ ४२ ॥

भोजवृत्तिः ।

तपसः फलमाह—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

तपः समभ्यस्यमानं चेतसः क्लेशादिलक्षणाशुद्धिक्षयद्वारेण कायेन्द्रियाणां सिद्धिमुत्कर्षमादधाति । अयमर्थः-चान्द्रायणादिना चित्तक्लेशक्षयस्तत्क्षयादिन्द्रियाणां सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टदर्शनादिसामर्थ्यमाविर्भवति । कायस्य यथेच्छमणुत्वमहत्त्वादीनि ॥ ४३ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

कायेति । तपःस्थैर्यात्कायेन्द्रिययोः सिद्धिरशुद्धिक्षयद्वारा भवति । अशुद्धिः पापं तमोगुणश्च । कायसिद्धिरणिमाद्या, इन्द्रियसिद्धिः दूराच्छ्रवणाद्या । एतानि भूतिपादे व्याख्यास्यन्ते ॥ ४३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः । तपःस्थैर्ये पापतमोगुणरूपाशुद्धिक्षयात्कायसिद्धिरणिमादिरूपा इन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्रवणाद्या भवतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

मणिप्रभा ।

कायेति । स्वधर्मकृच्छ्रचान्द्रायणादिना क्लेशपापक्षयात् कायस्याणिमादिसिद्धिरिन्द्रियाणां दूरसूक्ष्मार्थग्राह्यत्वसिद्धिर्भवति ॥ ४३ ॥

चन्द्रिका ।

तपसः फलमाह- कायेति ।

तपः समभ्यस्यमानं चेतसः क्लेशादिलक्षणाशुद्धिक्षयद्वारेण कायेन्द्रियाणां सिद्धिमुत्कर्षमादधाति इन्द्रियाणां सूक्ष्मव्यवहितादिदर्शनसामर्थ्यं कायस्याणुत्वमहत्त्वादि यथेच्छं सम्पद्यते ॥ ४३ ॥

योगसुधाकरः ।

कायेति । स्वधर्मकृच्छ्रादिना क्लेशपापक्षयात्कायस्याणिमादिसिद्धिः, इन्द्रियाणां च सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टार्थग्राहित्वसिद्धिर्भवतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

भोजवृत्तिः ।

स्वाध्यायस्य फलमाह—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥ ४४ ॥

अभिप्रेतमन्त्रजपादिलक्षणे स्वाध्याये प्रकृष्यमाणे योगिन इष्टयाऽभिमतया देवतया सम्प्रयोगो भवति सा देवता प्रत्यक्षीभवतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

स्वाध्यायादिति । स्वाध्यायस्थैर्यादिष्टदेवतानां संप्रयोगो दर्शनं भवति ॥ ४४ ॥

मणिप्रभा ।

स्वाध्यायेति । इष्टमन्त्रादिजपात् स्वेष्टदेवतायाः सम्भाषणादि सिध्यति ॥ ४४ ॥

चन्द्रिका ।

स्वाध्यायफलमाह--**स्वाध्यायादिति** ।

मन्त्रजपादिलक्षणे स्वाध्याये प्रकृष्यमाणे इष्टया देवतया सम्प्रयोगः सा देवता प्रत्यक्षीभवतीत्यर्थः॥४४॥

योगसुधाकरः ।

स्वाध्यायादिति । अभिमतमन्त्रजपादभिमतदेवतायाः संभाषणादिकं सिध्यतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

भोजवृत्तिः ।

ईश्वरप्रणिधानस्य फलमाह—

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

ईश्वरे यत्प्रणिधानं भक्तिविशेषस्तस्मात्समाधेरुक्तलक्षणस्याऽऽविर्भावो भवति । यस्मात्स भगवानीश्वरः प्रसन्नः सन्नन्तरायरूपान्क्लेशान्परिहृत्य समाधिं संबोधयति ॥ ४५ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

समाधीति । ईश्वरप्रणिधानस्थैर्यात्समाधिसिद्धिर्योगनिष्पत्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ ४५ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् । समाधिसिद्धिर्योगसिद्धिः इतरकारणेभ्योऽस्यान्तरङ्गत्वं सूचयति ॥ ४५ ॥

मणिप्रभा ।

समाधीति । ईश्वरार्पितसर्वभावस्य भक्त्यैव योगसिद्धिर्भवति । न चैवं सति यमादिसप्ताङ्गवैयर्थ्यं स्यादिति वाच्यम् । अङ्गैर्भक्त्या वा योगसिद्धिरिति विकल्पाभ्युपगमात् । तदुक्तम्–"ईश्वरप्रणिधानाद्वे"ति न वा भक्तिपक्षेऽङ्गवैफल्यं, यमादीनां भक्तावप्यङ्गत्वसम्भवात् । तेषां भक्तियोगोभयार्थत्वं दध्न इन्द्रियक्रतूभयार्थत्ववदविरुद्धम् । न चाङ्गानामावश्यकत्वे तैरेव सिद्धेः किं भक्त्येति वाच्यम् । भक्तिहीनोपायैर्दूरे योगसिद्धिः भक्त्यमृतवर्षिभिरासन्नतमा योगसिद्धिरिति चिराचिरयोगरूपफलप्राप्तिसाधनत्वेन विकल्पोपपत्तेः । सा चेश्वरे भक्तिः प्रत्यगात्मयोगविषयाभिन्नविषयेति बहिरङ्गत्ववाचोयुक्तिरित्यनवद्यम् ॥ ४५ ॥

चन्द्रिका ।

ईश्वरप्रणिधानफलमाह --**समाधीति** ।

ईश्वरे योऽयं भक्तिविशेषस्तस्मात् समाधेराविर्भावो भवति अस्मात् स ईश्वरः प्रसन्नः सन्नन्तरायक्लेशानपहृत्य समाधिमुद्बोधयति ॥ ४५ ॥

योगसुधाकरः ।

समाधीति । ईश्वरे अकामनया सकलकर्मसमर्पणात्समाधिसिद्धिः । समाधिश्चित्तस्य समाधानं प्रसाद इति यावत् ॥ ४५ ॥

भोजवृत्तिः ।

यमनियमानुक्त्वाऽऽसनमाह —

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

आस्यतेऽनेनेत्यासनं पद्मासनदण्डासनस्वस्तिकासनादि । तयदा स्थिरं निष्कम्पं सुखमनुद्वेजनीयं च भवति तदा योगाङ्गतां(१) भजते ॥ ४६ ॥

---

(१) तद्योगाङ्गतामिति पाठान्तरम् ।

भावागणेशवृत्तिः ।

यमनियमाः सिद्धिभिः सहोक्ताः, आसनमुच्यते—स्थिरेति ।

आस्यतेऽनेन प्रकारेणेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः । आसनगतविशेषाश्च हठयोगग्रन्थेभ्यो ज्ञेयाः । गुरुभिश्च वार्तिकेऽपि कियन्तः प्रदर्शिताः ॥ ४६ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

आसनमाह—स्थिरसुखमासनम् । यदेव स्थिरं सुखकरं च तदेवासनं कार्यमित्यर्थः ॥ ४६ ॥

मणिप्रभा ।

एवं यमनियमान् सह सिद्धिभिर्निरूप्यासनस्वरूपमाह—स्थिरेति ।

निश्चलं सुखावहं च यदासनं तद्योगाङ्गमित्यर्थः । आस्यतेऽनेनेत्यासनम् । तद् द्विविधं बाह्यं शारीरं च । तत्र चैलाजिनकुशोत्तरं बाह्यं, शारीरं पद्मस्वस्तिकादीति विशेषः । तत्र पद्मासनं प्रसिद्धम् । सव्यमाकुञ्चितचरणं दक्षिणजङ्घोर्वन्तरे; दक्षिणं च सव्यजङ्घोर्वन्तरे निक्षिपेदिति स्वस्तिकासनम् । द्वे पादतले वृषणसमीपे सम्पुटीकृत्य संपुटोपरिपाणिसंपुटिकां न्यसेदिति भद्रासनं द्रष्टव्यम् ॥ ४६ ॥

चन्द्रिका ।

आसनमाह—स्थिरेति ।

आस्यतेऽनेनेत्यासनं पद्मस्वस्तिकादि । तद्यदा स्थिरं निष्कम्पं सुखमनुद्वेजनीयं तदा योगाङ्गम् ॥ ४६ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थं सावान्तरफलान्यमनियमान्निरूप्य क्रमप्राप्तमासनं तत्साधनं तत्फलं च तावदाह—स्थिरेति ।

पद्मस्वस्तिकादिना यादृशेन देहस्थापनेन यस्य पुरुषस्यावयवव्यथानुत्पत्तिलक्षणं सुखं देहचलनराहित्यलक्षणं स्थैर्यं च संपद्यते, तदेव मुख्यमासनम् । पद्मासनादिस्वरूपं तु याज्ञवल्क्येन निरूपितम्-

ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र ! कृत्वा पादतले शुभे ।
अङ्गुष्ठौ च निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वेषामभिपूजितम् ॥

इत्यादिना ॥ ४६ ॥

भोजवृत्तिः ।

तस्यैव स्थिरसुखत्वप्राप्त्यर्थमुपायमाह—

प्रयत्नशैथिल्यानन्त्य(न्त)समापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

तदासनं प्रयत्नशैथिल्येनाऽऽनन्त्यसमापत्त्या च स्थिरं सुखं भवतीति सम्बन्धः । यदा यदाऽऽसनं बध्नामीतीच्छां करोति प्रयत्नशैथिल्येऽपि अक्लेशेनैव तदा तदाऽऽसनं सम्पद्यते । यदा चाऽऽकाशादिगत आनन्त्ये चेतसः समापत्तिः क्रियतेऽव्यवधानेन(१) तादात्म्यमापद्यते तदा देहाहंकाराभावान्नाऽऽसनं दुःखजनकं भवति । अस्मिंश्चाऽऽसनजये सति समाध्यन्तरायभूता न प्रभवन्ति अङ्गमेजयत्वादयः ॥ ४७ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

आसनस्थैर्यस्योपायमाह—प्रयत्नेति ।

प्रयत्नशैथिल्यं बहुलायासनिवृत्तिः । अनन्तसमापत्तिश्च पृथिवीधारिणि स्थिरतरे शेषनागे चित्तस्य धारणं ताभ्यामासनं निष्पद्यते इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तत्स्थैर्योपायमाह—प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् । प्रयत्नशैथिल्यं बहुलायासनिवृत्तिः अनन्ते पृथ्वीधारिणि शेषे समापत्तिश्चित्तस्य धारणा ताभ्यामासनं सिध्यतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

---

(१) अवधानेनेति पाठान्तरम् ।

मणिप्रभा ।

सम्प्रत्यासनस्थैर्योपायमाह—प्रयत्नेति ।

स्वाभाविकः प्रयत्नश्चलत्वादासनविघातकः तस्योपरमेणासनं सिध्यति । येन नाङ्गमेजयो भवति । अनन्ते नागनायके स्थिरतरफणासहस्रविधृतविश्वमण्डले चित्तस्य समापत्त्या देहाभिमानाभावेनासनदुःखास्फूर्तेरासनं सिध्यति ॥ ४७ ॥

चन्द्रिका ।

उपायमाह—प्रयत्नेति ।

तदासनं प्रयत्नशैथिल्येनाक्लेशेनाकाशगतानन्तसमापत्त्या च स्थिरम् । अनन्तआनन्त्येति पाठद्वये अर्थद्वयम् । प्रथमपाठे शेषसमापत्तिः, द्वितीये आकाशसमापत्तिः ॥ ४७ ॥

योगसुधाकरः ।

प्रयत्नेति । तस्य च प्रयत्नशैथिल्यं लौकिक उपायः । गमनगृहकृत्यतीर्थस्नानादिविषयो यः प्रयत्नो मानस उत्साहस्तस्य शैथिल्यम् । अन्यथा उत्साहो बलाद्देहमुत्थाप्य यत्र क्वापि प्रेरयति । फणसहस्रेण धरणीं धारयित्वा स्थैर्येणावस्थितो योऽयमनन्तः स एवाहमस्मीति ध्यानं चित्तस्यानन्ते समापत्तिः । तया यथोक्तासनसंपादकमदृष्टं निष्पद्यते । अतस्ताभ्यामासनं सिध्यतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

भोजवृत्तिः ।

तस्यैवानुनिष्पादितं(१) फलमाह—

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

तस्मिन्नासनजये सति द्वन्द्वैः शीतोष्णक्षुत्तृष्णादिभिर्योगी नाभिहन्यत इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

आसनादपि सिद्धिमाह—तत इति ।

तत आसनस्थैर्याद्द्वन्द्वैः शीतोष्णादिभिरनभिघातश्चित्तालम्बनं भवतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

आसनसिद्धेः फलमाह—ततो द्वन्द्वानभिघातः । तत आसनस्थैर्यात् । द्वन्द्वं शीतोष्णादि ॥४८॥

मणिप्रभा ।

तत्सिद्धिलिङ्गमाह—तत इति । आसनजयात् शीतोष्णादिभिरताडनं भवति ॥ ४८ ॥

चन्द्रिका ।

फलमाह—तत इति । तस्मिन्नासनजये सति योगी द्वन्द्वैः शीतोष्णादिभिर्नाभिहन्यत इति ॥ ४८ ॥

योगसुधाकरः ।

तत इति । सिद्धे चासने शीतोष्णसुखदुःखमानापमानादिद्वन्द्वैर्यथापूर्वं नाभिहन्यत इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

भोजवृत्तिः ।

आसनजयानन्तरं प्राणायाममाह—

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

आसनस्थैर्ये सति तन्निमित्तकः प्राणायामलक्षणो योगाङ्गविशेषोऽनुष्ठेयो भवति । कीदृशः ? श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः । श्वासप्रश्वासौ निरुक्तौ । तयोस्त्रिधा रेचनाक्षेपण(२)पूरणद्वारेण बाह्याभ्यन्तरेषु स्थानेषु गतेः प्रवाहस्य विच्छेदो धारणं प्राणायाम उच्यते ॥ ४९ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

क्रमप्राप्तं प्राणायामं लक्षयति—तस्मिन्निति ।

---

(१) ऽनुनिष्पादि फलमिति पाठान्तरम् । (२) रेचनस्तम्भनेति पाठान्तरम् ।

तस्मिन्नासने सति श्वासप्रश्वासयोः शास्त्रोक्तरीत्या स्वाभाविकगतिविच्छेदः प्राणायाम इति वक्ष्यमाणचतुर्विधप्राणायामस्य सामान्यलक्षणम् । तत्रासनस्याङ्गत्वलाभाय सत्यन्तम् । श्वासप्रश्वासौ नासापुटेन वायोः प्रवेशनिर्गमौ लोकप्रसिद्धौ तत्काले या स्वाभाविकी गतिस्तत्प्रतिषेध इत्यर्थः । अतो न श्वासप्रश्वासयोर्गत्यनुपपत्तिदोषः ॥ ४९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अथ प्राणायाममाह—तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः । तस्मिन्नासने सति नासापुटेन स्वाभाविकौ यौ वायोः प्रवेशनिर्गमौ तत्काले या गतिस्तद्विच्छेद इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

मणिप्रभा ।

सम्प्रत्यासनसाध्यं प्राणायाममाह—तस्मिन्निति ।

आसनस्थैर्ये सति बाह्यकोष्ठ्यवाय्वो रन्तर्बहिर्गतिविच्छेदः प्राणायाम इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

चन्द्रिका ।

तस्मिन्निति । आसनस्थैर्ये सति प्राणायामोऽनुष्ठेयः श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः, विच्छेदो धारणम् ॥ ४९ ॥

योगसुधाकरः ।

अथासनानन्तरभाविनं प्राणायाममाह—तस्मिन्निति ।

तस्मिन्नासनस्थैर्ये सति प्राणायामः प्रतिष्ठितो भवति । स च श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदरूपः । तत्र श्वासो नाम बाह्यस्य वायोरन्तरानयनम् । प्रश्वासः पुनः कौष्ठ्यस्य वायोर्निःसारणम् । तयोरुभयोरपि संचरणाभावः प्राणायामः । ननु नेदं प्राणायामसामान्यलक्षणम्, तद्विशेषेषु रेचकपूरककुम्भकप्रकारेषु तदनुगतेरयोगादिति चेत् । नैष दोषः । सर्वत्रापि श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदसम्भवात् । तथा हि—कौष्ठ्यस्य वायोर्निर्गमनं रेचकः, यः प्रश्वासरूपः । बाह्यस्य वायोरन्तर्धारणं पूरकः, यः श्वासरूपः । अन्तः स्तम्भवृत्तिः कुम्भकः, यस्मिञ्जलमिव कुम्भे निश्चलतया प्राणाख्यो वायुरवस्थाप्यते तत्र सर्वत्र श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदोऽस्त्येवेति नास्ति शङ्कावकाशः । ननु कुम्भके गत्यभावेऽपि रेचकपूरकयोरुच्छ्वासनिश्वासगती विद्येते इति चेत् । नैष दोषः । अधिकमात्राभ्यासेन स्वभावसिद्धायाः समप्राणगतेर्विच्छेदसम्भवात् ॥ ४९ ॥

भोजवृत्तिः ।

तस्यैव सुखावगमाय विभज्य स्वरूपं कथयति—

स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

बाह्यवृत्तिः श्वासो रेचकः । अन्तर्वृत्तिः प्रश्वासः पूरकः । आन्तरस्तम्भकवृत्तिः(१) कुम्भकः । तस्मिञ्जलमिव कुम्भे निश्चलतया प्राणा अवस्थाप्यन्त इति कुम्भकः । त्रिविधोऽयं प्राणायामो देशेन कालेन संख्यया चोपलक्षितो दीर्घसूक्ष्मसंज्ञो भवति । देशेनोपलक्षितो यथा—नासाद्वादशान्तादौ । कालेनोपलक्षितो यथा—षट्त्रिंशन्मात्रादिप्रमाणः । संख्ययोपलक्षितो यथा—इयतो वारान्कृत एतावद्भिः श्वासप्रश्वासैः प्रथम उद्घातो भवतीति ; एतज्ज्ञानाय संख्याग्रहणमुपात्तम् । उद्घातो नाम नाभिमूलात्प्रेरितस्य वायोः शिरसि अभिहननम् ॥ ५० ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

प्राणायामस्यावान्तरभेदानाह—बाह्येति ।

स च प्राणायामो बाह्यवृत्तिराभ्यन्तरवृत्तिस्तम्भवृत्तिरिति त्रिविधः । रेचकपूरककुम्भकभेदात् सोऽपि

(१) अन्तस्तम्भवृत्तिरिति पाठान्तरम् ।

त्रिविधः । प्राणायामो यदा देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो निर्णीतो नियमितो भवति तदाऽभ्यासवशात्क्रमेण दीर्घसूक्ष्मसञ्ज्ञको भवतीति वाक्यार्थः । एतावद्देशेन वा एतावत्कालेन वा एतावन्मात्रासंख्याभिर्वा परिच्छिन्नो मया रेचकादिः कर्तव्यः इत्येवमवधारित इति परिदृष्टान्तविशेषणार्थः । तत्र नासाग्रात्प्रादेशद्वादशाङ्गुलहस्तादिपरिमितो बाह्यदेशो रेचकस्य विषयः, शक्त्यनुसारात् । स च इषीकातूलाक्रियया निश्चेयः । कुम्भकस्य च पूरकदेश एव विषयः । प्रयाणां सहानुष्ठाने पूरकानन्तरमेव कुम्भकस्मरणात् । स तु तूलक्रिययोक्तस्य स्पर्शस्य वानुपलब्ध्या निश्चय इति । क्षणानामियत्तया अवच्छिन्नस्तु रेचकादिः कालदृष्ट उच्यते । संख्यापरिदृष्टश्च यथा—

निमेषोन्मेषणे मात्रा कालो लघ्वक्षरं तथा ।
प्राणायामस्य संज्ञार्थं स्मृतो द्वादशमात्रिकः ॥

इति मार्कण्डेयाद्युक्तमात्राप्रमाणं, ताभिर्द्वादशादिभिर्मात्रासंख्याभिः परिच्छिन्नो रेचकादिरिति । दीर्घसूक्ष्म इति चान्वर्था संज्ञा दीर्घश्चासौ सूक्ष्मश्चेति व्युत्पत्तेः । देशाद्यन्यतमानियमेन हि प्रत्यहमभ्यस्यमानः क्रमेण कालवृद्ध्या दीर्घकालव्यापित्वेन दीर्घ उच्यते, वायुसंचारस्यातिसूक्ष्मतया सूक्ष्म इति ॥ ५० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तस्यावान्तरभेदानाह—**बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः** । स प्राणायामो बाह्यवृत्तिराभ्यन्तरवृत्तिस्तम्भवृतिरिति त्रिधा रेचकपूरककुम्भकभेदात् । प्राणिनां दक्षिणा नाडी पिङ्गला नाम सूर्यदैवत्या पितृयोनिः । वामा इडाख्या चन्द्रदैवत्या देवयोनिः । तयोर्मध्ये सुषुम्ना ब्रह्मदैवत्या, तत्र वामनासापुटेनान्तर्वायोस्त्यागो रेचकः । दक्षिणेन बाह्यपूरणं पूरकः । पूरितस्य निगृह्याविमोकः कुम्भकः । याज्ञवल्क्येन पूरककुम्भकरेचक इति क्रम उक्तः । स त्रिविधो देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो निर्णीतो भवति तदभ्यासवशाद्दीर्घसूक्ष्मसञ्ज्ञको भवतीत्यर्थः । तत्र रेचकस्य देशो नासिकाद्बहिः प्रादेशः द्वादशाङ्गुलहस्तादिपरिमितः शक्त्यनुसारात् । स चेषीकातूलादिक्रियया निश्चेयः । पूरकस्य चापादतलमस्तकमाभ्यन्तरो देशः स च पिपीलिकास्पर्शसदृशस्पर्शेन निश्चेयः । कुम्भकस्य च पूरकदेश एव विषयः। पूरकानन्तरं तच्छ्रवणात् । स तूलक्रियया उक्तस्पर्शस्य वानुपलब्ध्या निश्चेयः । कालावधृतो यथा—एतावत्कालो रेचक एतावत्क्षणव्यापी पूरक एतावत्कालव्यापी कुम्भक इत्यङ्गीकृतकालैरवधृतः । द्वादशरूपमात्रासंख्यायाः एकैव संख्या त्रिष्वपि मार्कण्डेयोक्ता । मात्रा निमेषोन्मेषपरिच्छिन्नः कालः। स्वजानुमण्डलं त्रिः परामृश्य छोटिकावच्छिन्नकालो मात्रेत्यन्ये । निमेषक्रियावच्छिन्नकालस्य चतुर्थो भावः क्षण इति च । उक्तछोटिकावच्छिन्नः काल एव श्वासप्रश्वासक्रियावच्छिन्नः काल इति च । वसिष्ठेन पूरके षोडश मात्राः कुम्भके चतुःषष्टिमात्राः रेचके द्वात्रिंशन्मात्रा उक्ताः । योगियाज्ञवल्क्येन त्रिष्वपि द्वादशमात्रः कनीयान्, त्रिष्वपि चतुर्विंशतिमात्रो मध्यमः, त्रिष्वपि षट्त्रिंशन्मात्राकालपरिच्छिन्न उत्तम इत्युक्तम् । दीर्घसूक्ष्म इति देशाद्यन्यतमनियमेन प्रत्यहमभ्यस्यमानः क्रमेण कालवृद्ध्या दीर्घकालव्यापित्वाद्दीर्घः, वायुसंचारस्यातिसूक्ष्मतया सूक्ष्मश्च भवतीति बोध्यम् । स च जपध्यानं विना क्रियमाणोऽगर्भ इत्युच्यते । तत्सहितश्च सगर्भ इति । तत्रेश्वरगीतायां सव्याहृतिका सप्रणवा गायत्री सशिरस्का त्रिर्जप्या इत्युक्तम्, त्रिषु एकैकशरामित्यर्थः । प्रणवो जप्य इत्यन्यत्र । तत्र पूरकादिक्रमेण नाभिहृदयललाटेषु ब्रह्मविष्णुशिवानां ध्यानमुक्तं क्वचित् । क्वचित् परब्रह्मण एव५०॥

मणिप्रभा ।

सामान्यलक्षणमुक्त्वा लक्ष्यं प्राणायामं विभजते—**बाह्येति** ।

प्राणायामश्चतुर्विधः । बाह्यवृत्तिरभ्यन्तरवृत्तिस्तम्भवृत्तिस्तुरीयश्चेति । तत्र कोष्ठ्यस्य वायो रेचनेन बहिर्गतस्य बहिरेव धारणं बाह्यवृत्तिः स च रेचकः । बाह्यवायोः पूरणेनान्तर्गतस्यान्तर्धारणमभ्यन्तरवृत्तिः स च पूरकः । रेचनपूरणप्रयत्नं विना प्राणस्य केवलविधारकप्रयत्नेन गतिविच्छेदः स्तम्भवृत्तिः स च कुम्भकः । नायं रेचकः, अन्तस्थत्वात् । नापि पूरकः, तप्तशिलातलनिहितजलबिन्दुव-

च्छरीरे प्राणस्य संकुचितत्वेन सूक्ष्मत्वात् । यो हि स्थूलोऽन्तर्निरुद्धो देहं पूरयति स पूरकः । तस्माद्रेचकपूरकाभ्यासेन विना सकृत्प्रयत्नमात्रेण सूक्ष्यप्राणस्य कुम्भकशब्दितस्य घटजलवन्निश्चलत्वेन देहेऽवस्थानात्कुम्भकस्तृतीयः सिद्धः । त्रिविधोऽयं प्राणायामो देशकालसंख्याभिर्दीर्घः भूक्ष्म इति परिदृष्टः । तत्र रेचकस्य बाह्यो देशो विषयः प्रादेशवितस्तिहस्तादिपरिमितो निर्वाते नासाग्रे इषीकातूलादिक्रियानुमितः । पूरकादेस्त्वान्तरो देशआपादतलमस्तकं पिपीलिकास्पर्शतुल्येन स्पर्शेनानुमितः । क्षणगणनया ज्ञेयः कालः । मात्रागणनया ज्ञेया संख्या । स्वजानुमण्डलं पाणिना त्रिःपरामृश्य छोटिकाऽवच्छिन्नः कालो मात्रा । सा हि स्वस्थस्य पुंसः श्वासप्रश्वासाभ्यां मिता भवति । तत्र षड्विंशतिमात्राभिरभ्यासक्रमेण दीर्घ इति दृश्यते । अधिकदेशकालव्यापित्वं प्राणनिरोधस्य दीर्घत्वम् । यथा यथा दीर्घ इति निपुणेन दृश्यते तथा तथा प्राणस्य सूक्ष्मत्वेन दर्शनाद्दीर्घ एव सूक्ष्म इति परिदृष्टो भवतीत्यर्थः ॥ ५० ॥

चन्द्रिका ।

तस्यैव विभज्य रूपं कथयति—**स इति** ।

स तु बाह्यवृत्ती रेचकोऽन्तर्वृत्तिः पूरकोऽन्तःस्तम्भवृत्तिः कुम्भकस्त्रिविधोऽयं देशेन द्वादशाङ्गुलप्रमाणेन कालेन षट्त्रिंशन्मात्रादिना सङ्ख्यया इयतो वारान् कृत इति भेदेनोपलक्षितो दीर्घसूक्ष्मसञ्ज्ञो भवति ॥ ५० ॥

योगसुधाकरः ।

तमेवाभ्यासमाह —**बाह्येति** ।

रेचको बाह्यवृत्तिः, पूरक आभ्यन्तरवृत्तिः, कुम्भकः स्तम्भवृत्तिः । तत्रैकैको देशादिभिः परीक्षणीयः । तद्यथा—स्वभावसिद्धे रेचके हृदयान्निर्गत्य नासाग्रसंमुखे द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं श्वासः समाप्यते । अभ्यासेन तु क्रमेण नाभेराधाराद्वा निर्गत्य चतुर्विंशत्यङ्गुलपर्यन्ते षट्त्रिंशदङ्गुलपर्यन्ते वा समाप्यते । तत्र च रेचकप्रयत्नातिशये सति नाभ्यादिप्रदेशक्षोभेण तन्निश्चेतुं शक्यम् । बहिस्तु सूक्ष्मं तूलं धृत्वा तच्चालनेन निश्चेतव्यम् । सेयं देशपरीक्षा । रेचककाले प्राणस्यावृत्तयो दश विंशतिस्त्रिंशदित्यादिभिः कालपरीक्षा । अस्मिन्मासे प्रतिदिनं दश रेचका आगामिमासे त्रिंशतिरुत्तरमासे त्रिंशादित्यादिभिः संख्यापरीक्षा । एवं पूरकेऽपि योजनीयम् । यद्यपि कुम्भके देशव्याप्तिविशेषो नावगम्यते, तथापि कालसंख्याव्याप्तिरवगम्यत एव । यथा घनीभूतस्तूलपिण्डः प्रसार्यमाणो दीर्घो विरलतया सूक्ष्मश्च भवति, तथा प्राणोऽपि देशकालसंख्याभिरभ्यस्यमानो दीर्घो दुर्लक्ष्यतया सूक्ष्मश्च सम्पद्यत इत्यर्थः॥५०॥

भोजवृत्तिः ।

त्रीन्प्राणायामानभिधाय चतुर्थमभिधातुमाह—

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

प्राणस्य बाह्यो विषयो नासाद्वादशान्तादिः । आभ्यन्तरो विषयो हृदयनाभिचक्रादिः । तौ द्वौ विषयावाक्षिप्य पर्यालोचयतः(१) स्तम्भरूपो गतिविच्छेदः स चतुर्थः प्राणायामः । तृतीयस्मात्कुम्भकाख्यादयमस्य विशेषः—स बाह्याभ्यन्तरविषयावपर्यालोच्यैव सहसा तप्तोपलनिपतितजलन्यायेन युगपत्स्तम्भवृत्त्या निष्पद्यते । अस्य तु विषयापेक्षको(२) निरोधः । अयमपि पूर्ववद्देशकालसंख्याभिरुपलक्षितो द्रष्टव्यः ॥ ५१ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

केवलकुम्भकरूपं प्राणायामस्य चतुर्थं विशेषमाह—**बाह्येति** ।

बाह्याभ्यन्तरविषयकौ बाह्याभ्यन्तरवृत्ती पूर्वसूत्रोक्तौ रेचकपूरकौ तयोराक्षेपी अतिक्रमी तावतिक्रम्य

---

(१) पर्यालोच्य यः स्तम्भरूप इति पाठान्तरम् । (२) विषयद्वयाक्षेपक इति पाठान्तरम् ।

स्वयमेव केवलो जायत इति यावत् । स पूर्वसूत्रोक्तरेचकपूरकादित्रयापेक्षया चतुर्थः प्राणायाम इत्यर्थः । तदुक्तं वासिष्ठसंहितायाम्—

प्रस्वेदं जनयेद्यस्तु प्राणायामो हि सोऽधमः ।
मध्यमः कम्पनःप्रोक्त उत्थाने चोत्तमो भवेत् ॥
पूर्वं पूर्वं प्रकुर्वीत यावदुत्तमसम्भवः ।
निश्वसोच्छ्वासकौ देहे स्वाभाविकगुणावुभौ ॥
तथापि नश्यतस्तेन प्राणायामोत्तमेन हि ।
तयोर्नाशे समर्थः स्यात्कर्तुं केवलकुम्भकम् ॥
रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ॥
सहितं केवलं वापि कुम्भकं नित्यमभ्यसेत् ।
यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत् ॥
केवले कुम्भके सिद्धे रेचकपूरकवर्जिते ।
न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ इति ॥ ५१ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अथ केवलकुम्भकरूपं चतुर्थं भेदमाह—**बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः** । बाह्याभ्यन्तरविषयौ उक्तौ रेचकपूरकौ तयोराक्षेपी तावतिक्रम्य जायमानः केवलकुम्भकरूपश्चतुर्थ इत्यर्थः । तदुक्तं वासिष्ठसंहितायां—

प्रस्वेदं जनयेद्यस्तु प्राणायामो हि सोऽधमः ।
मध्यमः कम्पकः प्रोक्त उत्थाने चोत्तमो भवेत् ॥
पूर्वंपूर्वं प्रकुर्वीत यावदुत्तरसम्भवः ।
निश्वासोच्छ्वासकौ देहे स्वाभाविकगुणावुभौ ॥
तथापि नश्यतस्तेन प्राणायामोत्तमेन तौ ।
तयोर्नाशे समर्थः स्यात् कर्तुं केवलकुम्भकम् ॥
रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स च केवलकुम्भकः ।
सहितं केवलं वापि कुम्भकं नित्यमभ्यसेत् ।

तपो न परं प्राणायामात्, ततो विशुद्धिर्मलादीनां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति भाष्यम् ॥ ५१ ॥

मणिप्रभा ।

तुरीयं प्राणायमं दर्शयति—**बाह्याभ्यन्तरेति** ।

उक्तो बाह्यो देशो विषयः, आभ्यन्तरविषयश्च हृदयनाभिचक्रादिः, तयोराक्षेपः सूक्ष्मदृष्ट्या पर्यालोचनं स यस्य पूर्वकालेऽस्ति स चतुर्थः स्तम्भवृत्तिः । तस्यापि दीर्घसूक्ष्मत्वं पूर्ववत् । न चास्य कुम्भकान्तर्भावः शङ्कनीयः, रेचकपूरकयोरभ्यासेन जितबाह्याभ्यन्तरविषयनिश्चयं विनैव सकृत्प्रयत्नमात्रेण स्तम्भवृत्तिः कुम्भकः । तन्निश्चयपूर्वकः स्तम्भवृत्तिर्बहुप्रयत्नसाध्यस्तुरीय इति वैलक्षण्यादिति ॥ ५१ ॥

चन्द्रिका ।

त्रीन् प्राणायामानभिधाय चतुर्थमाह—**बाह्येति** ।

द्वादशान्ताद्बहिर्बाह्यो हृदयादिरान्तरस्तौ द्वावाक्षिप्य पर्यालोचयतः स्तम्भो भूयोगतिविच्छेदः स चतु-

र्थः पूर्वस्मादेतस्य निरोध एव विशेषः(१) ॥ ५१ ॥

योगसुधाकरः ।

अथ रेचकादिभ्यस्त्रिभ्योऽन्यं प्रकारमाह—**बाह्येति** ।

यथाशक्ति वायुं विरेच्यानन्तरं क्रियमाणो बहिःकुम्भकः । यथाशक्ति वायुमापूर्यानन्तरं क्रियमाणोऽन्तःकुम्भकः । रेचकपूरकावनादृत्य केवलकुम्भकोऽभ्यस्यमानः पूर्वत्रयापेक्षया चतुर्थो भवति । निद्रातन्द्रादिदोषयुक्तानां रेचकादित्रयम्, तद्रहितानां चतुर्थ इति विवेकः ॥ ५१ ॥

भोजवृत्तिः ।

चतुर्विधस्यास्य फलमाह—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

ततस्तस्मात्प्राणायामात्प्रकाशस्य चित्तसत्त्वगतस्य यदावरणं क्लेशरूपं तत्क्षीयते विनश्यतीत्यर्थः ५१

भावागणेशवृत्तिः ।

योगद्वारभूतां प्राणायामस्य स्थितिसिद्धिमाह द्वाभ्याम् - तत इति ।

ततः प्राणायामस्थैर्यात्प्रकाशस्य विवेकज्ञानस्यावारकं कर्मादृष्टरूपं क्षीयत इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तदेवाह—**ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्** । विवेकज्ञानावारकं कर्म प्राणायामस्थैर्यात् क्षीयत इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

मणिप्रभा ।

सम्प्रति चतुर्विधस्य प्राणायामस्य योगाङ्गत्वे द्वारभूतं फलमाह—**तत इति** ।

प्राणायामाभ्यासात्प्रकाशशीलस्य बुद्धिसत्त्वस्य पिधानं क्लेशपापरूपं क्षीयते । तदुक्तं मनुना सर्वज्ञेन-'प्राणायामैर्दहेद्दोषानि'ति ॥ ५२ ॥

चन्द्रिका ।

फलमाह—**तत इति** ।

तस्मात् प्राणायामात् प्रकाश्यचित्तसत्त्वगम्यं यदावरणं क्लेशरूपं तत क्षीयत इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

योगसुधाकरः ।

अथ प्राणायामफलमाह—**तत इति** ।

प्रकाशस्य सत्त्वस्यावरणं तमो निद्रालस्यादिहेतुः, तस्य चयो भवतीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

भोजवृत्तिः ।

फलान्तरमाह—

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

धारणा वक्ष्यमाणलक्षणास्तासु प्राणायामैः क्षीणदोषं मनो यत्र यत्र धार्यते तत्र तत्र स्थिरी भवति न विक्षेपं भजते ॥ ५३ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

धारणेति । प्राणायामस्थैर्यादेव मनसो वक्ष्यमाणधारणासु क्षमता भवति । प्राणाधीनतया मनोव्यापारस्य प्राणस्थैर्येणैव मनःस्थैर्यादित्यर्थः । अत एव वासिष्ठादौ मनःक्षोभेण प्राणक्षोभवत् प्राणक्षोभेणापि मनःक्षोभ उक्तः ॥ ५३ ॥

---

(१) कुम्भकादस्यायं भेदः—स बाह्याभ्यन्तरविषयौ अपर्यालोच्यैव युगपत् स्तम्भवृत्त्या निष्पद्यते अस्य तु विषयद्वयाक्षेपको निरोध इति भोजतदनुयायिनो वदन्ति । बाह्याभ्यन्तरविषयकौ पूर्वोक्तरेचकपूरकौ तयोराक्षेपी अतिक्रमी तौ त्यक्त्वा स्वयमेव केवलो वर्तते इति यावत् एवम्भूतो यः प्राणायामः स चतुर्थ इति सूत्रार्थ इति भावागणेशतदनुगामिनां मतम् ।

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

फलान्तरमाह—धारणासु च योग्यता मनसः । प्राणायामस्थैर्यादेव मनसो वक्ष्यमाणासु धारणासु क्षमता भवति । प्राणाधीनत्वान्मनोव्यापारस्य प्राणस्थैर्येणैव मनःस्थैर्यादित्यर्थः । अत एव वासिष्ठादौ मनःप्राणयोः परस्परक्षोभकतोक्ता ॥ ५३ ॥

मणिप्रभा ।

धारणास्विति । किञ्च प्राणायावरणक्षये सति मनसः सूक्ष्मलक्ष्यधारणासु योग्यता भवतीत्यर्थः ॥ ५३ ॥

चन्द्रिका ।

फलान्तरमाह— धारणास्विति ।

वक्ष्यमाणा धारणास्तासु प्राणायामैः क्षीणदोषं मनो यत्र धार्यते तत्र स्थिरं भवति न विक्षेपं भजते ॥

योगसुधाकरः ।

फलान्तरमाह—धारणेति ।

आधारनाभिचक्रहृदयभ्रूमध्यब्रह्मरन्ध्रादिदेशविशेषे चित्तस्यावस्थानं धारणा । तत्र प्राणायामेन रजोगुणकार्याच्चाञ्चल्यात् तमोगुणकार्यादालस्यादेश्च निवारितं मनो योग्यं भवतीत्यर्थः ॥ ५३ ॥

भोजवृत्तिः ।

प्रत्याहारस्य लक्षणमाह—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्त(१)स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥५४॥

इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रतीपमाह्रियन्तेऽस्मिन्निति प्रत्याहारः । स च कथं निष्पद्यते इत्याह—चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां स्वविषयो रूपादिस्तेन सम्प्रयोगस्तदाभिमुख्येन वर्तनं तदभावस्तदाभिमुख्यं परित्यज्य स्वरूपमात्रेऽवस्थानं, तस्मिन्सति चित्तस्वरूपमात्रानुकारीणीन्द्रियाणि भवन्ति । यतश्चित्तमनुवर्तमानानि मधुकरराजमिव मधुमक्षिकाः(२) सर्वाणीन्द्रियाणि प्रतीयन्तेऽतश्चित्तनिरोधे तानि प्रत्याहृतानि भवन्ति । तेषां तत्स्वरूपानुकारः प्रत्याहार उक्तः ॥ ५४ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

क्रमागतं प्रत्याहारं लक्षयति स्वेति ।

इन्द्रियाणां स्वस्वविषयासंनिकर्षकाले ध्यानादौ या चित्ताकारता भवति सा प्रत्याहार इति फलद्वारकं लक्षणम् । अजितेन्द्रियाणां तु ध्यानादिकाले चित्तमेवेन्द्रियानुकारि भवति । तदानीमपि रूपादिष्विन्द्रियैश्चित्ताकर्षणादिति ॥ ५४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

प्रत्याहारमाह—स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः । इन्द्रियाणां स्वस्वविषयासंनिकर्षकाले ध्यानादौ यां चित्ताकाराकारतेव स प्रत्याहार इति फलद्वारकं लक्षणम् । प्राणायामादिभिः स्थिरं चित्तं शब्दादिभिर्विषयैर्न संप्रयुज्यते । तदसंप्रयोगाच्चक्षुरादीन्यपि न संप्रयुज्यन्त इत्ययमिन्द्रियाणां चित्तस्वरूपानुकारः । न तु यत्तत्वे चित्तमभिनिविश्यते तत्रेन्द्रियाणामनुकारस्तस्य तद्विषयत्वादेतदर्थमिवेत्युक्तम् । एवं च सचित्तेन्द्रियाणां निरोधः प्रत्याहार इति फलितम् । अजितेन्द्रियाणां तु ध्यानादिकाले चित्तमेवेन्द्रियानुकारि तदानीमपि रूपादिष्विन्द्रियैश्चित्ताकर्षणादिति दिक् ॥५४॥

मणिप्रभा ।

उक्तयमादिभिः संस्कृतचित्तस्य प्रत्याहारो भवतीति मत्वा तं लक्षयति—स्वेति ।

---

(१) स्वविषयसम्प्रयोगाभावे चित्तस्येति पाठान्तरम् । इन्द्रियाविषयासम्प्रयोगकाले इन्द्रियाणां चित्तस्वरूपानुकारितेव या भवति सा इन्द्रियाणां प्रत्याहार इत्यर्थः ।

(२) मक्षिका इति पाठान्तरम् ।

शुद्धचित्तस्य शब्दादिभिः स्वविषयैरसम्प्रयोगे सति वैराग्याद्विषयेभ्यो वियुज्य तत्त्वाभिमुखे सतीति यावद्, इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां यश्चित्तस्य स्वरूपानुकारः स्वविषयासम्प्रयोगेन तत्त्वाभिमुखरूपः स प्रत्याहारः । इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रातिलोम्येनाह्रियन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्तेः । इन्द्रियाणां विषयशूराणां चित्तवत्तत्त्वाभिमुख्यं नास्तीति द्योतनार्थ इवशब्दः । यथा मक्षिका मधुकरराजं चलन्तमनुचलन्ति स्थितमनुस्थिता भवन्ति तथा चित्तानुसारीणीन्द्रियाणि चित्तनिरोधेनैव निरुध्यन्ते न यत्नान्तरेणेति तत्पर्यम् ॥ ५४ ॥

चन्द्रिका ।

प्रत्याहारमाह—स्वेति ।

इन्द्रियाणां विषयाभिमुख्येन वर्त्तनं यत्तत् परित्यज्य स्वरूपमात्रेऽवस्थानम् । इन्द्रियाणि स्वविषयेभ्यः प्रतीपमाह्रियन्तेऽस्मिन्निति प्रत्याहारः, तस्मिन् सति इन्द्रियाणि चित्तरूपमात्रानुकारीणि सन्ति॥५४॥

योगसुधाकरः ।

अथ क्रमप्राप्तं प्रत्याहारमाह—स्वेति ।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धादिविषयेभ्यो निवर्तिताः श्रोत्रादयश्चित्तस्वरूपमनुकुर्वन्तीवावतिष्ठन्त इत्यर्थः॥५४॥

भोजवृत्तिः ।

प्रत्याहारफलमाह—

ततः परमा(१)वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

अभ्यस्यमाने हि प्रत्याहारे तथा वश्यानि आयत्तानीन्द्रियाणि संपद्यते; यथा—बाह्यविषयाभिमुखतां नीयमानान्यपि न यान्तीत्यर्थः ।

तदेवं प्रथमपादोक्त(२)योगस्याङ्गभूतक्लेशतनूकरणफलं क्रियायोगमभिधाय क्लेशानामुद्देशं स्वरूपं कारणं क्षेत्रं फलं चोक्त्वा कर्मणामपि भेदं कारणं स्वरूपं फलं चाभिधाय विपाकस्य स्वरूपं कारणं चाभिहितम् । ततस्त्याज्यत्वात्क्लेशादीनां ज्ञानव्यतिरेकेण त्यागस्याशक्यत्वाज्ज्ञानस्य च शास्त्रायत्तत्वाच्छास्त्रस्य च हेयहानकारणोपादेयोपादानकारणबोधकत्वेन चतुर्व्यूहत्वाद्धेयस्य च हानव्यतिरेकेण स्वरूपानिष्पत्तेर्हानसहितं चतुर्व्यूहं स्वस्वकारणसहितमभिधायोपादानकारणभूताया(३) विवेकख्यातेः कारणभूतानामन्तरङ्गबहिरङ्गभावेन स्थितानां योगाङ्गानां यमादीनां स्वरूपं फलसहितं व्याकृत्याऽऽसनादीनां धारणापर्यन्तानां परस्परमुपकार्योपकारकभावेनावस्थितानामुद्देशमभिधाय प्रत्येकं लक्षणकरणपूर्वकं फलमभिहितम् । तदयं योगो यमनियमाभिः प्राप्तबीजभाव आसनप्राणायामैरङ्कुरितः प्रत्याहारेण कुसुमितो(४) ध्यानधारणासमाधिभिः फलिष्यतीति व्याख्यातः साधनपादः ॥ ५५ ॥

इति श्रीधारेश्वरभोजराजविरचितायां राजमार्तण्डाभिधानायां पातञ्जलयोगसूत्रवृत्तौ साधनाख्यो द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

योगे व्यापारभूतामेव प्रत्याहारस्य सिद्धिमाह--तत इति ।

ततः प्रत्याहारादिन्द्रियाणां परमो जयो भवति । चित्तास्वातन्त्र्येण वृत्त्यभाव एव परमजय इति॥५५॥

इति श्रीभावागणेशभट्टकृतायां योगदीपिकायां पातञ्जलसूत्रवृत्तौ साधनपादो द्वितीयः ॥ २ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तत्सिद्धिं दर्शयति--**ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्** । ततः प्रत्याहारात् इन्द्रियाणां परमो जयो भवति । चित्तैकाग्र्यात् स्वस्वविषयकवृत्त्यजनकत्वं भवतीत्यर्थः । विषयाभिमुखं नीयमानान्यपि न

(१) परमवा इति पाठान्तरम् । (२) पादोक्तलक्षणस्य योगस्याङ्गेति पाठान्तरम् ।
(३) उपादेयकारणभूताया इति पाठान्तरम् । (४) पुष्पित इति पाठान्तरम् ।

यान्तीति भावः । यथा तत्तदिन्द्रियनिरोधे पुनरिन्द्रियान्तरजयाय यत्नान्तरमपेक्षितं नैवं चित्तजयोत्तरमपि, तज्जयेनैव सर्वेषां जयादिति शिवम् ॥ ५५ ॥

इति श्रीनागोजिभट्टीयायां पातञ्जलसूत्रवृत्तौ द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

मणिप्रभा ।

प्रत्याहारस्य योगद्वारभूतं फलमाह --तत इति ।

अनिषिद्धविषयसेवाविषये तन्त्रत्वं विना स्वेच्छया भोगः, रागद्वेषाभावे सुखदुःखानुत्पादकं शब्दादिदर्शनमिन्द्रियाणां वश्यता सा न परमा विषयाशीविषयोगात् । या तु विषयैः स्वाभिमुखं नीयमानानामपीन्द्रियाबलानां तत्स्वपातिव्रतात्वेन विषयेष्वत्यन्तमप्रतिपत्तिः, रावणेन स्वाभिमुख्यं नीयमानाया अपि श्रीसीतायाः श्रीरामव्रतत्वेन राक्षसाधमाप्रतिपत्तिवत्सा परमेति जैगीषव्यः ! प्रत्याहारादिन्द्रियाणां परमा वश्यता भवतीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

इति साधनपादः समाप्तः ॥ २ ॥

चन्द्रिका ।

तत इति । अभ्यस्यमाने हि प्रत्याहारे तथा वश्यान्यायत्तानीन्द्रियाणि सम्पद्यन्ते यथा बाह्यविषयाभिमुखतां नीयमानान्यपि न यान्तीत्यर्थ । तदेवं पदार्थो यमादिभिः प्रतबीजभाव आसनादिभिरङ्कुरितः प्रत्याहारेण कुसुमितो ध्यानधारणासमाधिभिः फलिष्यतीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

इति योगचन्द्रिकायां द्वितीयः साधनपादः ॥ २ ॥

योगसुधाकरः ।

प्रत्याहारफलमाह—**तत इति** ।

इन्द्रियाणामतिचञ्चलानां परमा वश्यता निश्चलता, विषयेष्वत्यन्तमप्रसर इति यावत् ॥ ५५ ॥

इति श्रीमत्पतञ्जलिप्रणीते योगशास्त्रे योगसुधाकराभिधायां वृत्तौ साधनपादः समाप्तः ॥

इति साधनपादः ।

अथ तृतीयः विभूतिपादः

भोजवृत्तिः ।

यत्पादपद्मस्मरणादणिमादिविभूतयः ।
भवन्ति भविनामस्तु भूतनाथः स भूतये ॥ १ ॥

तदेवं पूर्वोद्दिष्टं धारणाद्यङ्गत्रयं निर्णेतुं संयमसंज्ञाविधानपूर्वकं(१) बाह्याभ्यन्तरादिसिद्धिप्रतिपादनाय लक्षयितुमुपक्रमते । तत्र धारणायाः स्वरूपमाह—

(२)देशबन्ध(३)श्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

देशे नाभिचक्रनासाग्रादौ चित्तस्य बन्धो(४)विषयान्तरपरिहारेण यत्स्थिरीकरणं सा चित्तस्य धा-

---

(१) विधानपूर्वकमिति पाठान्तरम् ।

(२) पूर्वपादाभ्यां समाधिं तत्साधनं चोक्तवान् । तृतीयपादे तत्प्रवृत्तिहेतवः श्रद्धोत्पादकारणीभूता विभूतयो वक्तव्याः ताश्च विभूतयः संयमादेव भवन्ति । संयमश्च धारणाध्यानसमाधिसमुदाय इति विभूतेः साधनतया पञ्चभ्यो योगाङ्गेभ्योऽस्याङ्गत्रयस्य अन्तरङ्गतया विशेषबोधनायात्र त्रयस्योपन्यासः । तत्रापि धारणादीनां कार्यकारणभावेन नियतपौर्वापर्य्याद् तदनुरोधेन क्रमेण तेषामुपन्यास इति प्रथमं धारणामाह देशेति ।

(३) देशसम्बन्ध इति पाठान्तरम् । (४) चित्तस्य संबंध इति पाठान्तरम् ।

रणोच्यते । अयमर्थः—मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मवासितान्तःकरणेन यमनियमवता जितासनेन परिहृतप्राणविक्षेपेण प्रत्याहृतेन्द्रियग्रामेण निर्बाधे प्रदेशे ऋजुकायेन जितद्वंद्वेन योगिना नासाग्रादौ संप्रज्ञातस्य समाधेरभ्यासाय चित्तस्य स्थिरीकरणं कर्तव्यमिति ॥ १ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

योगस्य बहिरङ्गान्येव पञ्च पूर्वपादे व्याख्यातानि । अन्तरङ्गत्रयं तु सिद्धिभिः सहातिबहुलतया पृथक्पादेन व्याख्यायते—देशेति ।

यत्र हृत्पुण्डरीकादिरूपे देशे ध्येयं चिन्तनीयं तत्र देशे चित्तस्य बन्ध ऐकाग्र्यं धारणेत्यर्थः ॥१॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

सोऽयं योगो यमनियमाभ्यां प्राप्तबीजो भवति । आसनप्राणायामाभ्यामङ्कुरितः प्रत्याहारेण कुसुमित इत्येतत्पञ्चकं बहिरङ्गम् । धारणादित्रयेण च फलतीति तदन्तरङ्गसाधनम् । तत्र धारणामाह—**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा** । यत्र हृत्पुण्डरीकादिदेशे ध्येयं चिन्तनीयं तत्र देशे चित्तस्य बन्ध एकाग्रत्वं धारणेत्यर्थः ।

हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके ।
एवमादिप्रदेशेषु धारणा चित्तबन्धनम् ॥ इत्युक्तेः ।

एवं नासाग्रजिह्वाग्रतात्वादयोऽपि । ननु मूर्त्यादिध्यानादिदेशो घटतां, सत्त्वपुरुषान्यतायोगे शुद्धब्रह्मयोगे वा न देशः संभवति, ध्येयस्यापरिच्छिन्नत्वादिति चेन्न । स्वस्वोपाधिदेशस्यैव तद्देशत्वादित्याहुः । मूर्त्यादिध्यानेन चित्तस्यैकाग्र्ये एव तद्ध्यानमिति तदुपायतयैषा धारणोक्तेत्यन्ये । तत्र धारणा द्वादशप्राणायामकालपरिच्छिन्नेति ईश्वरगीतायाम् ॥ १ ॥

मणिप्रभा ।

एवं द्वितीयपादे क्लेशतनूकरणद्वारा योगसाधनं क्रियायोगं निरूप्य, सप्रपञ्चं क्लेशकर्मविपाकानुक्त्वा, तेषां हेयत्वार्थं दुःखत्वं दर्शयित्वा, हेयतद्धेतुमोक्षतद्धेतूनुपन्यस्य, योगस्य बहिरङ्गयमादिपञ्चकं सावान्तरफलं निरूपितम् । संप्रति धारणाऽऽदित्रितयमन्तरङ्गं संयमसंज्ञं वदन् संयमसाध्या विभूतयः श्रद्धाद्वारा कैवल्यफलकयोगप्रवृत्तिहेतवो वक्तव्या इति पादान्तरमारभमाणो धारणां लक्षयति—देशबन्ध इति ।

नाभिचक्रहृदयनासाऽग्रादौ देशे सम्प्रज्ञातयोगसिद्धये चित्तस्य यो बन्धः स्थिरीकरणं सा 'धारणे'त्यर्थः । तदुक्तं विष्णुपुराणे —

प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम् ।
वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थानं शुभाश्रये ॥
मूर्तं भगवतो रूपं सर्वोपाश्रयनिस्पृहम् ।
एषा वै धारणा ज्ञेया यच्चित्तं तत्र धार्यते ॥
तच्च मूर्तं हरे रूपं यादृक् चिन्त्यं नराधिप ! ।
तच्छ्रूयतामनाधारे धारणा नोपपद्यते ॥
प्रसन्नवदनं चारुपद्मपत्रनिभेक्षणम् ।
सुकपोलं सुविस्तीर्णललाटफलकोज्ज्वलम् ॥
समकर्णान्तविन्यस्तचारुकुण्डलभूषणम् ।
कम्बुग्रीवं सुविस्तीर्णश्रीवत्साङ्कितवक्षसम् ॥
वलीत्रिभङ्गिना मग्ननाभिना चोदरेण वै ।
प्रलम्बाष्टभुजं विष्णुमथवाऽपि चतुर्भुजम् ॥

समस्थितोरुजङ्घं च सुस्थिराङ्घ्रिकराम्बुजम् ।
चिन्तयेद्ब्रह्मभूतं तं पीतनिर्मलवाससम् ॥ इति ॥ १ ॥

चन्द्रिका ।

धारणामाह—देशेति । देशे नाभिचक्रादौ चित्तस्य बन्धो विषयान्तरपरिहारेण यद् स्थिरीकरणं सा चित्तस्य धारणेत्युच्यते । यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारासिद्धयुचरं निर्बाधे देशे ऋजुकायेन जितद्वन्द्वेन सम्प्रज्ञातसमाधिरभ्यासाय चेतसः स्थिरीकरणं कर्त्तव्यम् ॥ १ ॥

योगसुधाकरः ।

यदाराधनतः सिद्धाः सिद्धीरष्टाववाप्नुवन् ।
तमपायतमोभानुमुमापतिमुपास्महे ॥

इत्थं पूर्वस्मिन्पादे समाधिपरिपन्थिक्लेशतनूकरणार्थं समाधिभावनार्थं च पृथक्क्रियायोगं क्लेशतन्मूलकर्मतद्विपाकतत्फलजात्यादीनां दुःखत्वेन हेयत्वं हेयहेतुं तद्धानं कैवल्यं तदुपायभूतां पुरुषख्यातिं तत्साधनं यमादिपञ्चकं बहिरङ्गं च अभिधाय, अथाधुना धारणादित्रयमन्तरङ्गं संयमपदवाच्यं तदवान्तरफलविभूतिजातं च अचिख्यासुः प्रथमं धारणां लक्षयति— देशबन्ध इति ।

आधारादिदेशा अधस्तादभिहिताः । तत्रात्मनि वा चित्तस्य बन्धः स्थापनं धारणेत्युच्यते । तदुक्तं योगियाज्ञवल्क्ये—

यमादिगुणयुक्तस्य मनसः स्थितिरात्मनि ।
धारणेत्युच्यते सद्भिर्योगशास्त्रविशारदैः ॥ इति ॥ १ ॥

भोजवृत्तिः ।

धारणामभिधाय ध्यानमभिधातुमाह—

(१)तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

तत्र तस्मिन्प्रदेशे यत्र चित्तं धृतं तत्र प्रत्ययस्य ज्ञानस्य यैकतानता विसदृशपरिणामपरिहारद्वारेण यदेव धारणायामालम्बनीकृतं तदालम्बनतयैव निरन्तरमुत्पत्तिः सा ध्यानमुच्यते ॥ २ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

क्रमागतं ध्यानं लक्षयति —तत्रेति ।

तत्र देशे चतुर्भुजादिध्येयाकारकवृत्तिप्रवाहो ध्यानमित्यर्थः ॥ २ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ध्यानमाह—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । तत्र देशे चतुर्भुजादिध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो वृत्त्यन्तराव्यवहितो ध्यानमित्यर्थः । बुद्धिवृत्तौ वा तद्विवेकतश्चैतन्याचिन्तनम् । कारणोपाधावशिवराचिन्तनमिति । द्वादशधारणाकालं च ध्यानम् ॥ २ ॥

मणिप्रभा ।

धारणासाध्यं ध्यानं लक्षयति—तत्रेति ।

यत्र धारणा विजातीयवृत्तिपरिहारे यत्नापेक्षा भवति तत्रैव या प्रत्ययानां वृत्तीनामेकतानता यत्नमनपेक्ष्यैकविषयता तद्ध्यानमित्यर्थः ।

तद्रूपप्रत्ययैकाग्रसन्ततिश्चान्यनिस्पृहा ।
तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप ! ॥

इति तत्रैवोक्तं खाण्डिकजनकं प्रति केशिध्वजेन ॥ २ ॥

चन्द्रिका ।

ध्यानमाह-तत्रेति । त त्रतस्मिन् देशे यत्र चित्तं धृतं तत्र प्रत्ययस्य ज्ञानस्य या एकतानता विसदृशपरि-

---

(१) ध्यानस्य धारणासाध्यत्वात् ध्यानमाह तत्रेति । तत्र तत्प्रत्ययैकतेति पाठान्तरम् ।

णामपरिहारद्वारेण यदेव धारणायामालम्बनीकृतं तदालम्बनतयैव निरन्तरमुत्पत्तिः सा ध्यानमुच्यते ॥२॥

योगसुधाकरः ।

तत्साध्यं ध्यानं लक्षयति— तत्रेति ।

तत्र यथोक्तदेशे प्रत्ययस्यैकतानता एकविषयप्रवाहः, स च विच्छिद्य विच्छिद्य जायमानो ध्यानं भवति । तदुक्तम्—

विलाप्य विकृतिं कृत्स्नां संभवव्यत्ययक्रमात् ।
परिशिष्टं च सन्मात्रं चिदानन्दं विचिन्तयेत् ॥ इति ॥ २ ॥

भोजवृत्तिः ।

चरमं योगाङ्गं समाधिमाह—

(१)तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

तदेवोक्तलक्षणं ध्यानं यथार्थ(२)मात्रानिर्भासमर्थाकारसमावेशादुद्भूतार्थरूपमश्रुतं ज्ञानस्वरूपत्वेन (३) स्वरूपशून्यतामिवाऽऽपद्यते स समाधिरित्युच्यते । सम्यगाधीयत एकाग्रीक्रियते विक्षेपान्परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः ॥ ३ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

समाधिं लक्षयति—तदेवेति ।

मात्रपदस्य विवरणं स्वरूपशून्यमिवेति । स्वरूपपदं च तदादीनामन्येषामप्युपलक्षणम् । इव-शब्देन चाग्रहणमात्रं शून्यसाधर्म्यं विवक्षितम् , स्वरूपतो ध्यानस्य सत्त्वात् । तथा च तदेव ध्यानं तदा ध्येयार्थमात्रग्राहि भवति न तु ध्यातृध्यानध्येयादिविभागं गृह्णाति तदा समाधिरुच्यत इत्यर्थः । तद्विभागग्रहणकाले च ध्यानमिति ध्यानसमाध्योर्भेदः ॥ ३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

समाधिमाह—तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः । मात्रपदविवरणं च स्वरूप-शून्यमिवेति । स्वरूपेति ध्यात्रादीनामप्युपलक्षणम् । इवशब्देनाग्रहणरूपं शून्यसाधर्म्यं विवक्षितम् , स्वरूपतो ध्यानसत्त्वात् । तथाच तदेव ध्यानं यदा ध्येयावेशवशात् ध्यानध्यातृदृष्टिशून्यं ध्येयमात्रा-कारं भवति ध्येयमात्रं गृह्णाति तदा समाधिरित्यर्थः। तद्ग्रहकाले तु ध्यानमिति ध्यानसमाध्योर्भेदः। अत-एवात्यन्ताभ्यर्हितादिविषयेन्द्रियसंनिकर्षे ध्यानभङ्गो भवति न समाधेरिति स्मर्यते। अयं समाधिर्वृत्त्यन्तर-निरोधद्वारैव साक्षात्कारहेतुरिति बोध्यम् ॥ ३ ॥

मणिप्रभा ।

समाधिं लक्षयति—तदेवेति ।

अतिस्वच्छचित्तवृत्तिप्रवाहरूपं ध्यानमेवार्थमात्रस्वरूपेण निर्भासमानं समाधिः । 'मात्र'चोऽर्थ-माह 'स्वरूपशून्येमिवेति । ध्यानस्वरूपज्ञानशून्यम् । इवशब्देन ध्यानस्य सत्तां द्योतयति । यथा स्वच्छस्फाटिकमणिः कुसुमरूपेणैव निर्भासते न स्वरूपेण तद्वदित्यर्थः । विजातीयवृत्तिविच्छिन्ना धारणा । अविच्छिन्नं ध्यानम् । ध्येयध्यानध्यातृस्फूर्तिमद्ध्येयमात्रस्फूर्तिमान्समाधिः । स एव दीर्घ-कालव्यापी सन् सम्प्रज्ञाताख्यो योग इत्युच्यते । ध्येयस्फूर्तिशून्योऽसम्प्रज्ञात इति भेदः ॥ ३ ॥

चन्द्रिका ।

समाधिमाह-तदेवेति । तदेव ध्यानं यथार्थमात्रनिर्भासमर्थाकारसमावेशादुद्भूतार्थरूपं न्यग्भूतज्ञान-स्वरूपत्वेन स्वरूपशून्यतामिवापद्यते स समाधिरित्युच्यते । सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते यत्र मनः स समाधिः ॥ ३ ॥

---

(१) धारणासाध्यं समाधिं लक्षयति तदेवेति । (२) यथार्थेति पाठान्तरम् ।
(३) रूपं न्यग्भूतज्ञानस्वरूपत्वेनेति पाठान्तरम् ।

योगसुधाकरः ।

ध्यानप्रकर्षात्सन्ततम् एकविषयप्रवाहः समाधिः, तं लक्षयति—तदेवेति ।

तदेव ध्यानमेव ध्येयैकगोचरतया निर्भासमानं ध्यानस्वरूपशून्यामिव स्थितं समाधिर्भवति । तदुक्तम्—

ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना ।
संप्रज्ञातसमाधिः स्याद्ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः ॥ इति ।

नाथाङ्गाङ्गिनोरत्यन्ताभेदः शङ्कनीयः,ईषद्भेदस्य विद्यमानत्वात् । तथाह-कर्तृकरणानुसन्धानपुरःसरं जायमानः प्रत्ययो ध्यानम् । तदुत्कर्षात्कर्तृकरणानुसंधानमन्तरेणैव ध्येयमात्रगोचरतया निर्भासमानः समाधिः । स एवापरवैराग्यपुरःसरमादरनैरन्तर्यदीर्घकालासेवितो निरस्तरजस्तमोलेशमुख्यप्रकाशमय-सत्त्वोद्रेकोदनवद्यवैशारद्यप्रद्योतवरूपश्चिरतरमनुवर्तमानः संप्रज्ञातसमाधिर्भवति । परवैराग्यपूर्वकनि-रोधप्रयत्नेन तस्यापि निरोधे सर्ववृत्तिनिरोधान्निर्बीजः समाधिर्भवति । तदुक्तम्—

मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः ।
याऽसम्प्रज्ञातनामासौ समाधिरभिधीयते ॥

इत्येष विभागो द्रष्टव्यः ॥ ३ ॥

भोजवृत्तिः ।

उक्तलक्षणस्य योगाङ्गत्रयस्य व्यवहाराय स्वशास्त्रे तान्त्रिकीं संज्ञां कर्तुमाह—

(१)त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

एकस्मिन्विषये धारणाध्यानसमाधित्रयं प्रवर्तमानं संयमसंज्ञया शास्त्रे व्यवह्रियते ॥ ४ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

धारणादित्रयस्य परिभाषासूत्रम्—तत्त्रयमिति

तद्धारणादित्रयम्, एकैकविषये क्रियमाणं संयम इत्युच्यत इत्यर्थः । संयमसिद्धयोऽग्रे वक्ष्यन्ते ४ ४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

एतत्त्रयस्य तान्त्रिकीं संज्ञामाह—तत्त्रयमेकत्र संयमः । एकत्र विषये क्रियमाणमेतत्त्रयं संयम इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

मणिप्रभा ।

धारणाध्यानसमाधित्रयस्य व्यवहारलाघवफलां संयमसंज्ञामाह— त्रयमिति ।

एकविषयं त्रयं संयमसंज्ञं भवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

चन्द्रिका ।

योगाङ्गत्रयस्य तान्त्रिकीं सञ्ज्ञामाह—त्रयमिति ।

एकस्मिन् विषये ध्यानधारणासमाधिलक्षणं त्रयं प्रवर्तमानं संयमसञ्ज्ञया शास्त्रे व्यवह्रियते ॥४॥

योगसुधाकरः ।

इत्थं पूर्वपादोद्दिष्टं धारणादित्रयं व्याख्याय तस्य व्यवहारलाघवाय संयमसंज्ञामाह—त्रयमिति ।

एकविषयं धारणादित्रयं संयमसंज्ञं भवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

भोजवृत्तिः ।

तस्य फलमाह—

---

(१) तत्त्रयमिति पाठान्तरम् । धारणा ध्यानं समाधिरित्येतत्त्रयं तत्र तत्र प्रयुज्यमानत्वे प्रति-विकल्पशोच्चारणे ग्रन्थगौरवं स्यादतः लाघवार्थं पारिभाषासूत्रमाह त्रयमिति ।

(१)तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

तस्य संयमस्य जयादभ्यासेन सात्म्योत्पादनात्प्रज्ञाया विवेकस्वरूपाया आलोकः(२) प्रसवो भवति। प्रज्ञा ज्ञेयं सम्यगवभासयतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

इदानीं संयमस्य योगाङ्गताप्रयोजकं द्वारमाह तज्जयादिति ।

तस्य संयमस्य जयः स्थैर्यं तस्मात्प्रज्ञायां: आलोकः दीप्तिः वृद्धिः क्रमेण भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तस्य योगाङ्गताया द्वारमाह—तज्जयात्प्रज्ञालोकः । तस्य संयमस्य जयात्स्थैर्यात् समाधिप्रज्ञाया आलोकः दीप्ति । दीप्तिः प्रत्ययान्तरानभिभूताया निर्मले प्रवाहेऽवस्थानं भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

मणिप्रभा ।

संयमस्य फलमाह—तज्जयादिति ।

तस्य संयमस्य जयात् स्थैर्यात्प्रज्ञायाः समाधिजाया आलोको नैर्मल्यं भवति । भ्रान्तिसंशयादिमलशून्या ध्येयतत्त्वस्फूर्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

चन्द्रिका ।

तज्जयादिति । तस्य संयमस्य जयादभ्यासेन सात्म्योत्पादनात् प्रज्ञाया ज्ञातव्यविवेकस्वरूपाया आलोकः प्रसरो भवति ॥ ५ ॥

योगसुधाकरः ।

ततः किम् ? अत आह—तज्जयादिति ।

तस्य संयमस्य जयात्स्थैर्यात्समाधिप्रज्ञाया आलोकः ऋतंभरत्वं भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

भोजवृत्तिः ।

तस्योपयोगमाह—

(३)तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

तस्य संयमस्य भूमिषु स्थूलसूक्ष्मालम्बनभेदेन स्थितासु चित्तवृत्तिषु विनियोगः कर्तव्यः, अधराधरां चित्तभूमिं जितां जितां ज्ञात्वोत्तरस्यां भूमौ संयमः कार्यः । न ह्यनात्मीकृताधरभूमि(४)रुत्तरस्यां भूमौ संयमं कुर्वाणः(५) फलभाग्भवति ॥ ६ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

संयमस्यानुष्ठाने विशेषमाह—तस्येति ।

तस्य संयमस्य स्थूलादिपूर्वपूर्वभूमिकाजयानन्तरं सूक्ष्मादिषूत्तरोत्तरभूमिकासु नियोजनं योगिना कार्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

संयमानुष्ठाने विशेषमाह—तस्य भूमिषु विनियोगः । स्थूलादिपूर्वपूर्वभूमिकाजयानन्तरं सूक्ष्मासूत्तरोत्तरभूमिकासु नियोजनं योगिना कार्यमित्यर्थः । यथा सभूषणसायुधचतुर्भुजमूर्तिसमाधौ सिद्धे आयुधपरित्यागेन तस्यापि सिद्धे भूषणरहिते ततः सोऽहमिति ततोऽहमिति ॥ ६ ॥

---

(१) संयमविजयस्य फलमाह तदिति । (२) विवेकख्यातेरालोक इति पाठान्तरम् ।

(३) कुत्र विनियुक्तस्य संयमस्य फलमेतत् स्यादत आह तस्येति । तस्य संयमस्य जिताया भूमेर्यानन्तरा अजिता भूमिस्तत्र विनियोगः । स्थूलविषये सवितर्कसमाधौ संयमेन वशीकृते अविजिते निर्वितर्के संयमस्य विनियोगः तस्मिंश्च वशीकृते सविचारे तस्मिंश्च वशीकृते निर्विचारे विनियोग इत्यर्थः ।

(४) ह्यसावात्माऽकृताधरभूमिरिति पाठान्तरम् । (५) यमसकुर्वाण इति पाठान्तरम् ।

मणिप्रभा ।

क्व पुनर्नियुक्तस्य संयमस्येदं फलमिति प्रश्नस्योत्तरं पठति—तस्येति ।

स्थूलसूक्ष्मादिषूक्ताः सवितर्कनिर्वितर्कासविचारानिर्विचाराऽऽदयो भूमयः । तासु संयमस्य विनियोगः । संयमेन पूर्वभूमिं जित्वा तदुत्तरां भूमिं जिगीषेत् । न हि स्थूलमसाक्षात्कृत्य सूक्ष्मं साक्षात्कर्तुं शक्यमिति भावः ॥ ६ ॥

चन्द्रिका ।

तस्योपयोगमाह—तस्येति ।

तस्य संयमस्य भूमिषु स्थूलसूक्ष्मालम्बनभेदेन स्थितासु चित्तवृत्तिषु विनियोगः कार्यः अधरां जित्वोत्तरां जयेत् ॥ ६ ॥

योगसुधाकरः ।

ननु क्व विनियुक्तः प्रज्ञालोकः फलं प्रसूत इत्यपेक्षायामाह—तस्येति ।

पूर्वोक्तसवितर्कनिर्वितर्कसविचारनिर्विचारादिभूमिषु संयमस्य विनियोगः कर्त्तव्यः । तत्र विनियुक्तः संयमः पूर्वपूर्वभूमिजयेनोत्तरभूमिर्निर्विचाराभिधाया वैशारद्येऽध्यात्मप्रसादख्यातिमुत्पाद्य सद्भूतार्थप्रद्योतनरूपां समाधिप्रज्ञामुत्पादयतीति तात्पर्यार्थः ॥ ६ ॥

भोजवृत्तिः ।

साधनपादे योगाङ्गान्यष्टावुद्दिश्य पञ्चानां लक्षणं विधाय त्रयाणां कथं न कृतमित्याशङ्कयाऽऽह—

(१)त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

पूर्वेभ्यो यमादिभ्यो योगाङ्गेभ्यः पारम्पर्येण समाधेरुपकारकेभ्यो धारणादियोगाङ्गत्रयं संप्रज्ञातस्य समाधेरन्तरङ्गं समाधिस्वरूपनिष्पादनात् ॥ ७ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

योगाङ्गानि व्याख्यातानि तेष्वावश्यकत्वानावश्यकत्वविवेकार्थमन्तरङ्गबहिरङ्गविभागमाह द्वाभ्याम्—त्रयमिति ।

पूर्वेभ्यः पूर्वपादोक्तपञ्चाङ्गेभ्यः सकाशादेतत्पादोक्तं धारणात्रयं योगस्य संप्रज्ञातस्यान्तरङ्गं भवति । उत्तरसूत्रादत्र संप्रज्ञाताख्याविशेषलाभः ॥ ७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः

एवं त्रयाणामत्यावश्यकत्वं प्रतिपादयति—त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः । पूर्वेभ्यो यमादिपञ्चभ्यः संप्रज्ञातसमाधेरिति शेषः ॥ ७ ॥

मणिप्रभा ।

ननु योगाङ्गानां मध्येऽङ्गपञ्चकं पूर्वपादे निरूपितं त्रयमत्र निरूपितं तत्र को हेतुरित्यत आह-त्रयमिति ।

पञ्च यमादीनि सम्प्रज्ञातसमाधेः प्रतिबन्धकस्य चित्तकायप्राणेन्द्रियमलस्य निवृत्तिद्वारा बहिरङ्गाणि । धारणादित्रयं त्वाङ्गिनः समानविषयतया साक्षात्स्वरूपोपकारकत्वादन्तरङ्गम् । अतः पूर्वेभ्यः पञ्चभ्य इदमन्तरङ्गमिति कृत्वा तत्तद्भूमिविनियोगोक्त्यर्थमत्र निरूपितामित्यर्थः ॥ ७ ॥

चन्द्रिका ।

त्रयमिति । पूर्वेभ्यो यमादियोगाङ्गेभ्यः पारम्पर्येण समाधेरुपकारकेभ्यो धारणादि योगाङ्गत्रयं सम्प्रज्ञातस्य समाधेरन्तरङ्गं समाधिस्वरूपनिष्पादनात् ॥ ७ ॥

---

(१) योगाङ्गत्वाविशेषेऽपि संयमस्यैव तत्र तत्र विनियोगः कथं नेतरेषामित्यत आह त्रयमित्यादि । इदं तु साधनत्रयं साध्यसमानविषयत्वेन अन्तरङ्गं यमादयस्तु न तथेति भावः ।

योगसुधाकरः ।

अत एव संप्रज्ञातसमाधिप्रज्ञाया धारणादित्रयमन्तरङ्गमित्याह— त्रयमिति ।

पूर्वोक्ताः पञ्च यमादयः संप्रज्ञातस्य प्रतिबन्धकप्रत्यवायप्राणादिमलप्रक्षयप्रणाडिकया बहिरङ्गाणि तेभ्याश्चित्तविषयतया सजातीयत्वाद्धारणादित्रयमन्तरङ्गमित्यर्थः ॥ ७ ॥

भोजवृत्तिः ।

तस्यापि समाध्यन्तरापेक्षया बहिरङ्गत्वमाह—

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

निर्बीजस्य निरालम्बनस्य शून्यभावनापरपर्यायस्य समाधेरेतदपि योगाङ्गत्रयं बहिरङ्गं पारम्पर्येणोपकारकत्वात् ॥ ८ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

तदपीति । निर्बीजयोगस्यासंप्रज्ञातस्य तदपि त्रयं बहिरङ्गमेव भवति । विवेकख्यातिपरवैराग्यद्वारा परम्परयैव तद्धेतुत्वेन जन्मान्तरीयेणापि तत्त्रयेणासंप्रज्ञातसंभवादित्यर्थः ॥ ८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य । तदपि त्रयं निर्बीजस्यासंप्रज्ञातस्य बहिरङ्गमेवेत्यर्थः । विवेकख्यातिपरवैराग्यद्वारा परम्परयैव तद्धेतुत्वेन जन्मान्तरीयेणापि त्रयेणासंप्रज्ञातसंभवादित्यर्थ इति कश्चित् । साध्यसमानविषयत्वेन हि सम्प्रज्ञातं प्रत्यन्तरङ्गत्वम् । अस्य निर्बीजतया तत्त्वमप्यत्र नास्ति । तेषु चिरनिरुद्धेषु परवैराग्यानन्तरमुत्पादाच्च । तदुक्तं भाष्ये 'तदभावेऽभावात्' इत्यन्ये ॥ ८ ॥

मणिप्रभा ।

तदपीति । असम्प्रज्ञातस्य धारणाऽऽदित्रयमपि बहिरङ्गम् । अङ्गिनो निर्विषयत्वेन त्रयस्य सविषयत्वेन समानविषयत्वाभावात् । अतो व्युत्थानरूपस्य त्रयस्य सम्प्रज्ञातपरिपाकप्रसादरूपपरवैराग्यद्वारा निरोधे सति सम्प्रज्ञातस्यापि निरोधान्निर्बीजो भवति । पारम्पर्येणोपकारकत्वाद्बहिरङ्गमित्यर्थः॥८॥

चन्द्रिका ।

तस्यापि समाध्यन्तरापेक्षया बहिरङ्गत्वमाह—तदपीति ।

निर्बीजस्य निरालम्बनस्य समाधेस्तदपि योगाङ्गत्रयं बहिरङ्गं पारम्पर्येणोपकारकत्वात् ॥ ८ ॥

योगसुधाकरः ।

तदप्यसंप्रज्ञातस्यावृत्तिकस्य विजातीयत्वाद्बहिरङ्गमित्याह—तदपीति ।

विजातीयत्वेऽपि संप्रज्ञातप्रज्ञोत्पादनद्वारोपकारितया बहिरङ्गत्वमविरुद्धम् । तदेवोपकारित्वमधस्तादप्यसूत्रकारः—'श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्' इति ॥ ८ ॥

भोजवृत्तिः ।

इदानीं योगसिद्धीराख्यातुकामः संयमस्य विषयपरिशुद्धिं कर्तुं क्रमेण परिणामत्रयमाह—

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधलक्षण(१)चित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

व्युत्थानं क्षिप्तमूढविक्षिप्ताख्यं भूमित्रयम् । निरोधः प्रकृष्टसत्त्वस्याङ्गितया चेतसः परिणामः । ताभ्यां व्युत्थाननिरोधाभ्यां यौ जनितौ संस्कारौ तयोर्यथाक्रममभिभवप्रादुर्भावौ यदा भवतः, अभिभवो न्यग्भूततया कार्यकरणासामर्थ्येना(२)वस्थानम्, प्रादुर्भावो वर्तमानेऽध्वनि अभिव्यक्तरूपत-

---

(१) निरोधक्षणेति पाठान्तरम् ।
(२) कार्यस्य करणेऽप्योसामर्थ्येनेति पाठान्तरम् ।

याऽवस्थानम्(१), तदा निरोधक्षणे चित्तस्योभयवृत्तित्वादन्वयो यः स निरोधपरिणाम उच्यते। अयमर्थः--यदा व्युत्थानसंस्काररूपो धर्मस्तिरोभूतो भवति निरोधसंस्काररूपश्चाऽऽविर्भवति, धर्मिरूपतया च चित्तमुभयत्राग्वयित्वेनाऽवस्थितं(२)प्रतीयते, तदा स निरोधपरिणामशब्देन व्यवह्रियते। चलत्वाद्गुणवृत्तस्य यद्यपि चेतसो निश्चलत्वं नास्ति तथाऽपि एवंभूतः परिणामः स्थैर्यमुच्यते ॥ ९॥

भावागणेशवृत्तिः।

ज्ञानोपायप्रसंगेन योगाङ्गानि विस्तरतः प्रोक्तानि। इदानीमङ्गभूतस्य समाधेराङ्गिनोश्च योगयोः स्वरूपभेदावधारणाय तदवस्थासु विशेषा वक्तव्याः। तावतैव तयोरङ्गाङ्गिनोः प्रयोजनमपि प्रतिपादितं भविष्यति। तत्रादावङ्गसमाध्यवस्थातोऽङ्गियोगयोरवस्थाया विशेषमाह—व्युत्थानेति।

व्युत्थानं निरोधश्च योगद्वयसाधारणमेवात्र ग्राह्यम्। केवलस्यासंप्रज्ञातस्य ग्रहणे संप्रज्ञातकालीनपरिणामाकथनान्न्यूनतापत्तेरिति। अभिभवप्रादुर्भावौ च ह्रासवृद्धी। तथाच व्युत्थानसंस्कारस्य ह्रासो वृत्तिनिरोधसंस्कारस्य वृद्धिर्निरोधकालीनः परिणामः। स च निरोधक्षणेष्वेकस्मिन्नेव स्थिरे चित्ते इत्यतश्चित्तस्थैर्यप्रतिपादनाय चित्तपदम्। निरोधस्य प्रतिक्षणमेतादृशपरिणामलाभाय निरोधक्षणेत्युक्तम् ॥ ९॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अथासंप्रज्ञातस्य किं कार्यं तत्र च तस्य कीदृशः परिणामस्तत्राह— **व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः।** संप्रज्ञातोऽप्यत्र व्युत्थानम्। तत्र व्युत्थानकालिकसंस्काररूपेण चित्तस्य परिणामः। सर्वक्षणेषु च निरोध(ल)क्षणस्य तत्स्वरूपस्यैव चित्तस्य तत्रान्वय इत्यर्थः ॥ ९॥

मणिप्रभा।

सम्प्रति संयमाद्विभूतिं वक्तुकामः संयमस्य लक्ष्यान् परिणामान् दर्शयति—व्युत्थानेति।

व्युत्थानं संप्रज्ञातः। स निरुध्यते येन तत्परवैराग्यं निरोधः। तत्र यदा व्युत्थानसंस्कारस्याभिभवो निरोधसंस्कारस्य प्रादुर्भावश्च भवतस्तदा निरोधसंस्कारस्यासंप्रज्ञातस्य क्षणेनावसरेण युक्तं चित्तं भवति। तस्य निरोधक्षणस्य चित्तस्य धर्मिणस्त्रिगुणत्वेन चलस्य सदा परिणामशीलस्याभिभूतप्रादुर्भूतयोः संस्कारयोर्धर्मित्वेन योऽन्वयः स निरोधाख्यः परिणाम इत्यर्थः। परवैराग्यरूपवृत्त्या संप्रज्ञातवृत्तेस्तत्संस्कारस्य चाभिभवे सति परवैराग्यसंस्कार एवाभिव्यक्तः सन्निर्बीजनिरोधपरिणाम इति भावः ॥९॥

चन्द्रिका।

व्युत्थानेति। व्युत्थानं क्षिप्तादिभूमित्रयं निरोधः प्रकृष्टसत्त्वश्चेतसः परिणामः ताभ्यां जातौ यौ संस्कारौ तयोर्यथाक्रममभिभवप्रादुर्भावौ यदा भवतस्तदा निरोधक्षणे चित्तस्योभयवृत्तित्वादन्वयो यः स निरोधपरिणाम इत्युच्यते ॥ ९॥

योगसुधाकरः।

ननु 'तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य' इत्युक्तम्। कोऽसौ निर्बीजः समाधिरित्यपेक्षायामाह—व्युत्थानेति।

व्युत्थानसंस्काराः समाधिविरोधिनः। ते च निरोधहेतुना योगिप्रयत्नेन प्रतिदिनं प्रतिक्षणं च अभिभूयन्ते, तद्विरोधिनश्च निरोधसंस्काराः प्रादुर्भवन्ति। तथासति निरोध एकैकस्मिन्क्षणे चित्तमनुगच्छति। सोऽयमीदृशश्चित्तस्य निरोधपरिणामो निर्बीजः समाधिर्भवति ॥ ९॥

---

(१) ऽऽविर्भाव इति पाठान्तरम्।

(२) उभयान्वयित्वेऽपि निरोधतयाऽवस्थितमिति पाठान्तरम्।

भोजवृत्ति

तस्यैव फलमाह—

(१)तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

तस्य चेतसो निरुक्ता(२)न्निरोधसंस्कारात्प्रशान्तवाहिता भवति । परिहृतविक्षेपतया सदृशप्रवाहपारिणामि चित्तं भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

भावागणेशवृत्तिः।

ननु वृत्तीनामेव स्मृतिहेतुतया संस्कारजनकत्वं सिद्धं निरोधस्य तु संस्कारजनकत्वे किं प्रमाणं तत्राह—तस्येति।

तस्य निरोधस्य प्रशान्तवाहिता निश्चलप्रवाहः स्वसंस्कारादेव भवतीत्यर्थः। निरोधसंस्कारवृद्धेरेवोत्तरोत्तरासंप्रज्ञातव्यक्तीनामाधिकाधिककालं प्रशान्तवाहित्वं युक्तमिति भावः ॥ १० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

ननु वृत्तीनां स्मृत्यन्यथानुपपत्त्या संस्कारजनकत्वेऽपि निरोधस्य संस्कारजनकत्वे न मानमत आह--**तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्**। तस्य निरोधस्य प्रशान्तवाहिता व्युत्थानसंस्काररहितचिरकालवाहिता स्वसंस्कारपाटवादेव भवतीत्यर्थः। संस्कारवृद्ध्यैवोत्तरोत्तरसंप्रज्ञातव्यक्तीनामाधिककालतेति भावः ॥ १० ॥

मणिप्रभा।

सर्वात्मना व्युत्थानसंस्काराभिभवे सति निरोधस्थैर्यमाह—तस्येति।

निरोधसंस्कारप्रचयान्निरस्तसमस्तव्युत्थानसंस्कारमलस्य चित्तस्य निरोधसंस्कारपरम्परामात्रवाहिता भवति। ननु तर्हि चलमेव तदाऽपि चित्तम्, सत्यं तदाऽपि तादृशी परिणाममाला स्थैर्यमित्युच्यत इति भावः ॥ १० ॥

चन्द्रिका।

तस्येति। तस्य चेतस उक्तान्निरोधसंस्कारात् प्रशान्तवाहिता भवति सदृशप्रवाहपारिणामि चित्तं भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

योगसुधाकरः।

ननु 'प्रतिक्षणं परिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः' इति न्यायेन चित्तस्य सर्वदा परिणामप्रवाहो वक्तव्यः; तत्र व्युत्थितचित्तस्य वृत्तिप्रवाहः स्फुटः, निरुद्धचित्तस्य तु कथमित्याशङ्क्योत्तरमाह—तस्येति।

यथा समिदाज्याहुतिप्रक्षेपे वह्निरुत्तरोत्तरवृद्ध्या प्रज्वलति, समिदादिप्रक्षये प्रथमक्षणे किंचिच्छाम्यति, उत्तरोत्तरक्षणे शान्तिर्वर्धते, तथा निरुद्धचित्तस्योत्तरोत्तराधिकं प्रशमः प्रवहति। पूर्वपूर्वप्रशमजनितसंस्कार एवोत्तरोत्तरप्रशमस्य कारणमित्यतः प्रशमप्रवाहसंभवान्न कोऽपि दोष इति भावः ॥ १० ॥

भोजवृत्तिः।

निरोधपरिणाममभिधाय समाधिपरिणाममाह —

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

सर्वार्थता चलत्वान्नानाविधार्थग्रहणं चित्तस्य विक्षेपो धर्मः। एकस्मिन्नेवाऽऽलम्बने सदृशपरिणा-

---

(१) व्युत्थानसंस्काराभिभवे निरोधसंस्कारप्रादुर्भावे च चित्तस्य कीदृशः परिणाम इत्याह तस्येति। व्युत्थानसंस्काररूपमलरहितनिरोधसंस्कारपरम्परामात्रवाहिता प्रशान्तवाहिता।

(२) चेतस उक्तादिति पाठान्तरम्।

मितैकाग्रता साऽपि चित्तस्य धर्मः। तयोर्यथाक्रमं क्षयोदयौ सर्वार्थतालक्षणस्य धर्मस्य क्षयोऽत्यन्ताभिभव एकाग्रतालक्षणस्य धर्मस्य प्रादुर्भावोऽभिव्यक्तिश्चित्तस्योद्रिक्तसत्त्वस्यान्वयितयाऽवस्थानं समाधिपरिणाम इत्युच्यते। पूर्वस्मात्परिणामादस्यायं विशेषः—तत्र संस्कारलक्षणयोर्धर्मयोरभिभवप्रादुर्भावौ पूर्वस्य व्युत्थानसंस्काररूपस्य न्यग्भावः, उत्तरस्य निरोधसंस्काररूपस्योद्भवोऽनभिभूतत्वेनावस्थानम्। इह तु क्षयोदयाविति सर्वार्थतारूपस्य विक्षेपस्यात्यन्ततिरस्कारादनुत्पत्तिरतीतेऽध्वनि प्रवेशः क्षय, एकाग्रतालक्षणस्य धर्मस्योद्भवो वर्तमानेऽध्वनि प्रकटत्वम् ॥ ११ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

अङ्गसमाधेरवस्थाया विशेषमाह — **सर्वार्थतेति** ।

सर्वार्थता विक्षिप्तता तस्याः प्रतिक्षणं क्षयस्तिरोभावो भवति। एकाग्रतायाश्चाविर्भावो भवति। अयं समाधिकालीनश्चित्तपरिणाम इत्यर्थः ॥ ११ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अङ्गभूतसमाधेरवस्थाया विशेषमाह—**सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः**। सर्वार्थता विक्षिप्तता तस्याः प्रतिक्षणं क्षयः तिरोभावः एकाग्रतायाश्चाविर्भावो भवति। अयं समाधिकालीनचित्तपरिणाम इत्यर्थः ॥ ११ ॥

मणिप्रभा ।

एवं निर्बीजावस्थामुक्त्वा संप्रज्ञातपरिणाममाह—**सर्वार्थतेति** ।

चित्तस्य सर्वार्थता नानाऽर्थाकारत्वं विक्षिप्तत्वरूपो धर्मः। एकाग्रता वक्ष्यमाणो धर्मः। तयोर्यथाक्रमं क्षयोदयौ तिरोभावप्रादुर्भावौ, न सतो विनाशो नासत उत्पत्तिस्तौ समाधिपरिणाम इत्यर्थः। अभ्यासेन विक्षेपास्यये सत्येकाग्रकता स्थैर्यं समाधिरिति भावः ॥ ११ ॥

चन्द्रिका ।

सर्वार्थतेति । चित्तस्य सर्वार्थता विक्षेपो धर्म एकाग्रतापि धर्मस्तयोर्यथाक्रमं क्षयोदयावाभिभवप्रादुर्भावौ उद्रिक्तसत्त्वस्य चित्तस्यान्वयितयावस्थानं समाधिपरिणाम इत्युच्यते। पूर्वस्मादस्यायं विशेषो-व्युत्थानसंस्कारस्य न्यग्भाव उत्तरस्य निरोधसंस्कारस्योद्भव; इह तु क्षयोदयाविति सर्वार्थतारूपस्य विक्षेपस्यात्यन्ततिरस्कारादनुत्पत्तिरेकाग्रतोद्भवः ॥ ११ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थं निरोधपरिणामरूपं निर्बीजसमाधिमभिधाय संप्रज्ञातसमाधिपरिणाममभिधातुमाह—**सर्वार्थतेति** ।

रजोगुणेन चाल्यमानं चित्तं क्रमेण सर्वान्पदार्थान् गृह्णाति। तस्य रजोगुणस्य निरोधाय क्रियमाणेन योगिनः प्रयत्नविशेषेण दिने दिने सर्वार्थता क्षीयते, एकाग्रता चोदेति। तादृशचित्तस्य परिणामः समाधिरित्युच्यते ॥ ११ ॥

भोजवृत्तिः ।

तृतीयमेकाग्रतापरिणाममाह—

(१)(ततः पुनः) शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥१२॥

समाहितस्यैव चित्तस्यैकप्रत्ययो वृत्तिविशेषः शान्तोऽतीतमध्वानं प्रविष्टः। अपरस्तूदितो वर्तमानेऽध्वनि स्फुरितः। द्वावपि समाहितचित्तत्वेन तुल्यावेकरूपालम्बनत्वेन सदृशौ प्रत्ययावुभयत्रापि समाहितस्यैव चित्तस्यान्वयित्वेनावस्थानं, स एकाग्रतापरिणाम इत्युच्यते ॥ १२ ॥

(१) एकाग्रतापरिणाममाह शान्तेत्यादि। अत्र 'ततः पुनः शान्तोदिताविति' पाठः क्वचित्कः। स च भाष्यपङ्क्तिसहित इति केचित्। शान्तोऽतीतमध्वानं प्रविष्टः उदितः वर्तमानेऽध्वनि स्फुरितः।

भावागणेशवृत्तिः ।

अङ्गसमाधेरेवोत्तरपरिणामानन्तरकालीनं परिणामान्तरमाह—तत इति ।

ततः सर्वार्थताया निःशेषतः क्षये सति शान्तोदितौ विनष्टोत्पन्नौ तुल्यप्रत्ययावेकाकारप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रताकालीनः परिणामो भवति । सजातीयैकैकः प्रत्ययो नश्यत्यन्योन्यश्चोत्पद्यत इत्यर्थः । पूर्वधर्मापाये धर्मान्तरोत्पत्तेरेव परिणामत्वादिति भावः ॥ १२ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तदुत्तरकालं तस्यैव परिणामान्तरमाह—ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः । ततः सर्वार्थताया निःशेषतः क्षये सति शान्तोदितौ विनष्टोत्पन्नौ तुल्यप्रत्ययौ एकाकारप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रताकालिकः परिणाम इत्यर्थः । सजातीय एको नश्यति अपर उत्पद्यते इत्येवंरूपेणेत्यर्थः । पूर्वधर्मापाये धर्मान्तरोत्पत्तिरेव परिणाम इति भावः ॥ १२ ॥

मणिप्रभा ।

शान्तेति । शान्तोऽतीतः, उदितो वर्तमानः, तौ, एकविषयत्वेन तुल्यौ च तौ प्रत्ययौ च तुल्यप्रत्ययौ, चित्तस्य नैरन्तर्येण वृत्तिद्वयमेकविषयमेकाग्रताऽऽख्यः परिणाम इत्यर्थः । इयमेकाग्रता द्वादशगुणा धारणा भवति । द्वादशगुणा धारणा, ध्यानम् । द्वादशगुणं ध्यानं, समाधिः । द्वादशगुणः समाधिः, संप्रज्ञाताख्यो योग इति भेदः ॥ १२ ॥

चन्द्रिका ।

शान्तेति । समाहितचित्तस्यैको वृत्तिविशेषः शान्तोऽपरस्तूदितो वर्त्तमानो द्वावपि समाहितचित्तत्वेन तुल्यावेकरूपालम्बनत्वेन सदृशौ, उभयत्रापि समाहितचित्तस्यान्वयित्वेनावस्थानमेकाग्रतापरिणाम इत्युच्यते ॥ १२ ॥

योगसुधाकरः ।

ननु केयमेकाग्रतेत्यपेक्षायामाह—शान्तेति

शान्तोऽतीतः, उदितो वर्तमानः, प्रत्ययाश्चित्तवृत्तिः । अतीतः प्रत्ययो यं पदार्थं गृह्णाति तमेव चोदितोऽपि गृह्णीयाद्, तदा तौ तुल्यौ भवतः । तादृशचित्तपरिणाम एकाग्रतेत्युच्यते । इत्थं निरोधपरिणामः समाधिपरिणाम एकाग्रतापरिणामश्चेत्ययं त्रिविधः परिणामश्चित्तस्य धर्मपरिणाम इत्युच्यते । एवं लक्षणपरिणामोऽपि 'निरोधलक्षणचित्तान्वयः' इत्यनेन सूच्यते । स यथा—निरोधस्य धर्मस्य लक्षणमध्वत्रयम् । तत्रानागताध्वपरित्यागेन वर्तमानाध्वस्वीकारः तत्परित्यागेनातीताध्वस्वीकारः । एवं कालावच्छिन्नस्य तस्यैव निरोधस्यावस्थापरिणामोऽपि 'व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ' इत्यनेन सङ्गीयते । एवं समाध्येकाग्रतापरिणामयोर्लक्षणावस्थापरिणामौ सूत्रद्वयेन प्रेक्षावद्भिरूहनीयौ ॥ १२ ॥

भोजवृत्तिः ।

चित्तपरिणामोक्तं रूपमन्यत्राप्यतिदिशन्नाह—

(१)एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥१३॥

एतेन त्रिविधेनोक्तेन चित्तपरिणामेन भूतेषु स्थूलसूक्ष्मेषु इन्द्रियेषु बुद्धिकर्मलक्षणभेदेन(२)अवस्थितेषु धर्मलक्षणावस्थाभेदेन त्रिविधः परिणामो व्याख्यातोऽवगन्तव्यः । अवस्थितस्य धर्मिणः पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरापत्तिः (३)परिणामः । यथा मृल्लक्षणस्य धर्मिणः पिण्डरूपधर्मपरित्यागेन

---

(१) प्रासङ्गिकं भूतेन्द्रियपरिणामं विभजते एतेनेति ।

(२) बुद्धिकर्मान्तःकरणभेदेनेति पाठान्तरम् ।

(३) पत्तिर्धर्मपरिणाम इति पाठान्तरम् ।

घटरूपधर्मान्तरस्वीकारो धर्मपरिणाम इत्युच्यते । लक्षणपरिणामो यथा—तस्यैव घटस्यानागताध्वपरित्यागेन वर्तमानाध्वस्वीकारः । तत्परित्यागेन चातीताध्वपरिग्रहः । अवस्थापरिणामो यथा–तस्यैव घटस्य प्रथमद्वितीययोः सदृशयोः क्षणयोरन्वयित्वेन(१)।यतश्च गुणवृत्तिर्नापरिणममाना क्षणमप्यास्ति १३

भावागणेशवृत्तिः ।

इदानीं परिणामत्रयसंयमादित्यागामिसूत्रोपोद्घातसंगत्या सर्ववस्तुषु वैराग्याग्निप्रज्वलनाय चित्तवदेवाखिलप्रपञ्चेऽप्यतिदेशेनैव परिणामान्व्याचष्टे--एतेनेति ।

एतेन चित्तस्य परिणामेन भूतेन्द्रियेषु च धर्मलक्षणैरवस्थाभिश्च परिणामा व्याख्याताः । एतदन्यतमैः परिणामैः शून्यं क्षणमपि न किञ्चिज्जडवस्त्ववतिष्ठत इत्यर्थः । परिणामश्चान्यथात्वम् । तत्र धर्मिणो धर्मैः परिणामो यथा मृद्धर्मिणः पिण्डरूपधर्मापाये घटधर्मोत्पत्तिः । धर्माणां च लक्षणपरिणामो यथा पिण्डस्य वर्तमानलक्षणापायेऽतीतलक्षणोत्पत्तिः, घटस्य चानागतलक्षणापाये वर्तमानलक्षणोत्पत्तिः । अनागतवर्तमानातीतावस्थासु च तान्त्रिकी लक्षणपरिभाषा । लक्षणानां चावस्थापरिणामो यथा—वर्तमानलक्षण एव घटः प्रतिक्षणं नवपुराणावस्थाभिरन्यत्वमेति । यद्यपि सर्व एव परिणामः परमार्थतो धर्मिण एव धर्मादीनां तत्त्वतो धर्मिस्वरूपत्वात्तथापि व्यावहारिकावान्तररूपैरीदृशोऽपि विभाग उच्यत इति ॥ १३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

सर्वत्र वैराग्यातिशयाय चित्तवदेव प्रतिक्षणपरिणामित्वं वक्तुमाहेऽतिदिशति—**एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः** । अनागतवर्तमानातीतावस्थासु लक्षणेति तान्त्रिकी संज्ञा । तत्र चित्तस्य व्युत्थाननिरोधाभ्यां धर्माभ्यां परिणामः तद्धर्माभिभवापरधर्मप्रादुर्भावरूपः, धर्मयोश्चानागतं लक्षणं त्यक्त्वा वर्तमानलक्षणः यत्र स्वरूपाभिव्यक्तिः, ततो वर्तमानलक्षणं त्यक्त्वातीतलक्षणः स्वरूपाभिभवरूपः । एकैकावस्थायामपि इतरे द्वे स्त एव सत्कार्यवादाभ्युपगमात् । धर्मत्वं त्रिष्वप्यनुस्यूतमेव । एवं पुनःपुनर्निरोधजातीयः पुनःपुनर्व्युत्थानजातीयः अतीतव्यक्तेः पुनरनुद्भवात् । धर्माणां वर्तमानलक्षणानां बलवत्त्वाबलवत्त्वे अवस्था, तस्याः प्रतिक्षणं तारतम्यं परिणामः । यथा निरोधसंस्कारेषु बलवत्सु दुर्बला व्युत्थानसंस्काराः । क्षणमपि परिणामशून्यं न चित्तं गुणानां स्वभावतः प्रवृत्तिशीलत्वात् । एतयैव रीत्या पदार्थमात्रे परिणामा वेदितव्या इत्यतिदेशः । तत्र धर्मिणो धर्मैः परिणामो यथा—मृदो धर्मिणः पिण्डरूपधर्मापाये घटरूपधर्माभिव्यक्तिः । तेषां लक्षणैः परिणामो यथा—घटस्यानागतलक्षणापाये वर्तमानलक्षणाविर्भावः । एषैवोत्पत्तिः । वर्तमानलक्षणापायेऽतीतलक्षणाविर्भावः एष एव नाशः । लक्षणानां चावस्थाभिः परिणामो यथा—वर्तमानलक्षण एव घटः प्रतिक्षणं नवपुराणपरिणामं वृद्धिह्रासाद्यवस्थाभिरन्यथात्वं याति । एवमिन्द्रियाणामपि तत्तद्रूपाद्यालोचनं धर्मपरिणामः । तेषां च वर्तमानत्वादिः लक्षणपरिणामः । वर्तमानलक्षणस्य रूपाद्यालोचनस्य स्फुटत्वास्फुटत्वादिरवस्थापरिणामः । इदं च धर्मिणो धर्मलक्षणावस्थानां च काल्पनिकं भेदमाश्रित्योक्तम् । परमार्थस्तु सर्व एव परिणामो धर्मिण एव । धर्मलक्षणावस्थानां धर्मिमात्रस्वरूपत्वात् । धर्मादिपरिणामद्वारा च धर्मिपरिणामस्यैव प्रपञ्चनात् । तत्र धर्मिणस्त्रिविधेऽपि परिणामे संस्थानान्यथात्वमेव न द्रव्यान्यथात्वं स्वर्णकटकादिवत् धर्मधर्मिणोरत्यन्तभेदोऽत्यन्ताभेदश्च नेति तात्पर्यम् । स चायं धर्मो न पुरुषवत्कूटस्थोऽर्थक्रियाकारिणो रूपस्य नाशात् । नाप्यत्यन्तं तुच्छः कदाचिदर्थक्रियादर्शनात् । एवं च परिणामित्वेन पुरुषाद्भिद्यते । मृत्पिण्डाद्यवस्थासु चातीतानागतानां घटादीनां सत्त्वमेव, सर्वदा धर्मत्वानपायस्य भाष्योक्तेः । स्वकारणे लयेन सौक्ष्म्यादतीतानागतलक्षणयोरनुपलब्धिः । असत उत्पत्त्यसंभवे सतश्च सर्वथा नाशासंभवेनैष एव मार्गो ज्यायान् । अनुभवादपि धर्मधर्मिणोरभेदो धर्माणां च परस्परं

---

(१) काललक्षणयोरन्वयित्वेनेति पाठान्तरम् ।

व्यावृत्तिः । नह्यत्यन्ताभेदे धर्मधर्मिभाव एव घटव्यक्त्योरिव । नात्यन्तभेदः अश्वपुरुषयोरिव । वर्तमानादिलक्षणानां चाविर्भावतिरोभावरूपाविरुद्धधर्मसंसर्गाद्संकरः परस्परम् । आविर्भावतिरोभावस्तु तत्स्वरूप एव नातिरिक्त इति नानवस्था । अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणाम इति दिक् ॥ १३ ॥

मणिप्रभा ।

मनःपरिणामेषु निरोधसमाध्येकाग्रतासूक्तन्यायमन्यत्रातिदिशति एतेनेति ।

भूतेषु पृथिव्यादिषु धर्मिषु चक्षुरादीन्द्रियेषु च । परिणामस्त्रिविधः धर्मपरिणामो लक्षणपरिणामोऽवस्थापरिणामश्चेति । एतेन मनःपरिणामव्याख्यानेन व्याख्याता भवन्ति । तथा हि मृदःपिण्डरूपधर्माभिभवे सति घटरूपो धर्मः प्रादुर्भवति यथा तथा चित्तस्य व्युत्थानात्यये निरोधोद्भवः सोऽयं धर्मपरिणामः । लक्षयति कार्यरूपं धर्मं व्यावर्तयतीति लक्षणं कालत्रयम् अनागतोऽध्वा वर्तमानोऽध्वाऽतीतोऽध्वेति कालत्रयमेवाध्वत्रयमित्युच्यते । तत्र तद्धर्मस्य घटस्यानागतत्वं प्रथमोऽध्वा, वर्तमानत्वं द्वितीयोऽध्वा,ऽतीतत्वं तृतीयोऽध्वा, सोऽयं लक्षणपरिणामः । अनागतत्वं हि धर्मो वर्तमानातीतधर्माभ्यां व्यावर्तयति । एवं वर्तमानत्वादिकमपि लक्षणं मन्तव्यम् । एवं लक्षणपरिणामस्य तदवच्छिन्नस्य धर्मस्य वाऽवस्थापरिणामो द्रष्टव्यः । स यथा आगामिकल्पभावी अनागततमः, एतत्कल्पभाव्यनागततरः, श्वोभावी अनागतः, सद्यो जातो वर्तमानतम, इत्याद्यूह्यम् । तथा वर्तमानस्य नवत्वपुराणत्वादयोऽवस्थापरिणामाः । एवं "प्रतिक्षणपरिणामिनः सर्वे भावा ऋते चितिशक्तेरि"ति संक्षेपः ॥ १३ ॥

चन्द्रिका ।

एतेनेति । एतेन त्रिविधोक्तचित्तपरिणामेन भूतेषु स्थूलसूक्ष्मेषु इन्द्रियेषु बुद्धिकर्मभेदेन स्थितेषु धर्मलक्षणावस्थाभेदेन त्रिविधः परिणामो व्याख्यातोऽवगन्तव्यः । अवस्थितस्य धर्मिणः पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरापत्तिर्धर्मपरिणामः । भविष्यत्त्वं विहाय वर्त्तमानत्वस्य वर्त्तमानत्वं विहायातीतत्वस्य स्वीकारो लक्षणपरिणामः । कोमलत्वादिकं विहाय कठिनत्वादेः स्वीकारोऽवस्थापरिणामः । यतश्चलगुणवृत्तिर्नापरिणममाना क्षणमप्यस्ति ॥ १३ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थमभिहितं परिणामत्रयं संयमाद्विभूतीर्वक्तुकामः संयमलक्ष्यत्वेनान्यत्रातिदिशति—एतेनेति ।

एतेन त्रिधाभिहितेन चित्तधर्मादिपरिणामेन भूतेषु पृथिव्यादिषु चक्षुरादीन्द्रियेषु च धर्मिषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याता द्रष्टव्याः । तत्र मृद्रूपस्य धर्मिणो घटाकारपरिणामो धर्मपरिणामः । तस्यैव घटस्य धर्मस्यानागताध्वपरित्यागेन वर्तमानाध्वस्वीकारः तत्परित्यागेनातीताध्वपरिग्रहो लक्षणपरिणामः । तस्यैव घटस्य क्षणे क्षणे परिणामोऽवस्थापरिणामः । अतः प्रतिक्षणं परिणामिनो भावा ऋते चितिशक्तेरिति संक्षेपः ॥ १३ ॥

भोजवृत्तिः ।

ननु कोऽयं धर्मीत्याशङ्क्य धर्मिणो लक्षणमाह—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

शान्ता ये कृतस्वस्वव्यापारा अतीतेऽध्वनि अनुप्रविष्टाः, उदिता येऽनागतमध्वानं परित्यज्य वर्तमाने(१) अध्वनि स्वव्यापारं कुर्वन्ति, अव्यपदेश्या ये शक्तिरूपेण स्थिता व्यपदेष्टुं न शक्यन्ते तेषां यथास्वं सर्वात्मकत्वमित्येवमादयो नियतकार्यकारणरूपयोग्यतयाऽवच्छिन्ना शक्तिरेवेह धर्मशब्देनाभिधीयते । तं त्रिविधमपि धर्मं योऽनुपतति अनुवर्तते ऽन्वयित्वेन स्वीकरोति स शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मीत्युच्यते । यथा—सुवर्णं रुचकरूपधर्मपरित्यागेन स्वस्तिकरूपधर्मान्तरपरिग्रहे सुवर्णरूपत-

---

(१) व्यावर्तमाने इति पाठान्तरम् ।

र्याऽनुवर्तमानं तेषु धर्मेषु कथंचिद्भिन्नेषु धर्मिरूपतया सामान्यात्मना धर्मरूपतया विशेषात्मना स्थितमन्वयित्वेन(१) अवभासते ॥ १४ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु धर्मातिरिक्तो धर्मी अप्रामाणिको यस्य धर्मादिः परिणामः स्यादिति बौद्धाशङ्कायां धर्मेभ्यो विवेकतो धर्मिणं साधयति--शान्तेति ।

अतीतवर्तमानानागतधर्मेष्वनुपाती वर्तमानरूपेणानुगतो यः स धर्मीत्यर्थः । वर्तमानत्वावर्तमानत्ववैधर्म्येण धर्मी धर्मेभ्योऽन्य इति भावः । सर्वेऽपि हि धर्मा धर्मिणो वर्तमानावस्थायामेवाव्यक्ता अपि भवन्ति ॥ १४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः

ननु धर्मातिरिक्तो धर्मी न प्रामाणिकः यस्य धर्मादिः परिणामः स्यादिति बौद्धनिरासाय धर्मातिरिक्तं धर्मिणं साधयति --शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी । अतीतवर्तमानानागतेषु धर्मेष्वनुपाती वर्तमानरूपेणानुगतो यः सः धर्मीत्यर्थः । धर्माश्च धर्मिणो द्रव्यस्य मृदादेस्तत्तत्कार्ययोग्यतावच्छिन्ना चूर्णपिण्डघटादिजननशक्तिरेव । तेषां तत्राव्यक्तत्वेन भाव इति यावत् । उदाकाहरणादीनामाकस्मिकत्ववारणाय योग्यतावच्छिन्नेति । तत्त्व तान्यपि स्वाकारणादेव प्राप्नानीति तद्वांश्च धर्मी, कार्यभेददर्शनं च तत्सद्भावे तद्भेदे च प्रमाणम् । वर्तमानश्च पिण्डादिधर्मः शान्तोदितमृच्चूर्णमृद्घटाभ्यां भिन्नः, अन्यथा तयोरपि स्वकार्यकारित्वप्रसङ्गः । अव्यक्तावस्थायां कारणरूपधर्मिमात्ररूपत्वान्न भेदप्रतीतिः । अनागतावस्थायां तु वर्तमानावस्थैव प्रमाणं, असत उत्पादाभावात् । तत्रानागतावस्थाऽनन्तरा वर्तमानावस्था, ततोऽनन्तरातीतावस्थां, ततोऽनन्तरावस्था तु न अनुपलब्धेः । उपादानकारणेषु सर्वकार्याणां सत्त्वेऽपि देशकालाकारनिमित्तकत्वाश्च सर्वदा सर्वमाविर्भवति । देशः केशरस्य काश्मीरमेव । कालः शालीनां वर्षैव । आकारो मनुष्यस्य मानुष्येवेति । अन्यथा जलभूमिरूपोपादानकारणस्य सर्वशक्तिरूपत्वात्सर्वं सर्वदा सर्वस्मिन्सर्वत आविर्भवेत् । एवमपुण्यवान् सुखं न भुङ्क्ते तस्मिन् पुण्यनिमित्ताभावात् । यः सर्वेष्वनुगतः सामान्यविशेषात्मा स धर्मी सामान्यं धर्मिरूपं विशेषा धर्मास्तदुभयात्मकः । यदि च धर्मी न स्यात् अन्यविज्ञानकृतस्यान्यो भोक्ता न स्यात्स्मरणोच्छेदश्च । प्रत्यभिज्ञा च न स्यात्, धर्माणामनवरतपरिणामित्वेन स्थैर्याभावात् । एष काल्पनिको धर्मधर्मिभावः । पारमार्थतस्तु अलिङ्गप्रधानमेव सर्वत्र धर्मीति भाष्ये ध्वनितम् ॥ १४ ॥

मणिप्रभा ।

यस्यायं त्रिविधः परिणामः तं धर्मिणं दर्शयति शान्तेति ।

शान्ताः कृतव्यापारा अतीताः । उदिता जलाहरणादिव्यापाराविष्टा वर्तमानाः । अव्यपदेश्याः शक्तिरूपेण मृदादिषु धर्मिषु स्थिता अनागताः । ते हि सूक्ष्मतया धर्मिणो धर्मान्तराद्वा भेदेन व्यपदेष्टुं न शक्यन्त अत एव सर्वं कार्यं शक्तिरूपेणाव्यपदेश्यं कारणमात्रसम्भावितामिति सर्वं कारणं सर्वकार्यात्मकं भवति । दृश्यते हि दावदग्धवेत्रबीजात्कदलीखण्डोद्भवः । न हि तथासत उद्भवः सम्भवति अभिव्यञ्जकानां देशकालकर्मादीनां वैचित्र्यात्कश्चित्किंचिदेवोद्भवतीति लोके कार्यकारणव्यवस्था । योगसिद्धानां देशादिप्रतिबन्धाभावात्सर्वस्मात्सर्वमुद्भवति , तानेतान् शान्तोदिताव्यपदेश्यान् घटीयन्त्रवदनिशमावर्तमानान्योऽनुपतत्यन्वेति सोऽनुपाती धर्मी । यथा मृत्सुवर्णादिश्चूर्णपिण्डघटरुचकाद्यन्वयी धर्मीत्युच्यते ॥ १४ ॥

चन्द्रिका ।

धर्मिलक्षणमाह शान्तेति ।

शान्ताः कृतस्वस्वव्यापाराः उदिताः स्वं स्वं व्यापारं कुर्वन्ति अव्यपदेश्याः शक्तिस्वरूपेण स्थिता-

(१) अनुपातित्वेन, अनुयायित्वेनेति च पाठान्तरम् ।

स्तेषां शाक्तिर्धर्मस्तत्त्रिविधं धर्मं योऽनुवर्त्तते स्वीकरोति स धर्मीत्युच्यते । यथा सुवर्णमनेकभूषणाकारं भवति ॥ १४ ॥

योगसुधाकरः ।

धर्मस्यायं त्रिविधः परिणामः; तद्धर्मिणं दर्शयति—शान्तेति ।

शान्ताः कृतव्यापारा अतीताः, उदिता जलाहरणादिव्यापाराविष्टा वर्तमानाः, अव्यपदेश्याः शक्तिरूपेण मृदादिषु धर्मिषु स्थिता अनागताः । तानेतान्घटीयन्त्रवदनिशमावर्तमानान्योऽनुपतत्यन्वेति, सोऽयमनुपाती धर्मी, यथा चूर्णपिण्डाद्यन्वितमृदादिरित्यर्थः ॥ १४ ॥

भोजवृत्तिः ।

एकस्य धर्मिणः कथमनेके परिणामा इत्याशङ्कामपनेतुमाह—

(१)क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

धर्माणामुक्तलक्षणानां यः क्रमस्तस्य यत्प्रतिक्षणमन्यत्वं परिदृश्यमानं (तत्) परिणामस्योक्तलक्षणस्यान्यत्वे नानाविधत्वे हेतुर्लिङ्गं ज्ञापकं भवति । अयमर्थः—योऽयं नियतः क्रमो मृच्चूर्णान्मृत्पिण्डस्ततः कपालानि तेभ्यश्च घट इत्येवरूपः परिदृश्यमानः परिणामस्यान्यत्वमावदयति, तस्मिन्नेव धर्मिणि यो लक्षणपरिणामस्यावस्थापरिणामस्य वा क्रमः सोऽपि अनेनैव न्यायेन परिणामान्यत्वे गमकोऽवगन्तव्यः । सर्व एव भावा नियतेनैव क्रमेण प्रतिक्षणं परिणममानाः(२) परिदृश्यन्ते । अतः सिद्धं क्रमान्यत्वात्परिणामान्यत्वम् । सर्वेषां चित्तादीनां परिणममानानां केचिद्धर्माः प्रत्यक्षेणैवोपलभ्यन्ते । यथा सुखादयः संस्थानादयश्च । केचिच्चैकान्तेनानुमानगम्याः । यथा धर्मसंस्कार(३) शक्तिप्रभृतयः । धर्मिणश्च भिन्नाभिन्नरूपतया सर्वत्रानुगमः ॥ १५ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

नन्वस्तु धर्मेभ्योऽन्यो धर्मी तथाप्येकस्य धर्मिण एक एव परिणामोऽस्तु एकस्यानेकपरिणामाङ्गीकारे सहकारिकल्पनागौरवेण कुर्वद्रूपतयैव वस्तुसिद्धेरिति बौद्धसंमताशङ्कान्तरमपाकरोत्येकस्य धर्मिणो वक्ष्यमाणपरिणामत्रयोपपत्तये—क्रमेति ।

एकस्य वस्तुनः परिणामनानात्वे क्रमभेदो हेतुर्लिङ्गमित्यर्थः । क्रमभेदश्च यथा—मृद्धर्मी प्रथमं चूर्णभावं हित्वा पिण्डभावं प्राप्त इत्येकः क्रम । ततश्च पिण्डभावं हित्वा कपालभावं प्राप्त इत्यपरः क्रमः । इत्येवमादयो मृदः परिणामक्रमभेदाः, सर्वत्र च मृन्मृदित्यनुगतप्रत्ययान्घट एकत्वामिति ॥ १५॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

नन्वस्तु धर्मेभ्योऽन्यो धर्मी तथाप्येकस्य धर्मिण एक एव परिणामोऽस्तु एकस्यानेकपरिणामाङ्गीकारे सहकारिकल्पनागौरवादित्यत आह—क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः । एकस्य वस्तुनः परिणामनानात्वे क्रमभेदो हेतुर्लिङ्गमित्यर्थः" क्रमभेदश्च यथा मृद्धर्मी प्रथमं चूर्णभावं हित्वा घटभावं प्राप्त इत्येकः क्रमः" ततः पिण्डभावं हित्वा घटभावं प्राप्त इत्यपरः ततस्तं हित्वा कपालभावं प्राप्तः, ततस्तं हित्वा कणभावं प्राप्त इति मृदः परिणामक्रमभेदाः । एकत्र परस्यान्यत्र पूर्वत्वात् । सर्वत्र च मृदित्यनुग-

---

(१) धर्मिण एकत्वादेक एव परिणामो भवितुमर्हति न ह्येकरूपात् कारणात् कार्यभेदो भवति तस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गादित्येवं प्राप्ते उच्यते क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुरिति । अयमाशयः । एकस्या मृदः चूर्णपिण्डकपालकलसाद्याकारा क्रमवती परिणतिपरम्परा लौकिकपरीक्षकैः प्रत्यक्षेण गृह्यते अन्यच्चूर्णपिण्डयोरानन्तर्यमन्यच्च घटकपालयोः सोऽयं क्रमभेदः एकस्मिन् परिणामेऽनवकल्पमानः परिणामभेदमापादयति । नाप्याकास्मिकत्वं मृद्धर्मिणः एकत्वेऽपि सहकारिसमवधानक्रमात परिणामपरम्पराया क्रमवत्त्वादिति ।

(२) परिणम्यमाना इति पाठान्तरम् । (३) सर्वसंस्कारेति पाठान्तरम् ।

तप्रत्ययाम्मृद एकत्वं सहकारिभेदाच्च तेषां नाकस्मिकत्वमिति भावः। एवमनागतवर्तमानातीतत्वलक्षणानामपि क्रमोऽनुभूयेत। एवमवस्थापरिणामक्रमोऽनुभूयते बाल्ययौवनवार्धकानाम्। एवं चित्तस्य द्वये धर्माः प्रत्यक्षा अनुमानशब्दगम्याश्च। तत्र प्राणादयः एव्च प्रत्यक्षाः। अप्रत्यक्षास्तु सप्त यथा निरोधसंस्काराः कालवृद्ध्यानुमेयाः आगमज्ञेयाश्च। पुण्यापुण्ये आगमज्ञेये सुखदुःखाभ्यामनुमानेन। संस्काराः स्मृत्यानुमीयन्ते। एवं त्रिगुणत्वाच्चित्तस्य गुणानां चलवृत्तित्वाच्च प्रतिक्षणं परिणामोऽनुमीयते। जीवनं प्राणधारणं प्रयत्नभेदः श्वासप्रश्वासाभ्यामनुमीयते। तत्तदिन्द्रियैः संयोगात्तस्य चेष्टानुमीयते। चेष्टा च तत्र वृत्तिद्वारिका। शक्तिः कार्याणां सूक्ष्मावस्था स्थूलकार्यानुभवादनुमीयते इति दिक्॥ १९॥

मणिप्रभा।

नन्वेकस्य धर्मिणः परिणामबहुत्वे को हेतुरित्यत आह क्रमेति।

मृदि चूर्णपिण्डयोः पिण्डघटयोर्घटकपालयोः पौर्वापर्यरूपक्रमस्यान्यत्वं दृश्यमानमेकस्या एव मृदः परिणामानां चूर्णादीनां धर्माणामन्यत्वे हेतुर्ज्ञापकः। एवमनागतवर्तमानातीताध्वनां क्रमाल्लक्षणपरिणामान्यत्वे धर्माणां ज्ञेयम्। तथा क्षणपरम्परया घटव्रीह्यादीनां दुर्लक्ष्यसूक्ष्मपरिणामक्रमेण नवत्वपुराणत्वाद्यवस्थापरिणामान्यत्वे बोध्यम्। दृश्यते हि कुसूलरक्षितव्रीहीणां कालेन पाणिस्पर्शमात्रेण चूर्णावस्था। न हीयं क्षणिकपरिणामक्रमं विना नवानां वा दृष्टा। नाध्यक्षस्याद्भवति। तस्माद्धर्मिणः परिणामिनित्यस्य धर्मा भिन्नाः, धर्माणां लक्षणानि, तेषामवस्था, इति स्थितम्। धर्म्यनन्यत्वात्र क्षणिकत्ववाद इत्यनवद्यम्। तत्र के चित्परिणामाश्चित्तस्य प्रत्यक्षाः कामसुखादयः। केचित्त्वागमानुमानगम्याः सप्त। तदुक्तं भाष्ये—

> निरोधकर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम्।
> चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः॥

इति। परोक्षा इत्यर्थः। कर्म पुण्यापुण्यापूर्वम्। त्रिगुणत्वाच्चित्तस्य प्रतिक्षणपरिणामोऽनुमेयः। जीवनं श्वासादिलिङ्गगम्यं प्राणधारणम्। चेष्टा क्रिया चित्तस्था गात्रचेष्टागम्या। कार्याणां सूक्ष्मावस्था शक्तिः॥ १९॥

चन्द्रिका।

क्रमेति। धर्माणामुक्तानां यः क्रमस्तस्य यत्प्रतिक्षणमन्यत्वं परिणामस्यान्यत्वे नानाविधत्वे हेतुर्ज्ञापकं भवति यथा मृदो घटादिः॥ १९॥

योगसुधाकरः।

नन्वेकस्य धर्मिणः परिणामबहुत्वे को हेतुरित्यत आह -क्रमेति।

मृदि चूर्णपिण्डयोः पिण्डघटयोर्घटकपालयोः पौर्वापर्यरूपक्रमस्यान्यत्वं दृश्यमानमेकस्या एव मृदः परिणामानां चूर्णादीनां धर्माणामन्यत्वे हेतुर्ज्ञापकः। एवमनागतवर्तमानातीताध्वनां क्रमाल्लक्षणपरिणामान्यत्वं धर्माणां ज्ञेयम्। तथा क्षणपरम्परया घटादीनां दुर्लक्ष्यसूक्ष्मपरिणामक्रमेणावस्थापरिणामान्यत्वं बोध्यम्॥ १९॥

भोजवृत्तिः।

इदानीमुक्तस्य संयमस्य विषयप्रदर्शनद्वारेण सिद्धीः प्रतिपादयितुमाह—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्॥ १६॥

धर्मलक्षणावस्थाभेदेन यत्परिणामत्रयमुक्तं तत्र संयमात्तस्मिन्विषये पूर्वोक्तसंयमस्य करणादतीतानागतज्ञानं योगिनः समाधेराविर्भवति। इदमत्र तात्पर्यम्—अस्मिन्धर्मिणि अयं धर्म इदं लक्षणमियमवस्था चानागतादध्वनः समेत्य वर्तमानेऽध्वनि स्वं व्यापारं विधायातीतमध्वानं प्रविशतीत्येवं परिहृतविषयतया यदा संयमं करोति तदा यत्किंचिदनुत्पन्नमतिक्रान्तं वा तत्सर्वं योगी जानाति। यतश्चित्तस्य शुद्ध-

सत्त्वप्रकाशरूपत्वात्सर्वार्थग्रहणसामर्थ्यमविद्यादिभिर्विक्षेपैरपाक्रियते(१) । यदा तु तैस्तैरुपायैर्विक्षेपाः परिक्षियन्ते तदा निवृत्तमलस्येवाऽऽदर्शस्य सर्वार्थग्रहणसामर्थ्यमेकाग्रताबलादाविर्भवति ॥ १६ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

इतः परं पादसमाप्तिपर्यन्तं संयमसिद्धिरूपा विभूतय उच्यन्ते परिणामेति ।

अस्य धर्मिणोऽयं धर्मपरिणामस्तस्य चायं लक्षणपरिणामो लक्षणस्य चायं नवपुराणाद्यवस्थापरिणाम इत्येवमनुक्षणं यत्र कुत्रचिदर्थे संयमात्साक्षात्कारे सति तदितरार्थानामपि धर्मादिपरिणामेष्वतीतानागतज्ञानं संकल्पमात्रेण प्रणिधानलेशादेव भवतीत्यर्थः । यद्यपि संयमस्य साक्षात्कारपर्यन्तताऽत्र नोक्ता तथापि संस्कारसाक्षात्करणादित्यागामिसूत्रान्तरेष्वपि सा लभ्यते । अन्यविषयकसंयमादप्यन्यविषयकसाक्षात्कारश्च शास्त्रप्रामाण्यादवसेयः, यागात्स्वर्ग इवेति । संयमेन स्वविषयकसाक्षात्कारस्तु नात्र संयमसिद्धिषु मध्ये पठ्यते, क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेरित्यादिप्रथमपादे संप्रज्ञातफलत्वेनैव तस्योक्तत्वात् ॥१६॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अस्य संयमस्य विषयान् तद्वशीकारसूचिका विभूतीश्चाह—परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् । उक्तस्य धर्मलक्षणावस्थापरिणामत्रयस्य कुत्रचिदर्थे संयमात् ध्यानधारणासमाधिभिः साक्षात्कारात्तदितरार्थानामपि धर्मादिपरिणामेष्वपि अतीतानागतज्ञानं संकल्पमात्रेण प्रणिधानलेशादेव भवतीत्यर्थः । यद्यप्यत्र संयमस्य साक्षात्कारपर्यन्तता नोक्ता तथापि संस्कारसाक्षात्करणादित्यागामिसूत्रात्सूत्रान्तरेष्वपि सा लभ्यते । अन्यविषयकसंयमादन्यविषयकसाक्षात्कारश्च शास्त्रप्रामाण्यात्, यागात्स्वर्ग इव । संयमेन स्वविषयविषयकसाक्षात्कारस्तु न तत्सिद्ध्यन्तःपाती क्षीणवृत्तेरभिजातस्येवेत्यादिना प्रथमपादे संप्रज्ञातफलत्वेनैवोक्तत्वात् ॥ १६ ॥

मणिप्रभा ।

एवं संयमधर्मस्य विषया धर्मादयो निरूपिताः । संप्रत्यापादसमाप्तेः संयमस्य तत्तद्विषये वशीकारज्ञानाय विभूतय उच्यन्ते—परिणामेति ।

चित्तसत्त्वं हि स्वतः सर्वप्रकाशस्वभावं रजस्तमोमलप्रतिबन्धस्य संयमेन निवृत्तौ सत्यां प्रमाणमनपेक्ष्य सर्वं जानातीति स्थितिः । तत्रास्मिन् धर्मिण्येते धर्मा अनागतादय एतेऽध्वान एता अवस्था इति धर्मलक्षणावस्थारूपपरिणामत्रयसंयमाद्योगिनोऽतीतानागतवस्तुसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

चन्द्रिका ।

इदानीं संयमस्य सिद्धीः प्रतिपादयति परिणामेति । धर्मलक्षणावस्थाभेदेन यत् परिणामत्रयमुक्तं तत्र संयमात्तस्मिन् विषये पूर्वोक्तसंयमकरणादतीतानागतज्ञानं, योगिनश्चेतसः शुद्धसत्त्वप्रकाशत्वाद्भूतादि सर्वं जानन्ति ॥ १६ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थं संयमलक्ष्यमभिधाय अधुना आ पादसमाप्तेः संयमस्य तत्तद्विषये वशीकारज्ञापनाय विभूतीरभिधातुमाह—परिणामेति ।

धर्मिण्येते धर्माः, तेष्वनागतादय एतेऽध्वानः, एता अवस्थाः, इति धर्मलक्षणावस्थारूपपरिणामत्रये संयमाद्योगिनोऽतीतानागतवस्तुसाक्षात्कारो भवति । चित्तसत्त्वं हि निसर्गतः सर्वार्थप्रद्योतनस्वभावं, रजस्तमोमलप्रतिबन्धस्य संयमेन प्रक्षये सति प्रमाणमनपेक्ष्य सर्वं जानातीति भावः ॥ १६ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

---

(१) रजसं परिक्षियते इति पाठान्तरम् ।

शब्दः श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यो नियतक्रमवर्णात्मा नियतैकार्थप्रतिपत्त्यवच्छिन्नः । यदि वा क्रमरहितः स्फोटात्मा ध्वनिसंस्कृत(१)बुद्धिग्राह्यः । उभयथाऽपि पदरूपो वाक्यरूपश्च तयोरेकार्थप्रतिपत्तौ सामर्थ्यात् । अर्थो जातिगुणक्रियादिः । प्रत्ययो ज्ञानं विषयाकारा बुद्धिवृत्तिः । एषां शब्दार्थज्ञानानां व्यवहार इतरेतराध्यासाद्भिन्नानामपि बुद्ध्येकरूपतासंपादनात्संकीर्णत्वम् । तथा हि—गामानयेत्युक्ते कश्चिद्गोलक्षणमर्थं गोत्वजात्यवच्छिन्नं सास्नादिमात्पिण्डरूपं शब्दं च तद्वाचकं ज्ञानं च तद्ग्राहकमभेदेनैवाध्यवस्यति, न त्वस्य गोशब्दो वाचकोऽयं गोशब्दस्य वाच्यस्तयोरिदं ग्राहकं ज्ञानमिति भेदेन व्यवहरति । तथा हि—कोऽयमर्थः कोऽयं शब्दः किमिदं ज्ञानमिति पृष्टः सर्वत्रैकरूपमेवोत्तरं ददाति गौरिति । स यद्येकरूपतां न प्रतिपद्यते कथमेकरूपमुत्तरं प्रयच्छति । एतस्मिन्स्थिते(२) योऽयं प्रविभागं इदं शब्दस्य तत्त्वं यद्वाचकत्वं नाम, इदमर्थस्य यद्वाच्यत्वमिदं ज्ञानस्य यत्प्रकाशकत्वमिति प्रविभागं विधाय तस्मिन्प्रविभागे यः संयमं करोति तस्य सर्वेषां भूतानां मृगपशुपक्षिसरीसृपादीनां यद्रुतं यः शब्दस्तत्र ज्ञानमुत्पद्यतेऽनेनैवाभिप्रायेणैतेन प्राणिनाऽयं शब्दः समुच्चारित इति सर्वं जानाति ॥ १७ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

संयमान्तरस्य सिद्ध्यन्तरमाह—शब्दार्थेति ।

गौरित्यादिः शब्दो गौरित्यादिरर्थो गौरित्यादिः प्रत्ययः । तेषामन्योन्यमेकाकारत्वाध्यासात्संकरो विवेकाग्रहणं भवति । वस्तुतस्तु वैधर्म्यात्तेषां भेदोऽस्ति । अतस्तेषां प्रविभागे भेदे संयमात्साक्षात्कृते सति सर्वभूतानां रुतानि शब्दाः स्वरूपतोऽर्थतश्च ज्ञायन्ते । अयं ककादिः शब्देनेममर्थं कथयतीत्येवमित्यर्थः । अस्मदादीनां च शब्दादिविषयभेदसाक्षात्कारे सत्यपि तस्य साक्षात्कारस्य संयमजन्यत्वाभावान्न सर्वभूतरुतज्ञानं भवति ॥ १७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

संयमान्तरविषयसिद्धीराह—शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् । ननु शब्दः श्रोत्रग्राह्यः आकाशनिष्ठोऽर्थस्तु घटादिश्चक्षुर्ग्राह्यो भूस्थ ज्ञानं चान्तःकरणवृत्तिरूपं तन्निष्ठमिति भेदस्यात्यन्तिकत्वात् कथमितरेतराध्यास इति चेन्न । त्रयाणामप्यन्तःकरणपरिणामरूपत्वेन तत्संभवात् । तथाहि—कन्ठाद्यष्टस्थानकवागिन्द्रियाभिहतोदानवायोः परिणामविशेषध्वनिरूपवर्णा हि श्रोत्रविषयाः तेषां न वाचकत्वम् । ते किं प्रत्येकं वाचका उत मिलिताः ? नाद्यः, एकस्मादर्थप्रतीत्यनुत्पत्तेः, उत्पत्तौ द्वितीयादिवर्णानां वैयर्थ्यप्रसङ्गः । नान्त्यः, यौगपद्यासंभवात् । न च पूर्वपूर्ववर्णानुभवाहितसंस्कारसाचिव्येन पूर्वपूर्वस्मरणाविशिष्टोत्तरोत्तरप्रत्यक्षात्मकानुपूर्वीविशिष्टपदज्ञानम् । आनुपूर्व्याः क्षणघटितत्वेनातीन्द्रियघटिततया ज्ञानाविषयत्वात् । तस्मात्प्रत्येकवर्णरूपनादान् गृहीत्वा पश्चाज्जायमानैकत्वविषयबुद्धिनिर्ग्राह्यं बौद्धं गौरित्येतदेकं पदं वाचकं वाच्यम् । तदुक्तं भाष्ये—'नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यम्' इति । यद्वा नादानामनुसंहारो ग्रहणं तज्जन्यबुद्धिनिर्ग्राह्यमित्यर्थः । ननु तथापि गकारौकारविसर्जनीया गोत्ववाचका इति व्यवहारानुपपत्तिरिति चेन्न । जपाकुसुमादिसंनिधानेन स्फटिकस्य रक्तत्वादिवत् अभिव्यञ्जकध्वनिरूपितस्यैव प्रतीतेः । आन्तरोऽन्तःकरणपरिणामो व्यापकः स्फोट एक एव तत्तत्स्थानादौ वाय्वभिघातेन वैखरीरूपो वर्णो ध्वनिरूप इति एकैकोऽपि स पदस्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रचितश्च । नचैवं ततोऽपि बोधनसङ्गः, सहकारिवर्णान्तराभावात् । सहकारिवर्णान्तरसम्बन्धेन च गोगणगौरनगर इत्येवं नानात्वमिवापन्नो भवति स स्फोटः । तत्र च पूर्वो वर्णो गकार उत्तरेणौकारेण गणादिभ्यो व्यावर्त्य उत्तरश्चौकारः (पूर्वगकारेण) शोचिरादिभ्यो व्यावर्त्य विशेषे गोत्ववाचके-मेपदस्फोटेऽवस्थापितोऽनुसंहारबुद्ध्या तदाकारत्वेन गृहीतः स्फोट इति हेतोर्बहवो वर्णाः क्रमानुरोधिनोऽर्थसङ्केतेनावच्छिन्ना इयन्त एते सर्वाभिधानशक्तिमन्तः गकारौकारविसर्जनीया

(१) ध्वनिसंस्कृतेति पाठान्तरम् । (२) एतस्मिन्स्थिते इति पाठान्तरम् ।

अर्थबोधका इति लौकिकानां भ्रमात् । प्रत्येकं गकारादिषु तत्तादात्म्येन वाचकत्वभ्रमात् । तत्त्वतस्तु गौरित्याद्येकं पदमिति एकबुद्धिविषयत्वादेकं पदम् औपाधिकभागवत्त्वेऽपि परमार्थतोऽभागमत एव भागक्रमरहितमत एव वर्णविलक्षणं विलक्षणप्रयत्नजन्यतत्तद्ध्वनिसमूहव्यङ्ग्यं बुद्धितत्त्वाश्रयं पूर्वपूर्ववर्णज्ञानजन्यसंस्कारसहकृतान्त्यवर्णज्ञानजन्यसंस्कारसंस्कृतचित्तग्राह्यं वाचकम् । नन्वेवमीदृशं चेत् तादृशं कुतो नोपलभ्यते कदाचित् स्फटिकस्य स्वच्छस्योपलम्भवदिति चेन्न । परप्रतिपिपादयिषयोच्चार्यमाणवर्णैरुच्चारयितृभिः श्रूयमाणैश्च श्रोतृभिः क्रियमाणो योऽयमनादिव्यवहारस्तत्तद्वर्णनिबन्धनस्तज्जन्ययाऽनादिवासितलोकबुद्ध्या वर्णरूषितपदावगाहिन्यैव सफलवृद्धसम्वादेन तस्य समन्वययात् । उपाधिं विना तस्य कथमपि अनभिव्यक्तेर्न तस्य वर्णानालिङ्गितः प्रत्यय इति तत्त्वम् । तादृशे एव प्रतीते सङ्केतग्रहात्; एतावता वर्णानामेवंजातीयक्रमवान् एकबुद्धिविषयोऽस्यार्थस्य वाचक इति सङ्केतग्रहभ्रमो लौकिकानाम् । तैर्गकारादीनामपि तद्भागतया तत्तादात्म्येन तेष्वपि वाचकत्वारोपात् । इदमेवाभिप्रेत्य एषामर्थसङ्केतेनावच्छिन्नानामङ्गीकृतक्रमाणां बुद्धिनिर्ग्राह्यमेकं पदं वाचकमिति भाष्ये उक्तम् । वस्तुतः सङ्केतग्रहस्तथाप्रतीतेः आन्तर एव स्फोटे । ननु यदि अस्यार्थस्यायं वाचक इति सङ्केतस्तदा परस्पराध्यासः कथमिति चेन्न । पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपो योऽयं शब्दः सोऽयमर्थो योऽयमर्थः स शब्द इत्येव सङ्केतग्रहात् । एवमाकारसङ्केते कदाचिद्भेदमारोप्य राहोः शिर इतिवत्षष्ठीप्रयोगात् । एतेन तेषां गृहीतसङ्केतानां तद्व्यञ्जकत्वमगृहीतसङ्केतानां वेत्यादिविकल्पनमपास्तम् । अगृहीतसङ्केतैरपि तस्य व्यञ्जनात् । व्यक्तादपि बोधो न सङ्केतग्रहाभावादित्यन्यत् । अतएवागृहीतार्थकेऽपि इदं पदमित्यनुभवो जाग्रत एव । अर्थस्त्वान्तरो निरूपित एव । अत एवैते शब्दार्थप्रत्यया इतरेतराध्यासात्सङ्कीर्णाः गौरितिप्रत्ययो गौरित्यर्थो गौरितिशब्द इति य एषां प्रविभागज्ञः स सर्वभूतरुतज्ञः । एतेनास्माकं शब्दार्थज्ञानभेदसाक्षात्कारेऽपि तस्य संयमजन्यत्वाभावान्न सर्वभूतरुतज्ञानमित्यपास्तम्, सूत्रभाष्यविरोधात् । वस्तुतस्तु कल्पितपदविभागमेकमखण्डवाक्यमेव वाचकम् । यथा वाऽवयवत्वकल्पनाकल्पिततादात्म्येन वर्णानां पदार्थवाचकत्वमेवं पदानामप्यस्ति वाक्यार्थवाचकत्वम् । अतएव वृक्ष इत्युक्तेऽस्तीति गम्यते । लोको हि पदार्थमस्त्यर्थेन मेलयित्वा वाक्यार्थं करोतीति । तेन पदार्थमात्रस्याव्यभिचारात् । लोकत एव हि पदानामर्थावधारणम् । यथा पचतीत्युक्ते तदन्वययोग्यसर्वकारकाक्षेपः । चैत्रोऽग्निना स्थाल्यां तण्डुलानिति प्रयोगस्तु नियमार्थः । न च पदस्य वाक्यार्थशक्तिमत्त्वे तन्मात्रात्तदर्थावसायः स्यादिति वाच्यम् । वाक्यादेव प्रतीतेः लौकिकानां वर्णोऽयमिति भ्रमः । इमानि पदानि अस्य वाक्यार्थस्य बोधकानीत्युक्तप्रायत्वात् । नन्वेवं पदैकदेशप्रत्ययप्रकृत्यादीनां तत्तदर्थे व्याकरणं कृतं विरुध्येतेति चेन्न । वाक्यात्पदान्यपोद्धृत्य वाक्यार्थाच्च तत्तदर्थमपोद्धृत्य तत्तदंशे च तत्तदर्थवत्त्वं प्रकल्प्यान्वाख्यानलाघवाय प्रकृतिप्रत्ययादिविभागकल्पनया व्याकरणारम्भात् । अन्वाख्यानाभावे घटो भवति तिष्ठति । अश्वस्त्वं अश्वो याति, अजापयः विबाजःपयः शत्रूनिति नामाख्यातसारूप्यान्नामत्वेन वा ज्ञातं क्रियार्थकं कारकार्थकं नेति कथं वा ज्ञायेत कथं वान्यान्प्रति तत्तदर्थकत्वेन व्याक्रियेत चेति दिक् । एवमनादिसङ्केतापादितः सङ्करोऽध्यासजन्यः । एवं च सङ्केतोपाधिकः सङ्करः वास्तववस्तु विभाग एव । यथा श्वेत इति पूर्वापरीभूतावयवसाध्यरूपक्रियार्थः शब्दः श्वेतः प्रासाद इति कारकार्थः शब्दः । अभिहितत्वाच्च कारकविभक्तेरभावः क्रियाकारकात्मा च तदर्थः । तदर्थविषयश्च प्रत्यय इत्यस्ति विभागो निरुपाधिकः तत्प्रविभागसंयमाद्योगी सर्वभूतानां पशुपक्षिमृगादीनां यानि रुतानि तत्रापीदं पदं अयमर्थोऽयं प्रत्यय इति ज्ञानवान् भवति । तदिह मनुष्यवचनवाच्यप्रत्ययेषु कृतः संयमस्तत्समानजातीयेषु तेष्वपि कृत इति तेषां शब्दभेदमर्थभेदं प्रत्ययं च योगी जानातीति सिद्धमिति दिक् ॥ १७ ॥

मणिप्रभा ।

शब्दार्थेति । वर्णातिरिक्तो वर्णैर्व्यङ्ग्यो नित्यो निर्भागः शब्दः स्फोटः । स द्विविधः । गौरित्येकं पदमिति श्रोत्रग्राह्यः पदस्फोटः, गामानयेत्येकं वाक्यमिति ग्राह्यो वाक्यस्फोटः । न च क्षणिकानेकव

र्नेष्वेकत्वप्रत्यक्षबुद्धिः, तथा हि—गौरिति त्रयो वर्णा गणगौरिपयःपदेषु श्रियमाणैर्गकारौकारविसर्जनीयैर्विजातीयस्फोटव्यञ्जकैः सदृशा भवन्ति तुल्यस्थानत्वात् । तदुक्तम्—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च ॥

इति । एवं स्पर्शानां स्पृष्टप्रयत्नः, स्वराणामूष्मणां च विवृतमित्यादि प्रयत्नसादृश्यं द्रष्टव्यम् । तथा च प्रयत्नविशेषतुल्यस्योदानवायोरष्टस्थानैः संयोगे सत्यष्टस्थानस्थेन वागिन्द्रियेणोत्पद्यमाना गकारादयो वर्णा ध्वन्यभेदेन श्रोत्रप्रत्यक्षानुभववेद्याः प्रत्येकं गोपदस्फोटं व्यञ्जयन्तो गणादिस्फोटैः सदृशमव्यक्तं व्यञ्जयन्ति स्वनिष्ठसादृश्याना स्वव्यङ्ग्ये समारोपात् । पुनर्गकारादयस्त्रयः क्रमवन्तः स्वानुभवजानितसंस्कारसहितश्रोत्रलब्धजन्मन्येकस्यां बुद्धौ भासमानत्वेन मिलिताः स्वस्फोटान्तराद्व्यावृत्तं व्यक्त्यन्तरं गोपदस्फोटं निर्भागमपि स्वतादात्म्येनारोपितसादृश्यात्मकभागवन्तमक्रमं नित्यमपि सक्रममनित्यमिव व्यञ्जयन्ति । मलिनवक्रादर्शौ निर्मलमृजु मुखं स्वसादृश्यमारोप्य मलिनं वक्रमिव यथा व्यञ्जयति तद्वत् । एवं वर्णैरभिव्यक्तः स्फोटोऽर्थबोधकः । न च वर्णैरर्थस्यैव प्रत्येकमव्यक्ता मेलनेन व्यक्ततराऽभिव्यक्तिरस्तु किं स्फोटेनेति वाच्यम् । व्यक्ताव्यक्तत्वस्य प्रत्यक्षज्ञानधर्मस्य परोक्षार्थज्ञानस्थत्वायोगात् । एकं पदमेकं वाक्यमिति स्फोटज्ञानं श्रोत्रजप्रत्यक्षमिति तस्यैव व्यक्ताव्यक्ततेत्यलं विस्तरेण । अस्य शब्दस्य शब्दप्रत्ययाभ्याममेदेन विकल्पिते सङ्कीर्णेऽर्थे सङ्केतग्रहो लोकस्येति पूर्वं प्रतिपादितम् । तथा गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति प्रत्यय इत्याबालपण्डितं शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराभेदाध्यासात्सङ्करः प्रसिद्धः । तेषां शास्त्रयुक्तिभ्यां यः प्रविभागः प्रसिद्धः, वर्णव्यङ्ग्यं वाक्यं शक्त्यादिवृत्त्या बोधकमिति शब्दतत्त्वम्, अर्थो द्रव्यगुणकर्मजात्यादिभिर्वाच्यो लक्ष्यश्चेत्यर्थतत्त्वं, शब्दजन्योऽर्थविषयो बुद्धिस्थप्रत्यय इति ज्ञानतत्त्वमिति गोशब्दवत् सर्वत्र विभागो ज्ञेयः । तस्मिन्विभागे संयमात्सर्वशब्दादिवशीकारसूचकं सर्वभूतानां पशुपक्ष्यादीनां रुतज्ञानं भवति । इममर्थमेते वदन्तीति संयमी जानातीत्यर्थः ॥ १७ ॥

चन्द्रिका ।

शब्दार्थेति । शब्दो वर्णध्वनिरूपः अर्थो जातिगुणक्रियादिः प्रत्ययो ज्ञानमेषामितरेतराध्यासाद् बुद्ध्येकरूपतासम्पादनात् संङ्कीर्णत्वं(१) तेषां प्रविभागं विधाय तस्मिन् प्रविभागे यः संयमं करोति तस्य सर्वेषां मृगपश्वादीनां यद्रुतं शब्दस्तस्य ज्ञानमुत्पद्यते ॥ १७ ॥

योगसुधाकरः ।

शब्देति । गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति प्रत्यय इत्याबालपण्डितं शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराभेदाध्यासात्संकरः प्रसिद्धः । तेषां वर्णव्यङ्ग्यं पदं पदव्यङ्ग्यं वाक्यं शक्त्यादिवृत्त्या बोधकमिति शब्दतत्त्वम्; अर्थो द्रव्यादिर्वाच्यो लक्ष्यश्चेत्यर्थतत्त्वम्; शब्दजन्योऽर्थविषयः प्रत्यय इति ज्ञानतत्त्वम्; इति यः प्रविभागः शास्त्रयुक्तिभ्यां सिद्धस्तस्मिन्संयमात्सर्वशब्दादिवशीकारसूचकं सर्वभूतानां पक्ष्यादीनां रुतज्ञानं भवति, इममर्थमेते संगिरन्त इति संयमी जानातीत्यर्थः ॥ १७ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

द्विविधाश्चित्तस्य वासनारूपाः संस्काराः । केचित्स्मृतिमात्रोत्पादनफलाः, केचिज्जात्यायुर्भोगलक्ष-

---

(१) तथाहि कैश्चित् गामानयेत्युक्ते कश्चित् गोरूपमर्थं पिण्डरूपं शब्दं च तद्वाचकं तद्ग्राहकं ज्ञानं चाभेदेनैवाध्यवस्यति न तु अयं गोशब्दो वाचकः अयं च तद्वाच्य इदं च ग्राहकं ज्ञानमिति भेदेनाध्यवस्यतीति ।

जविपाकहेतवः, यथा—धर्माधर्माख्याः । तेषु संस्कारेषु यदा संयमं करोति एवं मया सोऽर्थोऽनुभूत एवं मया सा क्रिया निष्पादितेति पूर्ववृत्तमनुसंदधानो भावयन्नेव(१) प्रबोधकमन्तरेणोद्बुद्धसंस्कारः सर्वमतीतं स्मरति । क्रमेण साक्षात्कृतेषूद्बुद्धेषु संस्कारेषु पूर्वजन्मानुभूतानपि जात्यादीन्प्रत्यक्षेण पश्यति ॥ १८ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

संस्कारेति । संस्कारसंयमेनेति सूत्रस्यादौ पूरणीयम् । संस्कारश्च द्विविधः । ज्ञानरागादिवासना धर्माधर्मौ च । तेषु पूर्वजन्मसंस्कारेषु संयमात्साक्षात्कृतेषु पूर्वजन्मज्ञानं जातिस्मरता भवतीत्यर्थः ॥१८॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—**संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्** । संस्कारसंयमेनेत्यादि । संस्कारो द्विविधः—ज्ञानरागादिवासनारूपो धर्माधर्मरूपश्च । पूर्वजन्मभवे चैतस्मिन् द्विविधेऽप्रत्यक्षेऽपि श्रुतानुमानाभ्यां ज्ञात्वा संयमेन साक्षात्कृते पूर्वजातिज्ञानं जातिस्मरता भवतीत्यर्थः । एवं परकीयसंस्कारसाक्षात्करणात्परजातिज्ञानमपि भवतीति बोध्यम् ॥ १८ ॥

मणिप्रभा ।

संस्कारेति । अनुभवक्लेशजाः स्मृतिक्लेशहेतवः, कर्मजाः सुखदुःखहेतव, इतीमे संस्काराः सन्ति चित्तस्य धर्माः पूर्वजन्मपरम्परासञ्चितास्तेषु श्रुतेष्वनुमितेषु च संयमेन साक्षात्कृतेषु तद्धेतुत्वेन स्वीयपरकीयपूर्वजन्मपरम्परायाः साक्षात्कारो भवतीत्यर्थः । अत्र भगवान् जैगीषव्य उदाहरणम् । तस्य किल योगिवर्यस्य प्रकृतिवशिनः संस्कारसाक्षात्कारादशसु महाकल्पेषु देवतिर्यङ्नरादियोनिषु जन्मपरम्परां साक्षात्कृतवतो दिव्यविवेकख्यातिश्च प्रादुरभवत् । तं भगवान् आवट्यः पप्रच्छ—भगवन् ! त्वया दृष्टेषु दशकल्पेषु सुखदुःखयोः किमधिकमनुभूतम् । जैगीषव्य आह—हन्त भो आयुष्मन् ! देवनरादिषु पुनःपुनरुत्पद्यमानेन यत्किञ्चिदनुभूतं मया तत्सर्वं दुःखमेवेति । आवट्य आह—किंप्रकृतिवशित्वमपि दुःखमेव येन दिव्या भोगा अक्षयाः सङ्कल्पमात्रेणोपतिष्ठन्त इति । स उवाच—सत्यं, लौकिकसुखापेक्षया प्रधानवशित्वमनुत्तमं, परं कैवल्यापेक्षया दुःखमेव यतस्तृष्णातन्तुरनुच्छिन्नः सर्वदुःखाकरः, तद्विच्छेदात्कैवल्यसुखं प्रसन्नमनुत्तममिति भाष्यस्थाऽऽख्यायिका । ननु यत्र संयमस्तस्य साक्षात्कार इति नियमात्कथं संस्कारसंयमात्पूर्वजन्मज्ञानमिति चेत् । सत्यं, सानुबन्धसंस्कारसंयमादनुबन्धत्वेन पूर्वजन्मनो ज्ञानमुपपन्नमिति मन्तव्यम् ॥ १८ ॥

चन्द्रिका ।

संस्कारेति । द्विविधा वासनासंस्काराः केचित् स्मृत्युत्पादनफलाः केचिज्जात्यायुर्भोगहेतवो धर्माधर्माख्यास्तेषु संयमं यदा करोति भावनयैव पूर्ववृत्तानुसन्धानादुद्बुद्धसंस्कारः सर्वमतीतं पूर्वजन्मानुभूतजात्यादिकं प्रत्यक्षेण पश्यति ॥ १८ ॥

योगसुधाकरः ।

संस्कारेति । अनुभवक्लेशजाः स्मृतिक्लेशहेतवः, कर्मजाः सुखदुःखहेतवः, इति द्वये संस्काराश्चित्तधर्माः पूर्वजन्मपरम्परासंचिताः सन्ति । तेषु श्रुतेष्वनुमितेषु च संयमेन साक्षात्कृतेषु तद्धेतुत्वेन स्वीयपरकीयपूर्वजन्मपरम्परायाः साक्षात्कारो भवति । न च संस्कारसंयमात्कथं पूर्वजन्मसाक्षात्कार इति शङ्कनीयम्; सानुबन्धसंस्कारसंयमादनुबन्धत्वेन पूर्वजन्मसाक्षात्कारोत्पत्तेः सम्भवादिति समञ्जसम् ॥ १८ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

---

(१) भावनयैवेति पाठान्तरम् ।

प्रत्ययस्य परचित्तस्य केनचिन्मुखरागादिना लिङ्गेन गृहीतस्य यदा संयमं करोति तदा परकीयचित्तस्य ज्ञानमुत्पद्यते सरागमस्य चित्तं विरागं वेति । परचित्तगतानपि धर्माञ्जानातीत्यर्थः ॥ १९ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

प्रत्ययस्येति । प्रत्ययस्य रागादिमत्याः स्वीयचित्तवृत्तेः संयमेनाश्रयादिरूपैरशेषविशेषैः साक्षात्करणात्परस्य चित्तमपि संकल्पमात्रेणैव ज्ञायत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् । प्रत्ययस्य रागादिमत्याः स्वीयचित्तवृत्तेः संयमेनाश्रयादिरूपैरशेषविशेषैः साक्षात्करणात् परस्य चित्तमपि सङ्कल्पमात्रेणैव ज्ञायत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

मणिप्रभा ।

सिद्ध्यन्तरमाह—**प्रत्ययस्येति** ।

परचित्तस्य संयमात्तत्साक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

चन्द्रिका ।

प्रत्ययस्येति । प्रत्ययस्य परचित्तस्य केनचिन्मुखरागादिलिङ्गेन गृहीतस्य यदा संयमं करोति तदा परकीयचित्तस्य ज्ञानमुत्पद्यते सरागं विरागं वेति ॥ १९ ॥

योगसुधाकरः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—**प्रत्ययस्येति** ।

प्रत्ययस्य परचित्तस्य संयमात्तत्साक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

भोजवृत्तिः ।

अस्यैव परचित्तज्ञानस्य विशेषमाह—

न(च) तत्सालम्बनं(१) तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ २० ॥

तस्य परस्य यच्चित्तं तत्सालम्बनं स्वकीयेनाऽऽलम्बनेन सहितं न शक्यते ज्ञातुमालम्बनस्य केनचिल्लिङ्गेनाविषयीकृतत्वात् । लिङ्गाच्चित्तमात्रं(२) परस्यावगतं न तु नीलविषयमस्य चित्तं पीतविषयमिति वा । यच्च न गृहीतं तत्र संयमस्य कर्तुमशक्यत्वान्न भवति परचित्तस्य यो विषयस्तत्र ज्ञानम् । तस्मात्परकीयचित्तं नाऽऽलम्बनसहितं गृह्यते, तस्याऽऽलम्बनस्यागृहीतत्वात् । चित्तधर्माः पुनर्गृह्यन्त एव । यदा तु किमनेनाऽऽलम्बितमिति प्रणिधानं करोति तदा तत्संयमात्तद्विषयमपि ज्ञानमुत्पद्यत एव ॥ २० ॥

मणिप्रभा ।

न चेति । किं संस्कारसाक्षात्कारात्तदनुबन्धज्ञानवत्परचित्तसाक्षात्कारात्तदालम्बनं ज्ञानं भवति, नेत्याह, परचित्तमात्रं साक्षात्क्रियते । चस्त्वर्थः । सालम्बनं सविषयं तु न साक्षात्क्रियते तस्य सालम्बनस्याज्ञातत्वात् । लिङ्गादिना ज्ञाते हि संयमवृत्तिर्जायते । तथा च यथा संस्काराणां संस्कारत्वलिङ्गेन,

> जन्मान्तरे यदभ्यस्तं तदयात्युपपद्यते ।
> हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे तस्मात्तत्तस्य रोचते ॥

इत्याद्यागमेन च जन्मान्तरानुबन्धित्वं ज्ञातुं शक्यं तथा परस्य चित्तममुकविषयमिति ज्ञातुमशक्यं लिङ्गाद्यभावात् । चित्तमात्रं तु परस्य हर्षादिलिङ्गेन सुज्ञानम् । यदि परचित्तं ज्ञात्वा संयमेन

---

(१) न च तत् सालम्बनमिति वङ्गाक्षरपुस्तके पाठः । एतत्सूत्रं भावागणेशनागोजीभट्टाभ्यां न व्याख्यातम् ।

(२) लिङ्गाद्धि चित्तमात्रमिति पाठान्तरम् ।

साक्षात्कृत्यास्येदानीं किमालम्बनमिति स्वचित्तं प्रणिधत्ते तदा तत्कालीनमालम्बनं जानाति रागादिवृत्तयस्तु चित्ताभेदात्साक्षात्क्रियन्ते इति विशेषः ॥ २० ॥

चन्द्रिका ।

अस्यैव विशेषमाह नेति। तस्य परस्य यच्चित्तं तद् सालम्बनं स्वकीयालम्बनेन सहितं न शक्यते ज्ञातुमालम्बनस्य केनचिल्लिङ्गेनाविषयीकृतत्वात् , यच्च न गृहीतं तत्र संयमं कर्तुमशक्यत्वान्न भवति चित्तधर्मज्ञानं, यदि तु सालम्बनं गृहीतं तदा धर्मज्ञानं भवत्येव तत्संयमस्य कर्तुं शक्यत्वात् ॥ २० ॥

योगसुधाकरः ।

ननु संस्कारसाक्षात्कारात्तदनुबन्धसाक्षात्कारवत्किं पराचित्तसाक्षात्कारादालम्बनज्ञानं भवति ? नेत्याह—न चेति ।

पराचित्तमात्रं साक्षात्क्रियते; सालम्बनं सविषयं तु न साक्षात्क्रियते, तस्यालम्बनस्याज्ञातत्वात् । न हि लिङ्गादिनाऽज्ञाते संयमप्रवृत्तिः समस्ति । यदि परचित्तं ज्ञात्वा संयमेन साक्षात्कृत्यास्येदानीं किमालम्बनमिति स्वचित्तं प्रणिधत्ते, तदा तत्कालीनमालम्बनं जानाति । रागादिवृत्तयस्तु चित्ताभेदात्सदा साक्षात्क्रियन्त इति विशेषः २० ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्य(१)शक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशासंयोगे(२)ऽन्तर्धानम् (३) ॥ २१ ॥

कायः शरीरं तस्य रूपं चक्षुर्ग्राह्यो गुणस्तस्मिन्नस्त्यस्मिन्काये रूपमिति संयमात्तस्य रूपस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वरूपा या शक्तिस्तस्याः स्तम्भे भावनावशात्प्रतिबन्धे चक्षुष्प्रकाशासंयोगे चक्षुषः प्रकाशः सत्त्वधर्मस्तस्यासंयोगे तद्ग्रहणव्यापाराभावे योगिनोऽन्तर्धानं भवति-न केनचिदसौ दृश्यत इत्यर्थः । एतेनैव रूपाद्यन्तर्धानोपायप्रदर्शनेन शब्दादीनां श्रोत्रादिग्राह्याणामन्तर्धानमुक्तं वेदितव्यम् ॥ २१ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

कायेति । स्वशरीरस्य रूपे संयमात्कारणाद्यशेषविशेषैः साक्षात्कृते सति संकल्पमात्रेण स्वकीयरूपस्य दृश्यताशक्तिं परचक्षुःसंयोगयोग्यतां स्तम्नाति प्रतिबध्नाति । ततश्चक्षुःकिरणैरसंयोगेऽन्तर्धानं योगिन उत्पद्यते । दिवान्धेनेव केनाप्यसौ न दृश्यते इत्यर्थः । एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तम् ॥ २१ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम् । स्वशरीरस्य रूपे संयमात् कारणाद्यशेषविशेषैः साक्षात्कृते सति संकल्पमात्रेण स्वीयरूपस्य दृश्यताशक्तिं परचक्षुर्योग्यतां स्तभ्नाति प्रतिबध्नाति तस्मिंश्च सति चक्षुःकिरणैरसंयोगेऽन्तर्धानं भवतीत्यर्थः । केनाप्यसौ न दृश्यत इति भावः ॥ २१ ॥

मणिप्रभा ।

सिद्ध्यन्तरमाह—कायेति ।

कायस्य यद्रूपं चाक्षुषत्वप्रयोजकमस्ति तस्मिन्संयमात्तस्य रूपस्य परचक्षुर्ग्राह्यत्वानुकूलायाः शक्तेः स्तम्भे प्रतिबन्धे सति परचाक्षुषज्ञानाविषयत्वे जातेऽन्तर्द्धानं योगिदेहस्याचाक्षुषत्वं यथाकामं सिध्यतीत्यर्थः । एतेन स्वीयशब्दस्पर्शरसगन्धानां संयमाच्छ्रोत्राद्यग्राह्यत्वसिद्धिरुक्ता भवति ॥ २१ ॥

---

(१) संयमात् ग्राह्येति पाठान्तरम् । (२) सम्प्रयोग इति पाठान्तरम् ।

(३) अयमभिप्रायः । कायो हि रूपवत्त्वेन चाक्षुषो भवति तत्र यदा रूपे संयमः क्रियते तदा रूपस्य ग्राह्यशक्तिः रूपवत्कायस्य प्रत्यक्षतायां हेतुः स्तभ्यते, तत्स्तम्भे सति योगिनोऽन्तर्धानं भवति ततः परकीयचक्षुर्जनितप्रकाशेन असम्प्रयोगः चक्षुर्जन्यज्ञानाविषयत्वं योगिकायस्येति ।

चन्द्रिका ।

कायेति । कायस्य यद्रूपं तस्य संयमाद्रूपस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वरूपशक्त्याः स्तम्भे प्रतिबन्धे चक्षुःप्रकाशः सत्त्वधर्मस्तस्यासंयोगे तद्ग्रहणाभावे योगिनोऽन्तर्द्धानं भवति न केनाचिद्दृश्यते ॥ २१ ॥

योगसुधाकरः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—**कायेति** ।

कायस्य चाक्षुषताप्रयोजकं यद्रूपमस्ति तस्मिन्संयमात्तस्य रूपस्य परचक्षुर्ग्राह्यतानुकूलायाः शक्तेः स्तम्भे प्रतिबन्धे सति परचाक्षुषज्ञानाविषयत्वे जाते, अन्तर्धानं योगिदेहस्याचाक्षुषत्वं यथाकामं सिध्यतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

सोपक्रमं निरुपक्रमं(१)च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा२२॥

आयुर्विपाकं यत्पूर्वकृतं कर्म तद्द्विप्रकारं सोपक्रमं निरुपक्रमं च । तत्र सोपक्रमं यत्फलजननायोपक्रमेण कार्यकरणा(२)भिमुख्येन सह वर्तते । यथा—उष्णप्रदेशे प्रसारितमार्द्रवासः शीघ्रमेव शुष्यति । उक्तरूपविपरीतं निरुपक्रमं यथा—तदेवाऽऽर्द्रवासः संवर्तितमनुष्णदेशे चिरेण शुष्यति । तस्मिन्द्विविधे कर्मणि यः संयमं करोति किं कर्म(३)शीघ्रविपाकं चिरविपाकं वा, एवं ध्यानदार्ढ्यादपरान्तज्ञानमस्योत्पद्यते । अपरान्तः शरीरवियोगस्तस्मिन्ज्ञानममुष्मिन्कालेऽमुष्मिन्देशे मम शरीरवियोगो भविष्यतीति निःसंशयं जानाति । अरिष्टेभ्यो वा । अरिष्टानि त्रिविधानि आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदेन । तत्राऽऽध्यात्मिकानि—पिहितकर्णः कौष्ठ्यस्य वायोर्घोषं न शृणोतीत्येवमादीनि । आधिभौतिकानि अकस्माद्विकृतपुरुषदर्शनादीनि । आधिदैविकानि—अकाण्ड एव द्रष्टुमशक्यस्वर्गादिपदार्थदर्शनादीनि । तेभ्यः शरीरवियोगकालं जानाति । यद्यपि अयोगिनामप्यरिष्टेभ्यः प्रायेण तज्ज्ञानमुत्पद्यते तथाऽपि तेषां सामान्याकारेण तत्संशयरूपं, योगिनां पुनर्नियतदेशकालतया प्रत्यक्षवदव्यभिचारि ॥ २२ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

सोपक्रममिति । सोपक्रमं तीव्रवेगेन फलदातृ । निरुपक्रमं मन्दवेगेन फलदातृ । एवंभूतं यत्कर्मार्थात्प्रारब्धफलकमायुष्करं तत्साक्षात्कारेणैवायुर्निर्णयौचित्यात् , तत्र संयमात्तदन्यतररूपेण तत्साक्षात्कारे सति अपरान्तस्य पश्चिमस्य मरणस्य ज्ञानं भवति । शीघ्रविलम्बान्यतरविशेषेणेति शेषः। आरब्धफलकस्यायुष्करकर्मणो हि तीव्रवेगतः फलदातृतया साक्षात्कारे सति आयुर्ह्रासो ज्ञायते, इतरथा वैपरीत्यं ज्ञायत इति योगिभिरवधानार्थं मरणकालो ज्ञातव्य इत्याशयेन । प्रसङ्गान्मरणज्ञानस्योपायान्तरमाह—अरिष्टेभ्यो वेति । अरिष्टानि वसिष्ठसंहितामार्कण्डेयपुराणादिषूक्तानि ॥ २२ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा । सोपक्रमं तीव्रवेगेन फलदातृ, निरुपक्रमं मन्दवेगेन फलदातृ, एवंभूतं यत्प्रवृत्तफलकमायुष्करं कर्म तत्साक्षात्कारेणैवायुर्निर्णयौचित्यात् , तत्र संयम तदन्यतररूपेण साक्षात्कारे सति अपरान्तस्य मरणस्य कालज्ञानं भवतीत्य-

---

(१) यत् आयुर्विपाकं कर्म्म किञ्चित्कालमनपेक्ष्यमेव भोगाय प्रवृत्तं दत्तबहुभोगमल्पावशिष्टफलं प्रवृत्तव्यापारं तत्फलस्य सहसा एकेन शरीरेण भोक्तुमशक्यत्वात् विलम्बते तत् सोपक्रमम् । उपक्रमेण व्यापारेण सहितमित्यर्थः । यच्च दत्ताल्पफलं तत्कालमपेक्ष्य दानाय व्याप्रियमाणं कादाचित्कमन्दव्यापारं तन्निरुपक्रमम् ।

(२) कार्यकारणेति पाठान्तरम् । (३) किं मम कर्मेति पाठान्तरम् ।

र्थः । तत्र तीव्रवेगत्वेऽल्पकालता । मन्दवेगत्वे विलम्बः । अरिष्टेभ्यो वा । अरिष्टानि मार्कण्डेयपुराणोक्तानि यथा पिहितकर्णस्यान्तर्घोषाश्रवणं नेत्रेऽवष्टब्धे ज्योतिरदर्शनमित्यादि ।

दिनमाससंवत्सराः(१) ॥

दिनमाससंवत्सरादिभेदैर्मृत्युचिह्नानि । तेभ्यो वा लिङ्गेभ्यो मरणज्ञानं भवतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

मणिप्रभा ।

विभूत्यन्तरमाह **सोपक्रममिति ।**

पूर्वजन्मकृतमिदानीं स्थितं कर्म द्विविधम्-सोपक्रमं निरुपक्रमं च । फलदानव्यापारयुक्तं शीघ्रविपाकं च सोपक्रमं, सातपदेशे प्रसारितेनार्द्रवस्त्रेण शीघ्रं शुष्यता तुल्यं, कालान्तरे फलप्रदमिदानीं निर्व्यापारं चिरविपाकं निरुपक्रमं; निरातपदेशे पिण्डीकृतार्द्रवस्त्रतुल्यम् । तत्र संयमेऽस्य साक्षात्कारात्तद्विपाकस्यायुषोऽवसानमपरान्तशब्दितं ज्ञायते । परस्य प्रजापतेरन्तो महाप्रलयः । नरादीनां मरणमपरान्तः । तस्य ज्ञानममुष्मिन्देशेऽमुककाले मम देहवियोग इति साक्षात्कारः । तत्र सोपक्रमकर्मसाक्षात्कारे तद्विपाकस्य झटिति भोगार्थं बहुशरीराणि गृहीत्वा योगी स्वच्छया म्रियते । एकेन तत्र तद्भोगे मरणविलम्बः । प्रसङ्गादाह—**अरिष्टेभ्यो** वेति । तत्राध्यात्मिकारिष्टानि करपिहितकर्णपुटस्य प्राणघोषाश्रवणादीनि, आधिभौतिकानि यमभटदर्शनादीनि, आधिदैविकान्यकस्मात्स्वर्गदर्शनादीनि, एतान्यरिष्टान्यासयन्त्यरिष्टानि त्रिविधानि मरणलिङ्गानि तेभ्यो वा मरणज्ञानं भवत्ययोगिनोऽपीत्यर्थः ॥ २२ ॥

चन्द्रिका ।

(२)एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तम् ।

एतेनेति । एतेन रूपाद्यन्तर्द्धानोपायप्रदर्शनेन शब्दादीनां श्रोत्रादिग्राह्याणामन्तर्द्धानमुक्तं वेदितव्यम् ॥

सिद्ध्यन्तराण्याह—**सोपक्रममिति ।**

यत् पूर्वकृतं कर्म तद्द्विविधमेकं फलजननायोपक्रमेण कार्यकरणाभिमुख्येन सह वर्त्तते इति सोपक्रममपरमुक्तरूपविपरीतं निरुपक्रमं तस्मिन् द्विविधे कर्मणि यः संयमं करोति किं शीघ्रविपाकं किं चिरविपाकमिति, एवं ध्यानदार्ढ्यादपरान्तज्ञानमुत्पद्यते । अपरान्तः शरीरवियोगस्तज्ज्ञानममुष्मिन् देशे काले वा शरीरवियोगो भविष्यतीति । अरिष्टेभ्यो वा । आध्यात्मिकादीनि त्रिविधान्यरिष्टानि पिहितकर्णकालिककौष्ठ्यवायुघोषाश्रवणविकृतपुरुषदर्शनस्वर्गादिपदार्थदर्शीनि तेभ्यः शरीरवियोगकालं जानाति । अयोगी संशयेन योगी निश्चयेन जानातीति उभयोर्भेदः ॥ २२ ॥

योगसुधाकरः ।

उक्तमन्यत्रातिदिशति—**एतेनेति ।**

एतेन स्वीयशब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां संयमाच्छ्रोत्राद्यग्राह्यत्वसिद्धिरुक्ता भवतीति वेदितव्यम् ।

सोपक्रममिति । सोपक्रमं शीघ्रविपाकं कर्म, निरुपक्रमं च चिरविपाकं कर्म यत्, तत्रोभयत्र संयमेन साक्षात्कारात्तद्विपाकस्यायुषोऽपरान्तोऽवसानम्, तस्य ज्ञानममुष्मिन्देशेऽमुककाले मम कायवियोग इति साक्षात्कारो भवति । प्रसङ्गात्साधारणं मरणसूचकमाह—**अरिष्टेभ्यो वा ।** अरिवत्त्रासयन्तीत्यरिष्टानि त्रिविधान्याध्यात्मिकादीनि मरणलिङ्गानि, तेभ्यो वा मरणज्ञानं भवत्ययोगिनोऽपीत्यर्थः ॥ २२ ॥

भोजवृत्तिः ।

परिकर्मनिष्पादिताः सिद्धीः(३)प्रतिपादयितुमाह—

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

---

(१) इदं सूत्रमधिकमत्रैव दृश्यते ।

(२) भोजराजभावागणेशाभ्यां कायरूपेति सूत्रव्याख्यान्ते एतत्सूत्रस्य व्याख्यातत्वेपि नागोजीभट्टमणिप्रभाकाराभ्यामव्याख्यातत्वाद्विज्ञानभिक्षुणा सूत्रकारस्य न्यूनताम्परिहरति एतेनेतीत्युक्तत्वाच्च नेदं सूत्रम् ।

(३) निष्पन्दभूतां सिद्धिमिति पाठान्तरम् ।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षासु यो विहितसंयमस्तस्य बलानि मैत्र्यादीनां सम्बन्धीनि प्रादुर्भवन्ति। मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षास्तथाऽस्य प्रकर्षं गच्छन्ति यथा सर्वस्य मित्रत्वादिकमयं प्रतिपद्यते(१) ॥ २३ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

मैत्र्यादिष्विति। मैत्र्यादिषु संयमान्मैत्र्यादितत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्ताद्बलानि अवन्ध्यानि वीर्याणि भवन्ति। परेषु मैत्र्याद्यर्थं प्रयत्नो निष्फलो न भवतीति यावत्। आदिशब्देन करुणामुदितयोः प्रथमपादोक्तयोर्ग्रहणम् ॥ २३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

मैत्र्यादिषु बलानि। सुखितेषु मैत्री दुःखितेषु करुणा पुण्यशीलेषु मुदिता आसु तत्तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्तसंयमात् बलानि अवन्ध्यानि वीर्याणि भवन्ति परेषु मैत्र्याद्यर्थं प्रयत्नो विफलो न भवतीत्यर्थः २३॥

मणिप्रभा ।

मैत्र्यादिष्विति। पूर्वं मैत्रीकरुणामुदितासु संयमो विहितस्तेन तासां बलानि वीर्याणि भवन्ति। यैर्योगी प्राणिमात्रस्य सुखकरः सुहृद्भवति, दुःखादुद्धर्ता भवति, अपक्षपाती भवति। उपेक्षा त्वौदासीन्यमात्रं न तस्य बलं किञ्चिदस्ति संयमाभावादित्यर्थः ॥ २३ ॥

चन्द्रिका ।

मैत्र्यादिविति। मैत्र्यादिषु विहितो यः संयमस्तस्य बलानि मैत्र्यादीनां सम्बन्धीनि प्रादुर्भवन्ति। मैत्र्याद्युत्कर्षे सर्वस्य मित्रत्वादिकं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

योगसुधाकरः ।

मैत्र्यादिष्विति। मैत्र्यादिषु संयमेन तेषां बलानि वीर्याणि भवन्ति, यैर्योगी प्राणिमात्रस्य सुखकरः सुहृद्भवति, दुःखादुद्धर्ता भवति। उपेक्षा त्वौदासीन्यमात्रम्। न तस्य बलं किंचित्समस्ति, संयमाभावादित्यर्थः ॥ २३ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह--

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

हस्त्यादिसम्बन्धिषु बलेषु कृतसंयमस्य तद्बलानि हस्त्यादिबलानि आविर्भवन्ति। तदयमर्थः--यस्मिन्हास्तिबले वायुवेगे सिंहवीर्ये वा तन्मयीभावेनायं संयमं करोति तत्तत्सामर्थ्ययुक्तं सत्त्वमस्य(२) प्रादुर्भवतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

बलेष्विति। हस्त्यादिबलेषु संयमात्तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्ताद्धस्त्यादिबलानि भवन्ति। आदिशब्देन गरुडवाय्वादिग्रहणम् ॥ २४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

बलेषु हस्तिबलादीनि। हस्त्यादिबलेषु तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्तात्संयमाद्धस्त्यादिबलं भवति। आदिना गरुडवाय्वादिग्रहणम् ॥ २४ ॥

मणिप्रभा ।

बलेष्विति। हस्तिहनुमद्गरुडादिबलेषु तद्भावने संयमात्तानि बलानि योगिनः प्रादुर्भवन्ति। चित्तस्य स्वतः सर्वसामर्थ्यादित्यर्थः ॥ २४ ॥

चन्द्रिका ।

बलेष्विति। हस्त्यादिसम्बन्धिषु बलेषु कृतसंयमस्य तद्बलानि हस्त्यादिबलानि आविर्भवन्तीत्यर्थः॥२४

---

(१) मित्रत्वादिकं संपद्यते इति पाठान्तरम्।
(२) तत्सर्वं सामर्थ्ययुक्तत्वात्सर्वमस्येति पाठान्तरम्।

योगसुधाकरः ।

बलेष्विति । हस्तिहनुमदादीनां बलेषु तद्भावेन संयमात्तानि बलानि योगिनः प्रादुर्भवन्ति, चित्तस्य स्वतः सर्वसामर्थ्यादित्यर्थः ॥ २४ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह--

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

प्रवृत्तिर्विषयवती ज्योतिष्मती च प्रागुक्ता तस्या योऽसावालोकः सात्त्विकप्रकाशप्रसरस्तस्य निखिलेषु विषयेषु न्यासात्तद्वासितानां विषयाणां भावनात्तस्मान्तःकरणेषु इन्द्रियेषु प्रकृष्टशक्तिमापन्नेषु सूक्ष्मस्य परमाण्वादेर्व्यवहितस्य भूम्यन्तर्गतस्य निधानादेर्विप्रकृष्टस्य मेरुपरपार्श्ववर्तिनो रसायनादेर्ज्ञानमुत्पद्यते ॥ २५ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

प्रवृत्तीति । ज्योतिष्मती नाम बुद्धिपुरुषान्यतरसाक्षात्काररूपिणी मनसः प्रवृत्तिः प्रथमपादे प्रोक्ता, तस्या य आलोकस्तत्कालीनो यः सत्त्वप्रकाशस्तं योगी सूक्ष्माद्यर्थेषु विन्यस्य तद्गोचरक्षणप्रणिधानमात्रं कृत्वा तं तमर्थं साक्षात्करोतीत्यर्थः । व्यवहितमावृतं विप्रकृष्टं दूरदेशस्थम् । अत्र चक्षुर्न्यासवदालोकन्यासमात्रवचनात्तेषु संयमापेक्षा नास्ति । परम्परया बुद्ध्यादिविषयकसंयमसाध्यत्वेनैव त्वस्या विभूतेः संयमासिद्धिमध्ये पठनमिति ॥ २५ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् । ज्योतिष्मती नाम बुद्धिपुरुषान्यतरसाक्षात्काररूपा मनसः प्रवृत्तिराद्यपादे उक्ता । तस्या य आलोकस्तत्कालिको यः सत्त्वप्रकाशस्तं योगी सूक्ष्माद्यर्थेषु सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेषु विन्यस्य तद्गोचरक्षणप्रणिधानेनापि तमर्थं साक्षात्करोतीत्यर्थः । चक्षुर्न्यासवदालोकन्यासमात्रवचनात्तेषु संयमापेक्षाभावः । परम्परया बुद्ध्यादिविषयकसंयमसाध्यत्वेन चास्या विभूतेस्तत्सिद्धिमध्ये पठनमिति बोध्यम् ॥ २५ ॥

मणिप्रभा ।

प्रवृत्तीति । ज्योतिष्मती प्रवृत्तिः प्रागुक्ता । तस्याः ज्योतिःसाक्षात्काररूपप्रवृत्तेर्य आलोक आस्पदं सर्वतो विप्रसृतं निर्मलबुद्धिसत्त्वं, तस्य सूक्ष्मे परमाण्वादौ, भूतव्यवहिते निध्यादौ, विप्रकृष्टे मेर्वन्तरवर्तिरसायनादौ, न्यासात्प्रक्षेपात्तेषां ज्ञानं साक्षात्कारो भवति । सौरालोकसंयोगाद् घटादिज्ञानवदित्यर्थः ॥ २५ ॥

चन्द्रिका ।

प्रवृत्तीति । विषयवतीज्योतिष्मतीरूपप्रवृत्तौ य आलोकः प्रकाशस्तस्य सर्वविषयेषु न्यासात्तेषां भावनादन्तःकरणेन्द्रियेषु सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टनिधिरसायनादेर्ज्ञानमुत्पद्यते ॥ २५ ॥

योगसुधाकरः ।

प्रवृत्तीति । ज्योतिष्मती प्रवृत्तिरधस्तादभिहिता । तस्या योऽयमालोको ज्योतिरालम्बनं निर्मलबुद्धिसत्त्वं तस्य सूक्ष्मे परमाण्वादौ भूमिव्यवहिते निध्यादौ विप्रकृष्टे मेर्वन्तर्वर्तिरसायनादौ च न्यासात्प्रक्षेपात्तेषां ज्ञानं साक्षात्कारो भवति; सौरालोकसंप्रयोगात्कूटादिसाक्षात्कारवदित्यर्थः ॥ २५ ॥

भोजवृत्तिः ।

तत्समानवृत्तान्तं सिद्ध्यन्तरमाह--

भुवनज्ञानं सूर्यसंयमात् ॥ २६ ॥

सूर्ये प्रकाशमये(१) यः संयमं करोति तस्य सप्तसु भूर्भुवःस्वःप्रभृतिषु लोकेषु यानि भुवनानि

(१) सूर्यप्रकाशसमये इति पाठान्तरम् ।

तत्तत्संनिवेशभाञ्जि पुराणि (स्थानानि) तेषु यथावदस्य ज्ञानमुत्पद्यते । पूर्वस्मिन्सूत्रे सात्त्विकप्रकाश आलम्बनतयोक्त इह तु भौतिक इति विशेषः ॥ २६ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

भुवनेति । सूर्यमण्डले संयमात्तद्गताशेषविशेषसाक्षात्कारे सत्यशेषविशेषतश्चतुर्दशभुवनज्ञानम् ॥२६॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् । सूर्यमण्डले संयमात् तद्गताशेषविशेषसाक्षात्कारेऽशेषविशेषतश्चतुर्दशविशेषभुवनज्ञानं भवतीत्यर्थः । एतत्संयमोपयोगो नानाविधलोकगतीर्दृष्ट्वात्यन्तवैराग्यायेति बोध्यम् ॥२५॥

मणिप्रभा ।

एवं संयमेन साक्षात्कृतबुद्ध्यालोकद्वारा ज्ञानमुक्त्वा भौतिके तद्द्वारा तदाह भुवनेति । दिवि देदीप्यमानमार्तण्डमण्डले सुषुम्नाऽऽदिद्वारके सहस्ररश्मिमालिनि संयमाद् द्रश्याभिन्नं चित्तं चतुर्दशभुवनानि साक्षात्करोतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

चन्द्रिका ।

भुवनेति । सूर्ये यः संयमं करोति तस्य भूर्भुवादिसप्तभुवनज्ञानमुत्पद्यते ॥ २६ ॥

योगसुधाकरः ।

भुवनेति । सुषुम्नादिसहस्रमयूखमालिनि दिवि द्योतमाने मार्तण्डमण्डले संयमाद्द्रश्याभिन्नं चित्तं चतुर्दश भुवनानि साक्षात्करोतीत्यर्थः । अयमेव सकलभुवनसाक्षात्कारोऽस्मिञ्शास्त्रे मधुमती सिद्धिरित्युच्यते ॥ २६ ॥

भोजवृत्तिः ।

भौतिकप्रकाशालम्बनद्वारेणैव सिद्ध्यन्तरमाह—

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

ताराणां ज्योतिषां यो व्यूहो विशिष्टः संनिवेशस्तस्य चन्द्रे(१) कृतसंयमस्य ज्ञानमुत्पद्यते । सूर्यप्रकाशेन हततेजस्कत्वात्ताराणां सूर्यसंयमात्तज्ज्ञानं न शक्नोति भवितुमिति पृथगुपायोऽभिहितः ॥२७॥

भावागणेशवृत्तिः ।

चन्द्रे इति । चन्द्रमण्डले संयमादशेषविशेषसाक्षात्कारपर्यन्तात्ताराव्यूहस्य नक्षत्रमण्डलस्य तथा ज्ञानं भवति ॥ २७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् । चन्द्रमण्डले संयमेन तद्गताशेषविशेषसाक्षात्कारे ताराव्यूहस्य नक्षत्रमण्डलस्य तथा ज्ञानं भवति ॥ २७ ॥

मणिप्रभा ।

चन्द्र इति । चन्द्रे संयमान्नक्षत्राणां सन्निवेशविशेषं साक्षात्करोति । सूर्यस्य नक्षत्राभिभावकत्वात्तत्संयमात्तज्ज्ञानं न भवतीति भावः ॥ २७ ॥

चन्द्रिका ।

चन्द्रे इति । चन्द्रे संयमात्ताराणां व्यूहः सन्निवेशस्तज्ज्ञानमुत्पद्यत इत्यर्थः ॥ २७ ॥

योगसुधाकरः ।

चन्द्रे इति । नक्षत्रपतौ तुषारकरबिम्बे संयमान्नक्षत्राणां संनिवेशविशेषं साक्षात्करोति । सूर्यस्य नक्षत्राभिभावकत्वात्तत्संयमात्तत्साक्षात्कारो न भवतीति भावः ॥ २७ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

---

(१) तस्मिंश्चन्द्रे इति पाठान्तरम् ।

ध्रुवे निश्चले ज्योतिषां प्रधाने कृतसंयमस्य तासां ताराणां या गतिः प्रत्येकं नियतकाला नियतदेशा च तस्या ज्ञानमुत्पद्यते । इयं ताराऽयं ग्रह इयता कालेनामुं राशिमिदं नक्षत्रं यास्यतीति सर्वं जानाति(१) । इदं कालज्ञानमस्य फलमित्युक्तं भवति ॥ २८ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ध्रुव इति । ध्रुवे तथा संयमात्ताराणां गतिमशेषविशेषतो जानाति ॥ २८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् । ध्रुवे संयमात्ताराणां गतिमशेषविशेषतो जानाति ॥ २८ ॥

मणिप्रभा ।

ध्रुव इति । ध्रुवे संयमात्तासान्ताराणां गतिं जानाति । इयं ताराऽनेन ग्रहेण सहानेन पथा एतावन्तं कालं गच्छतीति ॥ २८ ॥

चन्द्रिका ।

ध्रुवे इति । ध्रुवे ज्योतिष्प्रधाने निश्चले कृतसंयमस्य तारादीनां गत्यादिज्ञानमुत्पद्यते–इयं तारा अयं ग्रहः इयत्कालेन गच्छतीति ॥ २८ ॥

योगसुधाकरः ।

ध्रुवे इति । ध्रुवे संयमात्तासां तारकाणां गतिं जानाति—असौ तारकामुना ग्रहेण साकमनया सृत्यैतावन्तमनेहसं गच्छतीति ॥ २८ ॥

भोजवृत्तिः ।

बाह्याः सिद्धीः प्रतिपाद्याऽन्तराः सिद्धीः प्रतिपादयितुमुपक्रमते—

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

शरीरमध्यवर्ति नाभिसंज्ञकं यत्षोडशारं चक्रं तस्मिन् कृतसंयमस्य योगिनः कायगतो योऽसौ व्यूहो विशिष्टरसमलधातुनाड्यादीनामवस्थानं तत्र ज्ञानमुत्पद्यते । इदमुक्तं भवति—नाभिचक्रं शरीरमध्यवर्ति सर्वतः प्रसृतानां नाड्यादीनां मूलभूतमतस्तत्र कृतावधानस्य समग्रसंनिवेशो यथावद्भाति॥२९॥

भावागणेशवृत्तिः ।

नाभीति । कदलीकन्दवदादावुत्पन्नं नाभिकन्दरूपं चक्रं शरीरमध्यवर्ति यतः शाखापल्लवादिवच्छिरःपादादिकमवयवजातमूर्ध्वाधःपार्श्वेष्वाविर्भवति । तस्मिन्नाभिचक्रे संयमात्साक्षात्कृते कायस्थं पदार्थव्यूहं वातपित्तत्वगसृगादिरूपं साक्षात्क्रियते ॥ २९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् । कदलीकन्दवदादावुत्पन्नं नाभिकन्दरूपं नाभिचक्रं शरीरमध्यवर्ति यतः शाखापल्लवादिवत् शिरःपादादिकमवयवजातमूर्ध्वाधःपार्श्वेष्वाविर्भवति, तस्मिन्नाभिचक्रे संयमात्साक्षात्कृते सति कायस्थं व्यूहं पदार्थजातं वातपित्तत्वगसृगादिरूपं साक्षात्करोतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

मणिप्रभा ।

एवं बाह्यसिद्धीरुक्त्वाऽऽध्यात्मिकसिद्धीराह नाभीति । कायस्य मध्यभागे यन्नाभिचक्रमाधारालङ्कृतं बाह्यसिद्धीरुक्त्वाऽऽध्यात्मिकसिद्धीराह... चक्राभ्यां चतुःषट्पत्राभ्यामुपरिस्थितं दशपत्रम् तस्मिन् संयमाद्देहस्य संनिवेशं जानाति । वातपित्तश्लेष्माणस्त्रयो दोषाः । त्वग्रुधिरमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणि सप्त धातवः । तेषां पूर्वं पूर्वं बाह्यमित्येष कायविन्यासः ॥ २९ ॥

चन्द्रिका ।

नाभीति । षोडशारे नाभिचक्रे कृतसंयमस्य काये यो व्यूहो विशिष्टरसनाड्याद्यवस्थानं तस्य ज्ञान-

(१) जानातीति सूत्रार्थः इति पाठान्तरम् ।

मुत्पद्यते ॥ २९ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थं बाह्यसिद्धीरभिधाय अधुनाऽऽध्यात्मिकसिद्धीरभिधातुमाह—नाभिचक्रे इति ।

कायस्य मध्यभागे यन्नाभिचक्रं मणिपूरकाख्यं दशदलम्, तस्मिन्संयमाद्देहस्य वातापित्तादिसंनिवेशविशेषं जानातीत्यर्थः ॥ २९ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

कण्ठे गले कूपः कण्ठकूपः, जिह्वामूले जिह्वातन्तोरधस्तात्(१) कूप इव कूपो गर्ताकारः प्रदेशः प्राणादेर्यत्संस्पर्शात्क्षुत्पिपासादयः प्रादुर्भवन्ति तस्मिन्कृतसंयमस्य योगिनः क्षुत्पिपासादयो निवर्तन्ते। घण्टिकाधस्तात्स्रोतसा धार्यमाणे तस्मिन्भाविते भवत्येवंविधा सिद्धिः ॥ ३० ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

कण्ठेति । कूपाकारं कण्ठच्छिद्रं हृदयपर्यन्तं तिष्ठति । तस्मिन् संयमादशेषविशेषतः साक्षात्कृते सति क्षुत्पिपासे न बाधेते ॥ ३० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः । कूपाकारं कण्ठच्छिद्रं हृदयपर्यन्तं तिष्ठति तत्र संयमात्क्षुत्पिपासे न बाधेते ॥ ३० ॥

मणिप्रभा ।

कण्ठेति । जिह्वातन्तोरधस्तात्कण्ठस्य कूपाकारः प्रदेशोऽस्ति । यत्र प्राणादेः संघर्षात्क्षुत्पिपासे भवतः । तत्र संयमात्तन्निवृत्तिरित्यर्थः ॥ ३० ॥

चन्द्रिका ।

कण्ठे गले कूपो जिह्वासूलं जिह्वामूले गर्त्ताकारप्रदेशस्तत्स्पर्शात् प्राणादीनां क्षुधाद्या भवन्ति तस्मिन् कृतसंयमस्य क्षुत्पिपासादयो निवर्तन्ते ॥ ३० ॥

योगसुधाकरः ।

कण्ठकूप इति । जिह्वातन्तोरधस्तात्कण्ठस्य कूपाकारः प्रदेशोऽस्ति, यत्र प्राणादेः संघर्षणात्क्षुत्पिपासे भवतः । तत्र संयमात्तन्निवृत्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

कण्ठकूपस्याधस्ताद्या कूर्माख्या(२) नाडी तस्यां कृतसंयमस्य चेतसः स्थैर्यमुत्पद्यते । तत्स्थानमनुप्रविष्टस्य चञ्चलता न भवतीत्यर्थः । यदि वा कायस्य स्थैर्यम्(३) उत्पद्यते न केनचित्स्पन्दयितुं शक्यत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

कूर्मेति । कुण्डलीसर्पवदवस्थिततया कूर्माकारं हृदयपुण्डरीकाख्यं नाडीचक्रम् । तत्र संयमाद्योक्ताच्चित्तस्थैर्यं भवति ॥ ३१ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् । सर्पकुण्डलिवदवस्थितत या कूर्माकारा हृदयपुण्डरीके नाडी तत्र संसमाच्चित्तस्य स्थैर्यं भवति ॥ ३१ ॥

---

(१) जिह्वानोऽधस्तादिति पाठान्तरम् ।
(२) धस्ताद्दृढा कूर्माख्या इति पाठान्तरम् । (३) काये स्थैर्यमिति पाठान्तरम् ।

मणिप्रभा ।

कूर्मेति । कूपादध उरसि कूर्माकारा नाड्यस्ति । तत्र संयमात्तत्प्रविष्टस्य चित्तस्य स्थैर्यं सिध्यतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

चन्द्रिका ।

कण्ठकूपस्याधस्ताद्दृढा कूर्माख्या नाडी तस्यां कृतसंयमस्य चेतसः स्थैर्यमुत्पद्यते ॥ ३१ ॥

योगसुधाकरः ।

कूर्मेति । कण्ठकूपादधस्तादुरसि कूर्माकारा काचिन्नाड्यस्ति । तत्र संयमात्तत्प्रविष्टस्य चित्तस्य स्थैर्यं सिध्यतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

शिरःकपाले ब्रह्मरन्ध्राख्यं छिद्रं प्रकाशाधारत्वाज्ज्योतिः । यथा—गृहाभ्यन्तरस्थस्य मणेः प्रसरन्ती प्रभा कुञ्चिताकारेव सर्वप्रदेशे संघटते(१) तथा हृदयस्थः सात्त्विकः प्रकाशः प्रसृतस्तत्र संपिण्डितत्वं भजते । तत्र कृतसंयमस्य ये द्यावापृथिव्योरन्तरालवर्तिनः सिद्धा दिव्याः पुरुषास्तेषामितरप्राणिभिरदृश्यानां तस्य दर्शनं भवति । तान् पश्यति तैश्च स सम्भाषत(२) इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

मूर्धेति मूर्धज्योतिषि शिरःकपालान्तःछिद्रस्थे भौतिकज्योतिषि संयमाद्यथोक्ताद् द्यावापृथिव्योरन्तरचारिणः सिद्धा दृश्यन्ते ॥ ३२ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् । मूर्धज्योतिषि शिरःकपालान्तश्छिद्रगतसुषुम्नानाडीस्थे भौतिकज्योतिषि संयमाद्यथोक्ताद् द्यावापृथिव्योरन्तरचारिसिद्धदर्शनं भवति ॥ ३२ ॥

मणिप्रभा ।

मूर्धेति । शिरःकपाले यच्छिद्रं ब्रह्मरन्ध्राख्यं सुषुम्नायोगाद्धृदयस्थाच्चित्तमणिप्रभायोगाच्च भास्वरं मूर्धज्योतिः । तत्र संयमात् सिद्धानदृश्यानपि पश्यतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

चन्द्रिका ।

मूर्धेति । शिरःकपाले ब्रह्मरन्ध्राख्यं छिद्रं प्रकाशत्वाज्ज्योतिस्तस्मिन् कृतसंयमस्य सिद्धानां दर्शनं भवति ॥ ३२ ॥

योगसुधाकरः ।

मूर्धेति । शिरःकपालयोश्छिद्रं ब्रह्मरन्ध्राख्यं सुषुम्नायोगाद्भास्वरं मूर्धज्योतिः । तत्र संयमात्तेन निःसृता देहस्था चित्तमणिप्रभा सिद्धानदृश्यानपि पश्यतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

भोजवृत्तिः ।

सर्वज्ञत्व उपायमाह—

प्रातिभाद्वा सर्वम् (३) ॥ ३३ ॥

---

(१) कुञ्चिकाविवरप्रदेशे संघटते इति पाठान्तरम् । (२) सम्भाष्यत इति पाठान्तरम् ।

(३) प्रातिभाद्वा सर्वं सर्वनिमित्तानपेक्षमिति पाठान्तरम् । निमित्तानपेक्षं मनोमात्रजन्यमविसम्वादकं द्रागुत्पद्यमानं ज्ञानं प्रतिभा, तस्यां संयमे क्रियमाणे विवेकख्यातेः पूर्वभावि तारकं ज्ञानमुदेति यथोदेष्यति सवितरि पूर्वं प्रभा तद्वद्विवेकख्यातेः पूर्वं तारकं सर्वविषयं ज्ञानमाविर्भवतीति भोजराजः ।

निमित्तानपेक्षं मनोमात्रजन्यमविसम्वादकं द्रागुत्पद्यमानं ज्ञानं प्रतिभा, तस्यां संयमे क्रियमाणे प्रातिभं विवेकख्यातेः पूर्वभावि तारकं ज्ञानमुदेति । यथा—उदेष्यति सवितरि पूर्वं प्रभा प्रादुर्भवति तद्वद्विवेकख्यातेः पूर्वं तारकं सर्वविषयं ज्ञानमुत्पद्यते । तस्मिन्सति संयमान्तरानपेक्षः सर्वं जानातीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

प्रातिभादिति । प्रातिभं स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकं ज्ञानं, विवेकजस्य वक्ष्यमाणसर्वज्ञस्य पूर्वरूपं यथा सूर्योदयस्य प्रभा पूर्वरूपं तद्वत् । तच्च वक्ष्यमाणलक्षणं, तच्च क्रमाज्जायत इति भाष्यकृतोक्तम् । तस्मात्प्रातिभाद्वा सर्वं पूर्वोक्तमतीतानागतादिसिद्धदर्शनपर्यन्तमन्यद्वा जिज्ञासितं योगी जानाति । पूर्वोक्तात्संयमात्संयमान्तराणि विनापीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

प्रातिभाद्वा सर्वम् । प्रातिभं स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकं ज्ञानं विवेकजस्य वक्ष्यमाणसार्वज्ञ्यस्य पूर्वरूपं यथा सूर्योदयस्य पूर्वरूपं प्रभा तद्वत् । तच्च वक्ष्यमाणक्रमाज्जायते । ततः प्रातिभाद्वा सर्वं पूर्वोक्तमतीतानागतादिसिद्धदर्शनपर्यन्तमन्यद्वा जिज्ञासितं योगी जानाति संयमान्तराणि विनापीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

मणिप्रभा ।

प्रातिभादिति । विवेकख्यातिर्हि प्रसंख्यानं संसारतारकं तदर्थं संयमे क्रियमाणे प्रसंख्यानोपसूचकं प्रतिभया ऊहमात्रेण जातं प्रातिभं ज्ञानं भवति । तेन वा योगी सर्वं जानाति । यथा सूर्योदये सूचकारुणप्रभया लोकः पश्यति तद्वत् । राजवार्तिके तु सर्वनिमित्तानपेक्षमनोमात्रजन्यं यथार्थं झटित्युत्पद्यमानं ज्ञानं प्रतिभा । तस्याः संयमात् प्रातिभं विवेकख्यातेः पूर्वभावि तारकमुदेति । तेन सर्वं योगी जानातीति व्याख्यातम् ॥ ३३ ॥

चन्द्रिका ।

प्रातिभादिति । यथार्थं द्रागुत्पद्यमानं ज्ञानं प्रतिभा, तस्यां संयमे क्रियमाणे तारकं ज्ञानमुदेति संयमान्तरानपेक्षः सर्वं जानातीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

योगसुधाकरः ।

प्रातिभादिति । विवेकख्यातिर्हि प्रसंख्यानं संसारतारकम् । तदर्थं संयमे क्रियमाणे प्रसंख्यानोदयसूचकं प्रतिभया ऊहमात्रेण जातं प्रातिभं ज्ञानं भवति । तस्माद्वा योगी सर्वं जानाति । यथा सूर्योदयसूचकारुणप्रभया सर्वं लोकः पश्यति, तद्वदित्यर्थः ॥ ३३ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

हृदयं शरीरस्य प्रदेशविशेषस्तस्मिन्नधोमुखस्वल्पपुण्डरीकाभ्यन्तरेऽन्तःकरणसत्त्वस्य स्थानं, तत्र कृतसंयमस्य स्वपरचित्तज्ञानमुत्पद्यते । स्वचित्तगताः सर्वा वासनाः परचित्तगतांश्च रागादीञ्जानातीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

संयमस्य क्षुद्रसिद्धय उक्ताः । इदानीमात्मसाक्षात्काररूपां संयमस्य मुख्यसिद्धिं वक्तुमादौ तत्संयमहेतोश्चित्तसाक्षात्कारस्य कारणं संयममाह—**हृदय** इति ।

हृदयाकाशे चित्तभूमौ संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तात्द्बुद्धिसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अथात्मसाक्षात्काररूपां संयमस्य मुख्यसिद्धिं वक्तुमादौ तत्संयमहेतोश्चित्तसाक्षात्कारस्य कारणं संयममाह—**हृदये चित्तसंवित्** । हृदयाकाशे ब्रह्मपुराख्ये दहराख्ये तद्धि चित्तस्य वेश्म गृहं स्थानं तत्र साक्षात्कारपर्यन्तसंयमात्सकलवृत्तिविशिष्टचित्तसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

मणिप्रभा ।

हृदय इति । अधोमुखे हृत्पद्मे चित्तस्य स्थाने संयमात्सवासनस्य चित्तस्य संविद्भवतीत्यर्थः ॥३४॥

चन्द्रिका ।

हृदय इति । हृदयपुण्डरीकान्तः कृतसंयमस्य स्वपराचित्तज्ञानमुत्पद्यते स्वपराचित्तगतं सर्वं जानातीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

योगसुधाकरः ।

हृदय इति । अधोमुखे हृत्पद्मे चित्तस्थाने संयमात्सवासनाचित्तस्य संविद्भवतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषाद्भोगः परार्थान्यस्वार्थसंयमा(१)त्पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

सत्त्वं प्रकाशसुखात्मकः प्राधानिकः परिणामविशेषः, पुरुषो भोक्ताऽधिष्ठातृरूपः, तयोरत्यन्तासंकीर्णयोर्भोग्यभोक्तृरूपत्वाच्चेतनाचेतनत्वाच्च भिन्नयोर्यः प्रत्ययस्याविशेषो भेदेनाप्रतिभासनं तस्मात्सत्त्वस्यैव कर्तृतात्यत्ययेन या सुखदुःखसंवित्स भोगः । सत्त्वस्य स्वार्थनैरपक्ष्येण परार्थः पुरुषार्थनिमित्तस्तस्मादन्यो यः स्वार्थः पुरुषस्वरूपमात्रालम्बनः परित्यक्ताहंकारसत्त्वे या चिच्छायासंक्रान्तिस्तत्र कृतसंयमस्य पुरुषविषयं ज्ञानमुत्पद्यते । तत्र तदेवंरूपं स्वालम्बनं ज्ञानं सत्त्वनिष्ठः(२) पुरुषो जानाति न पुनः पुरुषो ज्ञाता ज्ञानस्य विषयभावमापद्यते, ज्ञेयत्वापत्तेर्ज्ञातृज्ञेययोश्चात्यन्तविरोधात् ॥ ३५ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

चित्ते ज्ञाते चित्ताद्विवेकेनात्मसाक्षात्कारो भवतीत्यौत्सर्गिकक्रममनुसृत्याह—सत्त्वेति ।

सत्त्वपुरुषयोर्बुद्धिपुरुषयोरत्यन्तविधर्मिणोरपि प्रत्ययाविशेषः प्रत्ययाविवेको भोगशब्दार्थः । तयोः प्रत्यययोर्मध्ये परार्थात्प्रत्ययाद्विवेकेन स्वार्थे पौरुषेये प्रत्यये संयमात्साक्षात्कारपर्यन्ताद्धेतोः स्वयमेव पूर्णत्वाद्यशेषविशेषैः पुरुषसाक्षात्कारो भवति । तादृशसंयमाभावेऽपीत्यर्थः । बुद्धेः प्रत्ययः शब्दाद्याकारा सुखाद्यात्मिका वृत्तिः । पुरुषस्य प्रत्ययश्च तदनाच्छिन्नचैतन्यम् । तत्र चैकैकमात्रैकस्य गौणो भोगः । स च 'चिदवसानो भोगः' इति सांख्यसूत्रे योगभाष्ये च सिद्धः । अनेन सूत्रेण तप्तायःपिण्डवदविविक्तं तदुभयमेव भोग इति लोकव्यवहारेणोक्तम् । लोकैर्हि शब्दादिग्रहीता अहं सुखीत्याद्यभिमानपूर्वकसुखाद्यनुभव एव भोगतया व्यवह्रियते । अतोऽयं सुखभोग इति भोगमध्ये चैतन्यस्य विवेकव्यतयाऽत्र सूत्रेऽपि भोगोऽपि लक्षितः । आत्मतत्त्वज्ञानार्थिभिश्चायमेव संयमः सततं कर्तव्य इति ॥ ३५ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

चित्ते च ज्ञाते ततो विवेकेनात्मसाक्षात्कारो भवतीत्यौत्सर्गिकक्रममाश्रित्याह—

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ।

सत्त्वं हि स्वप्रकाशरूपमिति स्वच्छं तच्च स्वाविनाभूते अपि रजस्तमसी अभिभूय विवेकख्यातिरूपेण परिणमते तत्तथापरिणताद्बुद्धिसत्त्वादपि यदि चैतन्यं शुद्धं ततो विभक्तं ततः किं वक्तव्यं जडस्वभावाभ्यां रजस्तमोभ्यामिति सूचयितुं सूत्रे सत्त्वेत्युक्तम् । तयोः सत्त्वपुरुषयोर्बुद्धिचैतन्ययोः परिणामित्वापरिणामित्वरूपविरुद्धधर्माध्यासादत्यन्तासङ्कीर्णयोरपि योऽनाद्यविद्यावासनावशात्प्रत्ययाविशेषः प्रत्ययद्वयाविवेकोऽभेदभ्रमो वा स भोगः शान्तघोरमूढप्रत्ययरूपबुद्धिवृत्तिप्रत्ययधर्मशान्तत्वादीनां परस्परप्रतिबिम्बाच्चैतन्येऽध्यारोप इति यावत् । यतः सा पुरुषाय दर्शितविषया, स्वतस्तस्याः परिणामित्वेन विषयग्रहणाभावात् । तत्र बुद्धिः वृत्तिरूपा परार्थत्वादस्येति परार्था तस्माद्भिन्ने विवेकेन स्वार्थपु-

---

(१) प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात् स्वार्थसंयमादिति पाठो भाष्यसम्मतः ।

(२) सत्त्वनिष्ठमिति पाठान्तरम् ।

रुषरूपप्रत्यये यः साक्षात्कारपर्यन्तः संयमस्तस्माद्धेतोः स्वयमेव पूर्णत्वकूटस्थत्वाद्यशेषविशेषैः साक्षात्कारो भवतीत्यर्थः । अत्र परार्थत्वं परस्य भोगापवर्गसाधनत्वं, स्वार्थत्वं तु परार्थत्वाभाव एव स्वस्य भोगापवर्गसाधनत्वम् । अत्र भोगः स्वात्मकविषयानुभव एवेति केचित् । ननु पुरुषविषयः साक्षात्कारश्चेत्स तस्य विषय इति साक्षात्कारान्तरमायातं, बुद्धिसत्त्वात्मना तु प्रत्ययेन जडत्वान्न स्वविवेकेन पुरुषज्ञानं भवतीत्यनवस्था, स्वस्वरूपत्वे कथं तस्य संयमफलत्वं प्रागेव सिद्धत्वादिति चेन्न । घटाकाशवच्छब्दादिवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यभागस्य वृत्तिविवेकेन साक्षात्कारस्य परिपूर्णत्वादिरूपैरखिलप्रपञ्चविवेकेन तत्साक्षात्कारस्य तत्फलत्वात्, बुद्धिसत्त्वगतपुरुषप्रतिबिम्बालम्बनोऽयं पुरुषात्मकः प्रत्यय इत्यदोषाच्च । निष्ठत्वस्य स्वरूपस्थित्यैव । तथाच श्रुतिः—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इति । बुद्धेः प्रत्ययः शब्दादिसुखाद्याकारा वृत्तिः, पुरुषप्रत्ययश्च स्वरूपः बुद्ध्यवच्छिन्नचैतन्यमिति केचित् । तत्त्वज्ञानार्थिना चायमेव संयमो मुख्यः । तत्रास्य संयमस्य पुरुषज्ञानात्मरूपविभूतयः ॥ ३५ ॥

मणिप्रभा ।

सत्त्वेति । बुद्ध्यात्मनोर्भोग्यभोक्तृत्वेनात्यन्तभिन्नयोर्यः प्रत्ययाविशेषो बुद्धिपरिणामः सुखदुःखमोहप्रत्ययः पुरुषस्य प्रतिबिम्बग्राहिभिरविशेषः सारूप्यं प्रतिबिम्बद्वारा सुखाद्यारोपः स भोगो बुद्धिस्थो दृश्यत्वात्परार्थः पुरुषस्य भोक्तुः शेषभूतस्तस्मात्परार्थाद्भोगाच्चित्प्रतिबिम्बोपसर्जनकप्रत्ययरूपाज्जडादन्यश्चित्स्वभावः प्रतिबिम्बः स्वार्थो नान्यशेषः । तत्र संयमात्पुरुषस्य साक्षात्कारो भवति । सोऽपि स्वप्रकाशेन पुरुषेण दृश्यो बुद्धिस्थो न पुरुषं विषयीकर्तुमीष्टे । किन्त्वनात्माकारत्वशून्यत्वेनात्ममात्रप्रतिबिम्बग्राहित्वात्पुरुषज्ञानमित्युच्यते । तथा च श्रुतिः—'विज्ञातारमरे केन विजानीयादि'ति ॥ ३५ ॥

चन्द्रिका ।

सत्त्वेति । सत्त्वं प्रकाशसुखात्मकः प्राधानिकः परिणामः पुरुषो भोक्ता तयोश्चेतनाचेतनत्वादत्यन्तासङ्कीर्णत्वं तयोः प्रत्ययस्याविशेषात् भेदेनाप्रतिभासनात् या सुखसंवित् सा भोगः स पुरुषनिमित्तत्वात् परार्थः तदन्यः स्वार्थः पुरुषस्वरूपमात्रालम्बनः परित्यक्ताहङ्कारे सत्त्वे चिच्छायासङ्क्रमस्तत्र कृतसंयमस्य पुरुषज्ञानमुत्पद्यते ॥ ३५ ॥

योगसुधाकरः ।

सत्त्वेति । बुद्ध्यात्मनोर्भोग्यभोक्तृत्वेनात्यन्तभिन्नयोः प्रत्ययाविशेषो बुद्धिपरिणामैः सुखदुःखमोहप्रत्ययैः पुरुषस्य प्रतिबिम्बग्राहिभिरविशेषः सारूप्यं प्रतिबिम्बद्वारा यः सुखाद्यारोपः, स भोगो बुद्धिस्थो दृश्यत्वात्परार्थः पुरुषस्य भोक्तुः शेषभूतः । तस्मात्परार्थाद्भोगाज्जडादन्यश्चित्स्वभावः स्वार्थोऽनन्यशेषः पुरुषः । तत्र संयमात्पुरुषस्य साक्षात्कारो भवति । तं साक्षात्कारमपि पुरुषो जानाति । न पुनर्ज्ञाता ज्ञेयः, ज्ञातृज्ञेयत्वयोरत्यन्तविरोधादिति भावः ॥ ३५ ॥

भोजवृत्तिः ।

अस्यैव संयमस्य फलमाह —

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

ततः पुरुषसंयमादभ्यस्यमानाद्व्युत्थितस्यापि ज्ञानानि जायन्ते । तत्र प्रातिभं पूर्वोक्तं ज्ञानं तस्याऽऽविर्भावात्सूक्ष्मादिकमर्थं पश्यति । श्रावणं श्रोत्रेन्द्रियजं ज्ञानं, तस्माच्च प्रकृष्टाद्दिव्यं-दिवि भवं-शब्दं जानाति । वेदना स्पर्शेन्द्रियजं ज्ञानं, वेद्यतेऽनयेति कृत्वा, तान्त्रिकया संज्ञया व्यवह्रियते, तस्माद्दिव्यस्पर्शविषयं ज्ञानं समुपजायते । आदर्शश्चक्षुरिन्द्रियजं ज्ञानम्, आ समन्ताद्दृश्यतेऽनुभूयते रूपमनेनेति कृत्वा, तस्य प्रकर्षाद्दिव्यं रूपज्ञानमुत्पद्यते । आस्वादो रसनेन्द्रियजं ज्ञानम्, आस्वाद्यतेऽनेनेति कृत्वा, तस्मिन्प्रकृष्टे दिव्ये रसे संविदुपजायते(१) । वार्ता गन्धसंवित्(२), वृत्तिशब्देन तान्त्रिकया परि-

(१) दिव्यरससंविदुपजायत इति पाठान्तरम् । (२) संवित्तिरिति पाठान्तरम् ।

भाषया घ्राणेन्द्रियमुच्यते,—वर्त्तते गन्धविषय इति कृत्वा, वृत्तेर्घ्राणेन्द्रियाज्जाता वार्त्ता गन्धसंवित्। तस्यां प्रकृष्यमाणायां दिव्यगन्धोऽनुभूयते ॥ ३६ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

स्वार्थप्रत्ययसंयमेनात्मसाक्षात्कारे जाते तच्चिह्नानि वक्ष्यमाणलक्षणस्य विवेकजज्ञानस्य पूर्वरूपाणि प्रतिभाद्याः सिद्धयो भवन्ति। ताश्च पौरुषैकाग्रपरिपन्थित्वेनासंप्रज्ञातयोगे विघ्नभूता इति प्रतिपादयितुमादौ ताः प्रदर्शयति—तत इति।

ततः पुरुषसाक्षात्कारान्मनआदीनां प्रातिभादिसंज्ञाः षट्सिद्धयः सामर्थ्यविशेषरूपा भवन्तीत्यर्थः। तत्रोपदेशादिकं विनापि सूक्ष्मव्यवहितादिषु मनसो यथार्थज्ञानसामर्थ्यं प्रातिभमित्युच्यते। श्रोत्रस्य तादृशं सामर्थ्यं श्रावणम्। त्वचस्तादृशं सामर्थ्यं वेदनम्। चक्षुष आदर्शः। रसनाया आस्वादनम्। घ्राणस्य वार्तेति ॥ ३६ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

फलं तावद्दर्शयति—ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते। तत उक्तसंयमात् प्रातिभादिसंज्ञाः षट् सिद्धयो भवन्तीत्यर्थः। दृष्टकारणं विनैवाकस्माद्व्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतसूक्ष्मार्थेषु यथार्थज्ञानसामर्थ्यं प्रतिभा तज्जन्यं ज्ञानं प्रातिभं मनसः सिद्धिः। तथा व्यवहितादिश्रवणसामर्थ्यं श्रोत्रस्य सिद्धिः। त्वचस्तादृशं सामर्थ्यं वेदनं, चक्षुष आदर्शः, रसनाया आस्वादः, घ्राणस्य वार्तेति ३६॥

मणिप्रभा।

संप्रत्यस्य संयमस्य पुरुषसाक्षात्कारात्प्राग्भवाः सिद्धीर्दर्शयति—तत इति।

ततः स्वार्थसंयमात्प्रातिभं पूर्वोक्तं सर्वगोचरं ज्ञानं मनोमात्रेण योगजशुक्लधर्मानुगृहीतेन जायते। दिव्यानां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां ग्राहकाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि क्रमेण श्रावणवेदनादर्शास्वादवार्तासंज्ञानि जायन्ते। दिव्यशब्दग्राहकं श्रोत्रं यदा योगिनो भवति तदा तस्य श्रोत्रस्य श्रावणमिति तान्त्रिकी संज्ञा भवति, तथा घ्राणस्य वार्ता, संज्ञेत्यादूहनीयम् ॥ ३६ ॥

चन्द्रिका।

अस्य फलमाह—तत इति।

ततः पुरुषसंयमात् व्युत्थितस्यापि ज्ञानानि जायन्ते। तत्र प्रातिभं पूर्वोक्तं ज्ञानं, श्रावणं श्रोत्रेन्द्रियजं, वेदना स्पर्शनेन्द्रियजमादर्शश्चक्षुरिन्द्रियजं ज्ञानमास्वादो रसनेन्द्रियजं ज्ञानं, वार्ता गन्धसंवित्। सर्वत्र दिव्यत्वं विवक्षितमेतानि भवन्ति ॥ ३६ ॥

योगसुधाकरः।

अधुनास्यैव संयमस्य पुरुषसाक्षात्कारात्प्राग्भवाः सिद्धीरुपदर्शयति—तत इति।

दिव्यशब्दग्राहकं श्रोत्रं यदास्य योगिनो भवति तदा तस्य श्रोत्रस्य श्रावणमिति तान्त्रिकी संज्ञा भवति। एवं घ्राणस्य वार्त्तेति संज्ञेत्यादूह्यम् ॥ ३६ ॥

भोजवृत्तिः।

एतेषां फलविशेषाणां विषय(१)विभागमाह—

(२)ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः॥ ३७॥

ते प्राक्प्रतिपादिताः फलविशेषाः समाधेः प्रकर्षं गच्छत उपसर्गा उपद्रवा विघ्नकारिणः। तत्र हर्षविस्मयादिकरणेन समाधिः शिथिलीभवति। व्युत्थाने तु पुनर्व्यवहारदशायां विशिष्टफलदायकत्वात्सिद्धयो भवन्ति ॥ ३७ ॥

---

(१) विशेष इति पाठान्तरम्।

(२) आत्मसंयमप्रवृत्तः पुरुषः अमूः सिद्धीः प्राप्य आत्मानं कृतार्थम्मन्यः संयमाद्विरमेदतस्तद्विरामपरिहारायाह त इति।

भावागणेशवृत्तिः ।

एतासूपेक्षां कृत्वा समाधिरेवासंप्रज्ञातार्थं कार्य इति प्रतिपादयितुमाह—त इति ।

ते प्रातिभाद्याः समाधौ विघ्नरूपा व्युत्थाने व्युत्थितचित्तानामेव सिद्धयः पुरुषार्थाः ॥ ३७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

एतास्तूपेक्षणीया योगिन इत्याह—ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः । स्पष्टम् ॥ ३७ ॥

मणिप्रभा ।

ननु तर्ह्ययं योगी कृतकृत्य इत्यत आह—त इति ।

ते प्रातिभाऽऽदयः समाधौ निःश्रेयसफले रतस्योपसर्गा विघ्ना भवन्ति । अतो मुक्त्यर्थी तानुपेक्षेत । न ह्यात्मसम्बोधनं विना सिद्धिकोट्याऽपि कृतकृत्यता भवति । तदुक्तम् । परमगुरुणा श्रीकृष्णेन—

एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत । इति ।।

व्युत्थाने रतस्य तु ताः सिद्धयो भवन्तीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

चन्द्रिका ।

त इति । ते प्राक् प्रतिपादिताः फलविशेषाः समाधावुपद्रवा विघ्ना व्युत्थाने विशिष्टफलदायकत्वात् सिद्धयो भवन्तीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

योगसुधाकरः ।

तर्ह्ययं योगी कृतकृत्यः; किं तस्य कार्यमस्तीत्याशङ्कमानं प्रत्याह—त इति ।

ते प्रातिभादयः समाधावपवर्गफले उपसर्गा विघ्ना भवन्ति । अतो मोक्षाकाङ्क्षिणा ते तावदुपेक्षणीयाः । यदि तत्रापेक्षा स्यात्तदा मोक्षाद्भ्रष्टः कथं कृतकृत्यतामियात् ? न ह्यात्मप्रत्ययमन्तरेण कृतकृत्यता समस्ति । न चैते स्वात्मज्ञान उपकुर्वन्ति । अपि तु व्युत्थाने सिद्धयो भवन्ति । एतदेवाभिप्रेत्योक्तम्—

द्रव्यमन्त्रक्रियाकालशक्तयः साधु सिद्धिदाः ।
परमात्मपदप्राप्तौ नोपकुर्वन्ति काश्चन ।
सर्वेच्छालाभसंशान्तावात्मलाभोदयो हि यः ॥
स कथं सिद्धिवाञ्छायां मग्नचित्तेन लभ्यते । इति ॥ ३७ ॥

भोजवृत्तिः ।

।सद्ध्यन्तरमाह—-

(१) बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

व्यापकत्वादात्मचित्तयोर्नियतकर्मवशादेव शरीरान्तर्गतयोर्भोक्तृभोग्यभावेन यत्संवेदनमुपजायते स एव शरीरे बन्ध इत्युच्यते । तद्यदा समाधिवशाद्बन्धकारणं धर्माधर्माख्यं शिथिलं भवति तानवमापद्यते, चित्तस्य च योऽसौ प्रचारो हृदयप्रदेशादिन्द्रियद्वारेण विषयाभिमुख्येन प्रसरस्तस्य सम्वेदनं ज्ञानमियं चित्तवहा नाडी अनया चित्तं वहति, इयं च रसप्राणादिवहाभ्यो(२) नाडीभ्यो विलक्षणेति, स्वपरशरीरयोर्यदा सञ्चारं जानाति तदा परकीयं शरीरं मृतं(३) जीवच्छरीरं वा चित्तसञ्चारद्वारेण प्रविशति । चित्तं परशरीरे प्रविशदिन्द्रियाण्यपि अनुवर्तन्ते मधुकरराजमिव मधुमक्षिकाः । अथ परशरीरप्रविष्टो योगी स्वशरीरवत्तेन व्यवहरति(४) । यतो व्यापकयोश्चित्तपुरुषयोर्भोगसङ्कोचे कारणं कर्म तच्चेत्समाधिना क्षिप्तं तदा स्वातन्त्र्यात्सर्वत्रैव भोगनिष्पत्तिः ॥ ३८ ॥

---

(१) ज्ञानरूपं फलं गतेन प्रबन्धेन दर्शयित्वा क्रियारूपमाह बन्धेत्यादि । प्रचारेत्यत्र प्रसरेति पाठान्तरम् ।

(२) इयं च प्राणादीति पाठान्तरम् । (३) परकीयं मृतमिति पाठान्तरम् ।

(४) तेन सर्वं व्यवहरतीति पाठान्तरम् ।

भावागणेशवृत्तिः।

तदेवं ज्ञानादिरूपाः संयमसिद्धीः प्रदर्श्य क्रियारूपा अपि संयमसिद्धीराह सूत्रजातेन—बन्धेति।

चञ्चलस्वभावस्यापि मनसो धर्माधर्मवशादेव शरीरे बन्धो ज्ञानहेतुसंयोगस्थैर्यं भवति। तस्य बन्धकारणस्य कर्मण इत्यर्थः। शैथिल्यं दृढबन्धनाक्षमतारूपतानवं तस्माच्चित्तस्य प्रचारसंवेदनमनया नाड्या एवं प्रकारेण चित्तं शरीरे प्रविशति निर्गच्छतीत्येवंरूपं योगजधर्माज्जायते। ततस्ताभ्यां योगिनां परशरीरावेशरूपा सिद्धिर्भवति। एवञ्च स्वशरीराल्लिङ्गशरीरं निस्सार्य परशरीरे प्रवेश्यत इत्यर्थः॥ ३८॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अथ क्रियारूपाः संयमसिद्धीराह—बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः। चञ्चलस्वभावस्य मनसो धर्माधर्मवशाच्छरीरे बन्धो ज्ञानहेतुसंयोगस्थैर्यं तत्कारणस्य कर्मणः शैथिल्यं दृढबन्धनाक्षमतारूपं तानवं तस्माच्चित्तस्य प्रचारसंवेदनमनया नाड्या एवंप्रकारेण चित्तं शरीरे प्रविशति इत्येवंरूपं योगजधर्माज्जायते। तस्माच्च योगी स्वशरीराच्चित्तं निःसार्य परशरीरं प्रवेशयतीत्येषा परशरीरावेशरूपा सिद्धिरित्यर्थः। इन्द्रियाणि च चित्तमनुप्रविशन्ति यथा मधुकरराजं मक्षिकाश्चोत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानं च निविशन्ति, एवं च लिङ्गदेहस्य परशरीरेऽनुप्रवेश इति फलितम्॥ ३८॥

मणिप्रभा।

तदेवं संयमस्य ज्ञानरूपां विभूतिमात्मदर्शनान्तामुक्त्वा क्रियारूपामाह—बन्धेति।

सर्वत्र व्याप्तिशीलस्य चित्तस्य स्वशरीरमात्रे सङ्कोचेन स्थितिर्बन्धः तस्य कारणं धर्माधर्मौ तयोः संयमेन शैथिल्यं भवति। प्रचरत्यनेन चित्तमिति प्रचारो नाडीसङ्घः तस्यापि संयमेन संवेदनमधुनाऽनया नाड्या सञ्चरतीति ज्ञानं भवति, तथा प्राणेन्द्रियमार्गेनाडीज्ञानं भवति। तथा च बन्धकरज्जुनाशे मार्गज्ञस्य स्वपरवेश्मप्रवेशवच्चित्तस्य परकाये मृते जीवति वा प्रवेशो भवति चित्तमन्विन्द्रियाणि विशन्ति मधुकरराजमिव मक्षिका इत्यर्थः॥ ३८॥

चन्द्रिका।

बन्धेति। व्यापकत्वादात्मचित्तयोर्नियतकर्मणा शरीरान्तर्यद्वेदनं स बन्धस्तस्य कारणं धर्माधर्मरूपं यदा शिथिलं भवति तस्माच्चित्तस्य यः प्रचारो हृदयाद्विषयाभिमुख्येन प्रसरस्तस्य ज्ञानाच्चित्तवहनाड्यादि यो जानाति (१)स परशरीरं सजीवं मृतं वा प्रविशति सर्वं सूक्ष्मं तदनु(२) मधुकरराजमिव मधुमक्षिकाः कर्मनाशाद्योगी सर्वत्र व्यवहरतीत्यर्थः(३)॥ ३८॥

योगसुधाकरः।

तदेवं संयमस्य साक्षात्काररूपात्मदर्शनान्तां विभूतिमभिधाय अथ क्रियारूपामाह—बन्धेति।

सर्वत्र व्याप्तिशीलस्य चित्तस्य स्वशरीरमात्रे सङ्कोचेन स्थितिर्बन्धः। तस्य कारणं धर्माधर्मौ। तयोः संयमेन यच्छैथिल्यं भवति; प्रचरत्यनेन चित्तमिति प्रचारो नाडीसंघः, तस्यापि संयमेन यद्वेदनं साक्षात्कारो भवति; ताभ्यां चित्तस्य परकाये मृते जीवति वा प्रवेशो भवति। चित्तमन्विन्द्रियाण्यपि विशन्ति मक्षिका मधुकरराजमिवेत्यर्थः॥ ३८॥

भोजवृत्तिः।

सिद्ध्यन्तरमाह—

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च॥ ३९॥

---

(१) इयं चित्तवहा नाडी अनया चित्तं वहति इयं च प्राणादिवहाभ्यो नाडीभ्यो विलक्षणेति स्वपरशरीरयोः सञ्चारं यदा जानातीत्यर्थः।

(२) तस्मिंश्च चित्तप्रवेशे सर्वं सूक्ष्ममिन्द्रियादि उपावर्तत इत्यर्थः।

(३) सर्वत्र स्वपरशरीरे स्वशरीरवत् व्यवहरतीत्यर्थः।

समस्तानामीन्द्रियाणां तुषज्वालावद्या युगपदुत्थिता वृत्तिः सा जीवनशब्दवाच्या । तस्याः क्रियाभेदात्प्राणापानादिसंज्ञाभिर्व्यपदेशः । तत्र हृदयान्मुखनासिकाद्वारेण वायोः प्रणयनात्प्राण इत्युच्यते । नाभिदेशात्पादाङ्गुष्ठपर्यन्तमपनयनादपानः । नाभिदेशं परिवेष्ट्य समन्तान्नयनात्समानः । कृकाटिकादेशादा शिरोवृत्तेरुन्नयनादुदानः । व्याप्य नयनात्सर्वशरीरव्यापी व्यानः । तत्रोदानस्य संयमद्वारेण जयादितरेषां वायूनां निरोधादूर्ध्वगतित्वेन जले महानद्यादौ महति वा कर्दमे तीक्ष्णेषु कण्टकेषु वा न सज्जतेऽतिलघुत्वात् । तूलपिण्डवज्जलादौ मज्जितोऽप्युद्गच्छतीत्यर्थः(१) ॥ ३९ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

योगशास्त्रोक्तसंयमविशेषजस्योदानजयस्य सिद्धिमाह—उदानेति ।

रसादूर्ध्वनयनादूर्ध्वगतिप्रदत्वाच्चोर्ध्वसंचारी प्राणस्यावान्तरभेद उदान उच्यते । संयमविशेषेण तस्य जयात्स्वायत्ततायां सत्यां जलादिषु संचरतोऽपि तेष्वसंगो विकारहेतुसंयोगशून्यता भवति । तथा आर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकगमनाय ब्रह्मरन्ध्रं भित्त्वा लिङ्गशरीरस्य बहिर्निःसरणं च स्वेच्छया भवतीत्यर्थः ३९

नागोजीभट्टवृत्तिः।

सिद्ध्यन्तरमाह—उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च । रसादूर्ध्वनयनादूर्ध्वगतिप्रदत्वाच्चोर्ध्वसंचारी प्राणावान्तरभेद उदानः संयमविशेषेण तस्य जये स्वायत्ततायां जलादिषु संचरतोऽपि तेष्वसङ्गो विकारहेतुसंयोगशून्यता भवति । तथार्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकगमनाय ब्रह्मरन्ध्रं भित्त्वा लिङ्गदेहस्य बहिर्निःसरणं स्वेच्छया भवतीत्यर्थः । तत्र प्राणो मुखनासिकागतिरा नासिकाग्राद्धृदयमवस्थितः । मूत्रपुरीषगर्भादीनामपसरणहेतुरपान आ नाभेरापादतलवृत्तिः । उदानस्तूक्तलक्षण आ नासिकाग्रादाशिरोवृत्तिः । व्यापी व्यान इति ॥ ३९ ॥

मणिप्रभा।

उदानेति । द्वयी खल्विन्द्रियाणां प्रवृत्तिः । बाह्याऽऽद्याऽऽलोचनरूपा, आन्तरा जीवनयोनिप्रयत्नरूपा सर्वकरणसाधारणी, अस्या कार्याः पञ्च प्राणादयः । तत्र नासिकाऽग्राद्धृदयं स्थितः प्राणः, आहृदयादानाभि स्थितः समानो भुक्तं समं नयतीति, आनाभेरापादतलं स्थितोऽपानो मलमपनयतीति, आनासाग्रादाशिरोवृत्तिरुदान उत्क्रान्तिहेतुः, सर्वदेहव्यापी व्यानः, तेषु प्राणः श्रेष्ठः । तत्रोदानस्य संयमेन जयादम्बुपङ्ककण्टकादिष्वसक्तो योगी लघुत्वादुपरि गच्छति, स्वेच्छया मरणं च लभत इत्यर्थः ॥३९॥

चन्द्रिका।

उदानेति । हृदयान्मुखनासिकाद्वारेण वायोः प्रणयनात् प्राण इत्युच्यते । नाभिप्रदेशात् पादाङ्गुष्ठपर्यन्तमपनयनादपानो नाभिप्रदेशं परिवेष्ट्य समन्तान्नयनात् समानः, कृकाटिकादेशादाशिरोवृत्तेरुन्नयनादुदानः, व्याप्य नयनात् सर्वशरीरव्यापी व्यानः । उदानस्य संयमद्वारेण जयादितरेषां वायूनां निरोधादूर्ध्वगामित्वेन जले नद्यादौ कर्दमे कण्टकादिषु वा न सजते अतिलघुत्वात्तूलपिण्डवज्जलादौ मज्जितोऽपि उद्गच्छतीत्यर्थः । अयमुत्क्रान्तिशब्दार्थः ॥ ३९ ॥

योगसुधाकरः ।

उदानेति । समस्तेन्द्रियाणां युगपत्तूलज्वालावदुत्पन्ना या वृत्तिर्जीवशब्दवाच्या, सा क्रियाभेदेन प्राणापानादिसंज्ञाभिर्व्यपदिश्यते । तत्रोदानस्य आ नासाग्राद् शिरोवृत्तेः संयमेन जयाज्जलादिष्वसक्तो योगी लघुत्वादुपरि गच्छति, स्वेच्छया मरणं च लभत इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

समानजयात्प्रज्वलनम् (२)॥ ४० ॥

---

(१) तूलपिण्डवज्जलादावनिमज्जंस्तदुपरि तरन्नेव गच्छतीति पाठान्तरम् ।

(२) जयाज्ज्व—इति भाष्यभवदेवसम्मतः पाठः । क्वचिद्भोजवृत्तावप्येतादृश एव पाठः ॥

अग्निमावेष्ट्य व्यवस्थितस्य समानाख्यस्य वायोर्जयात्संयमेन वशीकारान्निरावरणस्याग्नेरुद्भूतत्वात्तेजसा प्रज्वलन्निव योगी प्रतिभाति ॥ ४० ॥

भावागणेशवृत्तिः।

समानेति। समं सर्वनाडीषु रसानां संचारणात्समानः प्राणभेदस्तस्य संयमविशेषेण स्वायत्ततायां सत्यां तत्प्रज्वलितेन शरीराग्निना शरीरस्य प्रज्वलनं दाहो भवति सतीदेहस्येवेत्यर्थः ॥ ४० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

समानजयात्प्रज्वलनम्। प्रज्वलनं शारीरतेजस उत्तेजनेन शरीरस्य दहनं सतीदेहस्येव ॥४०॥

मणिप्रभा।

समानेति। नाभिनिकटस्थाग्निव्यापिनः समानस्य वशीकारादग्नेर्ज्वलनं भवति, येन ज्वलन्निव दृश्यत इत्यर्थः। एवं प्राणादिजयात्स्वेच्छया तत्क्रियासिद्धिर्बोध्या ॥ ४० ॥

चन्द्रिका।

समानेति। अग्निमावेष्ट्य स्थितस्य वायोः समानाख्यस्य जयाद्वशीकारादग्नेस्तेजसा प्रज्वलन्निव योगी भातीत्यर्थः ॥ ४० ॥

योगसुधाकरः।

समानेति। आ हृदयादानाभि स्थितः समानः। तस्य वशीकारान्नाभिनिकटस्थाग्नेर्ज्वलनं भवति। येनासौ योगी ज्वलन्निव दृश्यत इत्यर्थः ॥ ४० ॥

भोजवृत्तिः।

सिद्ध्यन्तरमाह—

श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

श्रोत्रं शब्दग्राहकमाहंकारिकमिन्द्रियम्। आकाशं व्योम शब्दतन्मात्रकार्यम्। तयोः संबन्धो देशदेशिभाव(१)लक्षणस्तस्मिन्कृतसंयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं प्रवर्तते, युगपत्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टशब्दग्रहणसमर्थं भवतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

श्रोत्रेति। श्रोत्रस्याहङ्कारिकत्वेऽप्याकाशसंसृष्टाहङ्कारकार्यतया श्रोत्राकाशयोराधाराधेयभावः संबन्धोऽस्ति। तस्य संयमात्साक्षात्कारे सति दिव्यं श्रोत्रं जायते। येन व्यवहितविप्रकृष्टसूक्ष्मशब्दा ग्राह्या भवन्तीत्यर्थः। उपलक्षणं चैतत्। त्वग्वात्योश्चक्षुस्तेजसो रसनोदकयोर्घ्राणपृथिव्योः संबन्धसंयमाद्दिव्यत्वगादीत्यपि बोध्यम् ॥ ४१ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्। आहंकारिकस्यापि श्रोत्रेन्द्रियस्य कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभ आधारः। तदुपकारापकाराभ्यां श्रोत्रस्य तद्दर्शनात्। एवमाहंकारिकाणामेव घ्राणरसनत्वक्चक्षुषां पृथ्वीजलवायुतेजांसि भूतान्यधिष्ठानानि। एवं तत्तद्ग्राह्यगुणाधिष्ठानानि च तानि द्रव्याणि। यथा शब्दानामाकाशं गन्धस्य पृथ्वी रसस्य जलं स्पर्शस्य वायुः रूपस्य तेज इति। स्वाश्रयवृत्तितद्गुणसामानाधिकरण्यादेव तत्तद्गुणसहकारेण बाह्यपृथिव्यादिशब्दग्रहणरूपकार्यं कुर्वन्ति। तत्राहंकारिकं श्रोत्रमयस्तुल्यमयस्कान्तमणितुल्येन वक्तृवक्त्रसमुत्पत्तिमता वक्तृस्थेन शब्देनाकृष्टं स्ववृत्तिपरंपरया वक्तृवक्त्रमागतं शब्दं गृह्णाति। अतएव तत्तद्दिग्देशवर्तित्वेन शब्दप्रतीतिः सर्वानुभवसिद्धोपपन्ना। एवं श्रोत्राधिष्ठानत्वं शब्दगुणत्वं चाकाशलक्षणम्। एवमनावरणमपि तल्लक्षणम्। अन्यथा मूर्तैरन्योन्यसंपीडितैः सर्वैः सर्वमावृतं स्यात्। नच मूर्तद्रव्याभावादेवानावरणं, अभावस्यानङ्गीकारात् तस्यापि

(१) देशदेशिभावेति पाठान्तरम्।

भावाश्रितत्वाच्च । नापि पुरुषकृतं तत् । तस्यापरिणामितयाऽवच्छेदकत्वाभावात् । तस्माच्छब्दतन्मात्रस्य परिणामविशेषो नभ अनावरणकृत् । दिगपि तत्तदुपाधिविशिष्टं नभ एव । अनावरणस्य सर्वत्र दर्शनान्नभसो विभुत्वम् । तादृशस्य श्रोत्राकाशयोः संबन्धस्य संयमात्साक्षात्कारे सति तस्य व्यवहितविप्रकृष्टसूक्ष्मशब्दग्रहणयोग्यतारूपं दिव्यत्वं भवतीत्यर्थः । उपलक्षणं चैतत् त्वग्वातयोश्चक्षुस्तेजसो रसनजलयोर्घ्राणपृथिव्योः संबन्धसंयमाद्दिव्यं त्वगादीत्यपि बोध्यम् ॥ ४१ ॥

मणिप्रभा ।

श्रोत्रेति । आहङ्कारिकस्यापि श्रोत्रस्याकाशेनाधाराधेयभावोऽस्ति । उपलक्षणमेतत् । त्वग्वाय्वोः चक्षुस्तेजसोरप्रसनयोः घ्राणभूम्योः सम्बन्धेषु संयमाद्दिव्यानीन्द्रियाणि श्रावणवेदनाऽऽद्युक्तसंज्ञानि सम्भवन्ति, यैर्दिव्यशब्दादीन्युगपज्जानातीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

चन्द्रिका ।

श्रोत्रेति । श्रोत्रेन्द्रियाकाशयोः सम्बन्धो देशदेशिभावस्तस्मिन् कृतसंयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं प्रवर्तते युगपत् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टशब्दग्रहणसमर्थं भवतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

योगसुधाकरः ।

श्रोत्रेति । आहंकारिकस्यापि श्रोत्रस्याकाशेनाधाराधेयभावः संबन्धोऽस्ति । तत्र संयमाद्दिव्यं श्रोत्रेन्द्रियं भवति । तेन हि दिव्यशब्दान्युगपज्जानातीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाऽऽकाशगमनम् ॥४२॥

कायः पाञ्चभौतिकं शरीरं तस्याऽऽकाशेनावकाशदायकेन यः संबन्धस्तत्र संयमं विधाय लघुनि तूलादौ समापत्तिं तन्मयीभावलक्षणां(१) च विधाय प्राप्तातिलघुभावो योगी प्रथमं यथारुचि जले संचरन्क्रमेणोर्णनाभतन्तुजालेन संचरमाण आदित्यरश्मिभिश्च विहरन्यथेष्टमाकाशेन गच्छति ॥ ४२ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

कायेति यत्र कायस्तत्राकाशमिति व्याप्तिरूपसंबन्धोऽस्ति । अवकाशं विना शरीरावस्थानासंभवात् । तस्मिन् संबन्धे संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तादाकाशगमनं संभवति । लघुतूलादिषु समापत्तेः संयमजलघुत्वसाक्षात्कारादपि भवतीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् । यत्र कायस्तत्राकाशमिति व्याप्तिरूपः संबन्धोऽस्ति अवकाशं विना शरीरावस्थानासंभवात् । तत्र संबन्धे पूर्णसंयमस्याकाशगमनं भवति । किंच लघुतूलादिषु परमाणुपर्यन्तेषु संयमजयाल्लघुत्वसाक्षात्कारे वा तत् । जलादौ पद्भ्यां विहरणमूर्णनाभितन्तुमात्रे विहारादिकं त्वार्थम् ॥ ४२ ॥

मणिप्रभा ।

कायेति । तयोः संयोगं जित्वा लघुनि तूलादौ वा तद्भावेन समाधिना लघुकायो भूत्वाऽऽदौ जले विहरति । तत ऊर्णनाभितन्तुषु विहरति । पश्चात्सूर्यरश्मिषु । ततो यथेष्टमाकाशे गच्छतीत्यर्थः ॥४२॥

चन्द्रिका ।

कायेति । कायः शरीरं तस्याकाशेनावकाशदानात् यः सम्बन्धस्तत्र संयमं विधाय लघुनि तूलादौ समापत्तिस्तन्मयीभावलक्षणा तां च विधाय प्राप्तात्यन्तलघुभावो योगी प्रथमं यथारुचि सञ्चरन् क्रमेणोर्णनाभितन्तुजालेन सञ्चरमाणः आदित्यरश्मिभिश्च विहरन् यथेष्टमाकाशेन गच्छति ॥४२॥

(१) समापत्तिस्तन्मयीभावलक्षणा तां चेति पाठान्तरम् ।

योगसुधाकरः ।

कायेति । तयोः संयोगं जित्वा लघुतूलादौ वा तद्भावेन समाधिना लघुकायो भूत्वा आकाशे विहरति, तत ऊर्णातन्तुषु पश्चान्मार्तण्डमयूखेषु, ततो यथेच्छं गगने गच्छतीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

भोजवृत्तिः ।

सिद्ध्यन्तरमाह—

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

शरीराद्बहिर्या मनसः शरीरनैरपेक्ष्येण वृत्तिः सा महाविदेहा नाम विगतशरीराहंकारदार्ढ्यद्वारेणोच्यते(१) ततस्तस्यां कृतात्संयमात्प्रकाशावरणक्षयः सात्त्विकस्य चित्तस्य यः प्रकाशस्तस्य यदावरणं क्लेशकर्मादि तस्य क्षयः प्रविलयो भवति । अयमर्थः—शरीराहंकारे सति या मनसो बहिर्वृत्तिः सा कल्पितेत्युच्यते । यदा पुनः शरीराहंकारभावं परित्यज्य स्वातन्त्र्येण मनसो वृत्तिः साऽकल्पिता, तस्यां संयमाद्योगिनः सर्वे चित्तमलाः क्षीयन्ते ॥ ४३ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

बहिरिति । योगशास्त्रोक्तसंयमविशेषाद्वक्ष्यमाणाद्बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहाख्या सिद्धिर्भवति । ततश्च प्रकाशावरणस्य बुद्धिसत्त्वावरकस्य रजस्तमआदेः क्षयो भवति । तेषां क्षये च निरावरणं योगिनाश्चित्तं स्वेच्छया विहरति जानाति चेत्यर्थः । शरीरप्रतिष्ठस्यैव मनसो बहिर्व्यवहितेषु वृत्तिः कल्पितेत्युच्यते । या तु शरीरनैरपेक्ष्येण तत्त्यागेन बहिर्वृत्तिः सा खल्वकल्पिता महाविदेहोच्यते इति ॥ ४३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः । योगशास्त्रोक्तसंयमविशेषाद्वक्ष्यमाणाद्बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहाख्या सिद्धिस्तस्यां सत्यां प्रकाशावरणस्य बुद्धिसत्त्वावरकस्य रजस्तमआदेः क्षयो भवति तत्क्षये च निरावरणं योगिचित्तं स्वेच्छया विहरति जानाति चेत्यर्थः । शरीरप्रतिष्ठस्यैव मनसो बहिर्व्यवहितादिषु वृत्तिः कल्पिता । या शरीरनैरपेक्ष्येण बहिर्व्यवहितादिषु वृत्तिः साऽकल्पिता महाविदेहेत्युच्यते । पूर्वया चोत्तरा साधनीया । तया च रजस्तमोमूलकसर्वक्लेशकर्मविपाकक्षयः परशरीरावेशश्च सिध्यति ॥ ४३ ॥

चन्द्रिका ।

बहिरिति । शरीराद्बहिर्या मनोवृत्तिः सा महाविदेहा नाम विगतशरीराहङ्कारदार्ढ्यद्वारेणोच्यते ततस्तस्यां कृतसंयमात् प्रकाशावरणक्षयः सात्त्विकचित्तस्य यः प्रकाशस्तस्य यदावरणं क्लेशादि तत्क्षयः प्रविलयो भवति ॥ ४३ ॥

योगसुधाकरः ।

बहिरिति । शरीरेऽहंभावे सति मनसो या बहिर्वृत्तिः सा कल्पिता विदेहाख्या । यदा देहेऽहंभावपरित्यागे सति स्वत एव या मनसो बहिर्वृत्तिः सेयमकल्पिता महाविदेहाख्या । तत्र संयमात्प्रकाशशीलस्य चित्तस्य क्लेशादिमलाः सर्वे क्षीयन्त इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

भोजवृत्तिः ।

तदेवं पूर्वान्तविषयाः परान्तविषया मध्यभवाश्च सिद्धीः प्रतिपाद्यानन्तरं भुवनज्ञानादिरूपा बाह्याः कायव्यूहादिरूपा आभ्यन्तराः परिकर्मनिष्पन्नभूताश्च(२) मैत्र्यादिषु बलानीत्येवमाद्याः समाध्युपयोगिनीश्चान्तःकरणबहिःकरणलक्षणेन्द्रियभवाः प्राणादिवायुभवाश्च सिद्धीश्चित्तदार्ढ्याय समाधौ समाश्वा-

---

(१) विगताहंकारकार्यवेगेनोच्यत इति पाठान्तरम् ।

(२) निष्पन्दभूताः, निष्पन्दरूपा इति च पाठान्तरम् ।

सोत्पत्तये प्रतिपाद्येदानीं स्वदर्शनोपयोगिसबीजनिर्बीजसमाधिसिद्धये विविधोपायप्रदर्शनायाऽऽह—

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः ॥ ४४ ॥

पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूतानां ये पञ्चावस्थाविशेषरूपा धर्माः स्थूलत्वादयस्तत्र कृतसंयमस्य भूतजयो भवति,—भूतानि अस्य वश्यानि भवन्तीत्यर्थः। तथाहि—भूतानां परिदृश्यमानं विशिष्टाकारवत् स्थूलरूपं, स्वरूपं चैषां(१) यथाक्रमं कार्यं गन्धस्नेहौष्ण्यताप्रेरणावकाशदानलक्षणं, सूक्ष्मं च यथाक्रमं भूतानां कारणत्वेन व्यवस्थितानि गन्धादितन्मात्राणि। अन्वयिनो गुणाः प्रकाशप्रवृत्तिस्थितिरूपतया सर्वत्रैवान्वयित्वेन समुपलभ्यन्ते। अर्थवत्त्वं तेष्वेव गुणेषु भोगापवर्गसंपादनाख्या शक्तिः। तदेवं भूतेषु पञ्चसूक्तलक्षणावस्थाभिन्नेषु(२) प्रत्यवस्थं संयमं कुर्वन्योगी भूतजयी भवति। तद्यथा—प्रथमं स्थूलरूपे संयमं विधाय तदनु स्वरूपे(३) इत्येवं क्रमेण तस्य कृतसंयमस्य संकल्पानुविधायिन्यो वत्सानुसारिण्य इव गावो भूतप्रकृतयो भवन्ति ॥ ४४ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

तदेवं परिणामत्रयसंयमादित्यारभ्योच्चावचविषयसंयमानां ज्ञानकर्मरूपाः सिद्धयस्तत्तत्कामिभ्य उपदिष्टाः। इदानीं वितर्कविचारेत्यादिसूत्रैश्च शास्त्रे मुख्यतः प्रकृतेषु ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु ये संयमास्तेषां सिद्धयो वक्तव्याः। तत्र ग्रहीतृग्रहणयोर्ग्राह्यनिरूप्यत्वादादौ ग्राह्यसंयमस्य सिद्धिमाह—स्थूलेति।

स्थूलं च स्वरूपं च सूक्ष्मं चान्वयश्चार्थवत्त्वं च स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वानि पञ्च भूतानुगतत्वाद्भूतानां रूपाणीत्युच्यन्ते। तेषु संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तात्तत्तद्रूपैर्भूतानां जयो वशीकारः स्वेच्छानुविधायित्वं योगिनो भवतीत्यर्थः। तत्प्रत्यक्षेऽपि शब्दादिभिराकारादिभिश्च विशिष्टोऽवयवी स्थूलशब्देनोच्यते। आकारादयश्च धर्माः पृथिव्यादिक्रमेण शास्त्रे पठिताः। यथा—

आकारो गौरवं रौक्ष्यं वरणं स्थैर्यमेव च।
वृत्तिर्भेदः क्षमा कार्ष्ण्यं काठिन्यं सर्वभोग्यता।
स्नेहः सौक्ष्म्यं प्रभा शौक्ल्यं मार्दवं गौरवं च यत्।
शैत्यं रक्षा पवित्रत्वं संधानं चौदका गुणाः।
ऊर्ध्वभाक्पाचकं दग्धृ पावकं लघु भास्वरम्।
प्रध्वंस्योजसि वै तेजः पूर्वाभ्यां भिन्नलक्षणम्।
तिर्यग्यानं पवित्रत्वमाक्षेपो नोदनं बलम्।
चलमच्छायता (रौक्ष्यं) वायोर्धर्माः पृथग्विधाः।
सर्वतोगतिरव्यूहो विष्टम्भश्चेति ते त्रयः।
आकाशधर्मा व्याख्याताः पूर्वपूर्वविलक्षणाः॥ इति।

आकारोऽवयवसंस्थानं। वृत्तिः सर्वभूताधारता। भेदो विदारणम्। क्षमा सहिष्णुता। धारणसामर्थ्यमिति यावत्। रक्षा आवरणादिना रक्षकत्वम्। आक्षेपः पातनम्। अच्छायता छायाशून्यत्वम्। सर्वतोगतिः व्यापकत्वम्। अव्यूहः सर्वपदार्थानां प्रविरलीकरणम्। अविष्टम्भोऽवकाश इति भूतानां स्थूलरूपं व्याख्यातम्। स्वरूपाख्यं रूपं तु पृथिवीत्वजलत्वादिसामान्यपञ्चकम्। तन्मात्राणि सूक्ष्मरूपम्। प्रकृत्याख्यं गुणत्रयं चान्वयाख्यं रूपं सर्वकार्येष्वनुगतत्वात्। अर्थवत्त्वं च भूतगतं सुखदुःखादिपुरुषार्थजातमिति ॥ ४४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अथ ग्राह्यसंयमजां सिद्धिमाह—स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः। स्थूलं च

(१) विशिष्टाकारं स्थूलरूपं चैषामिति पाठान्तरम्।
(२) उक्तधर्मलक्षणावस्थाभिन्नेष्विति पाठान्तरम्।
(३) सूक्ष्मरूप इति पाठान्तरम्।

स्वरूपं च सूक्ष्मं चान्वयश्चार्थवत्त्वं चेति पञ्च भूतानुगतत्वात् भूतानां रूपाणीत्युच्यन्ते तेषु संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तात् तत्तद्रूपैर्भूतानां जयो वशीकारः स्वेच्छानुविधायित्वं योगिनो भवतीत्यर्थः । तत्र शब्दादिभिराकारादिभिश्च धर्मैर्विशिष्टोऽवयवी स्थूलशब्देनोच्यते । षड्जगान्धारादयः शब्दाः शीतोष्णादयः स्पर्शाः नीलपीतादयो रूपाणि कषायमधुरादयो रसाः सुरभ्यादयो गन्धाः । एते हि नामरूपकार्यैः परस्परस्माद्भिद्यन्त इति विशेषाः । ते पञ्चापि पृथिव्यां गन्धवर्जं च चत्वारो जले गन्धरसवर्जं त्रयस्तेजसि गन्धरसरूपवर्जं द्वौ वायौ शब्द एक आकाशे । आकारादयश्च भूम्यादिक्रमेण पठिताः शास्त्रे—

आकारो गौरवं रौक्ष्यं वरणं स्थैर्यमेव च ।
वृत्तिर्भेदः क्षमा कार्ष्ण्यं काठिन्यं सर्वभोग्यता ॥

आकारोऽवयवसंस्थानविशेषः, वृत्तिः सर्वभूताधारता, भेदो विदारणम्, क्षमा धारणसामर्थ्यम् ।

स्नेहः सौक्ष्म्यं प्रभा शौक्ल्यं मार्दवं गौरवं च यत् ।
शैत्यं रक्षा पवित्रत्वं संधानं चौदका गुणाः ॥

रक्षा आवरणादिना रक्षकत्वम् ।

ऊर्ध्वभाक् पाचकं दग्धृ पावकं लघु भास्वरम् ।
प्रध्वंस्योजस्वि वै तेजः पूर्वाभ्यां भिन्नलक्षणम् ॥
तिर्यग्यानं पवित्रत्वमाक्षेपो नोदनं बलम् ।
चलमच्छायता रौक्ष्यं वायोर्धर्माः पृथग्विधाः ॥

आक्षेपः पातनं, छायाशून्यत्वमच्छायता ।

सर्वतोगतिरव्यूहो विष्टम्भश्चेति ते त्रयः ।
आकाशधर्मा व्याख्याताः पूर्वपूर्वविलक्षणाः ॥

सर्वतोगतिः व्यापकत्वम्, अव्यूहः सर्वपदार्थानां प्रविरलीकरणम् । अवष्टम्भोऽवकाशः । एतत्स्थूलरूपं भूतानाम् । स्वरूपाख्यं रूपं तु सांसिद्धिककाठिन्यसमानाधिकरणं भूमित्वम् स्नेहसमानाधिकरणं जलत्वम् । उष्णतासमानाधिकरणं तेजस्त्वम् । वहनक्रियासमानाधिकरणं वायुत्वम् । व्यापकत्वसमानाधिकरणं शब्दवत्त्वमेवंरूपम् । समानाधिकरणधर्मा एव भूमित्वादय इत्यन्ये । धर्मधर्मिणोरभेदाविवक्षायां तु स्नेहो जलमिति भाष्यं प्रयुक्तम् । नन्वेतेऽपि भूतधर्मा एवेति कथमेते स्वरूपमिति चेत् । एतत्समुदायरूपं द्रव्यं स्वरूपमिति गृहाण । तथाहि—सामान्यविशेषसमुदायो द्रव्यम् । नच तदाश्रयो द्रव्यं नतु त एव समुदिता इति वाच्यम् । तदाश्रयद्रव्यवादिनापि तत्समुदायस्यावश्यमङ्गीकार्यत्वात् । अन्यथा तदाधारतैव तत्र न स्यात् । एवं चावश्यकत्वात्स एव द्रव्यमस्तु । न चैवं वनादेरपि द्रव्यत्वापत्तिः । अयुतसिद्धावयवविशेषानुगतसमुदायस्यैव द्रव्यत्वात्, स च वृक्षः शरीरं परमाणुरित्यादि । अयुतसिद्धा अपृथक्सिद्धा निरन्तरा इत्यर्थः । वनादिरूपसमूहस्तु युतसिद्धावयवः पृथक्सिद्धाः सान्तरा अवयवा यस्य तादृशः । स द्विविधः भेदेन विवक्षितोऽभेदेन विवक्षितश्च । यथा आम्राणां वनं ब्राह्मणानां संघः पटस्य शुक्ल इति च, चैत्रस्य हस्त इति च । अभेदानुगतो यथा । आम्रा वनं ब्राह्मणाः संघः पटः शुक्ल इति च तन्तवः पटा इति च । स पुनर्द्विविधः । प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगतो यथा—शरीरं वृक्षो यूथं वनमिति । कश्चिच्छब्दोपात्तभेदावयवानुगतः । यथा—उभये देवमनुष्याः । समूहस्यैको भागो देवा द्वितीयो भागो मनुष्यास्ताभ्यामेवाभिधीयते समूहः । गुरुत्वमपि प्रत्येकावयवगतगुरुत्वानां समूह एव प्रतीयत इति न तदाश्रयतयापि अतिरिक्तद्रव्यसिद्धिः । दशसु पाषाणेषु प्रत्येकापेक्षयाधिकगुरुत्वप्रतीतिवत् । तदुक्तम् 'अयुतसिद्धावयवविशेषानुगतः समूहो द्रव्यमिति' पतञ्जलिः । एतत्स्वरूपमुच्यते' इति भाष्ये । सूक्ष्मं रूपं तन्मात्राणि । एषामेकः परमाणुरूप एव परिणामः । परमाणुरपि शब्दादिविशेषात्मायुतसिद्धावयवविशेषानुगतः । परमाणुवदेव ततोऽपि वा सूक्ष्माणि तन्मात्राणि । प्रकृतेश्चाख्यगुणत्रयं चान्वयाख्यं रूपं सर्वकार्यानुगतत्वात् । अर्थवत्त्वे तु भूत-

गतं सुखदुःखादि पुरुषार्थजातं सर्वत्र गुणान्वयात् गुणानां चैवंस्वभावात् । तज्जये सति वत्सानुसारिण्य इव गावोऽस्य संकल्पानुविधायिन्यो भूतप्रकृतयो भवन्तीति दिक् ॥ ४४ ॥

मणिप्रभा।

बहिरिति । देहेऽहंभावे सत्येव मे मनो बहिरास्त्विति कल्पनया मनसो देहाद्बहिर्वृत्तिलाभो भवति, सा कल्पिता विदेहाऽऽख्या धारणा । तया देहेऽहंभावत्यागे सति स्वत एव बहिर्वृत्तिलाभो भवति सेयमकल्पिता महाविदेहाऽऽख्या धारणा । ततः प्रकाशस्वभावस्य चित्तस्य क्लेशकर्माद्यावरणक्षयो भवति । ततः सर्वज्ञत्वलाभ इत्यर्थः ।

पञ्चभूतानां स्थूलं दृश्यमानमवयवसंस्थानं पृथिवीत्वादिजातिमत् क्रमेणैकैकन्यूनैः शब्दादिभिः पञ्चगुणैः स्थूलैर्युक्तमित्येकं रूपम् । अथ द्वितीयं तेषां स्वरूपं क्रमेण काठिन्यस्नेहौष्ण्यप्रेरणसर्वगतत्वलक्षणं, प्रेरणा वायोस्तृणादिवाहकत्वम् । अथ तृतीयं तेषां रूपं सूक्ष्मं कारणं परमाणवः, तेषां सूक्ष्माणि पञ्चतन्मात्राणि । अथ चतुर्थं तेषां रूपं गुणत्रयं तद्धि स्वकारणत्वेनान्वेतीत्यन्वयः सामान्यम् । अथ पञ्चमं तेषां भूतानां रूपमर्थवत्त्वं भोगापवर्गसामर्थ्यं गुणानिष्ठं स्वेषु गुणान्वयादागतम् । एवं भूतानां पञ्चरूपेषु कार्यस्वरूपहेतुषु स्थूलादिक्रमेण संयमाद्भूतानि योगिसङ्कल्पानुसारीणि भवन्ति, वत्सानुसारिण्य इव गाव इत्यर्थः ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

चन्द्रिका ।

एवं बहिरान्तरीः सिद्धीः प्रतिपाद्य समाध्युपयोगिनीराह—स्थूलेति ।

पञ्चानां भूतानां पञ्च स्थूलत्वादयो धर्मास्तत्र कृतसंयमस्य भूतजयो भवति । भूतानां दृश्यमानं विशिष्टं रूपं स्थूलं स्वरूपं कार्यं गन्धस्नेहोष्णताप्रेरणावकाशदानलक्षणम् । सूक्ष्मं तन्मात्राणि । अन्वयिनो गुणाः सर्वत्रोपलभ्यन्ते अर्थवत्त्वं नाम गुणेषु भोगापवर्गसम्पादनाख्या शक्तिरेवं पञ्चसु उक्तलक्षणावस्थाभिन्नेषु प्रत्यवस्थं संयमं कुर्वन् योगी भूतजयी भवति ॥ ४४ ॥

योगसुधाकरः ।

स्थूलेति । स्थुलं च स्वरूपं च सूक्ष्मं चान्वयश्चार्थवत्त्वं च पञ्चैतानि पञ्चभूतानां रूपाणि । तत्र क्रमेणैकैकन्यूनैः शब्दादिगुणैर्युक्तं परिदृश्यमानं स्थूलम् । क्रमेण काठिन्यस्नेहौष्ण्यप्रेरणासर्वगतत्वलक्षणं स्वरूपम् । पञ्च तन्मात्राणि सूक्ष्मम् । स्वकार्ये कारणत्वेनान्वेतीत्यन्वयो गुणत्रयम् । भोगापवर्गज्ञानसामर्थ्यं गुणानिष्ठमर्थवत्त्वम् । तेषु पञ्चरूपेषु स्थूलादिक्रमेण संयमाद्भूतानि योगिसंकल्पानुसारीणि भवन्ति धेनवो वत्सानुसारिण्य इवेत्यर्थः ॥ ४४ ॥

भोजवृत्तिः ।

तस्यैव भूतजयस्य फलमाह—

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मा(१)नभिघातश्च ॥ ४५ ॥

अणिमा परमाणुरूपतापत्तिः । महिमा महत्त्वम् । लघिमा तूलपिण्डवल्लघुत्वप्राप्तिः । गरिमा गुरुत्वम् । प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेण चन्द्रादिस्पर्शनशक्तिः । प्राकाम्यमिच्छानभिघातः । शरीरान्तःकरणेश्वरत्वमीशित्वम् । सर्वत्र प्रभविष्णुता वशित्वं, सर्वाण्येव भूतानि अनुगामित्वात्तदुक्तं नातिक्रामन्ति । यत्र कामावसायो यस्मिन्विषयेऽस्य काम इच्छा भवति त(य)स्मिन्विषये योगिनो व्यवसायो(२) भवति तं विषयं स्वीकारद्वारेणाभिलाषसमाप्तिपर्यन्तं नयन्तीत्यर्थः । त एतेऽणिमाद्याः समाध्युपयोगिनो भूतजयाद्योगिनः प्रादुर्भवन्ति । यथा—परमाणुत्वं प्राप्तो वज्रादीनामप्यन्तः प्रविशति । एवं सर्वत्र योज्यम् । ते एतेऽणिमादयोऽष्टौ गुणा महासिद्धय उच्यन्ते । कायसंपत् वक्ष्यमाणा तां प्राप्नोति । तद्धर्मानभिघातश्च तस्य कायस्य ये धर्मा रूपादयस्तेषामनभिघातो नाशो न कुतश्चिद्भवति नास्य रूपमग्निर्दहति न वायुः शोषयतीत्यादि योज्यम् ॥ ४५ ॥

---

(१) सम्पद्धर्मा—इति पाठान्तरम् । (२) ऽव्यवसाय इति पाठान्तरम् ।

भावागणेशवृत्तिः ।

भूतजयस्य फलमाह- तत इति ।

ततो भूतजयादणिमादिप्रादुर्भावादिरूपं सिद्धित्रयं भवतीत्यर्थः । तत्राणिमाद्यष्टसिद्धयः स्मर्यन्ते ।

अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः ।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिः प्रेरणमीशिता ।
गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यतीति ।

मूर्तेः शरीरस्य अणिमा अणुत्वम् । महिमा योजनादिव्यापित्वम् । लघिमा तूलादिवल्लघुत्वम् । भूमिष्ठ एवाङ्गुल्यग्रेण चन्द्रमसं स्पृशतीत्यादि सामर्थ्यमिन्द्रियैः प्राप्तिरित्युच्यते । श्रुतदृष्टेषु प्राकाम्यमिच्छानभिघातः, यथा भूमौ जलेष्विव निमज्जतीत्यादि । ईशिता तु भूतभौतिकानां सर्वेषां शरीरवत्संकल्पमात्रेण प्रेरणम् । वशिता च गुणानां भूतभौतिकानां वश्यत्वम् । सत्यसंकल्पत्वं तु यत्कामस्तदवस्यतीत्यनेनोक्तम् । अवस्यति प्राप्नोतीत्यर्थः । अत्र च सूत्रे प्राकाम्यं विहाय सप्तैव सिद्धयोऽणिमादीत्यनेन गृहीताः । प्राकाम्यं तु तद्धर्मानभिघातशब्देन गृहीतमिति विशेषः ॥४५॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

भूतानां संकल्पानुविधायकत्वे सति या सिद्धयस्ता आह—**ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च** । ततो भूतजयादणिमादिप्रादुर्भावादिरूपं सिद्धित्रयं भवतीत्यर्थः । अणिमा शरीरस्याणुत्वम् । महिमा योजनादिव्यापित्वम् । गरिमा गुरुत्वम् । लघिमा तूलादिवल्लघुत्वम् । प्राप्तिः भूमिष्ठ एवाङ्गुष्ठाग्रेण चन्द्रं स्पृशतीत्यादिरूपमिन्द्रियाणां सामर्थ्यम् । प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेष्विच्छानभिघातः यथा भूमौ जलेष्विव निमज्जतीत्यादि । ईशित्वं सर्वेषां भूतभौतिकानां शरीरवत्संकल्पमात्रेण प्रेरणम् । वशित्वं भूतभौतिकानां गुणानां वश्यत्वम् । सत्यसंकल्पता च । यथा विषमप्यमृतत्वेन संकल्प्य भोजयञ्जीवयतीत्यष्टावणिमादयः । सत्यसङ्कल्पोऽपि चन्द्रमसमादित्यं न करोति ईश्वरेच्छानुविधानात् ईश्वरसंकल्पविरुद्धसंकल्पाकरणात् । तथासति तत्प्रद्वेषेण सिद्धितश्च्यवेरन् । सूत्रेऽणिमादिपदेन प्राकाम्यातिरिक्तानां ग्रहणम् । तस्य तद्धर्मानभिघातपदेन ग्रहणात् । यथा विरोधकृताभिघाताभावः । यथा शिलामप्यनुप्रविशति जलं न क्लेदयति तं नाग्निर्दहति न वायुश्चालयति, अनावरणेऽप्याकाशे आवृतशरीरो भवति, सिद्धानामप्यदृश्यो भवति ॥ ४५ ॥

मणिप्रभा ।

तत इति । ततो भूतजयाद्योगिनोऽणिमाद्यष्टसिद्धयः प्रादुर्भवन्ति । परमाणुतुल्यत्वमणिमा, विभुत्वं महिमा, तूलपिण्डवल्लघुत्वं लघिमा, मेरुवद् गुरुत्वं गरिमा, अङ्गुल्या चन्द्रसंस्पर्शनं प्राप्तिः, सत्यसङ्कल्पत्वं प्राकाम्यम्, भूतनियन्तृत्वं वशित्वं, भूतस्रष्टृत्वमीशित्वमित्यष्टैश्वर्याणि । अत्र प्राप्त्यन्तानि स्थूलसंयमात्सिद्ध्यन्ति । स्वरूपसंयमात्प्राकाम्यम् । अवशिष्टं हेतुसंयमादिति विभागः । कायसम्पद्वक्ष्यते, तस्य कायस्य भूतधर्मैः काठिन्यादिभिरनभिघातश्च भूतजयात्सिध्यति । येन शिलाऽन्तः प्रविशति, शीतोष्णादयो न बाधन्त इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

चन्द्रिका ।

तस्य फलमाह—**तत इति** ।

अणिमा अणुत्वापत्तिः महिमा महत्त्वं लघिमा लघुत्वप्राप्तिर्गरिमा गुरुत्वप्राप्तिः प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेण चन्द्रादिस्पर्शनशक्तिः प्राकाम्यमिच्छानभिघातः शरीरान्तःकरणेश्वरत्वमीशित्वं सर्वतः प्रभविष्णुत्वं वशित्वं सर्वभूतानि तदुक्तं नातिक्रामन्ति । त एते अणिमाद्याः समाध्युपयोगिभूतजयाद्योगिनः प्रादुर्भवन्ति एता महासिद्धय इत्युच्यन्ते । कायसम्पत् वक्ष्यमाणा तां प्राप्नोति तद्धर्मानभिघातश्च तस्य कायस्य ये धर्माः रूपादयस्तेषामनभिघातो नाशो नास्ति अस्य रूपस्याग्निवाय्वादिना दाहशोषादिकं न भवतीत्यर्थः ॥ ४५ ॥

योगसुधाकरः ।

नन्वस्तु भूतजयः; किं तत इत्यत्राह—तत इति ।

ततो भूतजयाद्योगिनोऽणिमाद्यष्टमहासिद्धयः प्रादुर्भवन्ति । परमाणुतुल्यत्वमणिमा । विभुत्वं महिमा । तूलपिण्डवल्लधुत्वं लघिमा । मेरुवद्गुरुत्वं गरिमा । अङ्गुल्या चन्द्रस्पर्शनं प्राप्तिः । सत्यसंकल्पत्वं प्राकाम्यम् । भूतनियन्तृत्वं वशित्वम् । भूतस्रष्टृत्वमीशित्वम् । इत्यष्टैश्वर्याणि । अत्र प्राप्त्यन्तानि स्थूलसंयमात्सिध्यन्ति । स्वरूपसंयमात्प्राकाम्यम् । अवशिष्टमवशिष्टत्रयसंयमादिति विभागः । कायसंपद्वक्ष्यमाणलक्षणा, तद्धर्मैस्तस्य काठिन्यादिभूतधर्मैरनभिघातश्च योगिनो भूतजयात्सिध्यतीत्यर्थः ॥४५॥

भोजवृत्तिः ।

कायसंपदमाह—

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि(१) कायसंपत् ॥ ४६ ॥

रूपलावण्यबलानि प्रसिद्धानि । वज्रसंहननत्वं वज्रवत्काठिना संहतिरस्य शरीरे भवतीत्यर्थः । इति कायस्याऽऽविर्भूतगुणसम्पत ॥ ४६ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

प्रसिद्धत्वात्सिद्धिद्वयं व्याख्याय संपदं स्वयं विवृणोति—रूपेति ।

वज्रवद्दृढः संघातो यस्येति वज्रसंहननः । शेषं स्पष्टम् ॥ ४६ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

कायसंपदमाह—रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत् । वज्रवद्दृढावयवसंघातः ४६

मणिप्रभा ।

रूपेति । चक्षुःप्रियं रूपं,लावण्यं सर्वाङ्गसौन्दर्यं, बलं वीर्यं, वज्रस्येव संहननमवयवव्यूहे यस्य तद्भावो वज्रसंहननत्वं, हनुमति प्रसिद्धम् ॥ ४६ ॥

चन्द्रिका ।

कायसम्पदमाह—रूपेति ।

रूपलावण्यबलानि प्रसिद्धानि, वज्रसंहननं वज्रवत् काठिना संहतिरस्य शरीरे भवतीत्यर्थ इति कायस्याविर्भूतगुणसम्पत् ॥ ४६ ॥

योगसुधाकरः ।

कायसम्पदं व्याख्यातुमाह--रूपेति ।

चक्षुःप्रियं रूपम् । सर्वाङ्गसौन्दर्यं लावण्यम् । वीर्यं बलम् । वज्रस्येव संहननमवयवव्यूहो यस्य तद्भावो वज्रसंहननत्वम् , तच्च हनुमति प्रसिद्धम् ॥ ४६ ॥

भोजवृत्तिः ।

एवं भूतजयमभिधाय प्राप्तभूमिकाविशेषस्य(२)इन्द्रियजयमाह —

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

ग्रहणमिन्द्रियाणां विषयाभिमुखी वृत्तिः । स्वरूपं सामान्येन प्रकाशकत्वम्(३) । अस्मिताऽहंकारानुगमः । अन्वयार्थवत्त्वे पूर्ववत् । एतेषामिन्द्रियाणामवस्थापञ्चके पूर्ववत्संयमं कृत्वेन्द्रियजयी भवति४७

भावागणेशवृत्तिः ।

ग्राह्यसंयमस्य सिद्धय उक्ताः । ग्रहणसंयमस्य सिद्धीराह द्वाभ्याम्—ग्रहणेति ।

ग्रहणादिपञ्चसु इन्द्रियरूपेषु संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तादूपैरिन्द्रियाणि जितानि भवन्तीत्यर्थः । ग्रहणं

---

(१) संहननत्वादीनि, संहननानीति च पाठान्तरम् ।

(२) प्राप्तभूमिकस्येति पाठान्तरम् । (३) प्रकाशकमिति पाठान्तरम् ।

निश्चयाभिमानसंकल्पदर्शनश्रवणाद्या वृत्तयः । स्वरूपं तु एकादशेन्द्रियाणि । अस्मिता च तदुपलक्षितौ बुद्ध्यहङ्कारौ । अन्वयार्थवत्त्वे च भूतजयसूत्रे व्याख्याते । अस्मितादीनां चेन्द्रियरूपवत्त्वमिन्द्रियकारणतया तदनुगमादिति ॥ ४७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ग्रहणसंयमसिद्धिमाह —ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः । ग्रहणं निश्चयाभिमानसंकल्पदर्शनश्रवणाद्या वृत्तयः । स्वरूपमेकादशेन्द्रियाणि । अस्मितापदेनात्र तदुपलक्षितौ बुद्ध्यहंकारौ । अन्वयार्थवत्त्वे च भूतजयसूत्रे व्याख्याते । एषु पञ्चसु संयमदार्ढ्यात्तत्तद्रूपेन्द्रियजय इत्यर्थः । अस्मितादीनामिन्द्रियत्वं चेन्द्रियकारणतया तत्कार्यतया च तदनुगमात् ॥ ४७ ॥

मणिप्रभा ।

भूतजयानन्तरमिन्द्रियजयोपायमाह—ग्रहणेति ।

शब्दः षड्जादिः, स्पर्शः शीतादिः, रूपं पीतादिः, रसो मधुरादिः, गन्धः सुरभ्यादिरिति, सामान्यविशेषात्मकशब्दादिगोचराः पञ्च वृत्तयः कार्याः श्रोत्रादीन्द्रियाणां ग्रहणानि प्रथमं रूपं, प्रकाशकत्वं स्वरूपं तेषां द्वितीयं, अस्मितालक्षणसात्त्विकाहङ्कारः कारणं तेषां तृतीयम्, अन्वयार्थवत्त्वे चतुर्थपञ्चमे व्याख्याते । तेषु पञ्चस्विन्द्रियरूपेषु संयमादिन्द्रियजयो भवति ॥ ४७ ॥

चन्द्रिका ।

इन्द्रियजयमाह—ग्रहणेति ।

ग्रहणं विषयाभिमुखी वृत्तिः । स्वरूपं सामान्येन प्रकाशत्वम् । अस्मिता अहङ्कारानुगमः । अन्वयार्थवत्त्वे पूर्ववत् । एतेषामिन्द्रियाणामवस्थापञ्चके संयमं कृत्वेन्द्रियजयी भवति ॥ ४७ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थं ससाधनफलं भूतजयमभिधाय सोपायफलमिन्द्रियजयमभिधातुमाह--ग्रहणेति ।

ग्रहणं स्वरूपमस्मितान्वयोऽर्थवत्त्वं च पञ्चैतानि श्रोत्रादिपञ्चेन्द्रियाणां रूपाणि । तत्र शब्दादिगोचरा वृत्तयो ग्रहणम् । स्वरूपं प्रकाशकत्वम् । अस्मिता सत्त्विकाहंकारः । अन्वयार्थवत्त्वे व्याख्याते । तेषु पञ्चस्विन्द्रियरूपेषु संयमादिन्द्रियजयो भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

भोजवृत्तिः ।

तस्य फलमाह—

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥

शरीरस्य मनोवदनुत्तमगतिलाभो मनोजवित्वम् । कायनिरपेक्षाणामिन्द्रियाणां वृत्तिलाभो विकरणभावः । सर्ववशित्वं प्रधानजयः । एताः सिद्धयो जितेन्द्रियस्य प्रादुर्भवन्ति । तास्त्वस्मिञ्शास्त्रे मधुप्रतीका इत्युच्यन्ते । यथा--मधुन एकदेशोऽपि स्वदत एवं प्रत्येकमेताः सिद्धयः स्वदन्त इति मधुप्रतीकाः॥४८॥

भावागणेशवृत्तिः ।

इन्द्रियजयात्सिद्धीराह— तत इति ।

मनोजवित्वं मनोवच्छीघ्रतरा देहगतिः । विकरणभाव इन्द्रियाणां विकीर्णता । स्थूलदेहनैरपेक्ष्येण सर्वत्र वृत्तिलाभ इति यावत् । प्रधानजयश्च प्रकृतेः स्वेच्छया परिणमनम् । एतास्तिस्र इन्द्रियजयाद्भवन्तीत्यर्थः । एताश्च सिद्धयो मधुप्रतीका इति मधुमत्य इति चोच्यन्ते ॥ ४८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

इन्द्रियजयात्सिद्धीराह—मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च । मनोजवित्वं मनोवच्छीघ्रतरा देहगतिः, विकरणभावः विकीर्णतेन्द्रियाणां स्थूलदेहनैरपेक्ष्येण सर्वत्र वृत्तिलाभ इति यावत्, प्रधानजयः प्रकृतेः स्वेच्छया परिणामनमेतास्तिस्रः सिद्धय इन्द्रियजयाद्भवन्तीत्यर्थः । एता एव मधुप्रतीका इति मधुमत्य इति चोच्यन्ते ॥ ४८ ॥

मणिप्रभा।

ततः किं तत्राह—तत इति।

मनोवत्कायस्यानुत्तमो गतिलाभो मनोजवित्वं, देहानपेक्षाणामिन्द्रियाणां दूरवाह्यार्थज्ञाने विकरणभावः, प्रधानस्यान्वयस्य चतुर्थरूपस्य जयः सर्वजगद्वशित्वमिति सिद्धय इन्द्रियजयाद्भवन्तीत्यर्थः। एता अणिमाद्याः प्रधानजयान्ताः सिद्धयोऽस्मिन् शास्त्रे मधुप्रतीका उच्यन्ते, मधुन एकदेशवदास्वाद्यन्त इति मधुप्रतीका मधुतुल्या इत्यर्थः। यद्वा स्थूलादिप्रधानान्तवस्तुविषया योगजन्यर्तम्भरप्रज्ञा मधु तत्प्रतीकं कारणं साक्षात्कृतं भूतेन्द्रियजयद्वारा यासां ता मधुप्रतीकाः॥ ४८॥

चन्द्रिका।

तत इति। शरीरस्य मनोवद्गतिलाभो मनोजवित्वं, कायनिरपेक्षाणामिन्द्रियाणां वृत्तिलाभो विकरणभावः सर्ववशित्वं, प्रधानजयः एताः सिद्धयो जितेन्द्रियस्य प्रादुर्भवन्ति॥ ४८॥

योगसुधाकरः।

ततः किम्? अत आह—तत इति।

मनोजवित्वं कायस्य मनोवदनुत्तमो गतिलाभः। विकरणभावः कायनिरपेक्षाणामिन्द्रियाणामभिमतदेशकालविशेषापेक्षो वृत्तिलाभः। प्रधानजयः प्रकृतिविकारेषु वशित्वम्। एताः सिद्धयः करणपञ्चकस्वरूपजयाद्योगिनः प्रादुर्भवन्तीत्यर्थः। एता अणिमाद्याः प्रधानजयान्ताः सिद्धयोऽस्मिञ्शास्त्रे मधुप्रतीकाः संगीयन्ते। यथा मधुन एकदेशोऽपि स्वदते तथा प्रत्येकमेताः सिद्धयः स्वदन्त इति मधुप्रतीकाः, मधुतुल्या इत्यर्थः॥ ४८॥

भोजवृत्तिः।

इन्द्रियजयमभिधायान्तःकरणजयमाह—

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च॥४९॥

तस्मिञ्शुद्धे(१) सात्त्विके परिणामे कृतसंयमस्य या सत्त्वपुरुषयोरुत्पद्यते विवकख्यातिर्गुणानां कर्तृत्वाभिमानशिथिलीभावरूपा तन्माहात्म्यात्(२)तत्रैव स्थितस्य योगिनः सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च समाधेर्भवति। सर्वेषां गुणपरिणामानां भावानां स्वामिवदाक्रमणं सर्वभावाधिष्ठातृत्वं, तेषामेव च शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मित्वेनावस्थितानां यथावद्विवेकज्ञानं सर्वज्ञातृत्वम्। एषां चास्मिञ्शास्त्रे परस्यां वशीकारसंज्ञायां प्राप्तायां विशोका नाम सिद्धिरित्युच्यते॥ ४९॥

भावागणेशवृत्तिः।

ग्राह्यग्रहणयोः सिद्धिरुक्ता। ग्रहीतृग्रहणसंयमस्य सिद्धिमाह द्वाभ्याम्—सत्त्वेति।

मात्रशब्देन संयमरूपता ख्यातेर्लभ्यते। तथाच सत्त्वपुरुषान्यतासंयमस्य साक्षात्कारपर्यन्तस्य सर्वत्यादिसिद्धिद्वयं फलमिति शेषः। सत्त्वपुरुषान्यता च बुद्धिपुरुषयोर्विवेकः। सर्वभावाधिष्ठातृत्वं प्रकृतिपुरुषविकाराणां स्वेच्छया प्रेरयितृत्वं, सर्वज्ञातृत्वं च विशिष्य सर्वार्थसाक्षात्कररणम्। इदं च सिद्धिद्वयं विशोकेत्युच्यते॥ ४९॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अथ ग्रहीतृसंयमसिद्धिमाह—सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च। तन्मात्रस्य तन्मात्रप्रतिष्ठस्य संयमस्य तत्साक्षात्कारपर्यन्तस्य फलद्वयमित्यर्थः। सर्वभावाधिष्ठातृत्वमीश्वरवत् प्रकृतिपुरुषविकाराणां स्वेच्छया प्रेरयितृत्वं च विशिष्य सर्वार्थसाक्षात्करणं च। इदं सिद्धिद्वयं विशोकेत्युच्यते॥ ४९॥

---

(१) तस्मिञ्शुद्धेरिति पाठान्तरम्। (२) रूपात्तन्माहात्म्यादिति पाठान्तरम्।

मणिप्रभा ।

एवं संयमाज्ज्ञानक्रियासिद्धयः साक्षाच्छुद्धाद्वारा आविवेकख्यात्यर्था उपन्यस्ताः संप्रति विवेकख्यातेरवान्तरसिद्धिमाह—सत्त्वेति ।

पूर्वोक्तस्वार्थसंयमेन निर्धूतरजस्तमोमलस्यान्तःकरणस्य जये वशीकारसंज्ञायामपरस्यां विरक्तौ स्थितस्य बुद्धिसत्त्वात्मनोर्भेदख्यातिर्जायते तन्मात्रस्य तदावृत्तिपरस्य योगिनः सर्वेषां भावानां प्रधानतत्परिणामानामधिष्ठातृत्वं नियन्तृत्वं, सर्वेषां भूतभवद्भाविनां ज्ञातृत्वं, च सिध्यति । एषा विशोका नाम सिद्धिः ॥ ४९ ॥

चन्द्रिका ।

अन्तःकरणजयमाह—सत्त्वेति ।

सत्त्वान्तःकरणे कृतसंयमस्य या उत्पद्यते सत्त्वपुरुषयोः ख्यातिर्गुणानां शिथिलीभावस्तन्माहात्म्यात् तत्र स्थितस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च समाधिर्भवति । इयं विशोकानाम सिद्धिः ॥४९॥

योगसुधाकरः ।

इत्थं संयमाच्छुद्धाद्वारा विवेकख्यात्यर्था ज्ञानक्रियासिद्धीरभिधाय अधुना विवेकख्यातेरवान्तरसिद्धीरभिधातुमाह--सत्त्वेति ।

पूर्वोदीरितस्वार्थसंयमेन निरस्तरजस्तमोमलस्य चित्तस्य जये वशीकारसंज्ञारूपापरवैराग्ये स्थितस्य सत्त्वपुरुषयोर्विवेकख्यातिः समुत्पद्यते । तन्मात्रस्य तन्निष्ठस्य योगिनः सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वेषां व्यवसायव्यवसेयात्मकानां गुणपरिणामरूपाणां स्वामिवदाक्रमणम् । सर्वज्ञातृत्वं तेषामेव शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मित्वेन स्थितानां विवेकज्ञानं च सिध्यति । एषा विशोका नाम सिद्धिः ॥ ४९ ॥

भोजवृत्तिः ।

क्रमेण भूमिकान्तरमाह—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

एतस्यामपि विशोकायां सिद्धौ यदा वैराग्यमुत्पद्यते योगिनस्तदा तस्माद्दोषाणां रागादीनां यद्बीजमविद्यादयस्तस्य क्षये निर्मूलने कैवल्यमात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः पुरुषस्य गुणानामधिकारपरिसमाप्तौ स्वरूपप्रतिष्ठत्वम्(१) ॥ ५० ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

सर्वसिद्धिमूर्धन्यं विवेकसंयमस्य परवैराग्यद्वारकं मोक्षाख्यं सिद्ध्यन्तरमाह- तद्वैराग्यादिति ।

अपिशब्दः कैवल्यमित्यन्तेनान्वेति । तथाच विवेकख्यातिनिष्ठात एव विवेकख्यातौ तत्सिद्धौ च वैराग्ये सति असंप्रज्ञातयोगनिष्पत्त्या दुःखदोषस्थबीजानामखिलवासनाकर्मणामुच्छेदे पुरुषस्य (कैवल्यम्) आत्यन्तिकः प्रकृतिवियोगो भवतीत्यर्थः । यस्य चासंप्रज्ञातनिष्पत्त्या प्रारब्धं कर्म नोच्छिद्यते तस्यापि प्रारब्धसमाप्त्यनन्तरमुत्पद्यमानमोक्ष एव यथोक्तसंयमसिद्धिरिति ॥ ५० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

विवेकसाक्षात्कारस्यैव परवैराग्यद्वारा मोक्षाख्या मुख्यसिद्धिमाह—तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् । अपिशब्दः कैवल्यमित्यनेनान्वेति । एवं विवेकख्यातितः क्लेशकर्मरूपाणां संसारबीजानामखिलवासनानामात्मज्ञानेन निःशेषतः क्षये दग्धबीजकल्पत्वे सति तस्मापि वैराग्यात् पुरुषस्य कैवल्यमात्यन्तिकः प्रकृतिवियोग इत्यर्थः । यस्याप्यसंप्रज्ञातनिष्पत्त्या प्रारब्धकर्म नोच्छिद्यते तस्यापि प्रारब्धभोगानन्तरमुत्पद्यमानमोक्ष एव संयमसिद्धिरिति बोध्यम् ॥ ५० ॥

---

(१) स्वरूपनिष्ठत्वमिति पाठान्तरम् ।

मणिप्रभा ।

अधुना विवेकख्यातेर्मुख्यां सिद्धिमाह—तद्वैराग्यादिति ।

तस्यां विशोकायां सिद्धौ वैराग्यात्तद्धेतौ विवेकख्यातावपि वैराग्यं परं भवति । ततो दोषाणां क्लेशानां बीजं भ्रान्तिसंस्कारस्तस्य क्षये सर्वात्मना तिरोभावे सति चित्तस्य परवैराग्यसंस्कारशेषतायां पुरुषस्य स्वरूपप्रतिष्ठत्वं कैवल्यं सिद्ध्यति । इयं संस्कारशेषाऽऽख्या सिद्धिः ॥ ५० ॥

चन्द्रिका ।

तद्वैराग्यादिति । एतस्यां विशोकायां सिद्धौ यदा वैराग्यमुत्पद्यते तदा दोषाणां रागादीनां यद्बीजमविद्यादयस्तस्य क्षये निर्मूलत्वे कैवल्यमात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः ॥ ५० ॥

योगसुधाकरः ।

अधुना विवेकख्यातेर्मुख्यां सिद्धिमभिधातुमाह—तदिति ।

तस्यां विशोकायां सिद्धौ वैराग्यात्तद्धेतुभूतविवेकख्यातावपि परं वैराग्यं भवति । ततः सर्वप्रतिपक्षत्वात् परं वैराग्यमाश्रितस्य पुरुषधौरेयस्य क्लेशबीजानि दग्धशालिकल्पानि मनसा सार्धं प्रत्यस्तं गच्छन्ति । प्रक्षीणेषु तेषु दृढभूमावसंप्रज्ञातपदवेदनीये संस्कारशेषताऽव्यपदेश्ये निर्बीजसमाधौ लब्धे, शुद्धायाश्चितिशक्तेः स्वरूपप्रतिष्ठारूपं कैवल्यं सिध्यतीत्यर्थः । इयं संस्कारशेषाख्या सिद्धिः ॥ ५० ॥

भोजवृत्तिः ।

अस्मिन्नेव समाधौ स्थित्युपायमाह—

(१)स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥

चत्वारो योगिनो भवन्ति । तत्राभ्यासवान्प्रवृत्तमात्रज्योतिः प्रथमः । ऋतंभरप्रज्ञः(२) द्वितीयः । भूतेन्द्रियजयी तृतीयः । अतिक्रान्तभावनीयश्चतुर्थः । तत्र चतुर्थस्य समाधेः प्राप्तसप्तविधप्रान्तभूमिप्रज्ञो भवति । ऋतंभरप्रज्ञस्य द्वितीयां मधुमतीसंज्ञां भूमिकां साक्षात्कुर्वतः स्वामिनो देवा उपनिमन्त्रयितारो भवन्ति । दिव्यस्त्रीरसायनादिकं(३) ढौकयन्ति । तस्मिन्नुपनिमन्त्रणे नानेन सङ्गः कर्तव्यः, नापि स्मयः, सङ्गकरणे पुनर्विषयभोगे पतति, स्मयकरणे कृतकृत्यमात्मानं मन्यमानो न समाधावुत्सहते । अतः सङ्गस्मययोस्तेन वर्जनं कर्त्तव्यम् ॥ ५१ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

उक्तस्यात्मसंयमिनः कैवल्याख्यसिद्ध्यर्थं न केवलं सर्वज्ञादिसिद्धिषु वैराग्यमेवापेक्ष्यते, अपि त्वन्यदपीत्याह—स्थानीति ।

स्थानिनः स्वर्गादिलोकाधिकारिणो देवा इन्द्रादयस्तेषां स्वर्गादिलोकानयनाय योगिनो निमन्त्रणे सति तत्र सङ्गस्मययोरकरणं कैवल्योपायः । अन्यथा संगस्मयाभ्यां पुनः संसारहेतुत्वामिति ॥ ५१ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

एवं च सार्वज्ञ्यादिरागोऽपि कैवल्यसिध्यन्तराय इति दर्शितं तदेवाह-**स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्** । स्थानिनः स्वर्गादिलोकाधिकारिण इन्द्रादयः तेषां स्वर्गादिलोकेनयनाय तत्रत्यभोगाय च निमन्त्रणे सति तत्र सङ्गस्मययोरकरणं कैवल्योपायः । अन्यथा सङ्गेन तथैव स्मयेन पुनः संसाररूपानिष्टप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

---

(१) सम्प्रति कैवल्यसाधनाय प्रवृत्तस्य योगिनः प्रत्यूहसम्भवे तन्निराकरणमुपदिशति स्वाम्युपेति । स्थान्युपनिमन्त्रण इति पाठः चन्द्रिकारं भोजं च विना सर्वेषां टीकाकृतामाभिमतः इति द्रष्टव्यम् ।

(२) कृतान्तरप्रज्ञ इति पाठान्तरम् । (३) स्त्रीवसनादिकमिति पाठान्तरम् ।

मणिप्रभा ।

अथ विघ्नोत्पत्तौ निरासोपायमाह—स्थानीति ।

चत्वारः खल्वमी योगिनः । प्रथमकल्पिको, मधुभूमिकः, प्रज्ञाज्योतिः, अतिक्रान्तभावनीयश्च । तत्राद्यः संयमे प्रवृत्तमात्रो न किंचित्परचित्तादिकं जानाति । द्वितीयः संप्रज्ञातयोगेन मधुमतीं चित्तभूमिमृतम्भराप्रज्ञाऽवस्थां लब्ध्वा भूतेन्द्रियाणि साक्षात्कृतानि विजिगीषते तज्जयद्वारा पूर्वोक्ताः क्रमेण मधुप्रतीका विशोका संस्कारशेषा चेति तिस्रो भूमीर्लब्धुकामः । तृतीयस्तु जितभूतेन्द्रियत्वान्महेन्द्रादिभिरक्षोभ्यो लब्धभूमिद्वयो विशोकाऽऽदिभूमिद्वयसिषाधयिषया स्वार्थसंयमयत्नवान् । चतुर्थस्तु भगवान्महाऽनुभावो लब्धविवेकान्तभूमिश्रयो विरक्तो विघ्नशङ्काशून्यो जीवन्मुक्तश्चतुर्थभूमौ वर्त्तते । यस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा व्याख्याता । तत्राद्यस्य योगिनो देवनिमन्त्रणयोग्यता नास्ति । अतः परिशेषान्मधुभूमिको योगी द्वितीयो यस्तस्य स्थानिभिः तत्तत्स्थानस्वामिभिर्महेन्द्रादिभिरुपनिमन्त्रणं प्रार्थनं क्रियते, भोः ! इहास्यतां स्वर्गादिस्थाने, रम्यतां कमनीयेयं कन्या, दिव्योऽयं भोगो, रसायनमिदं जरामृत्युनिवारकमिदं कामगं यानमित्येवंप्रार्थने सङ्गः कामः, अहो ममायं योगप्रभाव इति स्मयश्च न कर्त्तव्यः । किं त्वित्थं तत्र दोषं भावयेद् घोरेषु संसाराङ्गारेषु पापच्यमानेन मया जन्ममृतिप्रबन्धचक्रारूढेन कथंचिदासादितः क्लेशकर्मान्धकारविध्वंसियोगप्रदीपः, तस्य चैते तृष्णायोनयो विषयवायवः प्रतिपक्षाः, स खल्वहं लब्धालोकः कथमनया मृगतृष्णया वञ्चितः; तस्यैव पुनः पुनः प्रदीप्तस्य संसाराग्नेरात्मानमिन्धनीकुर्यामिति स्वस्ति वः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्य इत्येवं निश्चितमतिः, समाधिं भावयेत् । सङ्गे पातित्यं, स्मये कृतकृत्यम्मन्यस्य योगासिद्धिः, ततो योगभ्रष्टस्य पुनः संसारस्यानिष्टस्य प्रसङ्गात् सङ्गस्मययोरकरणं कैवल्यविघ्ननिरासोपाय इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

चन्द्रिका ।

तत्र समाधौ स्थित्युपायमाह—स्थानीति ।

प्रधानजयस्य मधुमतीति सञ्ज्ञा तस्यां कृतसंयमस्य स्वामिनो देवा उपनिमन्त्रयितारो भवन्ति दिव्यरूपादिना तस्मिन्नुपनिमन्त्रणे नानेन सङ्गः कर्तव्यो नापि स्मयः सङ्गस्मयकरणे समाध्यनुत्साहोऽनिष्टप्रसङ्गः स्यात् ॥ ५१ ॥

योगसुधाकरः ।

अधुनान्तरायोत्पत्तौ तन्निराकरणकारणमाह—स्थानीति ।

चत्वारः खल्वमी योगिनः प्रथमकल्पिको मधुभूमिकः प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभावनीयश्चेति । तत्राद्यः संयमे प्रवृत्तिमात्रो न किञ्चिज्जानाति । संयमेन भूतेन्द्रियाणि साक्षात्कृत्य ताञ्जिगीषुर्द्वितीयः । भूतेन्द्रियजयी पुरुषमात्विख्यासुस्तृतीयः । संप्राप्तपुरुषख्यातौ परवैराग्यसंपन्नश्चतुर्थः । सोऽसौ भगवान्महानुभावो जीवन्मुक्तो विघ्नशङ्काकलङ्कशून्यः । तृतीयो जितभूतेन्द्रियत्वान्महेन्द्रादिभिरक्षोभ्यः । आद्यस्तु देवनिमन्त्रणायोग्यः अतः परिशेषाद्द्वितीयः स्थानिभिः शक्रादिभिः शक्यते प्रार्थयितुम्—'भो योगिन् ! इहास्यताम् । स्वर्गादिस्थानं रम्यताम् । कमनीयेयं कन्या । दिव्योऽयं भोगः । रसायनमिदं जरामृत्युनिवारणम् । इदं कामगं यानम्' इति । एवं प्रार्थने सङ्ग आसक्तिः 'अहो मम योगप्रभावः' इति स्मयश्च न कर्तव्यः; किं त्वित्थं तत्र दोषं भावयेत्—'घोरेषु संसाराङ्गारेष्वहं पापच्यमानः कथंचित्क्लेशादिध्वान्तध्वंसकं योगप्रदीपमलभे । तस्यैते तृष्णायोनयो विषयवायवः प्रतिपक्षाः । स खल्वहं लब्धालोकः कथमेतैर्वञ्चितः पुनः पुनः प्रदीप्तस्य संसारहुतभुजः स्वात्मानमिन्धनीकुर्याम् ? अतः स्वस्ति वः स्वप्नसमेभ्यः कृपणजनप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्यः' इति । एवं निश्चितमतिः पुरुषधौरेयः समाधिं भावयेत् । यदि तत्र सङ्गस्मयौ भवेताम्, तदास्य योगभ्रष्टस्य पुनरनिष्टं प्रसज्जेत । तस्मात्सङ्गस्मययोरकरणं कैवल्यान्तरायानिवारणकारणमित्यर्थः ॥ ५१ ॥

भोजवृत्तिः ।

अस्यामेव फलभूतायां विवेकख्यातौ पूर्वोक्तसंयमव्यतिरिक्तमुपायान्तरमाह —

(१)क्षणतत्क्रमयोः(२) संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्(३) ॥ ५२ ॥

क्षणः सर्वान्त्यः कालावयवो यस्य कलाः प्रभवितुं न शक्यन्ते । तथाविधानां कालक्षणानां यः क्रमः पौर्वापर्येण परिणामस्तत्र संयमात्तागुक्तं विवेकजज्ञानमुत्पद्यते । अयमर्थः—अयं कालक्षणोऽमुष्मात्कालक्षणादुत्तरोऽयमस्मात्पूर्व इत्येवंविधे क्रमे कृतसंयमस्यात्यन्तसूक्ष्मेऽपि क्षणक्रमे यदा भवति साक्षात्कारस्तदाऽन्यदपि सूक्ष्मं महदादि साक्षात्करोतीति विवेकज्ञानोत्पत्तिः ॥ ५२ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

सर्वज्ञेऽपि वैराग्यान्मोक्ष इत्युक्तम् । यदि च तत्र रागो न गच्छति वासनाप्राबल्याद्दोषात्तद्रागनिवृत्तये पूर्ववत्सर्वज्ञतासाधकं संयमान्तरमप्याह—क्षणेति ।

पूर्वोक्तात्सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययरूपाद्विवेकाज्जायमानं सर्वज्ञं विवेकजं ज्ञानं सर्ववस्तूनामशेषविशेषैर्विविच्य साक्षात्करणमिति यावत् । क्षणतत्क्रमयोः संयमादपि साक्षात्कारपर्यन्ताद्भवतीत्यर्थः । प्रतिक्षण सर्वं वस्तु परिणमते । अतः क्षणेषु तत्तत्क्रमेषु संयमेन साक्षात्कृतेषु सत्सु सर्ववस्तूनां परिणामतत्तत्क्रमयोरपि ज्ञानात्सर्ववस्तूनां विवेकजज्ञानं भवतीत्याशयः ॥ ५२ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

विवेकजज्ञाने उपायान्तरमाह—**क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्** । सर्वतोऽपकृष्टः कालक्षणः । पूर्वापरभागविकलकालकलेति यावत् । परमाणुश्चलितो यावता समयेन स्वपरिमितं देशमतिक्रामति स समयः । तत्प्रवाहाविच्छेदस्तु क्रमः । यत्तु पूर्वस्मादुत्तरस्य भाविनो यदानन्तर्यं स क्रम इति । तत्रानन्तर्यमनन्तर इति बुद्धिविषयत्वमेव । नत्वानन्तर्यमेव बाह्यं किंचिद्वस्तु तत्रास्ति । अतोऽयं विकल्पात्मा व्यवहारः । एवं क्षणसमाहारो मुहूर्ताहोरात्रादय इत्यप्येवमेव । अयुगपद्भावित्वात् क्षणानां समाहारस्य वास्तवस्यासम्भवात् । किन्तु बुद्धिमात्रविषयः समाहारः । तदुक्तं भाष्ये 'बुद्धिसमाहारो मुहूर्ताहोरात्रादयः। स खल्वयं कालो वस्तुशून्योऽपि बुद्धिनिर्माणः शाब्दज्ञानानुपाती लौकिकानां वस्तुभूत इवावभासते । क्षणस्तु वस्तुपतितः' इति । नच क्षणोऽप्युत्तरसंयोगावच्छिन्ना क्रियास्तु त्रयाणामपि स्थिरत्वेन क्षणव्यवहारानालम्बनत्वात् । यदि विशिष्टमतिरिक्तमित्युच्यते तर्हि सिद्धं क्षणेनातिरिक्तेन । तयोः क्षणतत्क्रमयोः साक्षात्कारपर्यन्तात्संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् । सर्ववस्तूनामशेषविशेषैर्विविच्य साक्षात्करणरूपं सार्वज्ञ्यं भवतीत्यर्थः । प्रतिक्षणं हि सर्वं वस्तु परिणमतेऽतः क्षणतत्क्रमयोः साक्षात्कारः सर्ववस्तूनां सर्वपरिणामतत्क्रमयोरपि ज्ञानात्सर्वतो विवेकेन पुरुषप्रत्ययो भवतीत्याशयः ॥ ५२ ॥

मणिप्रभा ।

पूर्वं बुद्धिप्रतिबिम्बितपुरुषस्य स्वार्थसंयमात्तारकं विवेकज्ञानमुक्तं, तत्रोपायान्तरमाह—क्षणेति ।

अभेद्यः कालभागः सत्यः क्षणः । अन्ये मुहूर्त्तादयः कालभागाः क्षणसमूहरूपा असत्याः । न हि क्षणानां समूहो वस्तुसन् तत्रायमस्मात्पूर्वक्षणोऽयमुत्तरक्षण इति क्षणानां, तेषां क्रमस्य, पौर्वापर्यस्य संयमादतिसूक्ष्माणां भेदसाक्षात्कारो विवेको भवति । तेन च युगपद्बुद्ध्यादीनां पुरुषान्तानां ज्ञानं साक्षात्कारात्मकं जायत इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

---

(१) प्रागुक्तविवेकज्ञानं प्रति यथोक्तसंयमव्यतिरिक्तमुपायान्तरं दर्शयति क्षणेति । विवेकात् पूर्वोक्तसत्त्वपुरुषान्यताख्यात् जायमानं विवेकजं ज्ञानं सर्ववस्तूनामशेषरूपैः साक्षात्करणमिति यावत् । तत् क्षणतत्क्रमयोः संयमादपि भवतीत्यर्थः । सर्वं हि वस्तु प्रतिक्षणं परिणमते अतः क्षणेषु तत्क्रमेषु च संयमेन साक्षात्कारे सर्वेषां वस्तूनां सर्वपरिणामतत्क्रमयोर्ज्ञानात् सर्ववस्तुनो विवेकेन ज्ञानं भवतीत्याशयः । (२) क्षणक्रमयोरिति पाठान्तरम् । (३) विवेकज्ञानमिति पाठान्तरम् ।

चन्द्रिका ।

क्षणेति । क्षणानां यः क्रमः पौर्वापर्य्येण परिणामस्तत्र संयमात् प्रागुक्तं विवेकजं ज्ञानमुत्पद्यते सूक्ष्मक्षणादिज्ञानात् सूक्ष्ममहदादीनां ज्ञानं भवति ॥ ५२ ॥

योगसुधाकरः ।

अधस्तात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानं भवतीत्यभिहितम् । अधुना तदेवान्यसंयमात्साक्षाद्भवतीत्याह—क्षणेति।

अभेद्यः कालविभागः सत्यः क्षणः । अन्ये तु मुहूर्तादयः कालविभागाः क्षणसमूहरूपा असत्याः । न हि क्षणानां समूहो वस्तुसन् । तत्रायमस्मात्पूर्वः क्षणः अयमुत्तरः क्षण इति चणानां तेषां क्रमस्य पौर्वापर्यस्य च संयमादतिसूक्ष्माणां भेदसाक्षात्कारो विवेको भवति । तेन युगपद्बियदादिपुरुषान्तसाक्षात्कारो जायत इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

भोजवृत्तिः ।

अस्यैव संयमस्य विषयविवेकोपक्षेपणायाऽऽह(१)—

(२)जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

पदार्थानां भेदहेतवो जातिलक्षणदेशा भवन्ति । क्वचिद्भेदहेतुर्जातिः, यथा—गौरियं महिषोऽय-मिति । जात्या तुल्ययोर्लक्षणं भेदहेतुः,—इयं कर्बुरेयमरुणेति । जात्या लक्षणेन चाभिन्नयोर्भेदहेतुर्देशो दृष्टः, यथा—तुल्यपरिमाणयोरामलकयोर्भिन्नदेशस्थितयोः । यत्र पुनर्भेदोऽवधारयितुं न शक्यते यथै-कदेशस्थितयोः शुक्लयोः पार्थिवयोः परमाण्वोस्तथाविधे विषये भेदाय कृतसंयमस्य भेदेन ज्ञानमुत्पद्यते तदा तदभ्यासात्सूक्ष्माण्यपि तत्त्वानि भेदेन प्रतिपद्यते । एतदुक्तं भवति—यत्र केनचिदुपायेन भेदो नावधारयितुं शक्यस्तत्र संयमाद्भवत्येव भेदप्रतिपत्तिः(३) ॥ ५३ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

विवेकजज्ञानस्यैकमुदाहरणमाह—जातीति ।

तुल्ययोस्तुल्यजातिलक्षणदेशयोर्वस्तुनोर्जात्यादिभिरन्यतानवच्छेदाद्भेदावधारणासम्भवात् ततः क्षण-तत्क्रमसंयमादेव प्रतिपत्तिर्भेदसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः । भेदो हि क्वचिज्जात्या गृह्यते । यथा गोमहि-षयोः । क्वचिच्च लक्षणैरवस्थादिभिर्यथा बालवृद्धयोः । क्वचिद्देशेन यथा पूर्वोत्तरस्थितवस्तुनोः । यदा तु पूर्वदेशस्थितमामलकं विषयान्तरासक्तस्य योगिन उत्तरदेशे केनाप्यानीयते, उत्तरदेशस्थं च समा-नमामलकान्तरं पूर्वदेशे नीयते तदा तयोरामलकयोः सजातीयत्वात्सलक्षणत्वात्कालभेदेन समानदेश-त्वाच्च जात्यादित्रयेण भेदग्रहो न सम्भवति । पूर्वमिदं मत्पूर्वदेशस्थमामलकमिदं चोत्तरस्थमित्येवंरू-

---

(१) विवेकोपयोगमाहेति पाठान्तरम् ।

(२) लौकिकानां विप्रमाणीनिपुनानां हि जातिलक्षणदेशभेदा अन्यताज्ञापकाः । यत्र तु जात्या-दिभिरन्यतानुभानं न सम्भवति यथा पूर्वदेशस्थितं समानाकारकमामलकं विषयान्तरव्यग्रस्य ज्ञातुर्वि-वेकं करिष्यतः उत्तरस्मिन् देशे सम्बध्यते उत्तरदेशस्थितं चामलकान्तरस्माच्छाद्यते दैवात्तदा द्वयोराम-लकयोरेकदेशत्वे सति पूर्वदेशोपलक्षितमिदमुत्तरदेशोपलक्षितं चेदमिति विवेको न स्यात् आमलकयो-र्जात्यादिसाम्यात् । तत्र योगिनः क्षणतत्क्रमसम्बन्धसंयमवतः यथोक्तात् विवेकजज्ञानात् प्रतिपत्तिर्भ-वत्येव । कथमिति चेदुच्यते । आमलकस्य क्षणेन सह सम्बद्धः पूर्वो देश आमलकान्तरस्य क्षणेन सह सम्बद्धादुत्तरदेशाद्भिन्नः अतः स्वदेशलक्षणप्राप्त्या आमलके भिन्ने एकस्य एकदा विरुद्धदेशसम्बन्धा-सम्भवात् । एवं च पूर्वोत्तरदेशसम्बन्धक्षणयोः साक्षात्कारः यथोक्तविवेकग्रहे कारणमिति । इदं तु क्षणसंयमात् विवेकज्ञानम् । तत्क्रमसंयमेऽपि यथा त्रिश्रिक्षणमात्रेण ज्येष्ठकनिष्ठयोर्ज्येष्ठकनिष्ठता-विवेकज्ञानं क्षणक्रमसाक्षात्कारं विना न सम्भवतीति । एवं स्थूलदृष्टान्तेन सूक्ष्मपरमाण्वादावपि विवे-कज्ञानं बोध्यम् ।

(३) भेदप्रतीतिरिति पाठान्तरम् ।

पम् । अत आमलकयोस्तत्तद्देशसम्बन्धक्षणानां संयमेन साक्षात्करणात्तद्भेदेनैवामलकयोर्भेदसिद्धिरिति । एतच्च क्षणसंयमाद्विवेकप्रतिपत्तेरुदाहरणम् । क्षणक्रमसंयमाद्विवेकप्रतिपत्तिस्तु यथा द्वित्रिक्षणमात्रेण ज्येष्ठकनिष्ठयोर्ज्येष्ठकनिष्ठताविवेकज्ञानं क्षणक्रमसाक्षात्कारं विना न भवतीत्यतः क्षणक्रमसंयमस्तत्र कारणमिति ॥ ५३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः

तादृशज्ञानस्यैकमुदाहरणमाह—**जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ।** तुल्ययोः तुल्यजातिलक्षणदेशयोः वस्तुनोर्जात्यादिभिरन्यताया भेदस्यानवच्छेदादवधारणासम्भवात् क्षणतत्क्रमसंयमादेव प्रतिपत्तिर्भेदसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः । भेदो हि क्वचिज्जात्या गृह्यते, यथा गोमहिषयोः । क्वचिच्च लक्षणैरवस्थादिभिः यथा बालवृद्धयोः यथा वा कालाक्षरक्ताक्षयोः । क्वचिद्देशेन, यथा पूर्वोत्तरस्थितामलकयोः । यदा तु पूर्वमामलकं विषयान्तरासक्तस्य योगिन उत्तरदेशे केनाचिन्नीयते उत्तरदेशस्थं च पूर्वदेशे तदा तयोः साजात्यात्सलक्षणत्वात्कालभेदेन समानदेशत्वाच्च जात्यादित्रयेण भेदग्रहो न सम्भवति । पूर्वं मत्पूर्वदेशस्थमामलकमिदमिदं चोत्तरदेशस्थमित्येवंरूपः । अत आमलकयोस्तद्देशसम्बन्धक्षणानां संयमेन साक्षात्करणात् तद्भेदेनैवोक्तभेदग्रहसिद्धिरामलकयोः, एवं परमाणूनामपि तत्तद्देशसम्बन्धक्षणसाक्षात्कारेणैव परस्परं भेदज्ञानम् । इदमुपलक्षणम् । क्वचिद्व्यवधिरपि भेदकारणम् , यथा कुशपुष्करद्वीपयोः । क्वचित्संस्थानं, यथा विशुद्धावयवकुत्सितावयवयोः । मुक्तात्मनामपि भूतचरमदेहसम्बन्धेन योगिनो भेदं पश्यन्ति । एतेन नित्यद्रव्यवृत्तयोऽनन्ता विशेषास्तेषां परस्परं भेदका इत्यपास्तम् । तेषां परस्परं भेदकस्यान्वेषणेऽनवस्थापत्तेः । स्वत एव भेदे नित्यद्रव्याणामेव स्वतः सोऽस्तु किं तेन । भेदकस्योपपादितत्वाच्च । प्रधानस्योक्तभेदकाभावान्न पृथक्त्वमिति वार्षगण्यः । एतत्क्षणसंयमाद्विवेकप्रतिपत्तेरुदाहरणम् । तत्क्रमसंयमाद्विवेकप्रतिपत्तिस्तु यथा, द्वित्रिक्षणमात्रेण ज्येष्ठकनिष्ठयोर्ज्येष्ठकनिष्ठताविवेकज्ञानं क्षणक्रमसाक्षात्कारं विना नेति क्षणक्रमसंयमस्तत्र कारणमिति दिक् ॥५३॥

मणिप्रभा ।

इदं क्षणसंयमजं ज्ञानं सर्वविषयमित्यग्रे वक्ष्यते । संप्रति सूक्ष्मं तस्य विषयविशेषमाह—**जातीति** ।

अवच्छेदो निश्चयः । लोके हि भावानां त्रयो भेदनिश्चयहेतवः । तत्र देशेन लक्षणेन च तुल्ययोर्गोगवययोर्जात्या भेदधीः । देशजातिभ्यां तुल्ययोर्गवोः कृष्णश्वेतादिलक्षणेन भेदधीः । जातिलक्षणाभ्यां तुल्ययोरामलकयोः पूर्वोत्तरादिदेशभेदाद्भेदनिश्चयः । यदा पुनर्योगिनो ज्ञानपरीक्षाऽर्थं केनचित्पूर्वदेशस्थमामलकमुत्तरामलकदेशे विन्यस्योत्तरामलकमन्यव्यासक्ते योगिन्यपहृतं, तदा तयोरामलकत्वजातिरूपपरिणामादिलक्षणेन देशेन च तुल्ययोर्जात्यादिभिरन्यत्वानिश्चयासंभवात् ततः क्षणसंयमजविवेकज्ञानादेवान्यत्वप्रतिपत्तिर्योगिनो भवति । यस्मिन् क्षणे पूर्वामलकमुत्तरत्र विन्यस्तं, तस्मात्प्राचीनक्षणेषु तस्मिन्पूर्वदेशस्थरूपपूर्वपरिणाममाला जाता नोत्तरामलके, तस्य तेषु क्षणेषूत्तरत्वपरिणाममालावत्त्वात्, तथा च क्षणक्रमज्ञो योगी तयोः पूर्वोत्तरस्वपरिणाममालाक्षणेभ्योऽस्य क्षणस्यानन्तर्यं जानन्नधुनेदमुत्तरामितः प्राक् पूर्वं नोत्तरामिति भेदं निश्चिनोतीत्यर्थः ॥ ५३ ॥

चन्द्रिका ।

जातीति । पदार्थानां भेदहेतवो जातिलक्षणदेशा भवन्ति । तत्र जात्या भेदो यथायं गौरयं महिष इति । जात्या तुल्ययोर्लक्षणेन भेदो यथायं गौः शुक्लोऽयमरुण इति । देशात् यथा तुल्यपरिमाणयोरामलकयोर्भिन्नदेशावस्थितयोः । यत्र भेदो न ज्ञायते तत्रापि कृतसंयमस्य ज्ञानमुपजायते उभयोर्भेदप्रतिपत्तिर्भवत्येव ॥ ५३ ॥

योगसुधाकरः ।

अधुनास्य साक्षात्कारस्य सूक्ष्मं विषयविशेषमभिधातुमाह—**जातीति** ।

लोके हि भावानां त्रयो भेदनिश्चयहेतवः । तत्र देशेन लक्षणेन च तुल्ययोर्गोगवययोर्जात्या भेदधीः ।

देशजातिभ्यां तुल्ययोर्गवोः कृष्णश्वेतादिलक्षणेन भेदधीः । जातिलक्षणाभ्यां तुल्ययोरामलकयोः पूर्वोत्तरादिदेशभेदाद्भेदनिश्चयः । यदा पुनर्योगिनो ज्ञानपरीक्षार्थं केनचित्पूर्वदेशस्थमामलकमुत्तरामलकदेशे विन्यस्योत्तरामलकमन्यत्र्यासक्ते योगिन्यपहृतम्, तयोरामलकयोरामलकत्वजात्या रूपपरिमाणादिलक्षणेन देशेन च तुल्ययोर्जात्यादिभिरन्यतायाः अनवच्छेदादनिश्चयात्ततस्तस्मात्क्षणसंयमजविवेकज्ञानादेवान्यत्वप्रतीतिर्योगिनो भवतीत्यर्थः ॥ ५३ ॥

भोजवृत्तिः ।

सूक्ष्माणां तत्त्वानामुक्तस्य विवेकजन्यज्ञानस्य संज्ञाविषयस्वाभाव्यं(१) व्याख्यातुमाह—

(२)तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥५४॥

उक्तसंयमबलादन्त्यायां भूमिकायामुत्पन्नं ज्ञानं तारयत्यगाधात्संसारसागराद्योगिनमित्यान्वर्थिकया संज्ञया तारकमित्युच्यते । अस्य विषयमाह—सर्वविषयमिति । सर्वाणि तत्त्वानि महदादीनि विषयो यस्येति सर्वविषयम् । स्वभावश्चास्य सर्वथाविषयत्वम् । सर्वाभिरवस्थाभिः स्थूलसूक्ष्मादिभेदेन तैस्तैः परिणामैः सर्वेण प्रकारेणावस्थितानि तत्त्वानि विषयो यस्येति सर्वथाविषयम् । स्वभावान्तरमाह—अक्रमं चेति । निःशेषनानावस्थापरिणतद्व्यात्मक(३)भावग्रहणे नास्य क्रमो विद्यत इति अक्रमम् । सर्वं करतलामलकवद्युगपत्पश्यतीत्यर्थः ॥ ५४ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

विवेकजज्ञानस्यैकमुदाहरणं प्रदर्शितम् । इदानीं सहेतुकं विवेकजज्ञानस्य मोक्षोपयोगमाह—तारकमिति ।

इति शब्दो हेत्वर्थे । यतो विवेकजं ज्ञानं सर्वविषयादिरूपम्, अतः सर्वत्र वैराग्येण दोषदर्शनादिना च द्वारेण संसारतारकं भवतीत्यर्थः । सर्वेत्यादिविशेषणत्रयस्य सर्ववस्तूनामशेषविशेषत एकदा विषयत्वमित्यर्थः । विवेकजज्ञानस्येदं लक्षणमभिप्रेतम् । तेन सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिजन्यसर्वज्ञताया अपि संग्रहात्तत्संयमसूत्रे सापि विवेकजज्ञानशब्देन भाष्यकारैरुक्तेति ॥ ५४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

इदानीं सहेतुकविवेकजज्ञानस्य मोक्षोपयोगमाह—**तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्** । इतिर्हेतौ । यतो विवेकजं ज्ञानं सर्वविषयादिरूपमतः सर्वत्र दोषदर्शनमूलकवैराग्यद्वारा संसारतारकं भवतीत्यर्थः । सर्वेत्यादिविशेषणत्रयस्य सर्ववस्तूनां सर्वथाशेषविशेषतः अक्रममेकक्षणोपारूढं सर्वमेकदा विषय इत्यर्थः । विवेकजज्ञानस्येदं लक्षणमप्यभिप्रेतम् ॥ ५४ ॥

मणिप्रभा ।

तारकमिति । तत्तत्संयमात्सर्वज्ञतोक्ता, सा प्रकारमात्रविषया यथा रसवत्या निष्पन्नैः सर्वैर्व्यञ्जनैर्भुक्तमिति सर्वैर्व्यञ्जनप्रकारैर्भुक्तमिति गम्यते । तद्यथा पुनः पात्रस्थैः सर्वैर्व्यञ्जनैरुपनीतं सर्वमन्नं भुक्तमित्युक्ते स्वरूपतः प्रकारतश्च निःशेषं भुक्तमिति गम्यते, तद्वदिदं क्षणसंयमजं विवेकज्ञानं सर्ववस्तुस्वरूपविषयं, सर्वथाविषयं सर्वप्रकारविषयं, पुरुषतत्त्वावगाहित्वात्संसारसागरात्तारयतीति तारकसंज्ञमक्रमं युगपदेव करतलामलकवत्सर्वसमूहावलम्बनमित्यर्थः ॥ ५४ ॥

चन्द्रिका ।

तारकमिति । उक्तसंयमबलादन्त्यभूमिकोत्पन्नं ज्ञानं संसारोत्तारणात्तारकमित्युच्यते । सर्वाणि मह-

---

(१) संज्ञा विषयस्वाभाव्यमिति पाठान्तरम् ।

(२) इदानीं सहेतुकां विवेकज्ञानस्य मोक्षोपयोगितामाह तारकमिति । यस्माद् विवेकजं ज्ञानं सर्वविषयमतः सर्वत्र दोषसाक्षात्कारेण वैराग्यद्वारा संसारतारकं भवतीत्यर्थः ।

(३) द्विव्यात्मकेति पाठान्तरम् ।

दादीनि विषया यस्येति सर्वविषयं तत्त्वानां स्थूलाद्यवस्थाविषयत्वात्, सर्वथाविषयमतीतादिविषयत्वात्, अक्रमं नाम भाव्यपि विद्यमानत्वेन पश्यति ॥ ५४ ॥

योगसुधाकरः।

इत्थं विवेकज्ञानस्य विषयाविशेषमभिधाय अधुना तस्य सप्रकारं विषयसामान्यमभिधातुमाह-- तारकमिति।

क्षणसंयमजं ज्ञानं सर्ववस्तुस्वरूपविषयं सर्वथा सर्वप्रकारविषयं पुरुषतत्त्वावगाहित्वात्संसारसागरं तारयतीति तारकसंज्ञम्, अक्रमं युगपदेव करतलामलकवत्सर्वसमूहालम्बनमित्यर्थः॥ ५४ ॥

भोजवृत्तिः।

अस्माच्च विवेकजात्तारकाख्याज्ज्ञानात्किं भवतीत्याह--

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्(१) ॥ ५५ ॥

सत्त्वपुरुषावुक्तलक्षणौ तयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यं सत्त्वस्य सर्वकर्तृत्वाभिमाननिवृत्त्या स्वकारणेऽनुप्रवेशः शुद्धिः, पुरुषस्य शुद्धिरुपचारितभोगाभाव इति द्वयोः समानायां शुद्धौ पुरुषस्य कैवल्यमुत्पद्यते मोक्षो भवतीत्यर्थः

तदेवमन्तरङ्गं योगाङ्गत्रयमभिधाय तस्य च संयमसंज्ञां कृत्वा संयमस्य च विषयप्रदर्शनार्थं परिणामत्रयमुपपाद्य संयमबलोत्पद्यमानाः पूर्वान्तपरान्तमध्यभवाः सिद्धीरुपदर्श्य समाध्याश्वासोत्पत्तये(२) बाह्या भुवनज्ञानादिरूपा आभ्यन्तराश्च कायव्यूहज्ञानादिरूपाः प्रदर्श्य समाध्युपयोगायेन्द्रियप्राणजयादिपूर्विकाः(३) परमपुरुषार्थसिद्धये यथाक्रममवस्थासहितभूतजयेन्द्रियजयसत्त्वजयोद्भवाश्च व्याख्याय विवेकज्ञानोत्पत्तये तांस्तानुपायान्(४) उपन्यस्य तारकस्य सर्वसमाध्यवस्थापर्यन्तभवस्य स्वरूपमभिधाय तत्समापत्तेः कृताधिकारस्य चित्तसत्त्वस्य स्वकारणेऽनुप्रवेशात्कैवल्यमुत्पद्यत इत्यभिहितमिति निर्णीतो विभूतिपादस्तृतीयः॥ ५५ ॥

इति श्रीभोजदेवविरचितायां राजमार्तण्डाभिधानायां पातञ्जलयोगसूत्रवृत्तौ विभूत्याख्यस्तृतीयपादः ॥३॥

भावागणेशवृत्तिः।

तदेवमतिविस्तरेण संयमसिद्धयोऽतीतानागतज्ञानाद्या विवेकजज्ञानान्ता ज्ञानक्रियैश्वर्यरूपाः प्रदर्शिताः। तत्र किमेतासां सिद्धीनामुत्तरमेव मोक्ष आहोस्विदेतद्व्यतिरेकेणापीति जिज्ञासायामाह-- सत्त्वेति।

बुद्धिसत्त्वस्य पुरुषेण सह समाना वक्ष्यमाणरूपा शुद्धिर्यदा भवति तदैव मोक्षो भवति। न तत्र सिद्ध्याद्यपेक्षेत्यर्थः। निरभिमानत्वं पुरुषस्याच्च शुद्धिर्भोग्यकृतोक्ता। तथाच यथा साक्षी निरभिमान एवं चेच्चित्तं निरभिमानं भवति विवेकनिष्ठया तदा प्राप्तसिद्धेर्वाऽप्राप्तसिद्धेर्वाऽवश्यमेव मोक्षो भवति। निश्चयार्थाद्यपेक्षेति (?)। नन्वष्टाङ्गयोगेऽभ्यस्यमाने सिद्धिरवश्यं भविष्यत्येवेति चेन्न। सिद्धिवैराग्ये सिद्धिप्रतिबन्धकपापे च सति सिद्ध्यनुत्पादसंभवादिति॥ ५५ ॥

इति श्रीभावागणेशभट्टकृतायां पातञ्जलवृत्तौ योगदीपिकायां विभूतिपादस्तृतीयः॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

ननु किमुक्तसर्वसिद्ध्युत्तरमेव मोक्ष उत तद्व्यतिरेकेणापीति शङ्कायामाह--**सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्**। बुद्धिसत्त्वस्य पुरुषेण सह शुद्धिसाम्यमेव भवति तदा कैवल्यमित्यर्थः। पुरुषस्योपचरिताभिमानत्यागेनोपचरितभोगाभावः शुद्धिः। एवं चित्तमपि यदा निरभिमानं भवति तदा तत्सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्राधिकारं ज्ञानादज्ञाननिवृत्त्या दग्धक्लेशबीजं भवति तदा तत्पुरुषेण शु-

(१) कैवल्यमितीति पाठान्तरम्। (२) समाध्यभ्यासोपपत्तये इति पाठान्तरम्।
(३) पूर्विकाः प्रदर्श्य परमेति पाठान्तरम्। (४) तानुपायानिति पाठान्तरम्।

द्धिसाम्याभिपन्नं भवति तदा प्राप्तसिद्धेरप्राप्तसिद्धेर्वा अवश्यं मोक्षो भवतीत्यर्थः । ननु योगमभ्यस्यतः सिद्धिरवश्यं भविष्यत्येवेति चेन्न । सिद्धिं प्रति वैराग्यस्य प्रतिबन्धकत्वेन तदनुत्पादात् । तत्प्रतिबन्धकपापात्तदनुत्पत्तिरित्यपि कश्चित् ॥ ५५ ॥

इति श्रीपातञ्जलवृत्तौ तृतीयः पादः ।

मणिप्रभा ।

एवं विवेकख्यातिकाष्ठाऽवधिकान् तत्तद्विभूतिफलान् संयमाननुपन्यस्य तादृशविवेकख्यातिकाष्ठाऽस्तु वा मा वा, सत्त्वपुरुषान्यतासाक्षात्कारमात्रं मुक्तये कल्पत इत्यभिप्रेत्याह सत्त्वेति ।

निरस्तसमस्तरजोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य विवेकख्यात्या संस्कारशेषस्य सर्ववृत्तिशून्यत्वं शुद्धिः, पुरुषस्यापि नित्यशुद्धस्य तदा कल्पितभोगशून्यत्वं शुद्धिः, एवं तयोः शुद्धिसाम्ये सति कैवल्यम् । तत्तद्विभूतयस्तु श्रद्धोत्पादनार्थमुपन्यस्ताः । कैवल्यं तु बुद्धिविलक्षणपुरुषसाक्षात्कारमात्रादविद्यानिवृत्तावनागतदुःखानुत्पादरूपं सिध्यतीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

इति विभूतिपादः ॥ ३ ॥

चन्द्रिका ।

सत्त्वेति । उक्तलक्षणयोः सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्येऽपि कर्तृत्वनिवृत्त्या स्वकारणे लयः पुरुषस्योपचरितभोगनिवृत्त्या कैवल्यं मोक्षो भवतीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

इति योगचन्द्रिकायां तृतीयो विभूतिपादः ॥ ३ ॥

योगसुधाकरः ।

अधुना तस्य विवेकज्ञानस्य फलं दर्शयितुमाह—सत्त्वेति ।

निरस्तसमस्तरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य विवेकख्यात्या संस्कारशेषस्य सर्ववृत्तिशून्यत्वं शुद्धिः । पुरुषस्यापि नित्यशुद्धस्य तदा कल्पितभोगशून्यत्वं शुद्धिः । एवं च तयोः शुद्धिसाम्ये सति कैवल्यं पुरुषख्यात्युत्पन्नपरवैराग्येण सकलवृत्तिनिवृत्तौ तत्कृतभोगनिवृत्तेः कूटस्थनित्यशुद्धानन्तायाश्चितिशक्तेः स्वरूपप्रतिष्ठालक्षणं कैवल्यं सिध्यतीत्यर्थः । येन केन प्रकारेणोत्पन्नया पुरुषख्यात्या परवैराग्यद्वारा परमपदं कैवल्यं लभ्यत इति परमतात्पर्यम् ॥ ५५ ॥

इति श्रीमत्पतञ्जलिप्रणीते योगशास्त्रे योगसुधाकराभिधायां वृत्तौ विभूतिपादः समाप्तः ।

अथ चतुर्थः कैवल्यपादः ।

भोजवृत्तिः ।

यदाज्ञयैव कैवल्यं विनोपायैः प्रजायते ।
तमेकमजमीशानं चिदानन्दमयं स्तुमः ॥ १ ॥

इदानीं विप्रतिपत्तिसमुत्थभ्रान्तिनिराकरणेन युक्त्या कैवल्यस्वरूपज्ञानाय(१) कैवल्यपादोऽयमारभ्यते । तत्र याः पूर्वमुक्ताः सिद्धयस्तासां नानाविधजन्मादि(२)कारणप्रतिपादनद्वारेणैवं बोधयति । यदि वा या एताः सिद्धयस्ताः सर्वाः पूर्वजन्माभ्यस्तसमाधिबलाज्जन्मादिनिमित्तमात्रत्वेनाऽऽश्रित्य प्रवर्तन्ते । ततश्चानेकभवसाध्यस्य समाधेर्न क्षतिरस्तीत्याश्वासोत्पादनाय(३) समाधिसिद्धेश्च प्राधान्यख्या-

---

(१) स्वरूपज्ञापनायेति पाठान्तरम् । (२) जात्यादीति पाठान्तरम् ।
(३) विश्वासोत्पादनायेति पाठान्तरम् ।

पनार्थं कैवल्यप्रयोगार्थं चाऽऽह—

(१)जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

काश्चन जन्मनिमित्ता एव सिद्धयः। यथा—पक्ष्यादीनामाकाशगमनादयः। यथा वा कपिलमहर्षिप्रभृतीनां जन्मसमनन्तरमेवोपजायमाना ज्ञानादयः सांसिद्धिका गुणाः। ओषधिसिद्धयो यथा—पारदादिरसायनाद्युपयोगात्। मन्त्रसिद्धिर्यथा—मन्त्रजपात्केषांचिदाकाशगमनादि। तपःसिद्धिर्यथा—विश्वामित्रादीनाम्। समाधिसिद्धिः प्राक्प्रतिपादिता। एताः सिद्धयः पूर्वजन्मक्षपितक्लेशानामेवोपजायन्ते। तस्मात्समाधिसिद्धाविवान्यासां सिद्धीनां समाधिरेव जन्मान्तराभ्यस्तः कारणं, मन्त्रादीनि निमित्तमात्राणि ॥१॥

भावागणेशवृत्तिः।

हानोपायं तद्व्यूहत्रयं चातिविस्तरतः पादत्रयेणोक्तम्। हानं तु स्वरूपतः संक्षेपेणोक्तम्। इदानीं हानव्यूहस्याशेषविशेषप्रतिपादनाय चतुर्थः पाद आरभ्यते। तत्रादौ कैवल्यार्हं चित्तं निर्धारयितुमितरसिद्ध्यपेक्षया यथोक्तसमाधिसिद्धेरुत्कर्षं च प्रतिपादयितुं पञ्चप्रकारां सिद्धिमाह—**जन्मेति**।

देवादीनामणिमादिसिद्धयो जन्ममात्रजा इत्येवं पञ्चप्रकाराः सिद्धयो भवन्तीत्यर्थः। पञ्चप्रकारासिद्धिसाधारण्यलाभार्थं पूर्वपादप्रतिपादिता अस्मिन्नेव प्रसंगे कियद्भिः सिद्धिप्रकारसूत्रैः प्रतिपाद्यन्ते ॥ १ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

इतरसिद्ध्यपेक्षया समाधिसिद्धेरुत्कर्षं प्रतिपादयितुं पञ्चप्रकारां सिद्धिमाह—**जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः**। देवादीनामणिमादिसिद्धयो जन्ममात्रजाः। असुरभवनेषु रसायनजास्ता औषधिजाः। यथा मनुष्यः कुतश्चिन्निमित्तादसुरभवनं प्राप्तस्तत्कन्यादत्तरसायनाद्युपयुज्याजरामरत्वं प्राप्नोति इहैव वा कश्चित्तदुपयोगेन। मन्त्रजा आकाशगमनाणिमादिलब्धिः। तपसा संकल्पसिद्धिः। समाधिजास्तु पूर्वं व्याख्याताः ॥ १ ॥

मणिप्रभा।

सर्वसाधनासिद्धीनां या स्यात्सिद्धिरनुत्तमा।
कैवल्यरूपा तन्मात्रं सीतारामं नमाम्यहम् ॥

प्रथमद्वितीयपादयोर्योगतत्साधने प्रतिपादिते। तृतीये संयमसंज्ञमन्तरङ्गत्रयं संयमस्य लक्ष्याः परिणामभेदाः सिद्धयश्चोक्ताः। तत्र काश्चिदतीतानागतज्ञानादिसिद्धयः श्रद्धाद्वारा कैवल्ययोगस्याङ्गम्। काश्चिदिन्द्रियजयादयः साक्षादङ्गम्। तारकसंज्ञिविवेकज्ञानसिद्धिर्योगस्य फलमिति निरूपितम्। इदानीं कैवल्यस्वरूपं प्राधान्येन प्रतिपादनीयं, तदर्थं कैवल्यभागीयं चित्तं परलोकः क्षणिकविज्ञानातिरिक्तात्मा चित्तविकारसुखादिभोक्ता धर्ममेघश्च वक्तव्यः प्रासङ्गिकं चान्यदुक्तव्यमिति चतुर्थः पाद आरभ्यते। तत्र प्रथमसिद्धिचित्तेषु कैवल्ययोग्यं चित्तं वक्तुकामः पूर्वोक्तसिद्धीनां हेतुभेदात्पञ्चविधत्वमाह जन्मेति।

जन्मना यक्षादीनामाकाशगमनादिसिद्धिः कपिलादीनां च सांसिद्धिकीत्युच्यते। ओषधिविशेषसेवया माण्डव्यादीनाम्। मन्त्रजपेन केषांचिदणिमादिसिद्धिः। तपसा विश्वामित्रादीनां सिद्धिः। एताश्च तस्सः सिद्धयः पूर्वजन्माभ्यस्तयोगजा एव जन्मादिनिमित्तेन व्यज्यन्ते। अत एव योगाभ्यासे विघ्नवशेन प्रवृत्तिरिह सिद्ध्यदर्शनेऽपि जन्मान्तरे साफल्यात्। समाधिजास्तु पूर्वपादे व्याख्याताः ॥ १ ॥

चन्द्रिका।

कैवल्याख्यं चतुर्थपादमाह—जन्मेति। तत्र सिद्धीनामनेकजत्वं सूचयति काश्चन जन्मन एव

---

(१) कैवल्ययोग्यं चित्तं निर्द्धारयितुं पञ्चप्रकारां सिद्धिमाह जन्मेति। प्रसङ्गेन चानेन जन्मादिसिद्ध्यपेक्षया समाधिसिद्धेरुत्कर्षं सेत्स्यति। समाधिसिद्धाविव अन्यासां सिद्धीनां समाधिरेव जन्मान्तराभ्यस्तः कारणं मन्त्रादीनि तु निमित्तमात्राणि।

यथा कपिलादीनाम् । ओषधिसिद्धयः पारदादयः । मन्त्रसिद्धिराकाशगमनादि । तपःसिद्धिर्विश्वामित्रादीनां, समाधिजाः प्राक् प्रतिपादिताः ॥ १ ॥

योगसुधाकरः ।

वीरासने समासीनं सचिन्मुद्रालसत्करम् ।
कैवल्यानन्ददं काञ्चिज्ज्योतिर्धातुमुपास्महे ॥

इत्थं पूर्वस्मिन्पादे समाधेरन्तरङ्गं संयमसंज्ञं धारणादित्रयं संयमस्य लक्ष्यभूतान्परिणामभेदांश्च तद्द्वारा कैवल्यफलकपुरुषख्यात्यर्था ज्ञानक्रियारूपाः सिद्धीश्चाभिधाय अधुना कैवल्यस्वरूपं प्राधान्येन प्रतिपादयितुकामः प्रथमं तावत्सिद्धिपञ्चकं प्रपञ्चयति—

जन्मना पक्ष्यादीनामाकाशगमनादिसिद्धिः, ओषधी रसायनादिः, तत्सेवया माण्डव्यादीनां कायादिसिद्धिः । मन्त्रस्त्रैपुरादिः; तज्जपेन केषांचिदणिमादिसिद्धिः । शरीरशोषणादिकं तपः; तेन विश्वामित्रादीनां सिद्धिः, समाधिजास्त्वधस्तादभिहिताः ॥ १ ॥

भोजवृत्तिः ।

ननु नन्दीश्वरादिकानां जात्यादिपरिणामोऽस्मिन्नेव जन्मनि दृश्यते तत्कथं जन्मान्तराभ्यस्तस्य(१) समाधेः कारणत्वमुच्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—

(२)जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

योऽयमिहैव जन्मनि नन्दीश्वरादीनां जात्यादिपरिणामः स प्रकृत्यापूरात्, पाश्चात्त्या एव हि प्रकृतयोऽमुष्मिञ्जन्मनि विकारानापूरयन्ति जात्यन्तराकारेण परिणामयन्ति(३) ॥ २ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

जातीति । देहेन्द्रियकारणसात्त्विकावयवोपचयाद्भवति । यथा नन्दीश्वरस्य ब्राह्मणदेहेन्द्रिययोर्देवसंबन्धिदेहेन्द्रियरूपता देवप्रकृत्यनुप्रवेशादित्यर्थः । जात्यन्तरपदं च महिमाद्यखिलसिद्ध्युपलक्षणं प्रकृत्यापूरश्चापगमस्याप्युपलक्षकः । तेनाणिमादिसिद्धिप्रकारोऽप्युक्त इति ॥ २ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ननु यदा मनुष्यादिशरीरेणैव देवभावं प्राप्नोति सिद्ध्या यदा वाणिमादिसिद्धयः प्रादुर्भवन्ति तदा किं संकल्पयोगजधर्माभ्यामतिरिक्तं कारणमपेक्षते न वेति संशये सत्याह—**जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्** । मनुष्यादिशरीरस्य देवादिजात्यन्तररूपः परिणामः सत्त्वादिविशेषरूपाणां देवादिशरीरारम्भयोग्यानामापूरणादेव भवति । तत्र च पूरणेऽधर्मादिप्रतिबन्धनिवृत्तिद्वारा योगिसंकल्पयोगजधर्मादिकं निमित्तमात्रम् । जात्यन्तरपदं च महिमाद्युपलक्षकमपि । प्रकृत्यापूरोऽपगमस्याप्युपलक्षकः । तेनाणिमादिसिद्धिप्रकारोऽप्युक्तः । अत एव वामनादेस्तदापूर एव शरीरवृद्धिरगस्त्यपीयमानसमुद्रस्य च तदपसरणादेवाल्पत्वमुपपन्नम् । कायव्यूहादिकं तु देहान्तरादिप्रकृतीनां पृथगेवारम्भकसंयोगादिति बोध्यम् । एवं हिरण्यगर्भादीनां जगत्सृष्ट्याद्यपि प्रकृत्यापूरादिति बोध्यम् । प्रकृत्यापूरणमत्र जीवान्तराणां स्वस्वोपाधिसंयोगस्याप्युपलक्षणं येन योगी जीवान्तरसंयोगेन गजतुरगादीनि निर्मायैश्वर्यं भु-

---

(१) कथं जन्मनि जन्मान्तराभ्यस्तस्येति पाठान्तरम् ।

(२) ननु नन्दीश्वरादीनामिहैव जन्मनि जात्यन्तरादिपरिणामः दृश्यते तत् कथं जन्मान्तराभ्यस्तसमाधेः कारणत्वमत आह जात्येति । प्रकृत्या पूरणादिति पाठान्तरम् । केचित्तु योगिनो निर्माणकायनिर्माणेन्द्रिययोरुत्पत्तिप्रकारं प्रतिपादयति जात्येति । जात्यन्तरशब्देन योगिनः कायव्यूहादिकं बोध्यं योगिनां देहेन्द्रिययोः परिणामकाले योगजधर्मसापेक्षाः कायेन्द्रियप्रकृतयः स्वं स्वं विकारं आपूरणेनानुगृह्णन्ति कायप्रकृतयः पञ्चभूतानि इन्द्रियप्रकृतिश्च अस्मितेत्याहुः ।

(३) नामरूपजात्यादिद्वारेण परिणयन्तीति पाठान्तरम् ।

क्ते । तत्र समाधिसिद्धावयं विशेषः, यत्तत्संस्कृतमेव चित्तमात्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुर्नान्यासिद्धि-संस्कृतमिति । प्रह्लादादीनां भक्तिजा सिद्धिस्तपःसिद्धिमध्य एव प्रविष्टा 'अक्षयः परमो धर्मो भक्ति-लेशेन जायते' इति स्मृतेस्तपोऽन्तराद्भक्तिराधिकेति बोध्यम् ॥ २ ॥

मणिप्रभा ।

ननु तपःप्रभावादिहैव नन्दीश्वरस्य श्रीगौरीवल्लभकटाक्षवीक्षणेन देवशरीरपरिणामः श्रूयते । तत्र न तावदयं नरदेहो देवादिदेहस्योपादानं तस्मिन् स्थिते परिणामान्तरायोगान्नष्टस्याहेतुत्वात् । नापि तदव-यवा एवोपादानं नरदेहमात्रहेतोर्विलक्षणकार्यकारित्वायोगादित्याशङ्क्याह—जात्येति ।

प्रधानादयः पृथिव्यन्ताः प्रकृतयस्तासां सर्वत्र सत्त्वान्नरादिदेहावयवेषु तासामापूराद्धर्मादिनिमित्तानु-रोधेनावयवानुप्रवेशाज्जात्यन्तरपरिणामो युज्यते, यथाऽग्निकणस्य प्रकृत्यानुग्रहाद्वनादौ बहुतृणादि-मण्डलव्यापित्वं तद्वदित्यर्थः ॥ २ ॥

चन्द्रिका ।

जात्यन्तरेति । योऽह्यस्मिन् जन्मनि जात्यन्तरपरिणामः स प्रकृत्यापूरणात् पाश्चात्यजन्यप्रकृत-योऽस्मिन् जन्मनि विकारानापूरयन्ति ॥ २ ॥

योगसुधाकरः ।

ननु परमेश्वरसमाराधनादितपःप्रभावेणैव नन्दीश्वरो मनुष्यदेहेन देवत्वमगमदित्युपाख्यायते; तत्कथम्, मनुष्यदेहस्य देवशरीराकारेण परिणामायोगादित्याशङ्क्याह—जातीति ।

प्रधानादयः पृथिव्यन्ताः प्रकृतयः । तासां सर्वत्र विद्यमानतया नरादिदेहावयवेष्वापूराद्धर्मादिनिमि-त्तानुरोधेनावयवानुप्रवेशाज्जात्यन्तरपरिणामो युज्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥

भोजवृत्तिः ।

ननु धर्माधर्मादयस्तत्र क्रियमाणा उपलभ्यन्ते तत्कथं प्रकृतीनामापूरकत्व(१)मित्याह —

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥३॥

निमित्तं धर्मादि तत्प्रकृतीनामर्थान्तरपरिणामे न प्रयोजकम् । न हि कार्येण कारणं प्रवर्तते । कुत्र तर्हि तस्य धर्मादेर्व्यापार इत्याह—वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् । ततस्तस्मादनुष्ठीयमानाद्धर्माद्वरणमा-वरकमधर्मादि तस्यैव विरोधित्वाद्भेदः क्षयः क्रियते । तस्मिन्प्रतिबन्धके क्षीणे प्रकृतयः स्वयमभिमत-कार्याय प्रभवन्ति । दृष्टान्तमाह—क्षेत्रिकवत् । यथा—क्षेत्रिकः कृषीवलः केदारात्केदारान्तरं जलं निनी-षुर्जलप्रतिबन्धकवरणभेदमात्रं करोति, तस्मिन्भिन्ने जलं स्वयमेव प्रसरद्रूपं परिणामं गृह्णाति न तु जलप्रसरणे तस्य कश्चित्प्रयत्न एवं धर्मादेर्बोद्धव्यम् ॥ ३ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु योगजादिधर्मैर्योगिसंकल्पैश्च बलात्प्रकृतय आकृष्यन्त इति प्रकृतिस्वातन्त्र्यसिद्धान्तक्षतिः । तत्रश्चेश्वरसंकल्पकृती विना सर्गादौ प्रकृतिप्रवृत्त्यनुपपत्त्या ईश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्यापत्तिस्तत्राह—निमित्तमिति ।

धर्मादिरूपं निमित्तकारणं प्रकृतीनां महदादिकारणानां प्रयोजकं प्रवर्तकं न भवति स्वत एव प्रकृतिस्वाभाव्यात् । किंतु ततो निमित्तकारणाद्वरणभङ्गः प्रवृत्तिविशेषप्रतिबन्धकाधर्मादिनिवृत्तिमात्रं भवति । क्षेत्रिकवत् । यथा कृषीवलो जलपूर्णात्क्षेत्राज्जलं क्षेत्रान्तरे निनीषुरालवालभङ्गमात्रं करोति जलं तु गतिस्वाभाव्यात्स्वयमेव गच्छति तद्वदित्यर्थः । अचेतनं चेतनाधिष्ठितमेव प्रवर्तते इति नियमस्त्वस्मा-भिर्नेष्यते, परमेश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्यापत्तेरिति भावः ॥ ३ ॥

---

(१) पूरकारणत्वमिति पाठान्तरम् ।

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ननु योगजधर्मैर्योगिसंकल्पैश्च बलात्प्रकृत्याकर्षणे प्रकृतिस्वातन्त्र्यसिद्धान्तहानिरत आह- **निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्** । धर्मादिरूपं निमित्तकारणं प्रकृतीनां महदादिकारणानां प्रयोजकं प्रवर्तकं न भवति स्वत एव प्रवृत्तिस्वाभाव्यात् तेषामपि प्रकृतिकार्यत्वाच्च । ततो निमित्तकारणाद्वरणस्य तत्तत्प्रतिबन्धकाधर्मादेर्भङ्गो निवृत्तिमात्रं भवति । ततः प्रकृतयः स्वयमेव तं तं विकारमारभन्ते क्षेत्रिकवत् । यथा कृषीवलो जलपूर्णात् क्षेत्राज्जलं क्षेत्रान्तरे निनीषुरालवालभङ्गमात्रं करोति जलं तु गतिस्वाभाव्यात्स्वयमेव गच्छति तद्वत् । पुरुषार्थोद्देशेनेश्वरस्तु प्रवर्तकः सोऽपि तदुद्देशमात्रेणैव, तथोद्देश्यतामात्रेण च पुरुषार्थः प्रवर्तक इत्युच्यते । वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गस्तु प्रथमपादे निवारितः । अचेतनं चेतनाधिष्ठितमेव प्रवर्तत इति नियमस्तु नेश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्यापत्तेरिति केचित् । न च पुरुषभोगोद्देश्या प्रवृत्तिर्जडायाः प्रकृतेः कथं ? पुरुषभोगो मया संपाद्य इत्यध्यवसायो हि तदुद्देश्यता, जडायाश्च तदनुपपत्तिः सत्त्वे जडत्वव्याघात इति वाच्यम् । अनुलोमप्रतिलोमलक्षणपरिणामद्वये सहजं शक्तिद्वयमस्ति प्रकृतेस्तदेव पुरुषार्थकर्तव्यतोच्यते । भोगसमाप्तौ च तस्य क्षयेन पुनः सा प्रवर्तते तस्य च शक्तिद्वयस्य विवेकसाक्षात्कारेण विदेहकैवल्यमेव नाश इति भोजराजः ॥ ३ ॥

मणिप्रभा ।

ननु प्रकृत्यापूरो धर्मादिनिमित्तमपेच्चते न वा ? न चेत्सर्वदापूरापत्तिः । नाद्यः, धर्मादेः प्रवर्तकत्वे पुरुषार्थः प्रवर्तक इति सिद्धान्तविरोधादित्यत आह —**निमित्तमिति** ।

निरीश्वरसांख्ये हि पुरुषार्थ एवानागतः प्रकृतीनां प्रवर्तकः । अस्माकं तु सेश्वराणां तदुद्देशेनेश्वरः प्रवर्तक इत्युद्देश्यतया पुरुषार्थः प्रवर्तक इत्युच्यते । निमित्तं तु तासां न प्रवर्तकं तत्कार्यत्वात् । किन्तु ततो निमित्ताद्वरणस्य प्रतिबन्धस्य बाधो भवति धर्मेणाधर्मनिरासे प्रकृतयः स्वयमेव देवादिपरिणामे प्रवर्तन्ते पापातिशयेन पुण्यप्रतिबन्धे सति तिर्यगादिपरिणामो यथा नहुषस्य सर्पपरिणामः । क्षेत्रिकवदिति । यथा क्षेत्रिकः कृषीवलो जलस्योन्नतदेशादिवरणभेदनमात्रं करोति ततो जलं स्वयमेव केदारान्तरे प्रवर्तते तद्वदित्यर्थः ॥ ३ ॥

चन्द्रिका ।

निमित्तमिति । निमित्तं धर्मादि तत्र प्रयोजकं प्रकृतीनां परिणामे, कुतस्तस्य धर्मादेर्व्यापार इत्याह—वरणभेद इति । ततोऽनुष्ठीयमानधर्मादेर्वरणभेदो वरणमावरकमधर्मादि तस्यैव विरोधित्वाद्भेदः क्षयः क्रियते । यथा क्षेत्रिकः कृषीबलः केदारात् केदारान्तरे जलानयनार्थं प्रतिबन्धावरणभेदमात्रं करोति तद्वत् ॥ ३ ॥

योगसुधाकरः ।

ननु प्रकृत्यापूरो धर्मादिनिमित्तमपेक्षते चेत्तस्यैवास्तु प्रवर्तकत्वम् ; किं तेन ? न चेष्टापत्तिः, अपसिद्धान्तापातादित्याशङ्क्याह—**निमित्तमिति** ।

निरीश्वरसांख्येऽपि पुरुषार्थ एवानागतः प्रकृतीनां प्रवर्तकः । सेश्वराणां तु तदुद्देशेनेश्वरः प्रवर्तक इत्युद्देश्यतया पुरुषार्थः प्रवर्तक इति राद्धान्तः । अतः प्रकृतीनां धर्मादिकं निमित्तं न प्रवर्तकम्, तत्कार्यत्वात् । अपि तु ततो निमित्ताद्वरणस्य प्रतिबन्धस्य भेदो नाशो भवति । धर्मेणाधर्मनिरासे प्रकृतयः स्वयमेव देवादिपरिणामे प्रवर्तन्ते । यथा क्षेत्रिकः कृषीवलो जलस्योन्नतदेशादिवरणभेदमात्रं करोति, ततः पाथः स्वत एव केदारात्केदारान्तरे प्रवर्तते, तद्वदित्यर्थः ॥ ३ ॥

भोजवृत्तिः ।

यदा साक्षात्कृततत्त्वस्य योगिनो युगपत्कर्मफलभोगायाऽऽत्मीयानिरतिशयाविभूत्यनुभावात्(१)

(१) अनुभवादिति पाठान्तरम् ।

युगपदनेकशरीरनिर्मित्सा जायते तदा कुतस्तानि(१) चित्तानि प्रभवन्तीत्याह--

(२)निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

योगिनः स्वयं निर्मितेषु कायेषु यानि चित्तानि तानि मूलकारणादस्मितामात्रादेव तदिच्छया प्रसरन्ति अग्नेर्विस्फुलिङ्गा इव युगपत्परिणमन्ति ॥ ४ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

कायव्यूहदशायां किमेकमेव चित्तमुतानेकमपि भवतीति संशये निर्णयसूत्रे—निर्माणेति।

सिद्धो संकल्पेन निर्मितानि चित्तानि निर्माणचित्तान्युच्यन्ते। तानि बहूनि निर्माणदेहसमसंख्यान्यपि भवन्ति। तेषां कारणमाह अस्मितामात्रादिति। मनःकारणादहङ्कारादित्यर्थः ॥ ४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

यदा योगी कायव्यूहं करोति तदा तावच्छरीरसंबद्धानि चित्तानि किं नाना उतैकमिति संशये आह—निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्। अस्मितामात्रमहंकारस्तस्मात्सिद्धेन सकल्पेन निर्मित्तानि चित्तानि निर्माणचित्तानि तानि देहसमसंख्यानि भवन्ति। अहंकारकारणकानीत्यर्थः। अन्यथैकाचित्तेन विरुद्धानां भोगसमाध्यादीनां नानादेहेष्वेकदा संभवो न स्यात् ॥ ४ ॥

मणिप्रभा।

ननु यदा योगी युगपद्भोगार्थं बहून्कायान् निर्मिमीते तदा तेषु चित्तानि कुतो भवन्त्यत आह—निर्माणेति।

योगप्रभावान्निर्मीयन्ते इति निर्माणानि चित्तानि योगसङ्कल्पाधीनप्रकृत्यापूरात्कायवदहङ्कारात्प्रकृतेर्जायन्ते इत्यर्थः ॥ ४ ॥

चन्द्रिका।

योगी अनेकशरीराणि युगपत्सृजतीत्याह निर्माणेति। योगिनः स्वयं निर्मितेषु कायेषु यानि चित्तानि तानि मूलकारणादस्मितामात्रात् प्रसरन्ति अग्नेर्विस्फुलिङ्गा इव ॥ ४ ॥

योगसुधाकरः।

यदा योगी युगपद्भोगार्थं बहून्कायान्निर्मिमीते तदा तेषु कस्माच्चित्तानि भवन्तीत्यत आह—निर्माणेति।

योगप्रभावान्निर्मीयन्त इति निर्माणानि चित्तानि योगिसंकल्पाधानप्रकृत्यापूरात्कायवदहंकारात्स्वप्रकृतेर्जायन्ते इत्यर्थः ॥ ४ ॥

भोजवृत्तिः।

ननु बहूनां चित्तानां भिन्नाभिप्रायत्वान्नैककार्यकर्तृत्वं स्यादित्यत आह--

(३)प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

तेषामनेकेषां चेतसां प्रवृत्तिभेदे व्यापारनानात्वे एकं योगिनश्चित्तं प्रयोजकं प्रेरकमधिष्ठातृत्वेन,

---

(१) कुतस्त्यानीति पाठान्तरम्।

(२) साक्षात्कृततत्त्वस्य योगिनो यदा युगपत्कर्मफलोपभोगाय युगपदनेकशरीरनिर्माणेच्छा जायते तदा कुतस्तेषु चित्तानि भवन्तीत्यत आह निर्माणेति। निर्माणचित्तानि स्वसङ्कल्पेन निर्मितचित्तानि। अस्मितामात्रात् अहङ्कारादित्यर्थः। ननु निर्मातृचित्तस्य एकस्यैव प्रदीपवद्विसारितया कायव्यूहेषु वृत्तिसम्भवात् किमर्थं देहभेदेनान्तःकरणभेदोऽभ्युपगम्यते। अत्रोच्यते। समाधिभोगयोर्ज्ञानाज्ञानयोश्च एकदा एकस्मिन्नसंभवे विरोधेन चित्तभेदः सिध्यतीति।

(३) ननु कथं बहूनां चित्तानामेकचित्तानुसारिणी प्रवृत्तिरिति। उच्यते। योगी पूर्वसिद्धं यच्चित्तं तदेव सर्वचित्तानां प्रयोजकं करोति ततस्तु तच्चित्ताभिप्रायात् तेषामवान्तरचित्तानां प्रवृत्तिरिति।

तेन न भिन्नमतत्त्वम्। अयमर्थः—यथाऽऽत्मीयशरीरे मनश्चक्षुःपाण्यादीनि यथेच्छं प्रेरयति अधिष्ठातृत्वेन तथा कायान्तरेष्वपीति ॥ ५ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

अनेकनिर्माणे विशेषमाह—**प्रवृत्तीति**।

तेषामनेकेषां निर्माणचित्तानां प्रवृत्तिभेदे प्रतिनियतव्यापारे प्रयोजकमेकं निर्मातृचित्तमेव भवति। निर्मातृचित्तसंकल्पेनैव तेषामखिलव्यापार इत्यर्थः ॥ ५ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

तत्र विशेषमाह—**प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्**। तेषामनेकेषां निर्माणचित्तानां प्रवृत्तिभेदे प्रतिनियतव्यापारे प्रयोजकमेकं चित्तं निर्मिमीते महाराज इव दशाधिकरणमेकं तावशदशाधिकरणमपरम्। ततस्तेषां प्रवृत्तिभेद इति भाष्यसंमतः पन्थाः। केचित्तु निर्मातृचित्तमेव तेषां प्रवृत्तिकारणं निर्मातृचित्तसंकल्पेनैव तेषामखिलव्यापारादित्याहुः ॥ ५ ॥

मणिप्रभा।

तर्हि चित्तानां भिन्नभिन्नाभिप्रायत्वाद्योगिनो भोगासिद्धिरित्यत आह—**प्रवृत्तीति**।

निर्मितचित्तानां योगी स्वभोगानुकूलप्रवृत्तिविशेषनियामकं चित्तं निर्मिमीत योगबलात्तच्चित्तं तेषां नायकं भवति तेन भोगस्तदनुसन्धानं युज्यत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

चन्द्रिका।

प्रवृत्तीति। चेतसां प्रवृत्तिभेदे व्यापारनानात्वे एकं योगिनश्चित्तं प्रयोजकमधिष्ठातृत्वेन प्रेरकं तेन न भिन्नं तत्त्वम् ॥ ५ ॥

योगसुधाकरः।

तर्हि चित्तानां भिन्नाभिप्रायत्वाद्योगिनो भोगासिद्धिरित्यत आह—**प्रवृत्तीति**।

निर्मितचित्तानां नायकं चित्तमेकं योगी स्वभोगानुकूलप्रवृत्तिविशेषनियामकं निर्मिमीते तेन भोगस्तदनुसन्धानं च युज्यते इत्यर्थः ॥ ५ ॥

भोजवृत्तिः।

जन्मादिप्रभवत्वात्सिद्धीनां चित्तमपि तत्प्रभवं पञ्चविधमेव। ततः(१) जन्मादिप्रभवाच्चित्तात्समाधिप्रभवस्य चित्तस्य वैलक्षण्यमाह—

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

ध्यानजं समाधिजं यच्चित्तं तत्पञ्चसु मध्येऽनाशयं कर्मवासनारहितमित्यर्थः ॥ ६ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

तदेवमुक्तेषु पञ्चसु सिद्धचित्तेषु मध्ये मोक्षयोग्यं चित्तमवधारयति—**तत्रेति**।

तेषु चित्तेषु मध्ये ध्यानजं ध्यानेन समाधिना संस्कृतमेव चित्तमनाशयं निर्वासनं भवति, न मन्त्रादिसंस्कृतमित्यर्थः। समाधिनैव योगजयद्वाराऽखिलवासनोन्मूलनसंभवादिति ॥ ६ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

तत्र पञ्चसु सिद्धिषु मोक्षयोग्यं चित्तमवधारयति—**तत्र ध्यानजमनाशयम्**। तेषु सिद्धचित्तेषु मध्ये ध्यानजं ध्यानेन समाधिना संस्कृतमेव चित्तमनाशयं निर्वासनं भवति, न मन्त्रादिसंस्कृतमित्यर्थः। समाधिनैव योगजयद्वाराऽखिलवासनोन्मूलनसंभवात् ॥ ६ ॥

मणिप्रभा।

एवं जन्मादिभिः पञ्चविधानि सिद्धचित्तान्युक्तानि तेष्वपवर्गभागीयं चित्तं निर्धारयति—**तत्रेति**।

---

(१) अत इति पाठान्तरम्।

तत्र तेषु जन्मादिजेषु यत्समाधिजं तदनाशयं क्लेशवासनाशून्यं मोक्षयोग्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥

चन्द्रिका ।

जन्मादिभवाच्चित्तात् समाधिप्रभवस्य वैलक्षण्यमाह तत्रेति ।

ध्यानजं समाधिजं यच्चित्तं तज्जन्मजादिषु पञ्चसु मध्ये अनाशयं कर्मवासनारहितमित्यर्थः ॥ ६ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थं जन्मादिभिः सिद्धिपञ्चकप्रपञ्चनपुरःसरं सिद्धानां पञ्चविधानि चित्तान्यभिहितानि । अधुना तेष्वपवर्गभागीयं चित्तं निर्धारयितुमाह—तत्रेति ।

तत्र तेषु जन्मादिसिद्धचित्तेषु यत्समाधिसिद्धचित्तम्, तदनाशयं क्लेशकर्मविपाकाशयशून्यमपवर्गयोग्यं भवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

भोजवृत्तिः ।

यथेतरचित्तेभ्यो योगिनश्चित्तं विलक्षणं क्लेशादिरहितं तथा कर्मापि विलक्षणमित्याह—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

शुभफलदं कर्म यागादि शुक्लम् । अशुभफलदं ब्रह्महत्यादि कृष्णम् । उभयसंकीर्णं शुक्लकृष्णम् । तत्र शुक्लं कर्म विचक्षणानां दानतपःस्वाध्यायादिमतां पुरुषाणाम् । कृष्णं कर्म नारकिणा(म्)(१) । शुक्लकृष्णं मनुष्याणाम् । योगिनां तु संन्यासवतां त्रिविधकर्मविपरीतं यत्फलत्यागानुसंधानेनैवानुष्ठानान्न किंचित्फलमारभते ॥ ७ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

इतश्च ध्यानचित्तमेव मोक्षयोग्यमित्याह—कर्मेति ।

योगिनः समाधिसिद्धस्य निष्पन्नयोगस्य क्षीणक्लेशस्य कायादिव्यापाररूपं कर्माशुक्लाकृष्णं पुण्यपापाहेतुर्भवति । क्लेशमूलः कर्माशय इत्युक्तत्वात् । इतरेषां त्वयोगिनां जन्मादिसिद्धानामपि यथासंभवं कर्म त्रिविधं भवति । शुक्लकृष्णयोः प्रत्येकसमुच्चयाभ्यामित्यर्थः । तत्राशुक्लाकृष्णं जीवन्मुक्तानां कर्म अन्तर्यागजपादि हिंसादिदोषासंमिश्रत्वादित्यर्थः । कृष्णं मलिनं कर्म अपेयपानादि । शुक्लकृष्णं च मिश्रितं कर्म बहिर्यागयुद्धादि पशुहिंसादिपापसाङ्कर्यादिति ॥ ७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अतस्तदेव मोक्षयोग्यमित्याह—**कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्** । योगिनः समाधिसिद्धस्य निष्पन्नयोगस्य क्षीणक्लेशस्य कायादिव्यापाररूपं कर्माशुक्लकृष्णं पुण्यपापाहेतुरित्युक्तं भवति 'क्लेशमूलः कर्माशय' इत्युक्तेः । इतरेषामप्रयोगिनां जन्मादिसिद्धानामपि त्रिविधं कर्म भवति । शुक्लं कृष्णं शुक्लकृष्णं चेत्येवमित्यर्थः । तत्र शुक्लं कर्मान्तर्यागजपादि हिंसादिदोषासंनिहितत्वात् । कृष्णं मलिनं कर्म (अपेयपानादि) । शुक्लकृष्णं च बहिर्यागयुद्धादि स्वकर्म पशुहिंसादिपापसाङ्कर्यात् । बहिःसाधनसाध्यं सर्वमप्येवमेव । एवं संन्यासिनां क्वचिदपि बहिः साधनसाध्ये कर्मणि अप्रवृत्तानां कृष्णस्याभाव एव योगानुष्ठानसाध्यस्य फलस्येश्वरे समर्पणान्न शुक्लमपीत्यवधेयम् ॥ ७ ॥

मणिप्रभा ।

योगिनश्चित्तवत्कर्मापि विलक्षणमित्याह—कर्मेति ।

वाङ्मनससाध्यं सुखैकफलकं शुक्लं कर्म स्वाध्यायतपःशीलानां भवति । दुःखैकफलकं कर्म कृष्णं दुरात्मनां भवति । सुखदुःखमिश्रफलकं बहिःसाधनसाध्यं शुक्लकृष्णं सोमयागादिरतानां भवति । तत्र व्रीह्यादिवधेन पिपीलिकाऽऽदिपरिपीडया दाक्षिणादानादिपरानुग्रहेण च योगादिदं त्रिविधं कर्मेतरेषामयोगिनां भवति । योगिनस्तु संन्यासिनो बाह्यसाधनसाध्यकर्मत्यागान्न शुक्लकृष्णं कर्म, क्षीणक्लेशत्वाच्च

---

(१) नारकाणामिति पाठान्तरम् ।

कृष्णं, योगजधर्मस्य फलमनभिध्यायेश्वरार्पितत्वान्न शुक्लं कर्मास्ति, अतश्चित्तशुद्धिविवेकख्यातिद्वारा मोक्षैकफलकमशुक्लाकृष्णं कर्मेत्यर्थः ॥ ७ ॥

चन्द्रिका ।

कर्मेति । शुभफलदं यागादिकर्म शुक्लमशुभफलदं ब्रह्महत्यादि कृष्णमुभयसङ्कीर्णं शुक्लकृष्णं, तत्र शुक्लं दानादिमतां, कृष्णं नारकिणां, शुक्लकृष्णं मनुष्याणां योगिनां, संन्यासवतामशुक्लकृष्णं क्रियमाणं कर्म फलत्यागानुसन्धानेनानुष्ठानान्न किञ्चित्फलमारभते ॥ ७ ॥

योगसुधाकरः ।

इत्थमस्तु योगिनश्चित्तम्, तत्कर्म कीदृशमित्यपेक्षायामाह- कर्मेति ।

काम्यकर्म विहितत्वाच्छुक्लम् । निषिद्धं कृष्णम् । मिश्रं शुक्लकृष्णम् । तदेतत्त्रयमितरेषामयोगिनां सम्पद्यते । तच्च त्रिविधं जन्म प्रयच्छति । तदुक्तम्—

शुभैराप्नोति देवत्वं निषिद्धैर्नारकीं गतिम् ।
उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं लभतेऽवशः ॥ इति ।

अथ योगस्यानिषिद्धत्वादकृष्णत्वेऽपि विहितत्वाच्छुक्लत्वमेवेति चेत्, मैवम्, अकाम्यत्वाभिप्रायेणाशुक्लकृष्णत्वाभिधानात् । अतश्चित्तशुद्धिविवेकख्यातिद्वारा मोक्षैकफलकमशुक्लकृष्णं योगिनः कर्मेत्यर्थः ॥ ७ ॥

भोजवृत्तिः ।

अस्यैव कर्मणः फलमाह—

(१)ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

इह हि द्विविधाः कर्मवासनाः स्मृतिमात्रफला जात्यायुर्भोगफलाश्च । तत्र जात्यायुर्भोगफला एकानेकजन्मभवा इत्यनेन पूर्वमेव कृतनिर्णयाः । यास्तु स्मृतिमात्रफलास्तासु ततः कर्मणो येन कर्मणा यादृक्शरीरमारब्धं देवमनुष्यतिर्यगादिभेदेन तस्य विपाकस्य या अनुगुणा अनुरूपा वासनास्तासामेवाभिव्यक्तिः(२) वासनानां भवति । अयमर्थः—येन कर्मणा पूर्वं देवतादिशरीरमारब्धं जात्यन्तरशतव्यवधानेन पुनस्तथाविधस्यैव शरीरस्याऽऽरम्भे तदनुरूपा एव स्मृतिफला वासनाः प्रकटीभवन्ति । लोकोत्तरेष्वेवार्थेषु तस्य स्मृत्यादयो जायन्ते । इतरास्तु सत्योऽपि अव्यक्तसञ्ज्ञास्तिष्ठन्ति(३) न तस्यां दशायां नारकादिशरीरोद्भवा(४) वासना व्यक्तिमायान्ति ॥ ८ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु तिष्ठत्वयोगिनां कर्म, तथापि भोगवासनानभिव्यक्त्यादिना कदाचिन्मोक्षः स्यादिति किमर्थं नियमेन ध्यानजस्यानाशयचित्तस्यापेक्षेत्यत आह—तत इति ।

ततस्त्रिविधात्कर्मणो भोगवासनानामभिव्यक्तिर्भवति । अतः कर्मण्यसति वासनाभिव्यक्त्यभावो न

---

(१) ननु तिष्ठत्वयोगिनां शुक्लादि कर्म तथापि वासनानभिव्यक्त्यादिनापि कदाचिन्मोक्षः स्यादिति किमर्थं ध्यानजस्यानाशयाचित्तस्यापेक्षा इत्यत आह तत इति । ततः त्रिविधात् कर्मणः । तद्विपाकानुगुणानामेवेति । यादृग्जातीयकर्मणो यादृशो विपाकः तादृशस्यानुगुणा या वासनाः कर्मविपाकानुवर्तिन्यः तन्मुखनिरीक्षका इति यावत् । तासामेवाभिव्यक्तिः दैवं कर्म विपच्यमानं दैवानुगुणवासनाभिव्यक्तिजनकं न तिर्यगादिवासनाभिव्यक्तिकारणं भवति । तथा च कर्मणो विद्यमानत्वान्नियतवासनाभिव्यक्तिरयोगिनां भवत्येव ।

(२) तासामेव तस्मादभिव्यक्तिरिति पाठान्तरम् ।

(३) इतरास्तु ताभ्यो न्यग्भूतास्तिष्ठन्तीति पाठान्तरम् ।

(४) शरीरस्योपभोगभवा इति पाठान्तरम् ।

घटते । नन्वेवं मानुष्यप्रापककर्मणापि पश्वादिभोगवासनाभिव्यक्त्या तृणचत्रादिभोजनादौ प्रवृत्त्यापत्ति-रतआह—तद्विपाकानुगुणानामेवेति । स्वविपाकहेतुवासनानामेव कर्मतोऽभिव्यक्तिर्भवति न सर्वासा-मित्यर्थः ॥ ८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

नन्वयोगिना कर्मसत्त्वेऽपि भोगवासनानभिव्यक्त्या कदाचिन्मोक्षः स्यादेवेति का ध्यानस्यापेक्षेत्यत आह—ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् । ततस्त्रिविधात्कर्मणो भोगवासनानाम-भिव्यक्तिर्भवत्येवेति न तेषां मोक्षः संभवति । नन्वेवं मानुष्यप्रापककर्मणापि पश्वादिभोगवासनाभिव्य-क्त्या तृणभोजनेऽपि प्रवृत्तिः स्यादत आह तद्विपाकानुगुणानामेवेति । स्वविपाकहेतुवासनानामेव कर्म-तोऽभिव्यक्तिर्न सर्वासामित्यर्थः ॥ ८ ॥

मणिप्रभा ।

कर्मणः प्रसङ्गाद्वासनाऽभिव्यक्तिफलमाह—तत इति ।

ततस्त्रिविधात्कर्मणो मरणकालानन्तरं जात्यायुर्भोगरूपविपाकदानायाभिव्यक्तौ तस्य विपाकस्यानु-गुणानां वासनानामभिव्यक्तिर्भवति न विरुद्धानामित्यर्थः । देवत्वप्राप्तौ चित्ते प्रसुप्ता एव नरकभोग-वासना भवन्ति तासामभिव्यक्तौ दिव्यभोगायोगादिति भावः ॥ ८ ॥

चन्द्रिका ।

अस्यैव कर्मणः फलमाह —तत इति ।

द्विविधवासनामध्ये जात्यायुर्भोगफलाः पूर्वं कृतनिर्णयाः । यास्तु स्मृतिफलास्ततः कर्मणो यादृक् शरीरमारब्धं देवादि तस्य विपाकस्य या अनुगुणा अनुरूपा वासनास्तासामेव तस्मादभिव्यक्तिर्वा-सनानां भवति ॥ ८ ॥

योगसुधाकरः ।

अधुना प्रसङ्गाद्विपाकाशयाभिव्यक्तेः कर्माभिव्यक्तिनिदानत्वमभिधातुमाह—तत इति ।

ततो यथोदीरितत्रिविधात्मककर्मणोरनन्तरं विपाकदानायाभिव्यक्तौ सत्यां तद्विपाकानुगुणानामेव वासनानामभिव्यक्तिर्भवति, न विरुद्धानामित्यर्थः । देवत्वप्राप्तौ च चित्ते प्रसुप्ता एव नरभोगवासना भवन्ति, तासामभिव्यक्तौ दिव्यभोगायोगादिति भावः ॥ ८ ॥

भोजवृत्तिः ।

आसामेव वासनानां कार्यकारणभावानुपपत्तिमाशङ्क्य समर्थयितुमाह—

(१)जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

इह नानायोनिषु भ्रमतां संसारिणां काञ्चियोनिमनुभूय यदा योन्यन्तरसहस्रव्यवधानेन पुनस्तामेव योनिं प्रतिपद्यते तदा तस्यां पूर्वानुभूतायां योनौ तथाविधशरीरादिव्यञ्जकापेक्षया वासना याः प्रकटीभूता आसंस्तास्तथाविधव्यञ्जकाभावात्तिरोहिताः पुनस्तथाविधव्यञ्जकशरीरादिलाभे प्रकटीभवन्ति । जातिदेश-कालव्यवधानेऽपि तासां स्वानुरूप(२) स्मृत्यादिफलसाधने आनन्तर्यं नैरन्तर्यम्, कुतः, ? स्मृतिसंस्का-

---

(१) ननु मनुष्यप्रायणानन्तरमधिगतमार्जारभावस्याव्यवहितपूर्वभाविमनुष्यवासनाया एवाभिव्यक्ति-र्युक्ता न तु मार्जारवासनाया न ह्यस्ति सम्भवः यदनन्तरदिवसानुभूतं न स्मर्यते वर्षव्यवहितदिवसानुभूतं च स्मर्यत इत्यत आह जातीति । जात्यादिव्यवहितानामपि वासनानामानन्तर्यमव्यवहितवत्कार्य-कारित्वं भवति अन्यथा कर्मफलानुपपत्तेः स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् एकरूपत्वमेकाकारत्वम् । तथा च मार्जारविपाकारम्भः स्वव्यञ्जकेनैवाभिव्यक्तेः वर्तमानावस्थो भवति । स च जातिशतादिव्यवधाने-नापि व्यञ्जकं प्राप्य उदियाद व्यवहितानामपि वासनानां सदृशकर्मव्यञ्जकत्वादिति भावः ।

(२) स्वानुभूतेति पाठान्तरम् ।

योरेकरूपत्वात् । तथा हि--अनुष्ठीयमानात्कर्मणश्चित्तसत्त्वे वासनारूपः(१) संस्कारः समुत्पद्यते । स च स्वर्गनरकादीनां फलानामङ्कुरीभावः कर्मणां वा यागादीनां शक्तिरूपतयाऽवस्थानम् । कर्तुर्वा तथाविधभोग्य(२)भोक्तृत्वरूपं सामर्थ्यम् । संस्कारात्स्मृतिः स्मृतेश्च सुखदुःखोपभोगस्तदनुभवाच्च पुनरपि संस्कारस्मृत्यादयः । एवं च यस्य स्मृतिसंस्कारादयो भिन्नास्तस्याऽनन्तर्याभावे दुर्लभः कार्यकारणभावः । अस्माकं तु यदाऽनुभव एव संस्कारीभवति संस्कारश्च स्मृतिरूपतया परिणमते तदैकस्यैव चित्तस्यानुसंधातृत्वेन स्थितत्वात्कार्यकारणभावो न दुर्घटः ॥ ९ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु यस्य कर्मणो विपाकानुगुणा वासना बहुजन्मादिव्यवहिता तस्य तदभिव्यञ्जकत्वं न घटते, संनिहितवासनां परित्यज्य व्यवहितवासनाभिव्यक्त्यनौचित्यात्तत्राह—जातीति ।

जात्यादिभिर्जन्मादिभिर्व्यवहितानामपि वासनानामानन्तर्यमव्यवहितवत्कार्यकारित्वं कल्प्यते, स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् । न हि जातमात्रस्य स्तनपानादीष्टसाधनतादिस्मृतिस्तत्समानाकारवासनां विनोत्पद्यत इत्यर्थः ॥ ९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ननु यस्य कर्मणो विपाकानुगुणवासना बहुजन्मादिव्यवहितास्तस्य तदभिव्यञ्जकत्वं घटते संनिहितवासनां परित्यज्य व्यवहितवासनाया अभिव्यक्त्यनौचित्यात् तत्राह—**जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्** । जातिर्जन्म । जन्मशतेन दूरदेशतया कल्पशतेन वा व्यवहितानामपि वासनानामानन्तर्यमव्यवहितवत्कार्यकारित्वं कल्प्यते, तदभिव्यक्तिनिमित्तकर्मणस्ता उपादायैव स्वफलारम्भाभिमुखत्वात् । किंच स्मृतिसंस्कारयोरेकत्वात् । नहि जातमात्रस्य स्तनपानादीष्टसाधनतादिस्मृतिस्तत्समानाकारवासनां विनोत्पद्यत इत्यर्थः । देशव्यवधानमवच्छेदकतया बोध्यम् ॥ ९ ॥

मणिप्रभा ।

ननु स्वर्गदेशे देवजन्मनि जातास्तद्भोगेभ्यो वासनाः कथं नरव्याघ्रादिजन्मसहस्रव्यवधानानन्तरं पुनर्देवजन्मन्यभिव्यज्यन्ते, अनन्तरजन्मपूर्ववासना एव पूर्वदिनवासनावत्कुतो न व्यज्यन्त इत्यत आह—जातीति ।

यद्यपि सुप्तोत्थितस्यानन्तरपूर्वदिनानुभवजवासनाः प्रायेणाभिव्यज्यन्तेऽव्यवधानात् तथाऽप्यनादिसंसारे येन कर्मणा यज्जन्मनि भोगैर्वासनाः सञ्चिताः तासां जन्मकोट्या देशेन कल्पशतेन च व्यवहितानामपि तज्जातीयेन कर्मणा तज्जन्मनि पुनः प्राप्ते सति तेनैव कर्मणा जन्मना वाऽभिव्यक्तानामानन्तर्यमव्यवहितत्वं स्मृतिद्वारा भोगादिहेतुत्वमिति यावत् । विजातीयकर्मारब्धानन्तरपूर्वजन्मवासनानां व्यञ्जकाभावात् प्रसुप्तिरेव व्यवहितानामपि कर्मजन्मनोरभिव्यञ्जकयोः सत्त्वादभिव्यक्तिर्युक्ता । न च विजातीयत्वेऽप्यव्यवधानादनन्तरपूर्ववासना एव ताभ्यां स्मृत्याद्यर्थमभिव्यज्यन्तामिति वाच्यम् । स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वादयमर्थः क्रिया ज्ञानमन्यद्वा रागादिकं शक्त्यात्मना स्थितः संस्कारः । स च स्वसमानविषयकक्रियास्मृत्यादिहेतुः । क्रियासंस्कारः क्रियात्मना, ज्ञानसंस्कारः स्मृत्यात्मना, अन्यसंस्कारोऽन्यात्मना, परिणमत इति यावत् । एवं स्मृतिसंस्कारयोरभेदेनैकविषयत्वेन चैकरूपत्वात् आनन्तर्यशब्दितः कार्यकारणभावो न विजातीययोः । न हि व्यवधानं संस्कारस्य विरूपकार्यकारित्वमापादयति घटानुभवजसंस्कारादनन्तरमननुभूतस्मृत्यापत्तेरिति ॥ ९ ॥

चन्द्रिका ।

आसां कार्यकारणभावानुपपत्तिं निराकरोति—जातीति ।

इह काञ्चियोनिमनुभूय यदा योन्यन्तरसहस्रव्यवधानेन तामेव पुनर्योनिं प्रतिपद्यते तदा या वा-

(१) वासनानुरूप इति पाठान्तरम् । (२) तथाविधभोगेति पाठान्तरम् ।

सवाः प्रकटीभूताः आसंस्तास्तथाविधव्यञ्जकाभावात्तिरोभूताः पुनस्तादृक्शरीरलाभे प्रकटीभवन्ति। जातिदेशकालव्यवधानेऽपि तासां स्वानुरूपस्मृत्यादिफलसाधने आनन्तर्यं नैरन्तर्यं, कुतः? स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

योगसुधाकरः।

नन्वेता नरभोगवासना देवत्वादिजन्मसहस्रव्यवधानानन्तरं कथं तर्हि पुनर्नरजन्मन्यभिव्यज्यन्त इत्याशङ्क्याह—जातीति।

अनादौ संसारे येन कर्मणा यस्मिञ्जन्मनि भोगैः सञ्चिता या वासनास्तासां जन्मकोट्या स्वर्गादिदेशेन कल्पशतेन च व्यवहितानामपि तज्जातीयेन कर्मणा तस्मिञ्जन्मनि पुनः प्राप्ते सति तेनैव कर्मणा जन्मनामभिव्यक्तानामानन्तर्यं स्मृतिद्वारा भोगादिहेतुत्वं भवति। कुतः? स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्। क्रिया ज्ञानमन्यद्वा रागादिकं यच्छक्त्यात्मना स्थितं स संस्कारः। तत्र क्रियासंस्कारः क्रियात्मना परिणतः, ज्ञानसंस्कारः स्मृत्यात्मना, अन्यसंस्कारोऽन्यात्मना परिणत इत्येवं स्मृतिसंस्कारयोरभेदेनैकविषयत्वेन चैकरूपत्वादानन्तर्यशब्दितः कार्यकारणभावः सजातीययोः सम्भवति, न विजातीययोः। न हि व्यवधानं संस्कारस्य विरूपकार्यकारित्वमापादयति; तथात्वे घटानुभवजसंस्कारादनन्तरमननुभूतस्मृत्यापत्तेरित्यर्थः ॥ ९ ॥

भोजवृत्तिः।

भवत्वानन्तर्यं कार्यकारणभावश्च वासनानां यदा तु प्रथममेवानुभवः प्रवर्तते तदा किं वासनानिमित्त उत निर्निमित्त इति शङ्कां व्यपनेतुमाह--

(१)तासामनादित्वमाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

तासां वासनानामनादित्वं--न विद्यत आदिर्यस्य तस्य भावस्तत्त्वं, तासामादिर्नास्तीत्यर्थः। कुत इत्यत आह—आशिषो नित्यत्वात्। येयमाशीर्महामोहरूपा सदैव सुखसाधनानि मे भूयासुर्मा कदाचन तैर्मे वियोगो भूदिति यः संकल्पविशेषो वासनानां कारणं तस्य नित्यत्वादनादित्वादित्यर्थः। एतदुक्तं भवति—कारणस्य संनिहितत्वादनुभवसंस्कारादीनां कार्याणां प्रवृत्तिः केन वार्यते, अनुभवसंस्काराद्यनुविद्धं संकोचविकाशधर्मि चित्तं तत्तदभिव्यञ्जकविपाकलाभा(२)त् तत्तत्फलरूपतया परिणमत इत्यर्थः ॥ १० ॥

भावागणेशवृत्तिः।

नन्वेवं सकलजन्मार्थमेव वासनाङ्गीकारेऽनवस्थापत्तिरित्याशङ्कां प्रामाणिकत्वेनापाकरोति—तासामिति।

तासां वासनानां प्रवाहरूपेणानादित्वम्। कुतः? आशिषो नित्यत्वात्। मा न भूवं भूयासमिति स्वविषयकप्रार्थनायाः जातमात्रस्यापि सर्वप्राणिनो नियतत्वादित्यर्थः। इयं हि भवनात्मा प्रार्थना मरणदुःखस्मृत्यैव युक्ता। न चेह जन्मनि मरणदुःखमनुभूतम्। नापि जातमात्रेणानुमितं श्रुतं वा। तस्मात्पूर्वजन्मानुभवोत्था मरणदुःखवासनाऽनुमीयत इति ॥ १० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

ननु सकलजन्मार्थं वासनाङ्गीकारेऽनवस्थापत्तिरत आह—तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्। तासां वासनानां प्रवाहरूपेणानादित्वं, कुत? आशिषो नित्यत्वात्। मा न भूवं भूयासमिति स्वविष-

---

(१) नन्वेवं सकलजन्मसु वासनास्वीकारे अनवस्थाप्रसङ्ग इत्यत आह तासामिति। तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वादिति पाठः भाष्यादिसम्मतः। अनादित्वं प्रवाहरूपेणेति बोध्यम्। नित्यत्वात् प्रतिजन्मनियतत्वात्। तथा च प्रामाणिकीयमनवस्था न दोषायेत्यभिप्रायः।

(२) व्यञ्जकलाभादिति पाठान्तरम्।

यकप्रार्थनाया जातमात्रस्यापि सर्वप्राणिनो नियतत्वादित्यर्थः । इयं हि भवनात्मा प्रार्थना द्वेषानुबन्धमरणदुःखस्मृत्यैव । नचेह जन्मनि मरणदुःखमनुभूतं नाप्यनुमितं श्रुतं वा, तस्मात्पूर्वजन्मानुभवोत्था मरणवासनानुमीयत इति । दृश्यते हि मातुरङ्कात्प्रस्खलन कम्पमानो बालस्तदुरःसूत्रमतिगाढमालम्बमानः बालस्यायमीदृशः कम्पो भयजन्यः ईदृशकम्पत्वादस्मदादिकम्पवत् । तद्भयं च दुःखद्वेषस्मृतिनिमित्तकं भयत्वादस्मदादिभयवत् । अयं भयजनकः स्खलनादिरनेन दुःखजनकत्वेन ज्ञातः भयजनकत्वात् मद्वत् । इयं स्मृतिः पूर्वानुभवनिबन्धना स्मृतित्वात् मत्स्मृतिवत्, इत्यनुमानम् । एवं स्मितादिष्वनुमितहर्षादयोऽपि प्राग्भववासनाहेतवः । एतेन स्वाभाविकमिदमित्यपास्तम् । अस्मदादानामपि भयस्य तथात्वापत्तेः । पद्मसंकोचविकासावपि न स्वाभाविकौ सूर्यकरसंपर्कस्य विकासं प्रति स्थितिस्थापकाख्यसंस्कारस्य संकोचं प्रति कारणत्वात् । तच्चित्तं मनोरूपं नाणु दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ युगपज्ज्ञानपञ्चकोत्पत्तिदर्शनात् । न चाननुभूयमानक्रमस्य कल्पनायां प्रमाणमस्ति । तस्मात् घटप्रासाददीपकल्पसंकोचविकासशालि चित्तं शरीरपरिमाणं; देहप्रदेशवर्तिकार्यदर्शनेन तद्बहिस्तत्सत्त्वे मानाभावात् । मूषकहस्तिदेहयोस्त्वस्य संकोचविकासा उपपद्यन्ते । एवं च आतिवाहिकशरीरसंगेन पूर्वदेहत्यागदेहान्तरसंयोगोपपत्त्या संसारोऽपि युक्तः । अतएव'ङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलादि'त्यप्युपपन्नमिति केचित् । तन्न । मध्यमपरिमाणत्वे प्रलये नाशापत्तावदृष्टाद्याधारतानुपपत्तेः । तस्मादहंकारस्य गगनमण्डलवत् व्यापित्वेन तत्कार्यचेतसोऽपि विभुत्वमेव । अतएव भाष्ये उक्तं—'वृत्तिरेवास्य विभुनः सङ्कोचविकासशालिनीत्याचार्यः' इति । एवं चानन्तवासनाधारत्वमुपपद्यते । पूर्वसूत्रोक्तवासनानां देशव्यवधानं चोपपन्नम् । अत्र मिश्राः । अनाश्रयस्य देहान्तरसङ्क्राभावे कथमातिवाहिकमाश्रयेत् । तदर्थमपि देहान्तरकल्पनेऽनवस्था । नचास्य निष्कर्षोऽपि सम्भवति । अनिष्कर्षे चेतसाऽसम्बन्धात् तस्याध्यक्षगोचरत्वाभावेन तत्र मानाभावश्च । उत्क्रागमोऽपि पुरुषस्य निष्कर्षमाह । नाहि चित्तं सूक्ष्मशरीरं वा पुरुषः । किन्तु शक्तिरपरिणामिनी । नचास्या निष्कर्षो मुख्यः सम्भवतीति गौणो व्याख्येयः । एवं च चितेः चित्तस्य वा तत्र वृत्त्यभाव एव निष्कर्षः । गमनमपि देशान्तरावच्छेदेन वृत्तिलाभ एव । इन्द्रियाण्यप्यहंकारकार्यत्वात् चित्तसम्बन्धान्येव । प्राणादयस्तु तस्यैव वृत्तिविशेषास्तत्सम्बन्धा एव । एतेन सप्तदशको गण इत्यादेरपि नानुपपत्तिः । एषामपि तत्तद्देशावच्छेदेन सम्बन्ध एव गमनम् । पाशबद्धनयनादिकं त्वर्थवाद इत्याहुः । तदुक्तं—

चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम् ।
द्वाभ्यां शून्यतमं विद्धि चिदाकाशं वरानने ! ॥ इति ।

उपपादितं चैतत्प्रागपि । वृत्तिस्त्वस्य धर्माधर्मादिनिमित्तकत्वात्सङ्कोचविकासशालिनीति दिक् ॥१०॥

मणिप्रभा ।

ननु जन्मान्तरितवासना न सन्तीति वदन्तं चार्वाकं प्रत्याह—तासामिति ।

न केवलं तासां वासनानामानन्त्यं किं त्वनादित्वमपीति चार्थः । कुतः ? सदाऽहं भूयासमित्याशिषो मरणत्रासस्य नित्यत्वात्सर्वजनेष्वव्यभिचारादित्यर्थः । इदमत्राकूतम् । जातमात्रस्य कम्पाद्यनुमितो मरणत्रासो द्वेष्यदुःखस्मृतिमव्यभिचारात्कल्पयति, सा वासनां, सोऽपि मरणजदुःखानुभवं, सोऽपि मरणजदुःखाजनुभवं, सोऽस्मिञ्जन्मन्यसम्भाव्यमानो जन्मान्तरं, कल्पयतीत्यनादित्वसिद्धिरिति । ननु देहस्यानात्मत्वे कस्य जन्ममरणत्रासः आत्मनोऽनाद्यन्तस्योभयत्वादिति चेत्, चित्तस्येति ब्रूमः तस्यैवानादिवासनाऽनुविद्धस्य चित्तस्याहङ्कारिकत्वेन विभुनस्तत्तद्देहसङ्कोचविकासशीलवृत्तिलाभो जन्ममृत्युपरमो मरणं तत्काले दुःखमित्यादिसर्वसंसारः ॥ १० ॥

चन्द्रिका ।

वासनानां यदा प्रथममेवानुभवस्तदा किं स सनिमित्त उतानिमित्त इति शङ्कामपनयति तासामि-

ति। तासां वासनानामनादित्वं न विद्यते आदिर्यस्य तस्य भावस्तत्त्वं, कुत इत्यत आह आशिषो नित्यत्वात् येयमाशीर्महामोहरूपा सुखसाधनं मे भूयान्न कदाचित्तेन वियोग इत्येवंरूपसङ्कल्पो वासनाकारणं तस्य नित्यत्वात् ॥ १० ॥

योगसुधाकरः।

ननु जन्मान्तरितवासना न सन्तीति वदन्तं चार्वाकं प्रत्याह—तासामिति।

न केवलं तासां वासनानामानन्तर्यम्, किं त्वनादित्वमपीति चार्थः। 'सदाहं भूयाम्' इत्याशिषो मरणत्रासस्य नित्यत्वात्सर्वजनेष्वव्यभिचारादित्यर्थः ॥ १० ॥

भोजवृत्तिः।

तासामानन्त्याद्धानं कथं संभवतीत्याशङ्क्य हानोपायमाह—

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

वासनानामनन्तरानुभवो हेतुस्तस्याप्यनुभवस्य रागादयस्तेषामविद्येति साक्षात्पारम्पर्येण हेतुः। फलं शरीरादि स्मृत्यादि च। आश्रयो बुद्धिसत्त्वम्। आलम्बनं यदेवानुभवस्य तदेव वासनानामतस्तैर्हेतुफलाश्रयालम्बनैरनन्तानामपि वासनानां संगृहीतत्वात्तेषां(१) हेत्वादीनामभावे ज्ञानयोगाभ्यां दग्धबीजत्वे(२) विहिते निर्मूलत्वान्न वासनाः प्ररोहन्ति न कार्यमारभन्त इति तासामभावः ॥ ११ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

इदानीं मोक्षोपपत्तये अनाद्यसंख्यानामपि वासनानामत्यन्तोच्छेद उपपाद्यते हेत्विति।

अखिलवासनानां हेतुरविद्या। यं च पुरुषार्थमुद्दिश्य धर्माद्युत्पद्यते स एव वासनामपि फलम्। कर्मवासनयोरन्योन्यसहकारित्वात्। वासनानामाश्रयस्तु मन आलम्बनं च वासनाभिव्यञ्जकं कामिनीदर्शनादि। सर्वासां वासनानामेतैर्हेत्वादिभिः संगृहीतत्वाद्व्याप्तत्वादेतेषामभावेऽत्यन्तोच्छेदे विदेहमुक्तिसमये तदभावस्तदविनाभूतानां वासनानामत्यन्तोच्छेदो भवतीत्यर्थः। तथाच वासनानामनादित्वेऽपि मोक्ष उपपन्न इति ॥ ११ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अथ मोक्षोपपत्तयेऽनाद्यसंख्यानामपि वासनानामुच्छेद उपपाद्यते—**हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः।** हेतुरखिलवासनानां पञ्चपर्वाविद्या। फलं तु यमुद्दिश्य धर्माधर्मादि वर्तमानावस्थं भवति स पुरुषार्थः। स एव वासनानामपि फलं कर्मवासनयोरन्योन्यसहकारित्वात्। आश्रयस्तु वासनानां मनः। आलम्बनं च तासां वासनाभिव्यञ्जकं कामिनीदर्शनादि। सर्वासां वासनानां एतैर्हेत्वादिभिः संगृहीतत्वाद्व्याप्तत्वात् एषामभावेऽत्यन्तोच्छेदे विदेहमुक्तिसमये तदभावस्तदविनाभूतवासनानामपि अत्यन्तोच्छेदो भवतीत्यर्थः। एवं च वासनानामनादित्वेऽपि मोक्ष उपपन्नः। नन्वनादित्वमनुच्छेदहेतुः। अनागतत्वे व्यभिचारात्। चैतन्यस्य तु विनाशकारणाभावान्न नाशो न त्वनादित्वादिति भावः ॥ ११ ॥

मणिप्रभा।

नन्वनादिवासनानां कथमुच्छेदस्तत्राह—हेत्विति।

नैताः पुरुषवदनादयः किं तु कार्या एवं प्रवाहानादयः अतः कारणोच्छेदादुच्छेदसम्भवः। तथा हि पूर्वपूर्वभ्रमसंस्कारलक्षणाविद्याऽहमित्याद्यस्मिताहेतुः। सा च नरोऽहं ममेदमनिष्टमिति भ्रमहेतुः सोऽपि रागद्वेषयोस्तौ च परनिग्रहादिद्वारा धर्माधर्मयोस्तौ च भोगे सोऽपि वासनासु ताः पुनर्भ्रमादिष्वित्यादि चक्रारचक्रमनिशमावर्त्तते। तत्र वासनानां क्लेशकर्माणि हेतवः, देहायुर्भोगाः फलं, चित्तमाश्रयः, शब्दा

---

(१) तेषामिति पाठान्तरम्। (२) बीजकल्पत्वे इति पाठान्तरम्।

दिकमालम्बनम् , एतैः 'संगृहीतत्वादेषां' क्रियायोगाङ्गयोगजाविप्लवविवेकख्यात्या उच्छेदे सति कारणानामभावादुच्छेदो भवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

चन्द्रिका ।

आसां हानोपायमाह—हेत्विति ।

वासनानामनन्तरानुभवो हेतुस्तस्याप्यनुभवस्य रागादयस्तेषामविद्येति साक्षात्पारम्पर्येण च हेतुः फलं शरीरादि आश्रयो बुद्धिसत्त्वमालम्बनं यदेवानुभवस्य तदेव तैरनन्तानां वासनानां सङ्गृहीतत्वात्तेषामभावे वासनाभावः ॥ ११ ॥

योगसुधाकरः ।

ननु वासनानामनादितया कथं तदुच्छेदः ? तत्राह—हेत्विति ।

नैताः पुरुषवदनादयः, किं तु कार्या एव प्रवाहानादयः । अतः कारणोच्छेदादुच्छेदः सम्भवति । तथा हि—पूर्वपूर्वसंस्कारलक्षणाविद्या अस्मिताहेतुः । सा च मनुष्योऽहं ममेदमिष्टमनिष्टमिति भ्रमहेतुः । सोऽपि रागद्वेषयोः । तौ च परनिग्रहानुग्रहादिद्वारा धर्माधर्मयोः । तौ च भोगे । सोऽपि वासनासु । ताः पुनर्भ्रमादिषु । इत्यनादि संसारचक्रमनिशमावर्तते । तत्र वासनानां क्लेशकर्माणि हेतवः, जात्यायुर्भोगाः फलम् , चित्तमाश्रयः, शब्दादिकमालम्बनम् ; तैः संगृहीतत्वात् आदरनैरन्तर्यसत्कारानुबन्धयष्टाङ्गयोगजाविप्लवविवेकख्यात्या उच्छेदे सति कारणानामभावादुच्छेदो भवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

भोजवृत्तिः ।

ननु प्रतिक्षणं चित्तस्य नश्वरत्वात्तरतमत्योपलब्धेः(१)वासनानां तत्फलानां च कार्यकारणभावेन युगपदभावित्वाद्भेदे कथमेकत्वमित्याशङ्क्यैकत्वसमर्थनायाऽऽह—

(२)अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्व(३)भेदाद्धर्माणाम्(४) ॥ १२ ॥

इहात्यन्तमसतां भावानामुत्पत्तिर्न युक्तिमती तेषां सत्त्वसम्बन्धायोगात् । न हि शशविषाणादीनां क्वचिदपि सत्त्वसम्बन्धो दृष्टः । निरुपाख्ये च कार्ये किमुद्दिश्य कारणानि प्रवर्तेरन् । न हि विषयमनालोच्य कश्चित्प्रवर्तते । सतामपि विरोधान्नाभावसम्बन्धोऽस्ति । यत्स्वरूपेण लब्धसत्ताकं तत्कथं निरुपाख्यतामभावरूपतां वा भजते न विरुद्धं रूपं स्वीकरोतीत्यर्थः,—तस्मात्सतामभावासम्भवादसतां चोत्पत्त्यसम्भवात्तैस्तैर्धर्मैर्विपरिणममानो धर्मी सदैवैकरूपतयाऽवतिष्ठते । धर्मास्तु त्र्यध्विकत्वेन(५)त्रैकालिकत्वेन व्यवस्थिताः स्वस्मिन्स्वस्मिन्नध्वनि व्यवस्थिता न स्वरूपं त्यजन्ति । वर्तमानेऽध्वनि व्यवस्थिताः केवलं भोग्यतां भजन्ते,—तस्माद्धर्माणामेवातीतानागताद्यध्वभेदस्तेनैव रूपेण कार्यकारणभावोऽभिन्दर्शने प्रतिपाद्यते । तस्मादपवर्गपर्यन्तमेकमेव चित्तं धर्मितयाऽनुवर्तमानं न निह्नोतुं पार्यते ॥१२॥

भावागणेशवृत्तिः ।

तदेवं चित्तं मोक्षयोग्यं चित्तं तदितरचित्तस्य बन्धप्रकारो वासनोच्छेदासम्भवश्चोक्तः : इतः परं मोक्षकारणविवेकज्ञानाख्यस्य सम्यग्ज्ञानस्य विषयो लक्षणादिकं चातिविस्तरेण प्रतिपादनीयम् । विशेषदर्शिन आत्मभावनाविनिवृत्तिरित्यन्तैः सूत्रैः । ननु द्वितीयपाद एव तत्सर्वमुक्तमिति चेत्सत्यम् । तथापि तेषामेवार्थानां तर्केणात्र परीक्षार्थमनुक्तपूरणार्थं च पुनरारम्भः । तत्रादौ विकाराणां स्वरूपं परीक्ष्यते—अतीतेति ।

---

(१) भेदोपलब्धेरिति पाठान्तरम् ।

(२) ननु सत्कार्यवादिनां मते वासनानामत्यन्तोच्छेदः कथं भवेदत आह अतीतेति । स्यादेष दोषो यदि वयं स्वरूपापायं वासनानां ब्रूमः । नचैवम् किन्तु नासतामुत्पादः सतां वा विनाश इति अतः सतामेव धर्माणामध्वभेदमुदयव्ययात्मकं ब्रूम इति भावः ।

(३) स्वरूपं नास्त्यध्वेति पाठान्तरम् । (४) तद्धर्माणामिति पाठान्तरम् ।

(५) तत्रैव त्र्यधिकत्वेनेति पाठान्तरम् ।

अतीतमनागतं च विकारजातं तदानीमपि वर्तमानावस्थायामिव स्वरूपतोऽस्ति । अभिव्यक्ततयैवासत्त्वात् । एतदेव वेदान्तसूत्रेणाप्युक्तम् । 'असद्व्यपदेशादिति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्' (२।१।१७) इति । अत्र युक्तिमाह धर्माणामध्वभेदादिति । अनागतवर्तमानातीतरूपावस्थात्रयमध्वशब्देनोच्यते । आसु कार्याणामनुक्षणं सञ्चारात् । तत्र ते धर्माणां कार्याणामवस्थाभेदा अनुभूयमानानां कार्याणां स्वरूपतो नित्यत्वं विना नोपपद्यन्ते । नहि धर्मिण्यसत्यतीतत्वादिधर्मः स्थातुमुत्सहते, अतः कार्यं नित्यमिति ॥ १२ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

नन्वसतः सम्भवाभावेन सतीनां द्रव्यत्वेन वासनानां कथमुच्छेदः सतो विनाशाभावादत आह--**अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्** । भविष्यदभिव्यक्तिकमनागतमनुभूताभिव्यक्तिकमतीतम् । एतदुभयावस्थायामपि विकारजातं स्वव्यापारोपारूढस्वरूपवर्तमानावस्थायामिव स्वरूपतोऽस्ति अभिव्यक्ततयैवासत्त्वम् । तत्र हेतुमाह धर्माणामध्वभेदात् । अनागतवर्तमानातीतरूपावस्थात्रयमध्वशब्दवाच्यम् । आसु कार्याणामनुक्षणं सञ्चारात् तत्र ते धर्माणां कार्याणामवस्थाभेदा अनुभूयमानाः कार्याणां स्वरूपतः सत्त्वमनुमापयन्ति । नहि धार्मिणि असति अतीतत्वादिधर्मः स्थातुमुत्सहते अभिव्यक्तिरपि सूक्ष्मरूपेण विद्यमानैव तदभिव्यक्तितो नातिरिक्तेति नानवस्था ॥ १२ ॥

मणिप्रभा ।

ननु सतां संस्काराणां कथमभाव इत्यत आह--**अतीतेति** ।

नासतामुत्पादो न सतां विनाशः "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत" इति परमेश्वरगीताश्रुतेः । "वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन !, भविष्याणि च भूतानी"ति वर्तमानवदतीतानागतस्य प्रत्यक्षवेद्यत्वोक्तेश्च न ह्यसतः प्रत्यक्षवेद्यत्वं सम्भवति तस्मादतीतानागतं धर्मजातं धार्मिणि शक्तिरूपेणास्त्येव यत्पारिणामत्रयसंयमादिना योगिनः साक्षीत्कुर्वन्ति कुलालादयश्च बुद्ध्यावालिख्य कुर्वन्ति यदाऽन्वयी धर्मी स्थिर एक उक्तः । ननु तर्हि वासनाऽऽदिबन्धसत्त्वात्तत्त्वज्ञानवैयर्थ्यमिति चेन्न । धर्माणामनागताद्यध्वनां भेदाद्वर्तमानाध्वनि हि दुःखादिवासनाचित्रं साधिकारमसंख्येयपरिणामशीलं चित्तं भोग्यताऽऽपन्नं बन्ध उच्यते । तत्त्वज्ञाने सति निरधिकारमतीताध्वनि प्रवेशितं प्रकृत्यात्मना सदपि पुनरुत्थानबीजस्य कर्तव्यपुरुषार्थस्य कृतत्वान्न पुनरावर्तत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

चन्द्रिका ।

अतीतेति । सतामभावासम्भवादसतां चोत्पत्त्यसम्भवात्तैर्धर्मैर्विपरिणममानो धर्मी एकरूपो धर्मास्त्वनेके, तस्माद्धर्माणामतीतानागताद्यध्वभेदस्तस्मादपवर्गपर्यन्तमेकमेव चित्तं धर्मि ॥ १२ ॥

योगसुधाकरः ।

नन्वास्तां तावदासां वासनानामुच्छेदः; किमुत्पत्तिरसतीनां सतीनां वा ? न तावदाद्यः, असम्भवात्; न ह्यसतः शशविषाणस्य सास्ति; नापि द्वितीयः, असम्भवादेव; न हि सद्रूपायाश्चितिशक्तेरुत्पत्तिः सम्भवति येन तथा स्यादित्याशङ्क्य शक्तिरूपेण स्वप्रकृतौ विद्यमानानामेषामभिव्यक्तिरुत्पत्तिरित्याशयेनाह—**अतीतेति** ।

अतीतानागतं धर्मजातं धर्मिणि शक्तिरूपेणास्त्येव । अतस्तस्याभिव्यक्तिपदवेदनीयोत्पत्तिरुपपद्यते । ननु तर्हि वासनादिबन्धस्य विद्यमानत्वात्तत्त्वज्ञानवैयर्थ्यमिति चेत्, न; धर्माणामनागताद्यध्वनां भेदात् । वर्तमानाध्वनि दुःखादिवासनाचित्रं साधिकारमसंख्येयपरिणामशीलं चित्तं भोग्यतामापन्नं बन्ध इत्युच्यते । तत्त्वज्ञाने सति निरधिकारमतीताध्वनि प्रवेशितं प्रकृत्यात्मना सदपि पुनर्व्युत्थानबीजस्य कर्तव्यपुरुषार्थस्य कृतत्वान्न पुनरावर्तत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

भोजवृत्तिः ।

त एते धर्मधर्मिणः किंरूपा इत्यत आह--

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

य एते धर्मधर्मिणः प्रोक्तास्ते व्यक्तसूक्ष्मभेदेन व्यवस्थिता गुणाः सत्त्वरजस्तमोरूपास्तदात्मानस्तत्स्वभावास्तत्परिणामरूपा इत्यर्थः। यतः सत्त्वरजस्तमोभिः सुखदुःखमोहरूपैः सर्वासां बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नानां भावव्यक्तीनामन्वयानुगमो दृश्यते। यद्यदन्वयि तत्तत्परिणामरूपं(२) दृष्टं, यथा-घटादयो मृदन्विता मृत्परिणामरूपाः ॥ १३ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

कार्यस्वरूपं परीक्ष्य सदसत्त्ववैधर्म्येण तद्विवेकतः कारणं परीक्ष्यते--त इति।

ते कार्यरूपा धर्मा अभिव्यक्ता अनभिव्यक्ता वा भवन्तु सर्व एव सर्वदैव गुणात्मानस्तत्त्वतः सत्त्वादिगुणत्रयस्वरूपा भवन्ति। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्॥' इति श्रुतेः।

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥

इति भाष्यकारावधृतवाक्यादिभ्यश्चेत्यर्थः। अयं भावः। रूप्यते अवगम्यते अनेन रूपेणेति रूपमुच्यते। अतः कार्यं कारणं चेति कार्यस्यैव रूपद्वयम्। तत्र कार्यरूपताऽऽद्यन्तयोर्न तिष्ठति कार्यरूपेणानवगमात्। कारणरूपता तु कालत्रयेऽप्यव्यभिचारिणी। सर्वदैव कारणरूपेणावगमात्। अतः कार्यरूपापेक्षया कारणरूपमेव पारमार्थिकं रूपं कार्याणामिति। अत्र कार्यस्यात्यन्तमसत्त्वं न विवक्षितम्। पूर्वसूत्रे कार्यनित्यतावचनादिति। एतेन 'मायामात्रं जगदि'ति श्रुतिस्मृतिप्रवादोऽपि व्याख्यातः। मिथ्यारचनाहेतौ व्यामोहकशक्तावेव मायाशब्दनयोगादिति ॥ १३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अथ कार्याणां मूलकारणमाह—ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः। ते कार्यरूपा धर्मा व्यक्ताः अभिव्यक्ताः सूक्ष्माः अनभिव्यक्ता वा भवन्तु सर्वे सर्वदा गुणात्मानः सत्त्वादिगुणत्रयरूपा भवन्ति। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति श्रुतेः।

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥

इति वाक्याच्च। मायेव नतु माया सा हि झटिति नश्यति तद्वदिमे विकाराः, प्रकृतिस्तु तद्वैधर्म्यात्परमार्थरूपेति तदर्थः॥ नन्वेकस्मात्प्रधानात्कथं कार्यवैचित्र्यमिति चेत्तदाहितानादिक्लेशवशानुगताद्वैचित्र्यादिति गृहाण। सर्वोऽपि दृश्यपदार्थो गुणानां संस्थानभेदवान् परिणामः वस्तुतो गुणरूप एव। एवञ्च कार्यकारणात्मकं कार्यस्य रूपद्वयं कार्यरूपताद्यन्तयोर्नास्ति कारणरूपता तु सर्वदा। अतस्तत्कार्याणां परमार्थिकं रूपम्। एतेन मायामात्रं जगदिति प्रवादोऽपि व्याख्यातः। आद्यन्तयोरनुपलभ्यमानत्वेन मिथ्यारचनाहेतौ व्यामोहकशक्तावेव मायापदप्रयोगादिति दिक् ॥ १३ ॥

मणिप्रभा।

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्तीत्युक्तं तत्र किं स्वरूपमित्यत आह--त इति।

व्यक्ता वर्तमानाध्वानः, सूक्ष्मा अतीतानागताध्वानः, ते महदादयो घटादिविशेषान्ताः गुणात्मानः सत्त्वरजस्तमःस्वरूपा इत्यर्थः। सर्वे भावाः सुखदुःखमोहात्मकगुणान्वितत्वेन तत्प्रकृतित्वात्तत्स्वरूपा एव यथा घटादयो मृदान्विताः मृत्स्वरूपाः प्रकृतिविकारयोर्भेदाभेदरूपतादात्म्यात्। तत्र गुणाः परिणामिनित्याः। अन्ये सर्वे भावाः प्रतिक्षणपरिणामाः क्षणविध्वंसिनः। पुरुषस्तु कूटस्थः। तदुक्तं भाष्ये—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकत्॥ इति।

ऐन्द्रजालिकवत्क्षणविध्वंसीत्यर्थः ॥ १३ ॥

---

(२) परिणामिरूपमिति पाठान्तरम्।

चन्द्रिका ।

त इति । धर्मधर्मिणो व्यक्तसूक्ष्मसत्त्वादिगुणपरिणामरूपाः ॥ १३ ॥

योगसुधाकरः ।

ननु स्वरूपतोऽस्तीत्युक्तम् ; किं तत्स्वरूपमित्यत्राह—त इति ।

व्यक्ता वर्तमानाध्वानः, सूक्ष्मा अतीतानागताध्वानः; ते महदादयो घटादिविशेषान्ता गुणात्मानः सत्त्वरजस्तमःस्वरूपास्तत्प्रकृतिकत्वादित्यर्थः ॥ १३ ॥

भोजवृत्तिः ।

यद्येवं यदा गुणाः सर्वत्र मूलकारणं कथमेको धर्मीति व्यपदेश इत्याशङ्क्याऽऽह—

(१)परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

यद्यपि त्रयो गुणास्तथाऽपि तेषामङ्गाङ्गिभावगमनलक्षणो यः परिणामः क्वचित्सत्त्वमङ्गि क्वचिद्रजः क्वचिच्च तम इत्येवंरूपस्तस्यैकत्वाद्वस्तुनस्तत्त्वमेकत्वमुच्यते । यथेयं—पृथिवी, अयं वायुरित्यादि ॥ १४ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु यदि सर्वे विकारास्तत्त्वतोऽनेकगुणमात्रास्तर्हि कथमेकं शब्दतन्मात्रमेकं चक्षुरित्यादिलौकशास्त्रीयो व्यवहार इति, तत्राह—परिणामेति ।

परिणामैकत्वाद्वस्तूनां तत्त्वमेकत्वम् । तथाच परमार्थतो नानात्वेऽपि व्यावहारिकपरिणामरूपेणैकत्वमित्यर्थः ॥ १४ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ननु सर्वेषामनेकगुणरूपत्वे कथं एकं शब्दतन्मात्रमेकं चक्षुरित्यादिव्यवहारोऽत आह—परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् । परिणामैकत्वाद्वस्तूनां तत्त्वमेकत्वं परमार्थतो नानात्वमेव त्रिगुणात्मकत्वात् । परिणामैकत्वं एकजातीयपरिणाम इत्यर्थः । तेन तन्मात्रादीनां प्रत्येकमनेकव्यक्तिभिः कृतेऽपि न क्षतिः । तत्र सत्त्वप्राधान्येन करणरूपः परिणामः । तमःप्राधान्येन विषयरूपः परिणामः । यत्तु विज्ञानवादी न्ययोऽर्थो न विज्ञानाद्भिन्नस्तेन सहैवोपलम्भात् यद्यद् येन नियमतः सहोपलभ्यते तत्तेनाभिन्नं यथैकस्माच्चन्द्राद्भिन्न(२)श्चन्द्रः। तेन वेदनाच्च । यद्येन वेद्यते तत्ततो न भिद्यते यथा ज्ञानं, एवमभेदे सिद्धे बोध्यं भिन्नवत्प्रतिभासितं सविकल्पज्ञानपरिकल्पितः स्वप्नवदिति प्रधानकल्पना व्यर्थेति वदति । तत्र प्रत्यभिज्ञाविरोधाद्यत्न ॥ १४ ॥

मणिप्रभा ।

ननु यदि त्रयो गुणाः परिणामिनः तर्हि परिणामानां प्रत्येकमेकत्वं न स्यात् न हि मृत्तन्तुदुग्धानामेकः परिणामो दृष्ट इत्यत आह—परिणामेति ।

बहूनामप्येकः परिणामो दृष्टः यथा रुमास्थले क्षितानां गजाश्वादीनामेको लवणपरिणामः वर्त्तितैलाग्नीनामेको दीपपरिणामः, मृदादीनां त्वङ्गाङ्गित्वाभावान्न परिणामैकत्वम् । गुणानां तु परिणामस्या-

---

(१) यदि सर्वे विकारा अनेकगुणमात्राः तदा कथमेकं शब्दतन्मात्रमेकं चक्षुरिति लोकशास्त्रीयो व्यवहार इत्याशङ्कायामाह परिणामेति । परिणामस्य एकत्वाद्वस्तूनां गुणानां तत्त्वमेकत्वं परमार्थतो नानात्वेऽपि व्यावहारिकेण परिणामरूपेण वस्तूनां गुणानामेकत्वव्यवहारः । अत एव "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यद् कृष्णं तदन्नस्य अपागादग्नेरग्नित्वं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यमि"ति श्रुतिः व्यावहारिकस्य अग्न्यादवयविनः एकस्य अवयवविभागे सति नानात्वमेव पारमार्थिकमुक्तवती । तथा च यथा वर्त्तितैलानलानां परिणाम एकः प्रदीप एव गुणानां परिणामैकत्वं तदैक्याच्च गुणानामैक्यं व्यावहारिकैक्यमिति भावः ।

(२) द्वितीय इत्यर्थः ।

ङ्गाङ्गिभावस्यैकत्वाद्वस्तुनो महदादेस्तत्त्वमेकत्वं युज्यते । तत्र सत्त्वस्याङ्गित्वे गुणत्रयादेको महान् तस्मादेकस्माद्रजःप्रधानादहङ्कारः, तमःप्रधानात्पञ्च तन्मात्राणि प्रत्येकमेकत्ववन्ति भवन्ति, अहङ्कारात्सात्त्विकाद्बुद्धीन्द्रियाणि, राजसात्कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकान्मनः । एवं शब्दतन्मात्रस्याङ्गित्वे सत्याकाशः पञ्चतन्मात्राणामेकः परिणामः । एवं स्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणां क्रमेणाङ्गित्वे वाय्वग्न्यम्ब्ववनयः प्रत्येकं जायन्ते । एकस्माद्बहवः परिणामास्तु बहुपरिणामवासनारूपशक्तिवैचित्र्यादित्यलं विस्तरेण१४

चन्द्रिका ।

धर्म्यैकत्वमाह —परिणामेति । यद्यपि गुणास्त्रयस्तथापि तेषामङ्गाङ्गित्वाद्वस्तुनस्तत्त्वमेकत्वम् । यथेष्टं पृथिवीत्वादिवत् ॥ १४ ॥

योगसुधाकरः ।

ननु महदादीनां गुणत्रयपरिणामत्वेन प्रत्येकमेकत्वं न स्यादित्याशङ्क्याह —परिणामेति ।

दृश्यते हि बहूनामेकः परिणामः, यथा तैलवर्त्तिवह्नीनामेकः प्रदीपपरिणामः । न च तर्हि मृत्सुवर्णक्षीराणामेकः परिणामः स्यादिति वाच्यम्; तेषामङ्गाङ्गिभावाभावात् । गुणानां त्वङ्गाङ्गिभावेन तत्परिणामस्यैकत्वाद्वस्तुनो महदादेस्तत्त्वमेकत्वं युज्यत इत्यर्थः ॥ १४ ॥

भोजवृत्तिः ।

ननु च ज्ञानव्यतिरिक्ते सत्यर्थे वस्त्वेकमनेकं वा वक्तुं युज्यते, यदा विज्ञानमेव वासनावशात्कार्यकारणभावेनावस्थितं तथा तथा प्रतिभाति तदा कथमेतच्छक्यते वक्तुमित्याशङ्क्याऽऽह—

(१)वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विविक्तः पन्थाः(२) ॥ १५ ॥

नचैकचित्ततन्त्रं वस्तु तत्प्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

तयोर्ज्ञानार्थयोः(३) विविक्तः पन्था विविक्तो मार्ग इति(४) यावत् । कथं? वस्तुसाम्ये चित्तभेदात् । समाने वस्तुनि स्त्र्यादावुपलभ्यमाने(५) नानाप्रमातॄणां चित्तस्य भेदः सुखदुःखमोहरूपतया समुपलभ्यते । तथाहि—एकस्यां रूपलावण्यवत्यां योषिति उपलभ्यमानायां सरागस्य सुखमुत्पद्यते सपत्न्यास्तु द्वेषः परिव्राजकादेर्घृणेत्येकस्मिन्वस्तुनि नानाविधचित्तोदयात्कथं चित्तकार्यत्वं वस्तुन एक-

---

(१) ननु विज्ञानातिरिक्तवस्तुसद्भावे परिणामादिकल्पना न च तानि विज्ञानातिरिक्तानि सन्ति तथा हि जड़रूपस्यार्थस्य स्वयमप्रकाशतया नास्त्यर्थो विज्ञानासम्बन्धी विज्ञानं तु स्वयंप्रकाशत्वात् स्वगोचरास्तिताव्यवहारे जड़ापेक्षाभावात् अर्थासम्बन्ध्यपि तस्माद्विज्ञानातिरिक्तस्य नास्ति सत्तेत्ययं च प्रयोगः । यद् येन ज्ञानेन वेद्यते न तत्ततो भिद्यते यथा ज्ञानस्यात्मा वेद्यन्ते च भूतादीनि तस्माद्भिन्नानीत्यादि विज्ञानवादिमतं दूषयति वस्तुसाम्य इति । वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्था इति पाठः भाष्यादिसम्मतः । अयमभिप्रायः । यज्ज्ञानात्वेऽपि यस्यैकत्वं तत्ततोऽत्यन्तभिन्नं यथैकं चैत्रज्ञानं नानाभूतमैत्रादिज्ञानेभ्यो भिन्नं, दृश्यते च ज्ञाननानात्वेऽप्यर्थस्यैकत्वं तस्मादर्थो ज्ञानेभ्यो भिन्नः । नन्वर्थस्यैकत्वं कुतोऽवसीयत इति चेत्, प्रमातॄणां ज्ञानभेदेपि परस्परप्रतिसन्धानादिति ब्रूमः । प्रतिसन्धीयते हि यैव स्त्री त्वया दृश्यते सैव मयापीति प्रमातृभिः । तस्मात् वस्तुसाम्ये चित्तवृत्तीनां भेदात् नानात्वात् तयोः ज्ञानविषययोः विविक्तः पन्थाः स्वरूपभेदोपाय इति ।

(२) अत्र "न चैकं चित्ततन्त्रं वस्तु तत्प्रमाणकं तदा किं स्यादि" त्येकमधिकं सूत्रं विज्ञानभिक्षुमतेन भावागणेश–नागोजीभट्ट–प्रभाकरादिभिर्व्याख्यातम्, वाचस्पतिना तु तदेतदुत्सूत्रं दूषयति भाष्यकार इत्यनेन प्रक्रान्तम् । चन्द्रिकायां भोजराजेनापि न व्याख्यातमिति द्रष्टव्यम् ।

(३) ज्ञानज्ञेययो रिति पाठान्तरम् ।

(४) मार्गदेश इतीति पाठान्तरम् । (५) माने लावण्यादाविति पाठान्तरम् ।

चित्तकार्यत्वे वस्त्वेकरूपतयैवावभासेत। किं च चित्तकार्यत्वे वस्तुनो यदीयस्य चित्तस्य तद्वस्तु कार्यं तस्मिन्नर्थान्तरव्यासक्ते तद्वस्तु न किञ्चित्स्यात्। भवत्विति चेन्न तदेव कथमन्यैर्बहुभिरुपलभ्यते, उपलभ्येत च। तस्मान्न चित्तकार्यम्। अथ युगपद्बहुभिः सोऽर्थः क्रियते, तदा बहुभिर्निर्मितस्यार्थस्यैकनिर्मिताद्वैलक्षण्यं स्यात्। यदा तु वैलक्षण्यं नेष्यते तदा कारणभेदे सति कार्यभेदस्याभावे निर्हेतुकमेकरूपं वा जगत्स्यात्। एतदुक्तं भवति। सत्यपि भिन्ने कारणे यदि कार्यस्याभेदस्तदा समग्रं जगन्नानाविधकारणजन्यमेकरूपं स्यात्। कारणभेदाननुगमात्स्वातन्त्र्येण निर्हेतुकं वा स्यात्(१)। यद्येवं कथं तेन त्रिगुणात्मनाऽर्थेन(२) एकस्यैव प्रमातुः सुखदुःखमोहमयानि ज्ञानानि न जन्यन्ते? मैवम्, यथाऽर्थस्त्रिगुणस्तथा चित्तमपि त्रिगुणं तस्य चार्थप्रतिभासोत्पत्तौ धर्मादयः सहकारिकारणं तदुद्भवाभिभववशात्कदाचिच्चित्तस्य तेन तेन रूपेणाभिव्यक्तिः,—तथा च कामुकस्य संनिहितायां योषिति धर्मसहकृतं चित्तं सत्त्वस्याङ्गितया परिणममानं सुखमयं भवति, तदेवाधर्मसहकारि रजसोऽङ्गितया दुःखरूपं सपत्नीमात्रस्य भवति, तीव्राधर्मसहकारितया परिणममानं तमसोऽङ्गित्वेन(३) कोपनायाः सपत्न्या मोहमयं भवति; तस्माद्विज्ञानव्यतिरिक्तोऽस्ति बाह्योऽर्थः। तदेवं न विज्ञानार्थयोस्तादात्म्यं विरोधात्, न कार्यकारणभावः कारणाभेदे सत्यपि कार्यभेदप्रसङ्गादिति ज्ञानाद्व्यतिरिक्तत्वमर्थस्य व्यवस्थापितम् ॥ १५ ॥ १६ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

कार्यकारणे विवेकेन परीक्ष्येदानीं यद्बौद्धा आहुः—कार्यकारणरूपं सर्वमसत् चित्तमात्रकल्पितं स्वप्नवदिति तन्निषेधमुखेनैव चित्ततदर्थयोर्विवेकः परीक्ष्यते सूत्रैः—**वस्त्विति**।

एकस्मिन्नेव विषये चित्तान्तरवियोगेन चित्तान्तरालम्बनतादर्शनात्तयोश्चित्तार्थयोर्विभक्तः पन्थाः स्वरूपोन्नयनमार्गः। एकानेकत्वरूपविरुद्धधर्मद्वयामित्यर्थः। वस्तुसाम्यं तु प्रत्यभिज्ञासिद्धम्। क्षणिकविज्ञानमेव च परेषां चित्तमित्यतश्चित्तभेदेनैव विज्ञानभेदोऽर्थेषु सिद्ध इति न स्वप्नतुल्यत्वम् ॥ १५ ॥

विज्ञानवादं निरस्य दृष्टिसृष्टिवादं निरस्यति—**नचेति**।

नाप्येकचित्ततन्त्रमेकविज्ञानसमनियतं वस्तु दृश्यपदार्थो यतस्तदा तर्हि तत्प्रमाणकं तच्चित्तसिद्धं किं वस्तु स्यात्। किमपि न स्यात्। चित्तापायेऽपि स्वरूपे नैव तिष्ठेत्। चित्तनाशकल्पने प्रमाणाभावात्। प्रत्युत प्रत्यभिज्ञायाः स्थैर्यस्यैव सिद्धेरित्यर्थः ॥ १६ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

किंच—**वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः**। वस्तुसाम्ये वस्त्वेकत्वे' चित्तमत्र ज्ञानं तद्भेदात्तयोर्वस्तुज्ञानयोर्विभक्तः पन्थाः स्वरूपभेदोन्नायको मार्ग इत्यर्थः। एकस्यैव घटस्य बहुज्ञानालम्बनत्वं दृश्यते। यथैकस्यामेव कान्तायां कान्तस्य सुखज्ञानं सपत्नीनां दुःखज्ञानं चैत्रस्य तामविन्दतो मूढज्ञानम्। प्रमातॄणां परस्परप्रतिसंधानवशाच्च वस्त्वभेदः प्राप्नोति। सादृश्यप्रत्ययाभावाच्च। अन्यज्ञानपरिकल्पितायामन्यस्य चित्तोपरागायोगाच्च। अतो नैकचित्तपरिकल्पिता नाप्यनेकचित्तपरिकल्पिता ज्ञानभेदेन भेदापत्तेः। एतेन सर्वं चित्तमात्रपरिकल्पितमसत्, स्वप्नवदिति वादोऽपि परास्तः। अस्माकं तु त्रिगुणत्वादेकसुखादिभेदाभिन्नाविज्ञानहेतुत्वमुपपद्यते। धर्मादिकारणसापेक्षत्वान्न सर्वेषां सर्वरूपेण ज्ञानम्। धर्मापेक्षं सत्त्वं रजःसहितं सुखज्ञानं जनयति। अधर्मापेक्षं तमःसहितं रजो दुःखज्ञानम्। बलवदधर्मापेक्षं रजःसहितं तमो मूढविज्ञानम्। विद्यापेक्षं विगलितरजस्तमस्क(स)त्त्वं माध्यस्थ्यज्ञानमिति ॥१५॥

केचित्तु अस्त्वर्थो ज्ञानादतिरिक्तः परंतु ज्ञानेनैव भास्यत्वात् ज्ञानसमय एवास्ति नान्यदा मानाभावात्। एवञ्च सुखादिवद्भोग्यत्वात् ज्ञानसहभूरेवार्थ इति वदन्ति एष एव दृष्टिसृष्टिवादस्तं निरस्यति—**नचैकचित्ततन्त्रं वस्तु तत्प्रमाणकं तदा किं स्यात्**। तत्प्रमाणकमपि विज्ञानप्रमाणकं तान्निर्भास्य-

---

(१) निर्हेतुकं स्यादिति पाठान्तरम्।

(२) चित्तेनेति पाठान्तरम्। (३) तया तमसोऽङ्गित्वेनेति पाठान्तरम्।

मपि नैकविज्ञानसमानियतमिति च तदा किं स्यादित्यस्य यदा यद्वस्तुमाहिचित्तं व्यग्रतया तद्वस्तूनि न वर्तते यदा च निरोधमापन्नमित्यादि तदा तद्वस्तु किं स्यात् न स्यादेवेत्यर्थः । ज्ञाननाशान्नष्टमेव स्यात् । एवंसति पुनस्तस्य ज्ञानविषयता न स्यात् । दृश्यते तु ज्ञानविषयता नच पुनरुत्पद्यते उत्पादकसामर्थ्याभावात् । नियतकारणान्वयव्यतिरेकानुविधायि हि कार्यम् । नच ज्ञानकारणं तत् उपभुज्यमानाऽऽम्रामोदकस्यापि रसवीर्यविपाकादिप्रसङ्गात् । ज्ञानेन सह स्वकारणैरुत्पत्त्यननुभवाच्च प्रत्यभिज्ञायाः स्थैर्यसिद्धेश्च । तस्मात्स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुषसाधारणः स्वतन्त्राणि च चित्तानि प्रतिपुरुषं प्रवर्तन्ते तयोः संबन्धादुपलब्धिः पुरुषस्य भोग इति ॥ १६ ॥

ननु क्षणिकविज्ञानात्मकचित्तातिरिक्तं वस्तु नास्त्येव यत्प्रमेयं तद्विज्ञानाभिन्नं, यथा विज्ञानं, प्रमेयाश्च घटादयोऽतः कस्यैकत्वनानात्वचिन्ता चित्तमेव ह्यनादि समनन्तरप्रत्ययात्मकवासनाविचित्रं द्रव्यगुणात्मना भवतीति वदन्तं बौद्धं प्रत्याह—**वस्तुसाम्येपीति** ।

तयोश्चित्तवस्तुनोर्विभक्तः पन्था भिन्नो मार्गः विज्ञानार्थयोर्भेद इति यावत् । कुतो ? वस्तुनः स्त्रीपिण्डादेः साम्येऽपि चित्तानां भेदाद्यदेकस्यां नार्य्यां पत्युः सुखविज्ञानं, सपत्न्या दुःखविज्ञानं, तदलाभे कामुकस्य मोहो विषादस्तद्विज्ञानं, निष्कामस्योपेक्षाविज्ञानं, सर्वेषां या त्वया दृष्टा सा मयाऽपि दृष्टेत्यबाधितप्रत्यभिज्ञानादेकं वस्त्वनेकं विज्ञानमिति तयोर्भेदः । यदेकं तदनेकेभ्यो भिन्नं, यथा नीलविज्ञानं पीतविज्ञानेभ्यः, एकं च वस्त्वतः स्वगोचरानेकविज्ञानेभ्यो भिन्नम् । न च प्रमेयस्य प्रमैक्यं युक्तम् । एकत्वे विषयविषयित्वविरोधाद्ग्राह्यार्थाभावे विज्ञानानां नीलपीताद्याकारत्वायोगाच्च । नः च प्रयेयात्मकवासना तत्र हेतुरिति वाच्यम् । नष्टस्याहेतुत्वात् । न चैकरूपादर्थाच्चित्त कथं चित्तवैचित्र्यमिति वाच्यम् । अर्थस्य त्रिगुणत्वाद्धर्माधर्माविद्याऽपेक्षयाऽर्थगतानां सत्त्वरजस्तमसामुद्रेकात्सुखदुःखमोहविज्ञानहेतुत्वं तत्त्वज्ञानापेक्षया गुणानां साम्यादुपेक्षाहेतुत्वमिति युक्तत्वात्तस्मादस्ति विज्ञानातिरिक्तोऽर्थः ॥ १५ ॥

मणिप्रभा ।

यत्तु कश्चिदाह—'अस्तु विज्ञानादन्योऽर्थः स तु जडत्वाद्विज्ञानग्राह्यः प्रातिभासिको नाज्ञातोऽस्तीति' । स वक्तव्यः कुतस्तस्योत्पत्तिरिति । ग्राहकविज्ञानाच्चित्तादिति चेत् । किमेकचैत्रचित्तस्य घटवस्तुकार्यम् , उत चैत्रमैत्राद्यनेकचित्तानां, नाद्य इत्याह—**न चेति** ।

यद्येकचित्तस्य कार्यं घटवस्तु तदा तस्मिंश्चित्ते पटादिषु व्यग्रे तद्वस्त्वप्रमाणकं किन्नष्टं स्यादित्यर्थः । न चेष्टापत्तिः, पुनस्तद्दर्शने सोऽयमित्यबाधितप्रत्यभिज्ञानादेकस्य व्यग्रत्वेऽप्यन्येन दृश्यमानत्वाच्च, तस्मान्नैकचित्ततन्त्रं वस्तु नाप्यनेकचित्ततन्त्रं प्रातिभासिकस्य स्वप्रबदेकचित्ततन्त्रत्वनियमात्पूर्वमेकेन दृश्यमाने घटे बहुचित्तैः पश्चात्सम्बन्धे विलक्षणघटान्तरोत्पत्तिप्रसङ्गाच्च सामग्रीवैलक्षण्यात् । किं चोदरदर्शनकाले पृष्ठभागो नास्तीत्युदरमपि न स्यात् तस्मान्न प्रातिभासिकं वस्तु किं तु चित्तातिरिक्तं स्वतन्त्रमिति सिद्धम् ॥ १६ ॥

चन्द्रिका ।

वस्तुनो ज्ञानैकत्वे कथमेतदित्याह—**वस्त्विति** । तयोर्ज्ञानज्ञेययोर्विविक्तः पन्था कथं वस्तुसाम्ये चित्तभेदात् स्त्र्यादिवस्त्वेकत्वे प्रमातॄणां सुखादिनानारूपचित्तपरिणामात् ॥ १५ ॥ १६ ॥

योगसुधाकरः ।

ननु क्षणिकविज्ञानात्मकचित्तातिरिक्तं वस्तु नास्त्येवेति वदन्तं बौद्धं प्रत्याह—**वस्त्विति** ।

तयोर्विज्ञानात्मकचित्तवस्तुनोर्विभक्तः पन्था भिन्नो मार्गः । कुतः ? वस्तुनः स्त्रीपिण्डादेः साम्येऽपि चित्तानां भेदात् । यथैकस्यां नार्यां पत्युः सुखविज्ञानं सपत्न्या दुःखविज्ञानं कामुकस्य तदलाभान्मोहे विषादविज्ञानं निष्कामस्योपेक्षाविज्ञानम् , सर्वेषाम् 'या त्वया दृष्टा सा मयापि दृष्टा' इत्यबाधितविषय-

प्रत्यभिज्ञानादेकं वस्त्वनेकं विज्ञानमिति तयोर्भेदः । अतो न विज्ञानात्मकं सर्वं वस्तु ; किं तु तस्माद्भिन्नं गुणत्रयपरिणाम इति दिक् ॥ १९ ॥

योगसुधाकरः ।

नन्वस्तु विज्ञानादन्यद्वस्तु; तद्वैकविज्ञानाधीनमिति वदन्तं प्रत्याह—न चेति ।

यद्येकचित्तस्य ग्राह्यं घटवस्तु, तदा तस्मिश्चित्ते पटादिषु व्यग्रे तद्वस्तु अप्रमाणकं किं स्यात् ? न स्यादित्यर्थः । न चेष्टापत्तिः, पुनस्तद्दर्शने सोऽयमित्यबाधितप्रत्यभिज्ञानात् एकस्य व्यग्रत्वेऽप्यन्येन दृश्यमानत्वाच्च । तस्मान्नैकचित्ततन्त्रं वस्तु, किं तु चित्तातिरिक्तं स्वतन्त्रमिति सिद्धम् ॥ १६ ॥

भोजवृत्तिः ।

यद्येवं ज्ञानं चेत्प्रकाशकत्वाद्ग्रहणस्वभावमर्थश्च प्रकाश्यत्वाद्ग्राह्यस्वभावस्ततःकथं युगपत्सर्वानर्थान्न गृह्णाति न स्मरति चेत्याशङ्क्य परिहारं वक्तुमाह—

(१)तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

तस्यार्थस्योपरागादाकारसमर्पणाच्चित्ते बाह्यं वस्तु ज्ञातमज्ञातं च भवति । अयमर्थः—सर्वः पदार्थ आत्मलाभे सामग्रीमपेक्षते । नीलादिज्ञानं चोपजायमानमिन्द्रियप्रणालिकया(२) समागतमर्थोपरागं सहकारिकारणत्वेनापेक्षते. व्यतिरिक्तस्यार्थस्य संबन्धाभावाद्ग्रहीतुमशक्यत्वात् , ततश्च येनैवार्थेनास्य ज्ञानस्य स्वरूपोपरागः कृतस्तमेवार्थं ज्ञानं व्यवहारयोग्यतां नयति, ततश्च सोऽर्थो ज्ञात इत्युच्यते, येन चाऽऽकारो न समर्पितः स न ज्ञातत्वेन(३) व्यवह्रियते यस्मिंश्चानुभूतेऽर्थे सदृशादिः(४) अर्थः संस्कारमुद्बोधयन्सहकारिकारणतां प्रतिपद्यते तस्मिन्नेवार्थे स्मृतिरुपजायत इति न सर्वत्र ज्ञानं नापि सर्वत्र स्मृतिरिति न कश्चिद्विरोधः ॥ १७ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

नन्वेवं चित्ततदर्थयोर्भिन्नत्वे कदाचिदेव कंचिदेव चित्तेन गृह्यत इत्यत्र किं नियामकमित्याकाङ्क्षायामाह—तदुपरागादिति ।

चित्तस्य कालभेदेन वस्तु ज्ञातमज्ञातं च भवति । कुतः ? अर्थाकारताख्योपरागरूपज्ञानसापेक्षत्वादर्थज्ञातत्वाज्ञातत्वयोरित्यर्थः । नचोपरागशब्दस्य संनिकर्ष एवार्थः कथं नेष्यत इति वाच्यम् । संनिकर्षस्य संबन्धसापेक्षार्थज्ञानतया वक्ष्यमाणस्य चित्तपुरुषवैयर्थ्यस्यानुपपत्तेश्चेति ॥ १७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ननु चित्ततदर्थयोर्भिन्नत्वे कदाचिदेव कंचिदेव चित्तेन गृह्यत इत्यत्र नियामकमाह—तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् । तद् विषयस्तस्योपरागो नामाकारसमर्पणयोग्यस्तत्संबन्धस्तत्सापेक्षत्वाच्चित्तस्य विषयो ज्ञातश्चाज्ञातश्च भवतीत्यर्थः । येन च विषयेणोपरक्तं चित्तं स विषयो ज्ञातस्ततोऽन्येऽज्ञाताः । वृत्तौ स्वाकारसमर्पणमेव विषयस्य ज्ञातत्वम् । इन्द्रियप्रणाडिकया विषयोपरक्तचित्तवृत्त्यविभागापन्ना चितिशक्तिरर्थमनुभवति नत्वर्थे किंचित्प्राकट्यादिकमाधत्ते । यद्यपि सर्वगता चितिश्चित्तं चाहंकारिकमिन्द्रियं च तेनास्ति विषयस्य संबन्धः सर्वदा, तथापि यत्र शरीरे वृत्तिमच्चित्तादि तेनैव विषयाणां संबन्धः । तदुक्तं भाष्ये 'अयस्कान्तमणिकल्पा विषयाः' अयस्कल्पं चित्तमभिसंबध्योपरञ्जयन्तीति मिश्राः । वस्तुनो ज्ञाताज्ञातरूपत्वाच्च परिणामि चित्तम् ॥ १७ ॥

---

(१) ननु सिद्धं ज्ञानव्यतिरिक्तत्वमर्थस्य तथापि ज्ञानं प्रकाशरूपत्वात् ग्रहणस्वभावमर्थश्च प्रकाश्यत्वात् ग्राह्यस्वभावः न हि भावः कदाचित् स्वभावं त्यजति एवं च कथं युगपत् सर्वानर्थान् न गृह्णातीत्यत आह तदुपेति ।

(२) ऐन्द्रियकतयेति पाठान्तरम् ।

(३) समर्पितः सोऽज्ञातत्वेनेति पाठान्तरम् । (४) सादृश्यादिरिति पाठान्तरम् ।

मणिप्रभा ।

ननु सिद्धान्ते विभुनश्चित्तस्य सर्वसम्बन्धात् सदा सर्वं ज्ञायेतेत्यत आह—तदुपरागादिति ।

यद्यप्याहङ्कारिकत्वाच्चित्तेन्द्रियाणि विभूनि तथाऽपि तेषामहङ्कारे सुप्तानां सम्बन्धो विषयस्य स्फूर्त्तावहेतुः किं तु कर्मणाऽभिव्यक्तानां देहस्थानां, तथा चन्द्रियद्वारा येनार्थेन 'चित्तस्यो'परागः तस्मिन्नर्थे चित्तं स्वनिष्ठचित्प्रतिबिम्बरूपां स्फूर्त्तिं धत्ते तमर्थं स्वाकारवृत्तिद्वारा बुद्धिस्थप्रतिबिम्बद्वारा पुरुषश्चेतयते नान्यमिति वस्तु ज्ञाताज्ञातं भवति । अत एव चित्तं तदर्थोपरागमपेक्ष्य कदाचिद्वस्तु जानाति कदाचिन्नेति ज्ञाताज्ञातविषयत्वात्परिणामीति भावः ॥ १७ ॥

चन्द्रिका ।

चित्तं कथं युगपत् सर्वार्थान्न गृह्णातीत्याशङ्क्य परिहरति तदुपरागादिति । तस्यार्थस्योपरागादाकारसमर्पणाच्चित्तस्य बाह्यवस्तु ज्ञातमज्ञातं च भवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

योगसुधाकरः ।

ननु चित्तस्याहंकारिकत्वेन सर्वगतत्वात्सर्वदा सर्वं ज्ञायेतेत्यत आह—तदिति ।

सर्वगतत्वेऽपि चित्तं यत्र शरीरे वृत्तिमत्तेन शरीरेण सह सम्बन्धो यस्य वस्तुनस्तत्रैव ज्ञानं नेतरत्र । एवं चेन्द्रियप्रणाडिकया चित्तं येन वस्तुनोपरक्तं तद्वस्तु ज्ञातम्, यदुपरक्तं न भवति तदज्ञातमित्यर्थः । अनेन चित्तं परिणामि ज्ञाताज्ञातविषयत्वाच्छ्रोत्रादिवदिति चित्तस्य परिणामित्वेऽनुमानमुक्तं भवतीत्यभिसन्धिः ॥ १७ ॥

भोजवृत्तिः ।

यद्येवं प्रमाताऽपि पुरुषो यस्मिन्काले नीलं वेदयते न तस्मिन्काले पीतमतस्तस्यापि(१) कादाचित्कत्वं ग्रहीतृरूपत्वादाकारग्रहणं परिणामित्वं प्राप्तमित्याशङ्क्य परिहर्तुमाह—

(२)सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्(३) ॥१८॥

या एताश्चित्तस्य प्रमाणविपर्ययादिरूपा वृत्तयस्तासां तत्प्रभोश्चित्तस्य ग्रहीतुः पुरुषस्य सदा सर्वकालमेव ज्ञेयाः, तस्य चिद्रूपतयाऽपरिणामित्वात्(४) परिणामित्वाभावादित्यर्थः । यद्यसौ परिणामी स्यात्तदा परिणामस्य कादाचित्कत्वात्प्रमातुस्तासां चित्तवृत्तीनां सदा ज्ञातत्वं नोपपद्येत । अयमर्थः—पुरुषस्य चिद्रूपस्य सदैवाधिष्ठातृत्वेन व्यवस्थितस्य यदन्तरङ्गं निर्मलं(५) सत्त्वं तस्यापि सदैवावस्थितत्वाद्येन येनार्थेनोपरक्तं भवति तथाविधस्यार्थस्य सदैव चिच्छायासंक्रान्तिसद्भावस्तस्यां सत्यां सिद्धं सदा ज्ञातृत्वमिति न कदाचित्परिणामित्वाशङ्का(६) ॥ १८ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

चित्तार्थयोर्भेदं परीक्ष्य चित्तपुरुषयोरपि भेदं परीक्षते—सदेति ।

चित्तस्यार्थो ज्ञाताज्ञातरूप इत्युक्तम् । ये तु पुरुषार्थाश्चित्तवृत्तयस्ते सदा ज्ञाता एव भवन्ति अनेन वैधर्म्येण चित्तपुरुषयोर्भेद इति भावः । सदा ज्ञातत्वे हेतुमाह तत्प्रभोरित्यादि । तत्प्रभोर्वृत्तिभोक्तुः पुरुषस्य पूर्वसूत्रोक्तोपरागादिलक्षणाशेषपरिणामशून्यत्वात् । यदि सत्यपि विषये पुरुषः कदाचिदेवार्थाकारः स्यात् कदाचिन्नेत्येवं चित्तवत्परिणामी स्यात् तदेवं चित्तवत्सोऽपि ज्ञाताज्ञातविषयकः स्यात् । न त्वेव-

---

(१) पीतादिमताश्चित्तसत्त्वस्यापीति पाठान्तरम् ।

(२) नन्वेवं प्रमाता पुरुषोऽपि यस्मिन् काले नीलं संवेदयति न तस्मिन् काले पीतमतश्चित्तवत् तस्यापि कादाचित्कत्वं ग्रहीतृरूपत्वादाकारग्रहणे परिणामित्वं प्राप्तमत आह सदेति । तथा च वृत्तिमच्चित्तं सर्वदा पुरुषेणानुभूयते यतः पुरुषोऽपरिणामी परिणामित्वे चित्तवत् पुरुषोऽपि ज्ञाताज्ञातविषयो भवेत् न चैवमित्याशयः ।

(३) अपरिणामादिति पाठान्तरम् । (४) अपरिणामादिति पाठान्तरम् ।

(५) निर्मलसत्त्वमिति पाठान्तरम् । (६) न कादाचित्परिणामाशङ्केति पाठान्तरम् ।

म् । तस्मादपरिणामित्वाद्धेतोः सदा ज्ञातविषयत्वम् । अविभागलक्षणप्रतिबिम्बश्च सम्बन्धो न परिणामो नापि वृत्तौ सत्यां तत्प्रतिबिम्बे विलम्ब इत्यर्थः । यदि च वृत्तीनामज्ञातत्वं स्यात्तर्हि जानामि न वेत्यादिसंशयापत्तिरिति ॥ १८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

चित्तार्थयोर्भेदं परीक्ष्य चित्तपुरुषयोरपि भेदमाह—**सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्** । चित्तस्यार्थो ज्ञाताज्ञातरूप इत्युक्तम् । ये तु पुरुषस्यार्थाश्चित्तवृत्तयस्ते सदा ज्ञाता एव भवन्ति । अनेन वैधर्म्येण चित्तपुरुषयोर्भेदः । यतस्तत्प्रभोर्वृत्तिभोक्तुः पुरुषस्य पूर्वसूत्रोक्तोपरागादिलक्षणाशेषपरिणामशून्यत्वात् । यदि सत्यपि विषये पुरुषः कदाचिदेवार्थाकारः स्यात्तदा चित्तवत्परिणामी स्यात् । एवं सोऽपि ज्ञाताज्ञातविषयः स्यात्, नत्वेवम्, तस्मादपरिणामित्वाद्धेतोः सदा ज्ञातविषयत्वम् । अविभागलक्षणप्रतिबिम्बश्च सम्बन्धो न परिणामः । नापि वृत्तौ सत्यां तत्र विलम्बः अनादिवासनामूलत्वात् । अतएव जानामि नवा इच्छामि नवेति न संशयः ॥ १८ ॥

मणिप्रभा ।

तर्ह्यात्मनः परिणामित्वमित्यत आह—**सदेति** ।

पुरुषस्य हि क्षिप्तमूढादिसर्ववृत्तिकं चित्तं विषयः, स यदि चित्तेन स्वविषयशब्दादिवत् पुरुषेण स्वसत्ताकाले न ज्ञायेत तर्हि चित्तवत्परिणामी स्यात्पुरुषः, वृत्तिपरिणामं तत्तदाकारमपेक्ष्य तज्ज्ञातृत्वापातात् तदा किं परिणामिद्वयेनेति चित्तादन्यः पुरुषो न स्यात् । सदैव तु स्वसत्ताकाले ज्ञायमानाश्चित्तवृत्तयो भोग्याः शब्दाद्याकाराः यस्य भोग्यस्य प्रभोर्भोक्तुरपरिणामित्वं ज्ञापयन्ति साक्षिणोऽपरिणामित्वादेव हि स्वयं सदा ज्ञाता भवन्ति नान्यथेत्यर्थः ॥ १८ ॥

चन्द्रिका ।

पुरुषस्य परिणामित्वमाशङ्क्य परिहरति **सदेति** । याश्चित्तवृत्तयस्तास्तत्प्रभोस्तस्य चित्तस्य प्रभोः पुरुषस्य सदा सर्वकालमेव ज्ञेयाः तस्य चिद्रूपतयाऽपरिणामात् ॥ १८ ॥

योगसुधाकरः ।

नन्वित्थमात्मनोऽपि परिणामित्वं किं न स्यादित्यत आह – **सदेति** ।

पुरुषोऽपरिणामी सदा ज्ञातृत्वात् न यदेवं न तदेवं यथा चित्तम् । तथा यद्यसौ पुरुषः परिणामी स्यात्तदा परिणामस्य कादाचित्कत्वात्तासां चित्तवृत्तीनां सदा ज्ञातत्वं न स्यात् । अतः सदा ज्ञातृत्वादपरिणामी पुरुष इत्यर्थः ॥ १८ ॥

भोजवृत्तिः ।

ननु चित्तमेव यदि सत्त्वोत्कर्षात्प्रकाशकं तदा स्वपरप्रकाशकत्वादात्मानमर्थं च प्रकाशयतीति तावतैव व्यवहारसमाप्तेः किं ग्रहीत्रन्तरेणेत्याशङ्कामपनेतुमाह—

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

तच्चित्तं स्वाभासं स्वप्रकाशकं न भवति पुरुषवेद्यं भवतीति यावत्, कुतः ? दृश्यत्वात्: यत्किल दृश्यं तद्द्रष्टृवेद्यं दृष्टं यथा—घटादि, दृश्यं च(१)चित्तं तस्मान्न स्वाभासम् ॥ १९ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु वृत्तय एव स्वप्रकाशाः कल्प्यन्ते कृतं पुरुषेणेत्याशङ्क्य निराकरोति—**नेति** ।

तच्चित्तवृत्तिरूपं न स्वाभासं न स्वप्रकाशं भवति । आकाशं स्वप्रतिष्ठमिति वत् । स्वगोचरप्रकाशं विनैव प्रकाशव्यवहाराज्जानामीच्छामीत्यादिरूपैर्दृश्यतयानुभवादित्यर्थः ॥ १९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ननु वृत्तय एव सन्तु स्वप्रकाशाः अग्निवत् किं वृत्तिज्ञात्रा पुरुषेणेति वैनाशिकाशङ्कायामाह—**न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्** । तच्चित्तवृत्तिरूपं न स्वाभासं न स्वप्रकाशं स्वगोचरप्रकाशं विना न

(१) वेद्यं चेति पाठान्तरम् ।

प्रकाशव्यवहारक्षमम् । कुतः ? दृश्यत्वात्, परिणामितया नीलादिवत् । अनुभवव्याप्यं हि दृश्यं, यच्चानुभवव्याप्यं न तत्स्वाभासं, स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् । नहि तदेव क्रियाकर्म कर्ता च । पुरुषस्तु नानुभवकर्म । अतो न तस्य स्वयंप्रकाशताविरोधः । अपराधीनप्रकाशता ह्यस्य स्वयं प्रकाशता नानुभवकर्मतेति मिश्राः । यत्त्वहं जानमीत्यादौ पुरुषस्यानुभवव्याप्यतानुभूयते सा त्वनाद्यविद्यावासनावशाच्चित्तप्रतिबिम्बितस्यैवेति बोध्यम् । चित्ताविभक्तत्वेन गृहीतस्य वृत्त्यविभागेन गृहीतविषयेति तत्त्वम् । या सत्त्वगता चिच्छक्तिस्तदभिव्यक्तिरेव प्रतिबिम्बनम् । चिच्छक्तिद्वयं चात्र मते । एका नित्योदिता अपराभिव्यङ्ग्या । इयमेवान्तरङ्गत्वात् पुरुषस्य भोग्येति भोगराजः । एवं शब्दादिवज्जानामीत्यादिरूपैर्दृश्यत्वेनानुभवात्र स्वाभासत्वमिति भावः । अग्निरपि ज्ञानादेव प्रकाशते इति दृष्टान्तासिद्धिः । किंचाग्नेः प्रकाशोऽपि क्रियारूप इति तस्यापरेणैव कर्त्रा करणेन च भाव्यम् । किंच यथा स्वात्मप्रतिष्ठमाकाशमित्यस्याप्रतिष्ठमित्येवार्थः एवं स्वाभासमित्यस्याग्राह्यमित्येवार्थः स्यात् । स चायुक्तः, स्वचित्तव्यापारग्रहणेऽमुकाय क्रुद्धोऽहं भीतोऽहमित्याद्यभिलापानापत्तेः । ते च स्वाश्रयेण चित्तेन स्वविषयेण च सह प्रत्यात्ममनुभूयमानाः चित्तस्याग्राह्यतां विघटयन्तीति बोध्यम् ॥ १९ ॥

मणिप्रभा ।

ननु चित्तमेव क्षणिकं स्वप्रकाशं स्वस्वार्थयोर्भासकमस्तु किं साक्षिणेत्यत आह—नेति ।

रूपी घट इतिवत् सुख्यहं, क्रुद्धोऽहं, शान्तं मे मन, इति दृश्यत्वाच्चित्तं स्वाभासं स्वप्रकाशं न भवतीत्यर्थः । अयं भावः । किमिदं स्वप्रकाशत्वम् ? न तावत्स्वाभिन्नप्रकाशक्रियाकर्मत्वं क्रियाकर्मणोरैक्यायोगात्र हि गतिर्गम्यते; किं तु ग्रामः, नापि पुरुषवच्चित्तस्य स्वभिन्नप्रकाशाविषयत्वं क्रुद्धं मे मन इत्यनुभवविषयत्वादतो दृश्यत्वात्स्वातिरिक्तद्रष्टृकं चित्तं सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञानात्र क्षणिकमिति ॥१९॥

चन्द्रिका ।

ननु चित्तं स्वप्रकाशमस्तु किं ग्रहीत्रन्तरकल्पनेनेत्याशङ्क्य परिहरति नेति । तच्चित्तं स्वाभासं स्वप्रकाशकं न भवति किन्तु पुरुषवेद्यं कुतो दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

योगसुधाकरः ।

ननु क्षणिकं चित्तमेव स्वपरावभासकमस्तु, किं पुरुषेणेत्यत आह—नेति ।

'घटोऽयं रूपवान्' इतिवत् 'सुख्यहम्' 'क्रुद्धोऽहम्' 'शान्तं मे मनः' इति दृश्यत्वाच्चित्तं स्वाभासं स्वप्रकाशं न भवति; किं तु स्वातिरिक्तद्रष्टृकं न क्षणिकम्, 'सोऽहम्' इति प्रत्यभिज्ञानादित्युक्तम् ॥१९॥

भोजवृत्तिः ।

ननु साध्याविशिष्टोऽयं हेतुः, दृश्यत्वमेव चित्तस्यासिद्धम् । किंच स्वबुद्धिसंवेदनद्वारेण पुरुषाणां हिताहितप्राप्तिपरिहाररूपा वृत्तयो दृश्यन्ते । तथाहि—क्रुद्धोऽहं भीतोऽहमत्र मे राग इत्येवमाद्या संविद्बुद्धेरसंवेदने नोपपद्येतेत्याशङ्कामपनेतुमाह—

(१)एकसमये चोभयानवधारणम्(२) ॥ २० ॥

---

(१) ननु स्वबुद्धिसंवेदनद्वारेण पुरुषाणां हिताहितप्राप्तिपरिहाररूपाः प्रवृत्तयो दृश्यन्ते । तथाहि क्रुद्धोऽहमत्र मे राग इत्येवमाद्याः संविदः बुद्धेरसंवेदने नोपपद्यन्त इत्यतः स्वाभासं विषयाभासं च चित्तमिति वाच्यमित्याशङ्कां निरसितुं चित्तस्य स्वाभासवादिवैनाशिकमते दोषान्तरं दर्शयितुमाह एकेति । अयमाशयः । विषयाभासं स्वाभासं च चित्तं ब्रुवाणो वैनाशिकः येनैव व्यापारेण स्वमवधारयति तेनैव विषयमपीति न वक्तुमर्हति अविलक्षणव्यापारात् कार्यभेदानुपपत्तेः अतो व्यापारभेदो वाच्यः न च तेषां मते उत्पत्त्यतिरिक्तो व्यापारोऽस्ति न चैकस्या उत्पत्तेः कार्यवैलक्षण्यसम्भवः आकस्मिकत्वप्रसङ्गात् न वा एकस्य उत्पत्तिद्वयसम्भवः अतो ऽर्थस्य चित्तस्य च अवधारणमेकदा न सम्भवतीति ।

(२) नवधारणादिति पाठान्तरम् ।

अर्थस्य संवित्तिरिदंतया व्यवहारयोग्यतापादनमयमर्थः सुखहेतुर्दुःखहेतुर्वेति । बुद्धेश्च संविदहमित्येवमाकारेण सुखदुःखरूपतया व्यवहारक्षमतापादनम् । एवंविधं च व्यापारद्वयमर्थप्रत्यक्षताकाले(१) न युगपत्कर्तुं शक्यं विरोधात्, न हि विरुद्धयोर्व्यापारयोर्युगपत्संभवोऽस्ति । अत एकस्मिन्काले उभयस्य स्वरूपस्यार्थस्य चावधारयितुमशक्यत्वान्न चित्तं स्वप्रकाशमित्युक्तं भवति । किं चैवंविधव्यापारद्वयनिष्पाद्यस्य(२) फलद्वयस्यासंवेदनाद्बहिर्मुखतयैवार्थनिष्ठत्वेन चित्तस्य संवेदनादर्थनिष्ठमेव फलं न स्वनिष्ठमित्यर्थः ॥ २० ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

नन्वेवं सति स्वज्ञेयत्वमेव स्वाभासत्वं वक्तव्यं तत्राह—एकेति ।

यदा वृत्तिरुत्पद्यते न तदात्मानं ग्रहीतुं शक्नोति साक्षात्कारे विषयस्य हेतुत्वादित्यर्थः । नचोत्पद्य द्वितीयक्षणे तं गृह्णीयादिति वाच्यम् । शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावेन द्विरर्थग्राहकत्वासंभवात् ॥ २० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

नन्वेवं स्वज्ञेयत्वमेव स्वाभासत्वमत आह—एकसमये चोभयानवधारणम् । यदा वृत्तिरुत्पद्यते न तदात्मनं ग्रहीतुं शक्नोति साक्षात्कारे विषयस्य हेतुत्वादित्यर्थः । नचोत्पद्य द्वितीयक्षणे स्वं गृह्णाति । शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावेन द्विरर्थग्राहकत्वासंभवात् । कर्तृकर्मविरोधश्चोक्त एव ॥ २० ॥

मणिप्रभा ।

किञ्च—एकेति ।

क्षणिकवादिन एकस्मिन्नेव क्षणे चित्तचैतन्ययोरुभयोरवधारणं न सम्भवतीत्यर्थः । तथा हि—'घटमहमद्राक्षमिति चित्तार्थयोः स्मरणं तयोरनुभवजन्यं तत्र चित्तक्षणे तयोः कथमनुभवः । न च चित्तमेवोभयानुभव इति वाच्यम् । अर्थस्य चित्तजन्यत्वेऽर्थक्षणे चित्तासत्त्वादजन्यत्वे समानकालत्वेऽपि तदुत्पत्तितादात्म्ययोरभावेन तद्ग्राह्यत्वायोगाद् असम्बद्धग्राहित्वे चित्तस्य सर्वज्ञताऽऽपत्तिः । उक्तं हि–सौगतैः—'असदुत्पत्तिरतदात्मा च तेन न गृह्यत' इति । न वा चित्तं स्वानुभवं दृश्यत्वादित्युक्तं, नापि चित्तं स्वस्वार्थयोरनुभवद्वयम् । अतिक्षणिकस्योत्पत्तिव्यतिरिक्तव्यापाराभावात् । उक्तं हि -'भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते' इति । न चैकस्माद्व्यापारभेदं विना कार्यभेदो युक्तः । न ह्य स्वप्ने ज्ञानं ज्ञेयं च युगपत्कर्तुं शक्यं तस्मात्सक्षिणैव चित्तचैतन्ययोरनुभव इति सिद्धम् ॥ २० ॥

चन्द्रिका ।

बुद्धेरसंवेदने रागादयो नोपपन्ना इत्याशङ्क्य निरसितुमाह एकेति । एकस्मिन् काले उभयस्य स्वरूपस्य अर्थस्य चावधारयितुमशक्यत्वाच्चित्तं न स्वप्रकाशम् ॥ २० ॥

योगसुधाकरः ।

किञ्च—एकेति ।

यदि चित्तं स्वपरावभासकं स्यात्तदा तयोश्चित्तार्थयोर्जन्यजनकभावेन चित्तक्षणेऽर्थस्य अर्थक्षणे चित्तस्य चासत्त्वादेकस्मिन्नेव क्षणे तयोरुभयोरवधारणमनुभवो न स्यात् । तस्मात्पुरुष एव चित्तार्थयोरवभासको न चित्तमित्यर्थः ॥ २० ॥

भोजवृत्तिः ।

ननु मा भूद्बुद्धेः स्वयं ग्रहणं बुद्ध्यन्तरेण भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—

(३)चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥ २१ ॥

---

(१) प्रत्यक्षकाले इति पाठान्तरम् । (२) द्वयायत्तस्येति पाठान्तरम् ।

(३) ननु साधूक्तं स्वाभासत्वं चित्तस्य तथापि ग्रहीता न सिद्ध्यति स्वसन्तानवर्ति पूर्वक्षणोत्पन्नं चित्तं उत्तरक्षणे नष्टमपि उत्तरक्षणोत्पन्नेन चित्तान्तरेण ग्राह्यमिति न कोऽपि दोष इत्यत आह चित्ता-

यदि हि बुद्धिर्बुद्ध्यन्तरेण वेद्यते तदा साऽपि बुद्धिः स्वयमबुद्धा बुद्ध्यन्तरं(१) प्रकाशयितुमसमर्थेति तस्या ग्राहकं(२) बुद्ध्यन्तरं कल्पनीयं तस्याप्यन्यादित्यनवस्थानात्पुरुषायुषेणाप्यर्थप्रतीतिर्न स्यात् । न हि प्रतीतावप्रतीतायामर्थः प्रतीतो भवति । स्मृतिसंकरश्च प्राप्नोति—रूपे रसे वा समुत्पन्नायां बुद्धौ तद्ग्राहिकाणामनन्तानां बुद्धीनां समुत्पत्तेर्बुद्धिजनितैः संस्कारैर्यदा युगपद्बह्व्यः स्मृतयः क्रियन्ते तदा बुद्धेरपर्यवसानाद्बुद्धिस्मृतीनां च बह्वीनां युगपदुत्पत्तेः कस्मिन्नर्थे स्मृतिरियमुत्पन्नेति ज्ञातुमशक्यत्वात्स्मृतीनां संकरः स्यात् , इयं रूपस्मृतिरियं रसस्मृतिरिति न ज्ञायेत(३) ॥ २१ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु तथापि वृत्त्यन्तरैर्वृत्तयो ग्राह्यास्तत्राह—चित्तान्तरेति ।

यदि वृत्तिश्चित्तान्तरेण वृत्त्यन्तरेण ग्राह्या स्यात्तदा बुद्धिबुद्धेर्वृत्तिर्वृत्तीनामतिप्रसंगोऽनवस्था । तथा स्मृतिसंकरः । अयं घट इति वृत्तिदशायां घटतज्ज्ञानज्ञानाद्यनन्तवृत्त्य(नुभवे) ज्ञानधारापि स्मर्येत । तस्माद्वृत्त्यन्तरेण वृत्तिर्गृह्यते इति स्वीकर्तुमशक्यमित्यर्थः । अनन्तवृत्तिकल्पनापेक्षया सकलवृत्तिगोचरंनित्यविवेकचैतन्यकल्पने लाघवमिति भावः ॥ २१ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ननु वृत्त्यन्तरैर्वृत्तयो ग्राह्यास्तत्राह—चित्तान्तरग्राह्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च । यदि वृत्तिश्चित्तान्तरेण गृह्यते तदा बुद्धिबुद्धेश्चिचवृत्तीनामतिप्रसङ्गोऽनवस्था । अगृहीताया बुद्धेः बुद्धिग्रहणासामर्थ्यात् । तथात्वे त्वाद्याया अपि तादृश्या एवं विषयग्राहकत्वं स्यादिति व्यर्था तत्कल्पना स्यात् । स्वयमप्रकाशमानाया इतरप्रकाशासामर्थ्यमिति चेत्तुल्यम् । स्मृतिसंकरश्च । यावतीनां बुद्धिवृत्तीनामनुभवास्तावतीनां धारापि घटघटज्ञानादिस्मर्येत । नत्वेवं स्मर्यते । तस्माद्वृत्त्यन्तरैर्वृत्तिग्रहो न युक्तः । किंचानन्तवृत्तिकल्पनापेक्षया नित्यविवेकचैतन्यकल्पने लाघवमिति बोध्यम् । ‘येऽपि साङ्ख्ययोगादयः स्वप्रकाशं ज्ञानमिति वदन्ति ते स्वशब्देन तत्स्वामिनं पुरुषं भोक्तारं गृह्णन्ति’ इति भाष्यम् ॥ २१ ॥

मणिप्रभा ।

ननु माऽस्तु चित्तं स्वदृश्यं चित्तान्तरेण दृश्यतां किं साक्षिणेत्यत आह—चित्तेति ।

यदि नीलाकारं चित्तं चित्तान्तरेण दृश्यं तदा तदपि बुद्धिरूपं चित्तमन्यया बुद्ध्या साऽप्यन्ययेत्यनवस्थापातात् । न च द्वित्रास्त्रिचतुराः पञ्चषा वा चित्तात्मानो ग्राह्या इति नानवस्थेति वाच्यम् । ग्राहकचित्तस्यानिश्चये ग्राह्यचित्तानिश्चयात् गेहे घटो दृष्टो न वेति संशये, न दृष्ट इति व्यतिरेकनिश्चये, चार्थनिश्चयादर्शनेन. ज्ञानचित्तानिश्चयस्यार्थानिश्चयाहेतुत्वात् तत्तदनन्तचित्तानामनुभवे चानन्तचित्तस्मृतीनां सङ्करश्च प्राप्नोति स्मृत्यानन्त्यादशक्यग्रहत्वात् ग्राहकाभावाच्चेयं नीलचित्तस्मृतिरिति विभागो न स्यादित्यर्थः । चित्तानां समत्वाद् दीपानामिव ग्राहकत्वासम्भवश्च । अतः साक्षिवेद्यं चित्तमिति सिद्धम् ॥ २१ ॥

चन्द्रिका ।

तर्हि बुद्ध्यन्तरेणास्तु ग्रहणमित्याशङ्क्याह । चित्तान्तरेति । यदि बुद्धिर्बुद्ध्यन्तरेण वेद्येत तस्या

न्तरेति । नागृहीता चरमा बुद्धिः पूर्वबुद्धिग्रहणसमर्था न हि बुद्ध्या असम्बद्धाऽन्यस्य बोधनसमर्था भवितुमर्हतीति तस्या अपि बुद्ध्यन्तरमेवं तस्यास्तस्या इत्यनवस्था। स्मृतिसङ्करश्चेति। विषयानुभवकाले ज्ञानधारा आसीत् स्मृतिकालेऽपि अनन्तानां तज्ज्ञानानां स्मृतिरेकदैव भविष्यति घटो मया पुरा ज्ञातः घटज्ञानं तज्ज्ञानं चेत्येवमनन्ताकारा । एवं च घटो मया ज्ञात इत्येकमात्राकारस्मृत्यनुभवस्तम्भवे न स्यादिति भावः । (१) स्वयमेव स्वीयभावरूपमज्ञात्वा बुद्ध्वा बुध्येति पाठा० ।

(२) बोधकमिति पाठान्तरम् । (३) ज्ञायते इति पाठान्तरम् ।

अपि बुद्धित्वात् बुद्ध्यन्तरमित्यनवस्थानादर्थप्रत्यक्षं न स्यात्। स्मृतीनां रूपादिस्मृतीनां सङ्करश्च-किंविषयिणी स्मृतिरिति न ज्ञायते ॥ २१ ॥

योगसुधाकरः ।

ननु मा नाम भूच्चित्तं स्वप्रकाशम्; चित्तान्तरेण प्रकाश्यताम् ; किं पुरुषेणेत्याशङ्क्याह—चित्तेति।

यदि नीलादिगोचरं चित्तं चित्तान्तरेण दृश्येत, तदा तदपि बुद्ध्यात्मकं चित्तमन्यया बुद्ध्या, साप्यन्ययेत्यतिप्रसङ्गः स्यात् । किं चानन्तचित्तानामनुभवे सत्यनन्तचित्तस्मृतीनां सङ्करः प्राप्नोति । अतश्चितिशक्तिभास्यं चित्तमिति सिद्धम् ॥ २१ ॥

भोजवृत्तिः ।

ननु बुद्धेः स्वप्रकाशत्वाभावे बुद्ध्यन्तरेण चासंवेदने कथमयं विषयसंवेदनरूपो व्यवहार इत्याशङ्क्य स्वसिद्धान्तमाह—

(१)चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

पुरुषश्चिद्रूपत्वाच्चितिः साऽप्रतिसंक्रमा—न विद्यते प्रतिसंक्रमोऽन्यत्र गमनं यस्याः सा तथोक्ता, अन्येनासंकीर्णेति यावत् । यथा—गुणा अङ्गाङ्गिभावलक्षणे(२) परिणामेऽङ्गिनं गुणं संक्रामन्ति तद्रूपतामिवाऽऽपद्यन्ते, यथा—वा लोके परमाणवः प्रसरन्तो विषयमारूपयन्ति नैवं चितिशक्तिस्तस्याः सर्वदैकरूपतया स्वप्रतिष्ठितत्वेन व्यवस्थितत्वात् । अतस्तत्संनिधाने यदा बुद्धिस्तदाकारतामापद्यते चेतनेवोपजायते, बुद्धिवृत्तिप्रतिसंक्रान्ता च यदा चिच्छक्तिर्बुद्धिवृत्तिविशिष्टतया संवेद्यते(३) तदा बुद्धेः स्वस्याऽऽत्मनो वेदनं भवतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु भवन्मतेऽप्यपरिणामिनः कथमस्य वृत्तिदर्शनं तत्राह —चितेरिति ।

अप्रतिसंचाराया अपि चितेः पुरुषस्य स्वीयबुद्धिवृत्तिदर्शनं बुद्धिवृत्त्याकारापत्त्यैव भवतीत्यर्थः । वृत्त्याकारतापत्तिश्च वृत्तिप्रतिबिम्बितत्वं तस्या नित्यम् ॥ २२ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

अथ स्वमते वृत्तिमानमुपपादयति—चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ।

अप्रतिसंक्रमाया अपरिणामिन्या अतएवाप्रतिबिम्बिताया अपि चितिशक्तेः परिणामार्थरूपा या बुद्धिवृत्तिस्तया विवेकाग्रहात् तदाकारापत्त इव जातायां स्वीयबुद्धिवृत्तिदर्शनं भवतीत्यर्थः । यदा प्रतिसंक्रमः संचारस्तद्रहिताया अपि बुद्धितद्वृत्तिभिर्विवेकाग्रहाद्बुद्धिवृत्तिसंचारेण संचरमाणाया इव विषयाकारवृत्त्यनाकाराया अपि तदाकारताया इवापत्तौ तद्दर्शनमित्यर्थः । तदुक्तं भाष्ये—'अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहस्वरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते' इति। तथाच श्रुतिः—

'न पातालं न च विवरं गिरीणां नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम् ।
गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते ॥ इति ।

---

(१) ननु चित्तं यदि न स्वाभासं नापि चित्तान्तरदृश्यं कथं विषयसंवेदनरूपो व्यवहार इत्यतः सिद्धान्तमाह चितेरिति । अयं भावः । यथा चन्द्रमसो व्यापारविरहेऽपि सङ्क्रान्तप्रतिबिम्बं निर्मलं चलं जलं अचलं चन्द्रं चलमिव अवभासयति एवं विनापि चितिव्यापारं सङ्क्रान्तचित्प्रतिबिम्बं चित्तं स्वगतक्रियया चितिं क्रियावतीमिव समवभासयत् भोग्यभावमासादयत् भोक्तृभावमापादयति चितेरिति ।

(२) अङ्गादिभावलक्षणे इति पाठान्तरम् ।

(३) बुद्धिवृत्त्यविशिष्टतया संपद्यत इति पाठान्तरम् ।

अविशिष्टा विवेकाग्रहात् । चितेरविशिष्टाम् । तस्यामेव गुहायां तत् गुह्यं ब्रह्म तदपनये तु स्वयमनावरणमनुत्सर्गं प्रद्योतते चरमदेहस्य भगवत इति मिश्राः ॥ २२ ॥

मणिप्रभा।

ननु कूटस्थस्य साक्षिणश्चित्तेन क्रियापूर्वकसम्बन्धाभावात्तेन कथं संवेद्यमित्यत आह—चितेरिति।

यथा बुद्धेः क्रियया घटादितंश्लेषः प्रतिसंक्रमेऽस्ति परिणामित्वान्न तथा चितेर्बुद्धौ प्रतिसंक्रमोऽपरिणामित्वात् । किं तु सूर्यस्य जले प्रतिबिम्बवच्चितेर्बुद्धौ प्रतिबिम्बे सति बुद्धेश्चिदाकारताऽऽपत्तौ स्वस्य भोग्याया बुद्धेः संवेदनं भवति चिच्छायाग्राह्यत्वसम्बन्धेन चिदुपरक्तं चित्तं चिद्वेद्यमित्यर्थः । 'अप्रतिसंक्रमाया'श्चितेः सान्निध्यात्तस्याश्चितेराकारश्छाया यत्र तद्भावापत्तौ सत्यां स्वभोग्यबुद्धिसंवेदनामिति योजना ॥ २२ ॥

चन्द्रिका।

सिद्धान्तमाह चितेरिति । न विद्यते प्रतिसङ्क्रमोऽन्यत्र गमनं यस्याः सा अप्रतिसङ्क्रमा तस्याश्चितेः पुरुषस्य सदैकरूपत्वात् सन्निधौ बुद्धिस्तदाकारतामापद्यते चिच्छक्तिर्बुद्धिविशिष्टतया सम्पद्यते यदा तदा बुद्धेः स्वस्यात्मनो वेदनं भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

योगसुधाकरः।

ननु कूटस्थनित्यायाश्चितिशक्तेश्चित्तेन क्रियापूर्वकसंप्रयोगासम्भवात्कथं तत्तया भास्यमित्यत आह—चितेरिति।

यथा परिणामित्वाद्बुद्धितत्त्वस्य क्रियया घटादौ संप्रयोगः समस्ति, न तथा चितिशक्तेर्बुद्धितत्त्वे प्रतिसंक्रमः संप्रयोगः अपरिणामित्वात् । अपि तु सवितुः सलिले प्रतिबिम्बवच्चितिशक्तेर्बुद्धौ प्रतिबिम्बे सति तस्या बुद्धेश्चिदाकारतापत्तौ सत्यां स्वभोग्यबुद्धिसंवेदनं भवति । चिच्छायाग्राहित्वसम्बन्धेन चिदुपरक्तं चिद्भास्यमित्यन्वयम् ॥ २२ ॥

भोजवृत्तिः।

इत्थं स्वसंविदितं चित्तं सर्वार्थग्रहणसामर्थ्येन सकलव्यवहारनिर्वाहक्षमं भवति(१) इत्याह—

(२) द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

द्रष्टा पुरुषस्तेनोपरक्तं तत्संनिधानेन तद्रूपतामिव प्राप्तं दृश्योपरक्तं विषयोपरक्तं गृहीतविषयाकारपरिणामं यदा भवति तदा तदेव चित्तं सर्वार्थग्रहणसमर्थं भवति । यथा निर्मलं स्फटिकदर्पणाद्ये(३)व प्रतिबिम्बग्रहणसमर्थमेवं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्त्वं शुद्धत्वाच्चिच्छायाग्रहणसमर्थं भवति, न पुनरशुद्धत्वाद्रजस्तमसी । तत् (तदा) न्यग्भूतरजस्तमोरूपमङ्गितया सत्त्वं निश्चलप्रदीपशिखाकारं सदैवैकरूपतया परिणममानं चिच्छायाग्रहणसामर्थ्यादा मोक्षप्राप्तेरवतिष्ठते । यथाऽयस्कान्तसंनिधाने लोहस्य चलनमाविर्भवति, एवं चिद्रूपपुरुषसंनिधाने सत्त्वस्याभिव्यङ्ग्यमभिव्यज्यते चैतन्यम् । अत एवास्मिन्दर्शने द्वे चिच्छक्ती नित्योदिताऽभिव्यङ्ग्या च । नित्योदिता चिच्छक्तिः पुरुषस्तत्संनिधानादभिव्यक्तमभिव्यङ्ग्यचैतन्यं सत्त्वमभिव्यङ्ग्या चिच्छक्तिः । तच्चात्यन्तसंनिहितत्वादन्तरङ्गं पुरुषस्य भोग्यतां प्रतिपद्यते तदेव शान्तब्रह्मवादिभिः सांख्यैः पुरुषस्य परमात्मनोऽधिष्ठेयं कर्मानुरूपं सुखदुःखभोक्तृतया व्यपदिश्यते। यत्त्वनुद्रिक्तत्वादेकस्यापि गुणस्य कदाचित्कस्यचिदाङ्गित्वात्त्रिगुणं प्रतिक्षणे परिणममानं सुखदुःखमो-

---

(१) सकलनिर्वाहक्षमं भविष्यतीति पाठान्तरम् ।

(२) तदनेन बुद्धिवेदनेन चित्तस्य दृश्यत्वं तेन च दृश्यत्वेन चित्तस्य परिणामित्वं च सिद्धं तदतिरिक्तः पुमानपि अपरिणामी सिद्धः । एवं च स्वसंविदितं चित्तं सर्वार्थग्रहणसामर्थ्येन सकलव्यवहारनिर्वाहक्षमं भवतीत्याह वृत्तिः । (३) निर्मलं स्फाटिकं दर्पणादीति पाठान्तरम् ।

त्मकमानिर्मले तस्मिंस्तस्मिन्कर्मानुरूपे(१) शुद्धे सत्त्वे स्वाकारसमर्पणद्वारेण संवेद्यतामापादयति । तच्छुद्धमात्रं(२) चित्तसत्त्वमेकतः प्रतिसंक्रान्तचिच्छायमन्यतोगृहीतविषयाकारेण चित्तेनोपढौकितस्वाकारं चित्संक्रान्तिबलात् चेतनायमानं वास्तवचैतन्याभावेऽपि सुखदुःखभोगमनुभवति(३)। स एव भोगोऽत्यन्तसंनिधानेन विवेकाग्रहणादभोक्तुरपि पुरुषस्य भोग इति व्यपदिश्यते । अनेनैवाभिप्रायेण विन्ध्यवासिनोक्तं "सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वम्"(४) इति । अन्यत्रापि प्रतिबिम्बे प्रतिबिम्बमानच्छायासदृशच्छायोद्भवः प्रतिबिम्बशब्देनोच्यते । एवं सत्त्वेऽपि पौरुषेयचिच्छायासदृशचिदभिव्यक्तिः प्रतिसंक्रान्तिशब्दार्थः । (५) ।

ननु प्रतिबिम्बनं नाम निर्मलस्य नियतपरिणामस्य निर्मले दृष्टं, यथा—मुखस्य दर्पणे । अत्यन्तनिर्मलस्य व्यापकस्यापरिणामिनः पुरुषस्य तस्मादत्यन्तनिर्मलात् पुरुषादनिर्मले सत्त्वे कथं प्रतिबिम्बनमुपपद्यते ? उच्यते—प्रतिबिम्बनस्य स्वरूपमनवगच्छता भवतेदमभ्यधायि । यैव सत्त्वगताया अभिव्यङ्ग्यायाश्चिच्छक्तेः पुरुषस्य सांनिध्यादभिव्यक्तिः(६) सैव प्रतिबिम्बनमुच्यते । यादृशी पुरुषगता चिच्छक्तिस्तच्छाया तथाऽविर्भवति । यदप्युक्तमत्यन्तानिर्मलः पुरुषः कथमनिर्मले सत्त्वे प्रतिसंक्रामतीति तदप्यनैकान्तिकं, नैर्मल्यादपकृष्टेऽपि जलादावादित्यादयः प्रतिसंक्रान्ताः समुपलभ्यन्ते । यदप्युक्तमनवच्छिन्नस्य नास्ति प्रतिसंक्रान्तिरिति तदप्ययुक्तम्, व्यापकस्याप्याकाशस्य दर्पणादौ प्रतिसंक्रान्तिदर्शनात् । एवं सति न काचिदनुपपत्तिः प्रतिबिम्बदर्शनस्य । ननु सात्त्विकपरिणामरूपे बुद्धिसत्त्वे पुरुषसंनिधानादभिव्यङ्ग्यायाश्चिच्छक्तेर्बाह्यार्थाकारसंक्रान्तौ पुरुषस्य सुखदुःखरूपो भोग इत्युक्तं तदनुपपन्नम्; तदेव चित्तसत्त्वं प्रकृतावपरिणतायां कथं संभवति किमर्थश्च तस्याः परिणामः? अथोच्येत पुरुषस्यार्थोपभोगसम्पादनं तया कर्तव्यम्, अतः पुरुषार्थकर्तव्यतया तस्या युक्त एव परिणामः, तच्चानुपपन्नं, पुरुषार्थकर्तव्यताया एवानुपपत्तेः, पुरुषार्थो मया कर्तव्य इत्येवंविधोऽध्यवसायः पुरुषार्थकर्तव्यतोच्यते, जडायाश्च प्रकृतेः कथं प्रथममेवंविधोऽध्यवसायः(७)। अस्ति चेदध्यवसायः कथं जडत्वम् । अत्रोच्यते- अनुलोमप्रतिलोमलक्षणपरिणामद्वये सहजं शक्तिद्वयमस्ति तदेव पुरुषार्थकर्तव्यतोच्यते(८) । सा च शक्तिरचेतनाया अपि प्रकृतेः सहजैव । तत्र महदादिमहाभूतपर्यन्तोऽस्या बहिर्मुखतयाऽनुलोमः परिणामः । पुनः स्वकारणानुप्रवेशद्वारेणास्मितान्तःपरिणामः प्रतिलोमः । इत्थं पुरुषस्याऽऽभोगपरिसमाप्तेः सहजशक्तिद्वयक्षयात्कृतार्था प्रकृतिर्न पुनः परिणाममारभते । एवंविधायां च पुरुषार्थकर्तव्यतायां जडाया अपि प्रकृतेर्न काचिदनुपपत्तिः । ननु यदीदृशी शक्तिः सहजैव प्रधानस्यास्ति तत्किमर्थं मोक्षार्थिभिर्मोक्षाय यत्नः क्रियते, मोक्षस्य चानर्थनीयत्वे तदुपदेशकशास्त्रस्याऽनर्थक्यं स्यात् । उच्यते-योऽयं प्रकृतिपुरुषयोरनादिर्भोग्यभोक्तृत्वलक्षणः(९) संबन्धस्तस्मिन्सति व्यक्तचेतनायाः प्रकृतेः कर्तृत्वाभिमानाद्दुःखानुभवे सति कथमियं दुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी मम स्यादिति भवत्येवाध्यवसायः, अतो दुःखनिवृत्त्युपायोपदेशकशास्त्रोपदेशापेक्षाऽस्त्येव प्रधानस्य; तथाभूतमेव च कर्मानुरूपं बुद्धिसत्त्वं शास्त्रोपदेशस्य विषयः । दर्शनान्तरेष्वप्येवंविध एवाविद्यास्वभावः शास्त्रेऽभिधीयते(१०) । स च मोक्षार्थं प्रयतमान एवंविधमेव शास्त्रोपदेशं सहकारिणमपेक्ष्य मोक्षाख्यं फलमासादयति । सर्वाण्येव कार्याणि प्राप्तायां सामग्र्यामात्मानं लभन्ते । अस्य च प्रतिलोमप-

(१) तस्मिन्कर्मणोऽऽत्मरूपे इति पाठान्तरम् ।

(२) तत्सत्त्वमात्रमिति पाठान्तरम् ।

(३) दुःखस्वरूपं भोगमिति पाठान्तरम् ।

(४) सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषीयमिति पाठान्तरम् ।

(५) सदृशस्वकीयचिच्छायान्तराभिव्यक्तिः प्रतिबिम्बशब्दार्थ इति पाठान्तरम् ।

(६) सांनिध्येऽभिव्यक्तिरिति पाठान्तरम् ।

(७) कथमेवंविधोऽध्यवसाय इति पाठान्तरम्

(८) कर्तव्यतयोच्यत इति पाठान्तरम् ।

(९) भोक्तृभावलक्षण इति पाठान्तरम् ।

(१०) अभिधियते इति पाठान्तरम् ।

रिणामद्वारेणैवोत्पाद्यस्य मोक्षाख्यस्य कार्यस्यैदृश्येव सामग्री प्रमाणेन निश्चिता प्रकारान्तरेणानुपपत्तेः, अतस्तां विना कथं भवितुमर्हति, अतः स्थितमेतत्—संक्रान्तविषयोपरागमभिव्यक्तचिच्छायं बुद्धिसत्त्वं विषयनिश्चयद्वारेण समग्रां लोकयात्रां निर्वाहयतीति। एवंविधमेव चित्तं पश्यन्तो भ्रान्ताः स्वसंवेदनं चित्तं चित्तमात्रं च जगदित्येवं ब्रुवाणाः प्रतिबोधिता भवन्ति ॥ २३ ॥

भावागणेशवृत्तिः।

ननूत्पद्यतां कूटस्थस्यापि स्वबुद्धिज्ञानं प्रतिबिम्बरूपसंबन्धाच्छब्दादिभानमात्मभानं च कथं स्यात्? साक्षात्प्रतिबिम्बाङ्गीकारे शब्दादीनामज्ञानसत्तानुपपत्तेः, स्वस्मिन् साक्षात्स्वप्रतिबिम्बासंभवाच्च (इत्यत आह)—द्रष्टॄति।

चित्तमेव पुरुषस्य सर्वार्थं ग्रहीतृग्रहणग्राह्यरूपाखिलदृश्याधारभूतम्। न चित्तातिरिक्तं पुरुषस्य दृश्यमिति। यतो द्रष्टृदृश्याभ्यामुपरक्ता बुद्धिवृत्तिः साक्षाद्दृश्या। तदारूढतया तु द्रष्टृशब्दादिर्दृश्यो भवतीति क्षणिकविज्ञानमेव चित्तमिति बौद्धमते चित्तातिरिक्त आत्मा प्रसाधितः ॥ २३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अथ चित्तातिरिक्तं (द्रष्टारं) प्रत्यक्षेणापि साधयति—**द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्।** सर्वार्थं प्रमाणीभूतमित्यर्थः। यथा नीलाद्यनुरक्तं चित्तं तमर्थं प्रत्यक्षेण स्थापयति, एवं द्रष्टृच्छायापन्नं चित्तं द्रष्टारमपि प्रत्यक्षेण स्थापयतीत्यर्थः। अतएव नीलमहं वेद्मीत्यनुभवः। अहमिति प्रत्ययो हि चैतन्योपरक्तचित्तविषयः। एवं यद्यपि ज्ञाता प्रत्यक्षविषयस्तथापि न विविच्य यथा जले चन्द्रबिम्बम्। तदुक्तं भाष्ये—'मनो हि मन्तव्यार्थेनोपरक्तं स्वयं च विषयत्वात् विषयिणा पुरुषेणात्मीयवृत्तिद्वाराभिसंबद्धं द्रष्टृदृश्योपरक्तं विषयविषयिनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नं विषयात्मकमपि अविषयात्मकमिवाचेतनमपि चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सत्त्वमयत्वात्सर्वार्थमित्युच्यते। तदनेन चित्तसारूप्येण भ्रान्ताः केचित्तदेव चेतनमित्याहुरिति'। ननु समाधावालम्बनभाव आत्मनः कथमिति चेदत्र भाष्यं—'प्रतिबिम्बीभूतस्य चित्तवृत्तिद्वारा ज्ञेयत्वात्' मलिनेऽपि जलादौ अत्यन्तनिर्मलरवेः प्रतिबिम्बवत्पुरुषादनिर्मलेऽपि चित्ते पुरुषस्य प्रतिबिम्बस्वीकाराददोषः। हृदयावच्छिन्नचित्ते तदवच्छिन्नचैतन्यस्याविभागेनाबिभक्तिरेव प्रतिबिम्बितत्वम्। तदवच्छेदेन तथाभिव्यक्तस्य च चित्तवैधर्म्येण ज्ञानम् ॥ २३ ॥

मणिप्रभा।

ननु यदि चित्तातिरिक्त आत्माऽस्ति तर्हि कथं केषाञ्चित् चित्तमेवात्मेति भ्रम इत्याशङ्क्य चित्तस्य सर्वार्थग्रहणसामर्थ्यं तेषां भ्रमबीजमाह—द्रष्टॄति।

द्रष्टा पुरुषश्चेतनः दृश्यं शब्दाद्यचेतनमिति तत्सर्वं चेतनाचेतनमर्थो विषयो यस्य तत्सर्वार्थं तत्र तत्सान्निध्याच्चिद्रूपतामिव प्राप्तं द्रष्टृ चिदुपरक्तं द्रष्टृविषयं भवति इन्द्रियादिद्वारा दृश्योपरक्तं तदाकारं भवति। तथा च भोग्यशब्दाद्याकारं सुखदुःखादिपरिणामलक्षणभोगात्मकं दृश्यमपि चित्तं चित्प्रतिबिम्बाभेदादात्मेति भ्रमः सौगतानां युक्तः। चित्तस्य जपाकुसुमाद्यर्थाकारग्रहणशीलाभिजातस्य स्फटिकमणिकल्पस्य दृश्याकारग्राहित्वाच्चित्तातिरिक्तार्थो नास्तीति विज्ञानवादिनां भ्रमः। अत्रेत्थं विवेकः। चित्तस्य भोग्यत्वाद्भोक्ताऽन्यः स्वीकर्तव्यः स नित्योदिता चिच्छक्तिरित्युच्यते। द्विधा चिच्छक्तिः नित्योदिता ऽभिव्यङ्ग्या चेति। तत्र नित्योदितायाः कूटस्थचिच्छक्तेः चित्तसत्त्वाभिव्यङ्ग्या चित्प्रतिबिम्बरूपा सुखादिसारूप्यमापन्ना चिच्छक्तिर्भोग इत्युच्यते। स द्विविधश्च भोगः चिदवसानतारूप एकः, परिणामलक्षणोऽपरः, तत्राभिव्यङ्ग्या चिच्छक्तिराद्यः पुरुषस्य भोगः, अपरः सुखादिपरिणामो बुद्धेः प्राप्तचैतन्याया इति। इत्थं बुद्धिपुरुषान्तरं विविच्य विध्वस्तसमस्तमलजालं निश्चलप्रदीपशिखाकारं समाहितं प्रशान्तवाहिचित्तं पुरुषसत्तां विजानातीति तात्पर्यम् ॥ २३ ॥

चन्द्रिका।

द्रष्टॄति।

द्रष्टा पुरुषस्तेनोपरक्तं तदाकारतामिव प्राप्तं दृश्योपरक्तं विषयाकारपरिणामं यदा भवति तदा

तदेव सर्वार्थग्रहणसमर्थं जायते ॥ २३ ॥

योगसुधाकरः ।

ननु तर्हि केषांचिच्चित्तमेव चिदात्मेति भ्रमः कथमित्याशङ्क्य तेषां भ्रमबीजमाह—द्रष्टृदृश्येति। सर्वो द्रष्टृदृश्यरूपोऽर्थो विषयो यस्य तत्सर्वार्थम् । तत्र चित्सान्निध्याच्चिद्रूपतामिव प्राप्तं द्रष्टुपरक्तं द्रष्टृविषयं भवति । इन्द्रियादिद्वारा दृश्योपरक्तं तदाकारं भवति । तथा च भोग्यशब्दाद्याकारं सुखदुःखादिपरिणामलक्षणभोगात्मकं चित्तं दृश्यमपि चित्प्रतिबिम्बाभेदादात्मेति सौगतानां भ्रमः । तत्र विवेकिना चित्तस्य भोग्यतया तस्मादन्यो भोक्ता स्वीकर्तव्य इति भावः ॥ २३ ॥

भोजवृत्तिः ।

ननु यद्येवंविधादेव चित्तात्सकलव्यवहारनिष्पत्तिः कथं प्रमाणशून्यो द्रष्टाऽभ्युपगम्यत इत्याशङ्क्य द्रष्टुः प्रमाणमाह—

(१)तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

तदेव चित्तं संख्यातुमशक्याभिर्वासनाभिश्चित्रमपि नानारूपमपि परार्थं परस्य स्वामिनः(२) भोक्तुर्भोगापवर्गलक्षणमर्थं साधयतीति, कुतः ? संहत्यकारित्वात्. संहत्य संभूय मिलित्वाऽर्थक्रियाकारित्वात् । यच्च संहत्यार्थक्रियाकारि तत्परार्थं दृष्टं, यथा—शयनासनादि । सत्त्वरजस्तमांसि च चित्तलक्षणपरिणामभाञ्जि संहत्यकारीणि चातः परार्थानि । यः परः स पुरुषः । ननु यादृशेन शयनादिना(३)परेण शरीरवता पारार्थ्यमुपलब्धं तद्दृष्टान्तबलेन तादृश एव परः सिध्यति । यादृशश्च भवता परोऽसंहतरूपोऽभिप्रेतस्तद्विपरीतस्य सिद्धेरयमिष्टविघातकृद्धेतुः । उच्यते—यद्यपि सामान्येन परार्थमात्रे(४) व्याप्तिर्गृहीता तथापि सत्त्वादिविलक्षणधर्मिपर्यालोचनया तद्विलक्षण एव भोक्ता परः सिध्यति । यथा—चन्दनवनावृते शिखरिणि विलक्षणाद्धूमाद्वह्निरनुमीयमान इतरवह्निविलक्षणश्चन्दनप्रभव एव प्रतीयते, एवमिहापि विलक्षणस्य सत्त्वाख्यस्य भोग्यस्य परार्थत्वेऽनुमीयमाने तथाविध एव भोक्ताऽधिष्ठाता परश्चिन्मात्ररूपोऽसंहतः सिध्यति । यदि च तस्य परत्वं सर्वोत्कृष्टत्वमत्र प्रतीयते तथाऽपि तामसेभ्यो विषयेभ्यः प्रकृष्यते शरीरं प्रकाशरूपेन्द्रियाश्रयत्वात्, तस्मादपि प्रकृष्यन्ते इन्द्रियाणि, ततोऽपि प्रकृष्टं सत्त्वं प्रकाशरूपं, तस्यापि यः प्रकाशकः प्रकाश्यविलक्षणः स चिद्रूप एव भवतीति कुतस्तस्य संहतत्वम् ॥ २४ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

इदानीं वृत्त्यतिरिक्तस्थिरचित्ताभ्युपगन्तृणामात्मानं दर्शयति—तदसंख्येयेति ।

यद्यपि द्रष्टृदृश्यदर्शनगोचराखिलवासनाचित्रमिव चित्तं तिष्ठति ? अतश्चित्तातिरिक्तपदार्थानां चित्तार्थत्वं संभवति । तथाप्येतत्परार्थं मन्तव्यम् । संहत्यकारित्वादित्यर्थः । अयं हेतुः प्रागेव व्याख्यातः ॥ २४ ॥

---

(१) असंख्येयवासनाविशिष्टं चित्तं परार्थं संहत्यकारित्वात् यथा शयनादयः यः परः स पुरुषः । ननु दृष्टान्ते संहतपरार्थत्वं दृष्टं अनुमितौ तादृश एव परः सिध्यति न त्वसंहत आत्मेति चेत् । मैवम् । संहत्यकारित्वे सामान्यतः परार्थत्वव्याप्तिग्रहात् संहतपरसिद्धौ तस्यापि संहतत्वेन परार्थत्वसिद्धौ अनवस्थाप्रसङ्गेन गौरवादिज्ञानात् असंहतपरसिद्धौ च लाघवादिज्ञानात् तत्सहकृतसामान्यव्याप्तिज्ञानादपि असंहतपरार्थत्वसिद्धेः सामान्यधर्मावच्छिन्नव्याप्यवत्ताज्ञानादपि विशेषधर्मावच्छिन्नलाघवज्ञानादिसहकृतात् विशेषधर्मावच्छिन्नविधेयकानुमितेरभ्युपगमादिति । दृष्टसकलधर्माणामनुमितावबगाहनस्यावश्यकत्वस्वीकारे अनुमितिमात्रोच्छेदापत्तेरिति । चित्तमपि—पा० २ पु० ।

(२) स्वामिन इति पाठान्तरम् । (३) शयनासनादीनामिति पाठान्तरम् ।

(४) परार्थमात्रत्वेनेति पाठान्तरम् ।

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

चित्तातिरिक्तात्मसद्भावे हेत्वन्तरमाह—तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् । असंख्येयाभिः कर्मवासनाभिः क्लेशवासनाभिश्चित्रीकृतमिव चित्तम् । एवं च तासां चित्ताश्रयतया चित्तस्य भोक्तृत्वं योग्यम् । एवं च सर्वं चित्तार्थमेव स्यात्तथापि तादृशमपि चित्तं परार्थमेव । परस्य नित्योदासीनस्य पुरुषस्य भोगार्थमेव न स्वार्थं संहत्यकारित्वात् गृहादिवत् । संहत्यकारित्वं चेतरसाहित्येनार्थक्रियाकारित्वमिति प्रागेव व्याख्यातम् । सत्त्वरजस्तमसां चात्र सहकारिता । एवं च भोक्ता तद्गुणासंश्लिष्टः सिध्यति ॥ २४ ॥

मणिप्रभा ।

इतश्च चित्तादन्यो भोक्ताऽस्तीत्याह—तदसंख्येयेति ।

यद्यपि क्लेशकर्मविपाकवासनाभिरनन्ताभिः सुखाद्याश्रयतया भोक्तृकल्पं चित्तं तथाऽपि परस्य निरुपचरितचित्स्वभावस्यार्थौ भोगापवर्गौ साधयतीति परार्थं भोग्यमेव न भोक्तेति यावत् । कुतः ? संहत्य देहेन्द्रियादिसहकारिभिर्मिलित्वा भोगादिकार्यकारित्वात् , यन्मिलित्वा कार्यकारि तत्परार्थं, यथा गृहादि, न हि स्तम्भादिभिः संहत्य गृहं स्वस्य वसतिं करोति किं तु परस्मै विष्णुमित्राय । एवं गुणा अपि बुद्ध्यादिकं परार्थं कुर्वन्तीति युक्तमत एव पुरुषशेषत्वाद् गुणा उच्यन्ते । तथा च सत्त्वादयः परार्थाः संहत्य कारित्वाद्गृहवदित्यस्य हेतोः पक्षधर्मतावलाद् गुणैरसंहतः शुद्धो निष्कलः स्वार्थश्चिन्मात्रपरः सिध्यति । यो यस्य भोक्ता स तेनासंहतो यथा गृहस्वामीति व्याप्तेः गुणभोक्तुरपि परार्थत्वेऽनवस्थानात्पुरुषान्न परं किंचिदिति श्रुतेश्च । तस्माद्यस्य भोगापवर्गौ गुणमयबुद्ध्या कर्तव्यौ सुखदुःखाभ्यां योऽनुकूलनीयः प्रतिकूलनीयश्च स भोक्ताऽस्तीति सिद्धम् ॥ २४ ॥

चन्द्रिका ।

द्रष्टरि प्रमाणमाह—तदसंख्येयेति ।

तदेव चित्तं संख्यातुमशक्याभिर्वासनाभिश्चित्रमपि नानारूपमपि परार्थं परस्य स्वामिनो भोक्तुर्भोगापवर्गलक्षणार्थं साधयति, कुतः ? सम्भूय मिलित्वार्थक्रियाकारित्वात् यथा गृहादिः ॥ २४ ॥

योगसुधाकरः ।

अतश्चान्यो भोक्ता चित्तादस्तीत्याह—तदिति ।

यद्यपि क्लेशकर्मविपाकवासनाभिरनन्ताभिश्चित्रं सुखाद्याश्रयतया भोक्तृकल्पं चित्तम् , तथापि परस्य निरुपचरितचित्स्वभावस्यार्थौ भोगापवर्गौ साधयतीति परार्थं भोग्यमेव न भोक्ता । कस्मात् ? संहत्य देहेन्द्रियादिसहकारिभिर्मिलित्वा भोगादिकार्यकारित्वात् । यन्मिलित्वा कार्यकारि तत्परार्थं यथा गृहादि देवदत्तार्थम् । तस्माच्चित्तादन्यश्चिदात्मा भोक्तास्तीति सिद्धम् ॥ २४ ॥

भोजवृत्तिः ।

इदानीं शास्त्रफलं कैवल्यं निर्णेतुं दशभिः सूत्रैरुपक्रमते—

(१)विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः ॥ २५ ॥

एवं सत्त्वपुरुषयोरन्यत्वे साधिते यस्तयोर्विशेषं पश्यति अहमस्मादन्य इत्येवंरूपं, तस्य विज्ञातचित्तस्वरूपस्य चित्ते याऽऽत्मभावभावना सा निवर्तते चित्तमेव कर्तृ ज्ञातृ-भोक्तृ इत्यभिमानो निवर्तते॥२५॥

भावागणेशवृत्तिः ।

तदेवमतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् (४।१२) इत्यादिसूत्रैः चित्तपुरुषयोश्च विवेकतः सत्त्वं परीक्षितम् । इदानीमेतज्ज्ञानादाद्यं मोक्षमादौ प्रतिपादयति—विशेषेति ।

मातृमानमेयात्मकस्याखिलप्रपञ्चस्य तत्तायः पिण्डवदेकीभावापन्नस्यापि यथोक्तप्रकारैरन्योन्यविशेषदर्शिनश्चित्तस्य या पूर्वस्थिताऽऽत्मभावभावना स्वस्वरूपजिज्ञासा किंस्वरूपोऽहमासं, किंस्वरूपो वा ति-

---

(१) सत्त्वपुरुषान्यत्वं साधितमिदानीं तद्दर्शिनं पुरुषामतरेभ्यः पुरुषेभ्यो व्यावर्तयति विशेषेति ।

ष्यामि किंस्वरूपो वा भविष्यामीत्याद्याकारा तस्याः शोकाद्यनन्तानर्थहेतोर्निवृत्तिर्भवतीत्यर्थः। स्वर्गनरकमोक्षादिभिर्विचित्ररूपता चित्तादेरेव भवति न तु सदैकरूपचिन्मात्रस्य ममेत्यवधारणे सति नैवात्मभावचिन्तोदेतीति भावः। तथाच श्रुतिः "तं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवं" इत्यादिरिति ॥ २५ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

अथ मोक्षं प्रतिपादयति—**विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः**। मातृमानमेयात्मकस्याखिलप्रपञ्चस्य तप्तायःपिण्डवदेकीभावापन्नस्यापि यथोक्तप्रकारैरन्योन्याविशेषदर्शिनो विवेकदर्शिनश्चित्तस्य या पूर्वस्थिता आत्मभावभावना स्वसत्ताजिज्ञासा किंस्वरूपोऽहमासं किंरूपो भवामीत्याकारा तस्याः शोकाद्यनन्तानर्थहेतोर्निवृत्तिर्भवतीत्यर्थः। इयमपि भावना कस्यचिदेव पुण्यभागिनोऽनुष्ठिताष्टाङ्गयोगैकदेशस्यैव भवति। अन्यस्य तु कर्मफले मोक्षे च नास्तिकतादृष्ट्याऽरुचिरेव तत्र भवति। तस्य च मोक्षमार्गश्रवणेन रोमहर्षाश्रुपाताभ्यामनुष्ठिताङ्गयोगैकदेशत्वमनुमेयम्। विवेकदर्शिनस्तु स्वर्गनरकादिभिर्विचित्ररूपता चित्तस्यैव नतु सदैकरूपाचिन्मात्रस्य मम, अविद्यया हि अहं चित्तधर्मैः परामृष्टः, तदपगमे तु शुद्ध एवाहमिति जानतो नैवात्मभावभावनोच्चितेति भावः ॥ २५ ॥

मणिप्रभा।

इयता सूत्रजालेन जन्मादिसिद्धिं, चित्तेषु मोक्षयोग्यचित्तं निर्द्धार्य, कर्मवासनाप्रपञ्चपूर्वकं विज्ञानाभिन्नार्थसाधनेन परलोकादिप्रपञ्चं परलोकिनं च भोक्तारं निरधारयत्। अधुना कैवल्यं निरूपयितुं तद्योग्यमधिकारिणं दर्शयति—विशेषेति।

पूर्वसुकृतबलात्कस्यचित्पुरुषधौरेयस्यात्मभावे तत्त्वे भावना जिज्ञासा भवति क्वाहं कस्य कुतो वेति तस्याधिकारिणः पूर्वोक्तविवेकेन बुद्धेरन्यश्चिन्मात्रः पुरुषोऽहमिति विशेषदर्शिनः तत्त्वजिज्ञासा विनिवर्तते, इच्छायाः स्वविषयलाभनिवर्त्यत्वात्। यस्य तु नास्तिकस्य देहाद्बुद्धेर्वाऽन्यो भोक्ता नास्तीत्यनात्मन्यात्मभावनादार्ढ्यं सोऽनधिकारी, यस्तत्त्वजिज्ञासुः सोऽधिकारीति भावः ॥ २५ ॥

चन्द्रिका।

इदानीं कैवल्यं निर्णेतुं दशसूत्राणि—विशेषेति।

एवं सत्त्वपुरुषयोरन्यत्वे साधिते यस्तयोर्विशेषं पश्यति अहमस्मादन्य इत्येवंरूपं तस्य ज्ञाताचित्तस्वरूपस्य चित्ते याऽऽत्मत्वभावना सा निवर्तते चित्तमेव कर्तृ ज्ञातृ भोक्तृ इत्यभिमानो निवर्तते ॥ २५ ॥

योगसुधाकरः।

इत्थं प्रासङ्गिकं परिसमाप्य अधुना कैवल्यं निरूपयितुं तद्योग्यमधिकारिणं दर्शयति—विशेषेति।

पूर्वोक्तविवेकेन बुद्धेरन्याश्चिन्मात्रः पुरुषोऽहमिति विशेषदर्शिन आत्मभावे तत्त्वे भावना जिज्ञासा विनिवर्तते, ज्ञाते जिज्ञासायोगात्। यस्य पूर्वजन्मसुकृतपरिपाकेण तत्त्वजिज्ञासा जायते, सोऽधिकारीति भावः ॥ २५ ॥

भोजवृत्तिः।

तस्मिन्सति किं भवतीत्याह—

(१)तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

यदस्याज्ञाननिम्नपथं बहिर्मुखं विषयोपभोगफलं चित्तमासीत्तदिदानीं विवेकनिम्नमार्गमन्तर्मुखं(२) कैवल्यप्राग्भारं कैवल्यफलं कैवल्यप्रारम्भं वा संपद्यत(३)इति ॥ २६ ॥

---

(१) विशेषदर्शिनश्चित्तं कीदृशं भवतीत्यत आह तदेति। विवेकनिम्नं विवेकमार्गसञ्चारि। कैवल्यप्राग्भारमिति। कैवल्ये प्राग्भारो यस्य तत् कैवल्याभिमुखमिति यावत्।

(२) विवेकनिम्नं विवेकमार्गामिति पाठान्तरम्।

(३) कैवल्यमारम्भं सम्पद्यत इति पाठान्तरम्।

भावागणेशवृत्तिः ।

आद्यस्तु मोक्षो ज्ञानेनेति पञ्चशिखाचार्यैरपि ज्ञानोत्पत्तिमात्रेणैवैको मोक्ष उक्तः । तस्य विशेषदर्शनलक्षणस्य वक्ष्यमाणमुक्तेश्च कारणं संप्रज्ञातयोगमाह—तदेति ।

तदानीं विशेषदर्शनावस्थायामात्मभावभावनाविनिवृत्त्या विक्षेपशून्यं चित्तं कैवल्यप्राग्भारं कैवल्याभिमुखं सद्विवेकनिम्नं स्वभावादेव विवेकमार्गसंचारि विवेकनिष्ठं भवतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

तदवस्थायां कीदृशं चित्तं तदाह—तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् । तदानीं विशेषदर्शनावस्थायामात्मभावभावनाविनिवृत्त्या विक्षेपशून्यं चित्तं कैवल्यप्राग्भारं कैवल्याभिमुखं सत् विवेकनिम्नं स्वभावादेव विवेकनिम्नं विवेकमार्गसंचारि विवेकनिष्ठं भवतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

मणिप्रभा ।

ननु तत्त्वजिज्ञासोर्विशेषदर्शनानन्तरं कीदृशं चित्तमित्यत आह—तदेति ।

पूर्वं बुद्ध्यादावात्मभ्रमदशायां यच्चित्तं विषयनिम्नं संसारप्राग्भारमासीत् तदिदानीं निवृत्तभ्रमस्य योगिनश्चित्तं विवेकनिम्नं दृग्दृश्ययोर्भेदो विवेको निम्न आलम्बनभूमिर्यस्य तद्विवेकनिष्ठमिति यावद् अत एव कैवल्यं प्राग्भारोऽवधिर्यस्य तत्कैवल्यप्राग्भारं कैवल्यफलावसानं धर्ममेघाख्यध्यानरतं भवतीत्यर्थः २६॥

चन्द्रिका ।

तस्मिन् सति किं भवतीत्याह—तदेति ।

यदस्याज्ञाननिम्नं बहिर्मुखं विषयभोगफलं चित्तमासीत्तदिदानीं विवेकनिम्नं विवेकमार्गमन्तर्मुखं कैवल्यप्राग्भारं कैवल्यफलं कैवल्यप्रारम्भं वा सम्पद्यत इति ॥ २६ ॥

योगसुधाकरः ।

ननु तत्त्वजिज्ञासोर्विशेषदर्शनानन्तरं चित्तं कीदृशं भवतीत्यपेक्षायामाह—तदेति ।

पूर्वं बुद्ध्यादावात्मत्वभ्रमदशायां यच्चित्तं विषयनिम्नं संसारप्राग्भारमासीत्, तदिदानीं निवृत्तभ्रमस्य योगिनश्चित्तं विवेकनिम्नं द्रष्टृदृश्ययोर्विवेको निम्नमालम्बनभूमिर्यस्य तत्; विवेकनिष्ठमिति यावत् । अत एव कैवल्यं प्राग्भारोऽवधिर्यस्य तत्कैवल्यप्राग्भारं कैवल्यफलावसानं भवतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

भोजवृत्तिः ।

अस्मिंश्च विवेकवाहिनि चित्ते येऽन्तरायाः प्रादुर्भवन्ति तेषां हेतुप्रतिपादनद्वारेण त्यागोपायमाह—

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

तस्मिन्समाधौ स्थितस्य च्छिद्रेष्वन्तरालेषु यानि प्रत्ययान्तराणि व्युत्थानरूपाणि ज्ञानानि तानि प्राग्भूतेभ्यः(१) व्युत्थानानुभवजेभ्यः संस्कारेभ्योऽहं ममेत्येवंरूपाणि क्षीयमाणेभ्योऽपि प्रभवन्ति अन्तःकरणोच्छित्तिद्वारेण तेषां हानं कर्तव्यमित्युक्तं भवति ॥ २७ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु विशेषदर्शिनः संप्रज्ञातेन किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां सूत्रमिदं प्रवर्तते—तच्छिद्रेष्विति ।

कोमलकण्टकन्यायेन विशेषदर्शने जातेऽपि विशेषदर्शनावसरे प्रत्ययान्तराणि मिथ्याज्ञानरूपाणि जायन्ते । कुतः ? संस्कारेभ्यः । अनादिकालसंचितस्य दृढतरसंस्कारस्य चिरस्थायित्वात् ॥ २७ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

नन्वेवं विशेषदर्शिनः संप्रज्ञातेन न प्रयोजनमत आह—तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः । कोमलकण्टकन्यायेन विशेषदर्शने जातेऽपि तदवसरे तदन्तरालेषु अहंममेत्यादिप्रत्ययान्तराणि मिथ्याज्ञानरूपाणि जायन्ते क्षीयमाणेभ्योऽपि प्राग्भवीयसंस्कारेभ्यस्तदर्थं संप्रज्ञात आवश्यक इति भावः ॥ २७ ॥

---

(१) प्राक्तनेभ्य इति पाठान्तरम् ।

मणिप्रभा ।

नन्वीदृशस्य चित्तस्याहंममेतिव्युत्थानप्रत्ययाः कुतो भवन्तीत्यत आह—तच्छिद्रेष्विति ।

विवेकख्यातिरूपप्रसंख्यानपरस्याप्यहं क्षीयमाणेभ्यो व्युत्थानसंस्कारेभ्यः प्रसंख्यानच्छिद्रेष्वभिव्य-क्तेभ्यः प्रत्ययान्तराणि व्युत्थानरूपाणि भवन्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥

चन्द्रिका ।

अस्मिंश्च विवेकवाहिनि चित्ते येऽन्तरायाः प्रादुर्भवन्ति तेषां हेतुप्रतिपादनद्वारेण त्यागोपायमाह—तच्छिद्रेष्विति ।

तस्मिन् समाधौ स्थितस्य छिद्रेष्वन्तरालेषु यानि प्रत्ययान्तराणि व्युत्थानरूपाणि ज्ञानानि तानि प्राक्तनेभ्यो व्युत्थानानुभवजेभ्यः संस्कारेभ्योऽहं ममेत्येवंरूपाणि क्षीयमाणेभ्योऽपि प्रभवन्ति अतः कार-णोच्छित्तिद्वारेण तेषां हानं कर्तव्यमित्युक्तं भवति ॥ २७ ॥

योगसुधाकरः ।

यद्येवं तदास्य व्युत्थानप्रत्ययाः कुतो भवन्तीत्यत आह—तच्छिद्रेष्विति ।

विवेकख्यातिपरस्यानुक्षणं क्षीयमाणेभ्यो व्युत्थानसंस्कारेभ्यो विवेकख्यातिच्छिद्रेष्वभिव्यक्तेभ्यः प्रत्ययान्तराणि भवन्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥

भोजवृत्तिः ।

हानोपायश्च पूर्वमेवोक्त इत्याह—

(१)हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

यथा क्लेशानामविद्यादीनां हानं पूर्वमुक्तं तथा संस्काराणामपि कर्तव्यम् । यथा ते ज्ञानाग्निना प्लुष्टा दग्धबीजकल्पा न पुनश्चित्तभूमौ प्ररोहं लभन्ते तथा संस्कारा अपि ॥ २८ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

सति चित्ते तदुन्मूलनमशक्यं तत्राह—हानमिति ।

तेषां संस्काराणां हानं तु पूर्वाचार्यैः क्लेशानामिवोक्तम् । यथानागताः क्लेशाः ज्ञानाग्निना दह्यन्त एवं तेषामत्यन्तोच्छेदस्तच्चित्तेन सहैवेति ॥ २८ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

नन्वनादिकालसंचितस्य दृढतरसंस्कारस्य कथमुन्मूलनमत आह—हानमेषां क्लेशवदुक्तम् । यथा परिपक्वविज्ञाने दग्धबीजसदृशाः क्लेशा विवेकाच्छिद्रसमुत्पन्ना अपि न संस्कारान्तरं जनयन्ति तथा तेनैव दग्धबीजभावं प्रापिता व्युत्थानसंस्कारा न अन्तरान्तरा प्रत्ययं जनयन्ति । एवं विवेकसंस्कारा निरोधसंस्कारैर्निरोद्धव्याः । परवैराग्यलक्षणज्ञानसंस्कारास्तु चित्तेन सह लीयन्ते इति दिक् ॥ २८ ॥

मणिप्रभा ।

ननु सत्यपि प्रसंख्याने व्युत्थानसंस्काराः कार्यायोत्तिष्ठन्ति चेत्, कस्तेषां हानोपाय इत्यत आह—हानमिति ।

अविद्यारागादिक्लेशाः क्रियायोगतनूकृताः तत्तदवसरलब्धप्रसराः प्रसंख्यानदहनदग्धाः पुनश्चित्ते सं-स्कारं न प्रसुवते । एवं व्युत्थानसंस्कारा अपि विवेकख्यात्यपरिपाकदशायां प्रत्ययान्तराणि कुर्वाणाः परिपक्वप्रसंख्यानदहनदग्धात्मबीजभावा न प्रसवधर्माणो भवन्तीति क्लेशवदेषां हानमुक्तं वेदितव्य-मित्यर्थः ॥ २८ ॥

---

(१) ननु ज्ञाने जातेऽपि यदि पूर्वसंस्कारवशात् व्युत्थानसंस्काराः प्रत्ययान्तराणि प्रसुवते कथं तर्हि सम्प्रज्ञातप्रवाहेणापि अविद्यानिवृत्तिः स्यादतस्तद्धानोपायमाह हानमिति । यथा संस्काराणां हानं स्वकार्यासामर्थ्यं क्लेशानामिवोक्तं "ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः । ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः" इतिसूत्राभ्यां यथा स्थूलसूक्ष्मक्लेशाना दाहनाशौ प्रोक्तौ तथा तत्संस्काराणामपीति फलितार्थः ।

चन्द्रिका ।

हानोपायः पूर्वमेवोक्त इत्याह —**हानमिति** ।

यथा क्लेशानामविद्यादीनां हानं पूर्वमुक्तं तथा संस्काराणामपि कर्तव्यम् । यथा ते ज्ञानाग्निना स्पृष्टा दग्धबीजकल्पा न पुनश्चित्तभूमौ प्ररोहं लभन्ते तथा संस्कारा अपि ॥ २८ ॥

योगसुधाकरः ।

ननु कोऽयमेतेषां संस्काराणां हानोपाय इत्यत्राह—**हानमिति** ।

यथाविद्यादिक्लेशा विवेकख्यात्या दग्धाः पुनः संस्कारं न प्रसुवते, तथा व्युत्थानसंस्कारा अपि पुरुषख्यातिदग्धा अप्रसवधर्माणो भवन्तीत्यर्थः ॥ २८ ॥

भोजवृत्तिः ।

एवं प्रत्ययान्तरानुदयेन स्थिरीभूते समाधौ यादृशस्य योगिनः(१) समाधिप्रकर्षप्राप्तिर्भवति तथाविधमुपायमाह—

(२)प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः २९

प्रसंख्यानं यावतां तत्त्वानां यथाक्रमं व्यवस्थितानां परस्परविलक्षणस्वरूपविभावनं तस्मिन्सत्यप्यकुसीदस्य फलमलिप्सोः प्रत्ययान्तराणामनुदये(३) सर्वप्रकारविवेकख्यातेः परिशेषाद्धर्ममेघः समाधिर्भवति । प्रकृष्टमशुक्लकृष्णं धर्मं परमपुरुषार्थसाधकं मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघः । अनेन प्रकृष्टधर्मस्यैव ज्ञानहेतुत्वमित्युपपादितं भवति ॥ २९ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

संप्रज्ञातपरम्परयापि यथा प्रत्ययान्तराणि तच्छिद्रेषु नोत्पद्यन्ते तदाह द्वाभ्याम्—**प्रसंख्यान इति** ।

प्रसंख्यानं विवेकसाक्षात्कारस्तत्रापि योऽकुसीदो वार्धुषिकवत्सर्वभावाधिष्ठातृत्वादिरूपां सिद्धिं न प्रार्थयते तस्य योगविघ्नाभावेन सर्वथा निरन्तरं विवेकख्यात्युदयाद्धर्ममेघनाम्नी संप्रज्ञातस्य पराकाष्ठा भवतीत्यर्थः । उत्तमं योगजधर्मं मेहति वर्षतीति धर्ममेघः ॥ २९ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

व्युत्थाननिरोधोपायं विवेकज्ञानमुक्त्वा तन्निरोधोपायमाह—**प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः** । प्रसंख्यानं विवेकसाक्षात्कारस्तत्रापि योऽकुसीदः वार्धुषिकवत्सर्वभावाधिष्ठातृरूपां सिद्धिं न प्रार्थयते तदा तस्य योगविघ्नाभावेन सर्वथा निरन्तरविवेकख्यातेरेवोदयः संस्कारबीजक्षयाच्च न प्रत्ययान्तराणि तदा धर्ममेघनाम्नी सम्प्रज्ञातस्य पराकाष्ठा भवतीत्यर्थः । उत्तमं योगजधर्मं मेहति वर्षतीति धर्ममेघः ॥ २९ ॥

मणिप्रभा ।

एवं प्रसंख्यानेन व्युत्थानस्य निरोधमुक्त्वा प्रसंख्यानस्यापि निर्बीजयोगापेक्षया व्युत्थानरूपस्य निरोधोपायमाह—**प्रसंख्यान इति** ।

षड्विंशतितत्त्वान्यालोचयतः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिर्या जायते सर्वाधिष्ठातृत्वाद्यवान्तरफला तत् प्रसंख्यानम् , तत्राप्यकुसीदस्य कुत्सितेषु विषयेषु सीदतीति कुसीदो रागः तद्रहितस्य सर्वात्मना विवे-

---

(१) यादृशोऽस्य योगिन इति पाठान्तरम् ।

(२) तदेवं व्युत्थाननिरोधोपायं प्रसंख्यानमुक्त्वा प्रसंख्याननिरोधोपायमाह प्रसंख्यान इति । प्रसंख्यानात् न किञ्चित् सर्वभावाधिष्ठातृत्वादिकं प्रार्थयते प्रत्युत परिणामित्वदोषदर्शनेन तत्र विरक्तः तन्निरोधमिच्छन् धर्ममेघं समाधिमुपासीत तदुपासेन च सर्वथा विवेकख्यातिर्भवतीति तन्निरोद्धुं पारयतीति भावः ।

(३) अनुदयादिति पाठान्तरम् ।

ख्यातिरेव सन्ततिरूपो धर्ममेघसंज्ञः समाधिर्भवति। स च खल्वशुक्लकृष्णं धर्मं कैवल्यफलं मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघ इत्युच्यते। प्रसंख्याने वैराग्याद्धर्ममेघे सति परवैराग्योदयात्प्रसंख्यानस्य निरोधो भवतीति भावः ॥ २९ ॥

चन्द्रिका।

एवं प्रत्ययान्तरानुदयेन स्थिरीभूते समाधौ यादृशस्य योगिनः समाधिप्रकर्षप्राप्तिर्भवति तथाविधमुपायमाह—**प्रसंख्यान इति।**

प्रसंख्यानं यावतां तत्त्वानां यथाक्रमं व्यवस्थितानां परस्परविलक्षणस्वरूपपरिभावनं तस्मिन् सत्यकुसीदस्य फलमलिप्सोः प्रत्ययान्तराणामनुदये सर्वप्रकारविवेकख्यातेः परिशेषाद्धर्ममेघः समाधिर्भवति प्रकृष्टमशुक्लकृष्णं धर्मं परपुरुषार्थसाधकं मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघः। अनेन प्रकृष्टस्य धर्मस्यैव ज्ञानहेतुत्वमित्युपपादितं भवति ॥ २९ ॥

योगसुधाकरः।

अथ विवेकख्यातेरपि व्युत्थानरूपतया तन्निरोधोपायमुपदर्शयितुमाह—**प्रसंख्यान इति।**

विवेकख्यातिरेव विशोकरूपावान्तरफलोन्मुखी सती प्रसंख्यानमित्युच्यते। तत्रापि अकुसीदस्य, कुत्सितेषु विषयेषु सीदतीति कुसीदो रागः, तद्रहितस्य विरक्तस्य, अत एव सर्वथा सर्वात्मना विवेकख्यातेः योगिनः अशुक्लकृष्णं धर्मं कैवल्यफलं मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघाख्यः समाधिर्भवतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

भोजवृत्तिः।

तस्माद्धर्ममेघात्किं भवतीत्यत आह—

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

क्लेशानामविद्यादीनामभिनिवेशान्तानां कर्मणां च शुक्लादिभेदेन त्रिविधानां ज्ञानोदयात्पूर्वपूर्वकारणनिवृत्त्या निवृत्तिर्भवति ॥ ३० ॥

भावागणेशवृत्तिः।

ततः किमित्यत आह—**तत इति।**

ततो धर्ममेघसमाधेर्हेतोर्द्रष्टृद्वारा क्लेशकर्मणो निवृत्तिर्दाहो भवति। क्लेशकर्मणी कदापि नोत्पद्येते इत्यर्थः। क्लेशा अविद्यादयः पञ्च कर्म अदृष्टम्। एतत्सूत्रोक्तो ज्ञाननिष्पत्तिकार्यो द्वितीयो मोक्षः पञ्चशिखाचार्यैरप्युक्तः—'द्वितीयो रागसंक्षयादि'ति। रागः क्लेशसामान्योपलक्षकः ॥ ३० ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः।

तत्फलमाह—ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः। ततो धर्ममेघात्समाधेर्हेतोः क्लेशानामविद्यादीनां पञ्चानां कर्मणः अदृष्टस्य निवृत्तिर्दाहो भवति। क्लेशकर्मणी कदापि नोत्पद्येते इत्यर्थः। अस्यामवस्थायां जीवन्मुक्त उच्यते। कारणाभावेन पुनर्जन्मादर्शनादिति बोध्यम् ॥ ३० ॥

मणिप्रभा।

इमं क्रमं स्फुटयति **तत इति।**

ततो धर्ममेघात् क्लेशानां पञ्चानां सवासनानां तन्मूलानां कर्मणां च निवृत्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

चन्द्रिका।

तस्माद्धर्ममेघात् किं भवतीत्यत आह—**तत इति।**

क्लेशानामविद्यादीनामभिनिवेशान्तानां कर्मणां च शुक्लादिभेदेन त्रिविधानां ज्ञानोदयात् पूर्वपूर्वकारणनिवृत्त्या निवृत्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

योगसुधाकरः।

ततः किमित्यत आह—**तत इति।**

ततो धर्ममेघात्सवासनक्लेशमूलकर्मणो निवृत्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

भोजवृत्तिः ।

तेषु निवृत्तेषु किं भवतीत्यत आह—

तदा सर्वावरणमलापेतस्य(१) ज्ञानस्याऽऽनन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

आव्रियते चित्तमेभिरित्यावरणानि क्लेशास्त एव मलास्तेभ्योऽपेतस्य तद्विरहितस्य ज्ञानस्य शरद्गगननिभस्याऽऽनन्त्यादनवच्छेदात् ज्ञेयमल्पं गणनास्पदं न भवति(२) अक्लेशेनैव सर्वं ज्ञेयं जानातीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

उक्तस्य जीवन्मुक्तस्य तृतीयं परममोक्षमुपपत्त्या सहाह सूत्राभ्याम्—तदेति ।

तदा जीवन्मुक्तावस्थायां सर्वयोः क्लेशकर्मणोर्ज्ञानावरकमलयोरपगमनहेतुना ज्ञानस्य सत्त्वप्रकाशस्यानन्त्याद्विभुत्वाद्व्यापकत्वाज्ज्ञेयं तत्प्रकाश्यमल्पं तदपेक्षया भवति । यदि हि पञ्चविंशतितत्त्वातिरिक्तमन्यदपि वस्तु तिष्ठेत्तदा तदपि प्रकाशयेत । ज्ञेयस्यैव स्वल्पतयाऽल्पं प्रकाश्यते नतु स्वस्याल्पतयेत्यर्थः ३१॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

धर्ममेघे सति यादृशं चित्तं तदाह–**तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ।** आवरणं रजस्तमसी, मलाः क्लेशकर्माणि तैः सर्वप्रकारैरपेतस्य विमुक्तस्य ज्ञानस्य चित्तसत्त्वस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पं भवतीत्यर्थः । पूर्वं हि तमसाभिभूतं सत्त्वं क्वचिदेव रज उद्घाट्य प्रवर्तितं ग्रहणसमर्थं भवति । सर्वमलापगमे हि सर्वस्य युगपदशेषविशेषतो ज्ञातत्वात्सर्वतो विरक्तं चित्तं विवेकसाक्षात्कारेऽपि किंबहुनात्मसाक्षात्कारेऽपि विरक्तं भवतीति भावः । इदमेव ज्ञेयस्याल्पत्वं यद्वैराग्यविषयत्वं, तस्मिंश्च सर्वचित्तवृत्तिनिरोध इति तत्त्वम् । तदवस्थेनापि देहाद्यारम्भे इदमपि सत्यं स्यात्—अन्धो मणिमविध्यत् तमनङ्गुलिरग्रथत् । अग्रीवस्तं कण्ठे धृतवान् तमजिह्वोऽस्तौदिति ॥ ३१ ॥

मणिप्रभा ।

तदेति । आवृण्वन्ति चित्तमित्यावरणा रजस्तमोमयाः क्लेशकर्मरूपा मलाः सर्वे ते आवरणाश्च मलाश्च सर्वावरणमलाः तैर्धर्ममेघध्यानेनापेतस्य ज्ञानस्य शुद्धबुद्ध्यालोकस्यानन्त्याज्ज्ञेयं चेतनाचेतनात्मकं सर्वमल्पमेव भवति, यथा शरदि अशेषघनादिमलापेते नभसि सर्वतः प्रद्योतमानप्रचण्डमार्तण्डप्रकाशपटले घटादयः प्रकाश्या अल्पा भवन्ति तद्वदत्यन्तनिर्मलस्य बुद्धिसत्त्वस्य प्रकाशस्य किंनाम यन्न गोचर इति भावः । सेयं धर्ममेघस्य परा काष्ठा दर्शिता, अत एव धर्मानवाभियन्त इति व्युत्पत्त्या सर्वानेव ज्ञेयान्मेहति प्रकाशयत्यपि धर्ममेघ इत्याह, अयमेव हि धर्ममेघपरिपाको ज्ञानप्रसादः करतलीकृतामलकवत्पुरुषं निर्दोषमपरोक्षीकुर्वन्निर्मलजलान्तर्मत्स्यानिव जडाविशुद्धप्रकृतिविकारदृश्यविषयान्तर्गताशुद्धिविनाशादिदोषान् प्रकटयन् चित्ततपस्विनो निर्बीजयोगाख्यां निधिमापादयन् परवैराग्यमित्युच्यते ॥ ३१ ॥

चन्द्रिका ।

निवृत्तेषु किं भवतीत्यत आह—तदेति ।

आव्रियते चित्तमेभिरित्यावरणानि क्लेशास्तेभ्योऽपेतस्य तद्विरहितस्य ज्ञानस्य शरद्गगनप्रतिमस्यानन्त्यादनवच्छेदाज्ज्ञेयमल्पं गणनास्पदं भवति अक्लेशेनैव सर्वं जानातीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

योगसुधाकरः ।

तदा किं भवतीत्यत्राह—तदेति ।

---

(१) सर्वावरणापेतस्येति प्रथमद्वितीयपुस्तकयोः पाठः । धर्ममेघे सति चित्तं कीदृशं भवतीत्यत आह तदेति । तस्यामवस्थायां क्लेशकर्मणोर्ज्ञानावरकमलयोः अपगमेन ज्ञानस्य सत्त्वप्रकाशस्य आनन्त्यात् विभुत्वात् ज्ञेयं प्रकाश्यं तदपेक्षया अल्पं भवतीत्यर्थः ।

(२) गणनास्पदं भवतीति पाठान्तरम् ।

आवृण्वन्ति चित्तमित्यावरणा रजस्तमोमयाः क्लेशकर्मरूपा मलाः, सर्वे च ते आवरणमला तैर्धर्ममेघेणापेतस्य ज्ञानस्य विशुद्धबुद्ध्यालोकस्यानन्त्याज्ज्ञेयं सर्वं गगने खद्योतवदल्पमेव भवतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

भोजवृत्तिः ।

ततः किमित्यत आह—

ततः (१)कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

कृतो निष्पादितो भोगापवर्गलक्षणः पुरुषार्थः प्रयोजनं यैस्ते कृतार्था गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि तेषां परिणाम आ पुरुषार्थसमाप्तेरानुलोम्येन चाङ्गाङ्गिभावः स्थितिलक्षणस्तस्य योऽसौ क्रमो वक्ष्यमाणस्तस्य परिसमाप्तिर्निष्ठा न पुनरुद्भव इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ततः किमित्यत आह—तत इति ।

ततो ज्ञानस्यानन्त्यात्परवैराग्येण कृतार्थानां समाप्तपुरुषार्थानां गुणानां सत्त्वादीनां प्रकृत्याख्यानां परिणामक्रमः समाप्यते । पुरुषाणां भोगौपयिकः परिणामः पुनर्न भवतीत्यर्थः । क्रमश्चाविरला धारेत्युत्तरसूत्रे वक्ष्यते : अत्र सार्वज्ञ्यानन्तरं मुक्तिरिति राजमार्गाभिप्रायेणैवोक्तं नत्वयं नियमः । अनीश्वरस्यासर्वज्ञस्याप्यभिमाननिवृत्त्यैव कैवल्यस्य भाष्यकृता व्याख्यातत्वात् तृतीयपादान्त्यसूत्र इति ॥३२॥

नागोजीभट्टवृत्तिः ।

ततः किं तत्राह—**ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्** । ततः परवैराग्यानन्तरं कृतार्थानां समाप्ततत्पुरुषार्थानां गुणानां सत्त्वादीनां प्रकृत्याख्यानां तत्पुरुषं प्रति परिणामक्रमः समाप्यते । कृतार्थपुरुषभोगौपयिकः परिणामः पुनर्न भवतीत्यर्थः । क्रमश्चोत्तरसूत्रे वक्ष्यते । अत्र सार्वज्ञ्यानन्तरं मुक्तिरवश्यं भवत्येवेत्यभिप्रायेणोक्तं नत्वयं नियमः । अनीश्वरस्यासर्वज्ञस्यापि अभिमाननिवृत्त्यैव कैवल्यस्य भाष्यकृता तृतीयपादान्त्यसूत्रे उक्तत्वादिति दिक् ॥ ३२ ॥

मणिप्रभा ।

नन्विदं परवैराग्यं क्लेशान्समूलकाषं कषत् कुशलाकुशलांश्च कर्माशयान् समूलघातं निहन्तुमुत्सहताम्; तथाऽपि गुणानां स्वतः परिणामशीलत्वात् तादृशमपि पुरुषं प्रति देहेन्द्रियाणि परिणामक्रमोऽनुवर्ततामिति तत्राह—**तत इति ।**

ततो धर्ममेघफलीभूतपरवैराग्यात्मकानन्तज्ञानानन्तरं गुणानां भोगविवेकख्यातिरूपपुरुषार्थकरणात्प्राग् यः परिणामानां महदादिघटान्तानां सृष्टावानुलोम्येन, प्रलये घटः पृथिव्यां लीयते, पृथिव्यप्सु; आपस्तेजसीत्यादि प्रातिलोम्येन च क्रम आसीत् तस्य परिसमाप्तिरेव तं पुरुषं प्रति गुणानां पुरुषार्थत्वादनागताध्वा हि पुरुषार्थो गुणानां प्रवर्त्तकस्तस्मिन् कृते गुणा न क्षणमपि स्थातुमुत्सहन्त इति भावः ॥ ३२ ॥

चन्द्रिका ।

ततः किमित्यतआह—**कृतार्थानामिति ।**

कृतो निष्पादितो भोगापवर्गलक्षणः पुरुषार्थो यैस्ते कृतार्था गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि तेषां परिणामः आपुरुषार्थसमाप्तेरानुलोम्येन प्रातिलोम्येन चाऽङ्गाऽङ्गिभावस्थितिलक्षणस्तस्य योऽसौ क्रमो वक्ष्यमाणस्तस्य परिसमाप्तिर्निष्ठा न पुनरुद्भवतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

---

(१) ततः इति नास्ति क्वचित् पाठः । ननु गुणाः स्वत एव विकारकरणशीलाः कस्मात्तादृशमपि पुरुषं प्रति न देहादिकमारभन्त इत्यत आह कृतार्थानामिति । धर्ममेघोदयात् क्लेशकर्मनिवृत्त्या ज्ञानस्यानन्त्ये सति पुरुषार्थसमाप्त्या कृतार्थान् पुरुषान् प्रति गुणानां सत्त्वादीनां परिणामक्रमः समाप्यते कृतार्थपुरुषाणां भोगौपयिकः परिणामः पुनर्न भवतीत्यर्थः ।

योगसुधाकरः ।

ततः किमित्यत्राह—तत इति ।

ततो धर्ममेघफलीभूतपरवैराग्यात्मकानन्तज्ञानानन्तरं विवेकख्यातौ निरुद्धायाम् , कृतार्थानां कृतो निष्पादितोऽर्थो भोगापवर्गरूपः पुरुषार्थो यैस्ते तथोक्तास्तेषां सत्त्वादिगुणानां महदाद्यहंकारक्रमेण यः परिणामक्रमः तस्य समाप्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

भोजवृत्तिः ।

क्रमस्योक्तस्य लक्षणमाह—

(१)क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्त(२)निर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

क्षणोऽल्पीयान्कालस्तस्य योऽसौ प्रतियोगी क्षणविलक्षणः(३) परिणामापरान्तनिर्ग्राह्योऽनुभूतेषु क्षणेषु पश्चात्संकलनबुद्ध्यैव यो गृह्यते स क्षणानां क्रम उच्यते, न ह्यननुभूतेषु क्षणेषु क्रमः परिज्ञातुं शक्यः ॥ ३३ ॥

भावागणेशवृत्तिः ।

ननु परिणामसमाप्तिरिति वक्तव्ये क्रमशब्दः परिणामानां प्रतिक्षणमुत्पादविनाशकथनेन वैराग्योत्पादनाय प्रयुक्तः स चायमर्थः कथं क्रमशब्दाल्लभ्यते ? क्रमशब्दस्य पौर्वापर्यमात्रवाचित्वादित्याशयेन क्रमशब्दार्थमाह —क्षणेति ।

क्षणप्रतियोगी क्षणस्याप्यवसरस्य विरोधिक्षणेनाप्यनन्तरित इति यावत् । एवंरूपोऽयं क्रमो विवक्षितो न तु पौर्वापर्यमात्रमिति विशेष्यदलार्थः । परिणामश्च पूर्वधर्माप्यये धर्मान्तरोत्पत्तिरित्युक्तम् । ईदृशक्रमे प्रमाणान्तरं दर्शयति—परिणामापरान्तनिर्ग्राह्य इति । वस्त्रादिरूपस्य परिणामस्य पूर्वोन्तापेक्षयाऽपरान्तेन चरमावस्थयाऽनवच्छिन्नपरिणामधारानुमीयत इत्यर्थः । वस्त्रादेर्हि दृश्यमाना विनश्यदवस्थाऽवयवापचयादिपरम्परयैवानुभूयते । तस्मिंश्चापचयोपचयादिरूपपरिणामे कालविशेषहेतुताया दुर्वचत्वेन लाघवात् लक्षणत्वेनैव हेतुतावधार्यते । अतः सुवर्णाद्यखिलवस्तुष्वपि वस्त्रादिदृष्टान्तेन प्रतिक्षणमनवच्छिन्ना परिणामधारानुमीयत इत्यस्मिन्सूत्रे भाष्यकृता सृष्ट्यादिप्रवाहस्यात्यन्तोच्छेदो नास्तीति सिद्धान्तितम् । तथाच विष्णुपुराणमपि—

अनादिर्भगवान्कालो नान्तोऽस्य द्विज ! विद्यते ।
अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः ॥ इति ॥ ३३ ॥

नागोजीभट्टवृत्तिः

ननु परिणामसमाप्तिरिति वक्तव्ये क्रमशब्दः परिणामानां प्रतिक्षणमुत्पादविनाशकथनेन वैराग्योत्पादनाय प्रयुक्तः स चायमर्थः कथं क्रमशब्दाल्लभ्यते तस्य पौर्वापर्यमात्रवाचित्वादत आह—**क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः** । क्षणप्रतियोगी क्षणः प्रतियोगी प्रतिसम्बन्धी यस्य सः क्षणप्रचयाश्रयः स एवात्र क्रमो विवक्षितो न तु पौर्वापर्यमात्रमित्यर्थः । परिणामश्च पूर्वधर्मापाये धर्मा-

---

(१) ननु पूर्वसूत्रे परिणामसमाप्तिरिति वक्तव्ये क्रमशब्दः परिणामानां प्रतिक्षणमुत्पादविनाशकथनेन वैराग्योत्पादनाय प्रयुक्तः स चायमर्थः कथं क्रमशब्दार्थमाह क्षणेति । क्षणप्रतियोगी क्षणेनाप्यनन्तरितः क्रमशब्देन विवक्षितः । तथा च क्षणाव्यवहितपरिणामधारा पूर्वसूत्रस्थपरिणामक्रमशब्दार्थः । परिणामश्च पूर्वधर्मापाये धर्मान्तरोत्पत्तिः । अस्मिन् क्रमे प्रमाणप्रदर्शकं परिणामापरान्तनिर्ग्राह्य इति विशेषणम् । तथा हि नवस्य वस्त्रस्य सुयत्नरक्षितस्यापि चिरेण पुराणता दृश्यते सोऽयं परिणामस्य अपरान्तः पर्यवसानं तेन च पूर्वान्तापेक्षया वस्त्रस्य परिणामस्यापरान्तेन अनवच्छिन्नपरिणामधारा अनुमीयते वस्त्रस्यान्तकाले दृश्यमानायाः पुराणतायाः सूक्ष्मतमसूक्ष्मतरसूक्ष्मस्थूलादिरूपैः परिणामक्षणेषु अविरलः क्रमोऽनुमीयत इति भावः ।

(२) परिणामोऽपरान्तेति पाठान्तरम् । (३) प्रतियोग्येकलक्षणाविलक्षण इति पाठान्तरम् ।

न्तरोत्पत्तिः। ईदृशक्रमे प्रमाणमाह—परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः वस्त्रादिरूपपरिणामस्यापरान्तेन चरमावस्थयाऽनवच्छिन्नपरिणामधारानुमीयत इत्यर्थः। वस्त्रादेर्हि दृश्यमाना खिनश्यदवस्थाऽवयवापचयपरम्परयैवानुभूयते। वृक्षादेरुपचयोऽप्येवम्। तस्मिन्नोपचयापचयादिरूपे परिणामे कालविशेषहेतुताया दुर्वचत्वेन लाघवात्क्षणत्वेनैव हेतुतावधार्यते। अतः सुवर्णाद्यखिलवस्तुष्वपि वस्त्रादिदृष्टान्तेन प्रतिक्षणमनवाच्छिन्नां परिणामधाराऽनुमीयते। प्रधानकार्यगतः परिणामक्रम एव प्रधानस्यापि नतु स्वतस्तस्य सोऽस्ति। परिणममाणेऽपि तस्मिन् विघाताभावाच्च तस्य नित्यत्वम्। अत एव परिणामिनित्यं तत्। कूटस्थनित्यस्तु पुरुषस्तेषु बद्धेषु चित्ताव्यतिरेकाभिमानात्तत्परिणामे परिणामाध्यासः। मुक्तेषु तु न सोऽपि। अत्र भाष्यकृता सृष्ट्यादिप्रवाहस्यात्यन्तोच्छेदो नास्ति अनन्तत्वाज्जीवानामिति सिद्धान्तितम्। विष्णुपुराणेऽपि

अनादिर्भगवान्कालो नान्तोऽस्य द्विज ! विद्यते।
अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः॥ इति॥ ३३॥

मणिप्रभा।

क्रमशब्दार्थमाह—क्षणेति।

क्षणाः कलांशास्तेषु समाहितबुद्धिना क्रमो ज्ञेयः। तत्र क्षणप्रतियोगी क्रम इति स्वरूपनिर्देशः। क्षणौ प्रतियोगिनौ निरूपकौ यस्य स क्षणप्रतियोगी। एवं क्षणिकपरिणामक्रमो मन्तव्यः। तत्र प्रमाणमाह —परिणामापरान्तनिर्ग्राह्य इति। मृदि पिण्डघटकपालचूर्णकणानां प्रत्यक्षपरिणामानां पूर्वान्तः पिण्ड अपरान्तः कण, इति पूर्वोत्तरावधिग्रहणेन क्रमो निश्चित्य ग्राह्यो भवति, पिण्डानन्तरं घट इति क्रमोऽत्र प्रत्यक्षः। क्वचित्सुरक्षितवस्त्रादौ पुराणतादर्शनेन पूर्वान्तनवत्वपरिणाममारभ्य क्षणे क्षणे पुराणतायाः सूक्ष्मतमसूक्ष्मतरसूक्ष्मस्थूलतरस्थूलतमत्वेन जायमानाया भेदं ज्ञात्वा नवत्वानन्तरं सूक्ष्मतमपुराणता तदनन्तरं सूक्ष्मतरपुराणतेति क्रमोऽनुमेय इत्यर्थः। नन्वयं क्रमः किमनित्येष्वेवास्ति उत नित्येष्वपीति प्रश्नश्चेदस्ति नित्येष्वपीति वदामः। तत्र नित्या द्विविधाः। कूटस्थनित्याः पुरुषाः, परिणामिनित्या गुणाः। यस्मिन् धर्मिणि धर्मलक्षणावस्थाभिः परिणम्यमाने स्वरूपं न विहन्यते तत्परिणामिनित्यता। तत्रानित्येषु बुद्ध्यादिषु धर्मिषु रागादिपरिणामक्रमस्य पूर्वान्तभावेऽप्यपरान्तः पुरुषसाक्षात्कारोऽस्तीति क्रमः तेषु सावधिकः, गुणेषु परिणामिनित्येषु परिणामक्रमो निरवधिकः, मुक्तपुरुषाम्प्रत्युपरमेऽपि बद्धान्प्रत्यविच्छेदात्। न तु सर्वे पुरुषा मुच्यन्ते न वा। आद्ये, प्रधाने परिणामः सावधिकः। द्वितीये, तच्छूज्ञानाविश्रम्भ इति। तत्राहुः साङ्ख्याचार्याः। अस्ति त्रिविधः प्रश्नः। एकान्तवचनीयः, विभज्यवचनीयः, अवचनीयश्चेति। तत्राद्यो यथा। किमयं सर्वजातो मरिष्यतीति प्रश्नः, स एकान्तेन वक्तव्यः मरिष्यत्येवेति। त्वया कृतस्तु द्वितीयः, स विभज्य वक्तव्यः, यस्य तत्त्वख्यातिः स मुच्यते नान्य इति। एवं च जन्तूनामानन्त्यात्पुराणादौ सर्गप्रलयानन्त्यश्रवणाच्च न सर्वमुक्तिः। तृतीयस्तु प्रधानपरिणामक्रमः समाप्यते नवेति प्रश्नः। अयमुत्तरानर्हः, अशक्यावधारणत्वात्। यद्वा, कुशलस्यान्तवान्संसारक्रमः अकुशलस्य नेति व्याकरणीयोऽयं प्रश्न इति। तस्मात्सदा परिणामिषु नित्येषु गुणेषु क्रमवत्परिणामभेदादस्ति क्रमः, कूटस्थनित्येषु पुरुषेषु बुद्ध्यादिपरिणामाभेदारोपात्कल्पितः क्रमो न वास्तव इति सर्वमवदातम्॥ ३३॥

चन्द्रिका।

क्रमस्योक्तस्य लक्षणमाह क्षणेति। क्षणोऽल्पीयान् कालस्तस्य योऽसौ प्रतियोगी एकक्षणविलक्षणः परिणामोऽपरान्तनिर्ग्राह्यः अनुभूतेषु क्षणेषु पश्चात् सङ्कलनाबुद्ध्यैव यो गृह्यते स क्षणानां क्रम उच्यते। न ह्यननुभूतेषु क्षणेषु क्रमः परिज्ञातुं शक्यः॥ ३३॥

योगसुधाकरः।

कोऽसौ क्रम इत्यपेक्षायामाह—क्षणेति।

क्षणप्रतियोगी क्रम इति स्वरूपनिर्देशः । क्षणौ प्रतियोगिनौ निरूपकौ यस्य स क्षणप्रतियोगी । एवं क्षणिकपरिणामक्रमो मन्तव्यः । तत्र प्रमाणं परिणामापरान्तनिर्ग्राह्य इति । मृदि पिण्डघटकपालचूर्णकणानां प्रत्यक्षपरिणामानां पूर्वान्तः पिण्डः अपरान्तः कण इति पूर्वोत्तरावधिग्रहणेन क्रमो निष्कृष्य ग्राह्यो भवतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

भोजवृत्तिः ।

इदानीं फलभूतस्य कैवल्यस्यासाधारणं स्वरूपमाह—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां(१) प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा(२)चितिशक्तेरिति(३) ॥ ३४ ॥

समाप्तभोगापवर्गलक्षणपुरुषार्थानां गुणानां यः प्रतिप्रसवः प्रतिलोमस्य परिणामस्य समाप्तौ विकारानुद्भवः, यदि वा चितिशक्तेः(४) वृत्तिसारूप्यनिवृत्तौ स्वरूपमात्रेऽवस्थानं तत्कैवल्यमुच्यते। न केवलमस्मद्दर्शने क्षेत्रज्ञः कैवल्यावस्थायामेवंविधश्चिद्रूपो यावद्दर्शनान्तरेष्वपि विमृष्यमाण एवंरूपोऽवतिष्ठते। तथाहि—संसारदशायामात्मा कर्तृत्वभोक्तृत्वानुसन्धातृत्वमयः प्रतीयतेऽन्यथा यद्ययमेकः क्षेत्रज्ञस्तथाविधो न स्यात्तदा ज्ञानक्षणानामेव पूर्वापरानुसंधातृशून्यानामात्मभावे नियतः कर्मफलसम्बन्धो न स्यात्कृतहाना(५)कृताभ्यागमप्रसङ्गश्च । यदि येनैव शास्त्रोपदिष्टमनुष्ठितं कर्म तस्यैव भोक्तृत्वं भवेत्तदा हिताहितप्राप्तिपरिहाराय सर्वस्य प्रवृत्तिर्घटेत सर्वस्यैव व्यवहारस्य हानोपादानलक्षणस्यानुसन्धानेनैव व्याप्तत्वाज्ज्ञानक्षणानां परस्परभेदेनानुसन्धानशून्यत्वात्तदनुसन्धानाभावे कस्यचिदपि व्यवहारस्यानुपपत्तेः कर्ता भोक्ताऽनुसन्धाता यः स आत्मेति व्यवस्थाप्यते । मोक्षदशायां तु सकलग्राह्यग्राहकलक्षणव्यवहाराभावाच्चैतन्यमात्रमेव तस्यावशिष्यते । तच्चैतन्यं चितिमात्ररूपेणैवोपपद्यते न पुनरात्मसंवेदनेन; यस्माद्विषयग्रहणसमर्थत्वमेव(६) चिते रूपं नाऽऽत्मग्राहकत्वम् । तथाहि—अर्थाश्रित्या गृह्यमाणोऽयमिति गृह्यते स्वरूपं गृह्यमाणमहमिति न पुनर्युगपद्बहिर्मुखतान्तर्मुखतालक्षणव्यापारद्वयं परस्परविरुद्धं कर्तुं शक्यम्, अत एकस्मिन्समये व्यापारद्वयस्य कर्तुमशक्यत्वाच्चिद्रूपतैवावशिष्यते (७); अतो मोक्षावस्थायां निवृत्ताधिकारेषु गुणेषु चिन्मात्ररूप एवाऽऽत्माऽवतिष्ठत इत्येवं युक्तम् । संसारदशायां त्वेवंभूतस्यैव कर्तृत्वं भोक्तृत्वमनुसंधातृत्वं च सर्वमुपपद्यते । तथाहि—योऽयं प्रकृत्या सहानादिर्नैसर्गिकोऽस्य भोग्यभोक्तृत्वलक्षणः संबन्धोऽविवेकख्यातिमूलस्तस्मिन्सति पुरुषार्थकर्तव्यतारूपशक्तिद्वयसद्भावे या महदादिभावेन परिणतिस्तस्यां संयोगे सति यदात्मनोऽधिष्ठातृत्वं चिच्छायासमर्पणसामर्थ्यं बुद्धिसत्त्वस्य च संक्रान्तचिच्छायाग्रहणसामर्थ्यं चिदवष्टम्भायाश्च बुद्धेर्योऽयं कर्तृत्वभोक्तृत्वाध्यवसायस्तत एव सर्वस्यानुसंधानपूर्वकस्य व्यवहारस्य निष्पत्तेः किमन्यैः फल्गुभिः कल्पनाजल्पैः (८)। यदि पुनरेवंभूतमार्गव्यतिरेकेण पारमार्थिकमात्मनः कर्तृत्वाद्यङ्गीक्रियेत तदाऽस्य परिणामित्वप्रसङ्गः । परिणामित्वाच्चानित्यत्वे तस्याऽऽत्मत्वमेव न स्यात्, न ह्येकस्मिन्नेव समये एकेनैव रूपेण परस्परविरुद्धावस्थानुभवः संभवति । तथा हि—यस्यामवस्थायामात्मसमवेते सुखे समुत्पन्ने तस्यानुभवितृत्वं

---

(१) गुणानामिति नास्ति प्रथमद्वितीयपुस्तकयोः । (२) चितिशक्तिरिति पाठान्तरम् ।

(३) इतिशब्दः शास्त्रसमाप्तौ । कृतकर्तव्यतया पुरुषार्थशून्यानां गुणानां यः प्रतिप्रसवः स्वकारणे अत्यन्तविलयः तेषां कार्यकारणात्मकानां व्युत्थानसमाधिनिरोधसंस्कारा मनसि लीयन्ते मनोऽस्मितायामस्मिता लिङ्गे लिङ्गमलिङ्गे इति योऽयं प्रतिसर्गः तत् कैवल्यम् । या तु चितिशक्तिः स्वरूपप्रतिष्ठा बुद्धिसत्त्वोपाधिकरूपशून्यतारूपा जपापाये स्फटिकस्य स्वरूपप्रतिष्ठावत् सा पुरुषस्य कैवल्यम् ।

(४) क्षणेषु यदि वा चिच्छक्तेरिति पाठान्तरम् ।

(५) कृतनाशेति पाठान्तरम् । (६) समर्थनमेवेति पाठान्तरम् ।

(७) चिद्रूपतयैवेति पाठान्तरम् । (८) कल्पनाजातैः, कल्पनाजालैरिति च पाठान्तरम् ।

न तस्यामेवावस्थायां दुःखानुभवितृत्वम्, अतोऽवस्थानां नानात्वात्(१) तदभिन्नस्यावस्थावतोऽपि नानात्वं नानात्वेन च परिणामित्वान्नाऽऽत्मत्वम् । नापि नित्यत्वम्, अत एव शान्तब्रह्मवादिभिः सांख्यैरात्मनः सदैव संसारदशायां मोक्षदशायां चैकरूपत्वमङ्गीक्रियते ।

ये तु वेदान्तवादिनश्चिदानन्दमयत्वमात्मनो मोक्षे मन्यन्ते तेषां युक्तः पक्षः : तथाहि—आनन्दस्य सुखरूपत्वात्सुखस्य च सदैव संवेद्यमानतयैव प्रतिभासात्संवेद्यमानत्वं च संवेदनव्यतिरेकेणानुपपन्नमिति संवेद्यसंवेदनयोरभ्युपगमादद्वैतहानिः । अथ सुखात्मकत्वमेव तस्योच्येत, तद्विरुद्धधर्माध्यासादनुपपन्नम्, न हि संवेदनं संवेद्यं चैकं भवितुमर्हति । किञ्चाद्वैतवादिभिः कर्मात्मपरमात्मभेदेनाऽऽत्मा द्विविधः स्वीकृतः, इत्थं च तत्र (२) येनैव रूपेण सुखदुःखभोक्तृत्वं कर्मात्मनस्तेनैव रूपेण यदि परमात्मनः स्यात्तदा कर्मात्मवत्परमात्मनः परिणामित्वमविद्यास्वभावत्वं च स्यात् । अथ न तस्य साक्षाद्भोक्तृत्वं किंतु तदुपढौकितमुदासीनतयाऽधिष्ठातृत्वेन स्वीकरोति, तदाऽस्मद्दर्शनानुप्रवेशः, आनन्दरूपता च पूर्वमेव निराकृता । किं चाविद्यास्वभावत्वे निःस्वभावत्वात्कर्मात्मनः कः शास्त्राधिकारी ? न तावन्नित्यनिर्मुक्तत्वात्परमात्मा, नापि अविद्यास्वभावत्वात्कर्मात्मा, ततश्च सकलशास्त्रवैयर्थ्यप्रसङ्गः । अविद्यामयत्वे च जगतोऽङ्गीक्रियमाणे कस्याविद्येति विचार्यते, न तावत्परमात्मनो नित्यमुक्तत्वाद्विद्यारूपत्वाच्च, कर्मात्मनोऽपि परमार्थतो निःस्वभावतया (३) शशविषाणप्रख्यत्वे कथमविद्यासंबन्धः ? अथोच्यते—एतदेवाविद्याया अविद्यात्वं यदविचाररमणीयत्वं नाम, यैव हि विचारेण दिनकरस्पृष्टनीहारवद्विलयमुपयाति साऽविद्येत्युच्यते । मैवम् (४), यद्वस्तु किंचित्कार्यं करोति तदवश्यं कुतश्चिद्भिन्नमभिन्नं वा वक्तव्यम्, अविद्यायाश्च संसारलक्षणकार्यकर्तृत्वम् (५) अवश्यमङ्गीकर्तव्यम्, तस्मिन्सत्यपि यद्यनिर्वाच्यत्वमुच्यते तदा कस्यचिदपि वाच्यत्वं न स्यात्, ब्रह्मणोऽप्यवाच्यत्वप्रसक्तिः; तस्मादधिष्ठातृतारूपव्यतिरेकेण नान्यदात्मनो रूपमुपपद्यते । अधिष्ठातृत्वं च चिद्रूपमेव तद्व्यतिरिक्तस्य धर्मस्य कस्यचित्प्रमाणानुपपत्तेः (६) ।

यैरपि नैयायिकादिभिरात्मा चेतनायोगाच्चेतन इत्युच्यते; (७), चेतनाऽपि तस्य मनःसंयोगजा । तथा हि—इच्छाज्ञानप्रयत्नादयो गुणास्तस्य व्यवहारदशायामात्ममनःसंयोगादुत्पद्यन्ते, तैरेव च गुणैः स्वयं ज्ञाता कर्ता भोक्तेति व्यपदिश्यते, मोक्षदशायां तु मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ तन्मूलानां दोषाणामपि निवृत्तेस्तेषां बुद्ध्यादीनां विशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तेः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठत्वमात्मनोऽङ्गीकृतम्, तेषामयुक्तः पक्षः, यतस्तस्यां दशायां नित्यत्वव्यापकत्वादयो गुणा आकाशादीनामपि सन्ति, अतस्तद्वैलक्षण्येनाऽऽत्मनश्चिद्रूपत्वमवश्यमङ्गीकार्यम् । आत्मत्वलक्षणजातियोग इति चेत् । न । सर्वस्यैव हि तज्जातियोगः संभवति, अतो जातिभ्यो वैलक्षण्यमात्मनोऽवश्यमङ्गीकर्तव्यम्, तच्चाधिष्ठातृत्वं, तच्च चिद्रूपतयैव(८) घटते नान्यथा ।

यैरपि मीमांसकैः कर्मकर्तृरूप आत्माऽङ्गीक्रियते तेषामपि न युक्तः पक्षः । तथा हि- अहंप्रत्ययग्राह्य आत्मेति तेषां प्रतिज्ञा अहंप्रत्यये च कर्तृत्वं कर्मत्वं चात्मन एव, न चैतद्विरुद्धत्वादुपपद्यते, कर्तृत्वं प्रमातृत्वं कर्मत्वं च च प्रमेयत्वम्, न चैतद्विरुद्धधर्माध्यासो युगपदेकस्य घटते (९) । यद्विरुद्धधर्माध्यस्तं न तदेकं, यथा भावाभावौ, विरुद्धे च कर्तृत्वकर्मत्वे । अथोच्यते—न कर्तृत्वकर्मत्वयोर्विरोधः किंतु कर्तृत्वकरणत्वयोः इति । केनैतदुक्तं विरुद्धधर्माध्यासस्य तुल्यत्वात्कर्तृत्वकरणत्वयोरेव

(१) अवस्थानानात्वात्, अवस्थायां नानात्वादिति च पा० ।
(२) द्विविध इष्यते । तत्रेति पाठान्तरम् । (३) त्मनोऽपि निःस्वभावतयेति पाठान्तरम् ।
(४) नैवमिति पाठान्तरम् । (५) लक्षणप्रपञ्चकार्यकर्तृत्वमिति पाठान्तरम् ।
(६) धर्माधर्मविज्ञानानुपपत्तेरिति पाठान्तरम् । (७) चेतनयाऽन्वित इष्यते इति पाठान्तरम् ।
(८) तस्याधिष्ठातृत्वं चिद्रूपतयैवेति पाठान्तरम् । (९) ध्यासादेकस्य घटत इति पाठान्तरम् ।

विरोधो न कर्तृत्वकर्मत्वयोः इति; तस्माद्दहंप्रत्ययग्राह्यत्वं परिहृत्याऽऽत्मनोऽधिष्ठातृत्वमेवोपपन्नम्, तच्च चेतनत्वमेव ।

यैरपि द्रव्यबोधपर्यायभेदेनाऽऽत्मनोऽव्यापकस्य शरीरपरिमाणस्य परिणामित्वमिष्यते तेषामुत्थानपराहत एव पक्षः । परिणामित्वे चिद्रूपताहानिश्चिद्रूपताभावे (१) किमात्मन आत्मत्वम्; तस्मादात्मन आत्मत्वमिच्छता चिद्रूपत्वमेवाङ्गीकर्तव्यम्, तच्चाधिष्ठातृत्वमेव ।

केचित्कर्तृरूपमेवाऽऽत्मानमिच्छन्ति । तथा हि—विषयसांनिध्ये या ज्ञानलक्षणा क्रिया समुत्पन्ना तस्या विषयसंवित्तिः फलं, तस्यां च फलरूपायां संवित्तौ स्वरूपं प्रकाशरूपतया प्रतिभासते, विषयश्च ग्राह्यतया, आत्मा च ग्राहकतया, घटमहं जानामीत्याकारेण (२) तस्याः समुत्पत्तेः, क्रियायाश्च कारणं कर्तैव भवतीत्यतः कर्तृत्वं भोक्तृत्वं चाऽऽत्मनो रूपमिति । तदनुपपन्नम्, यस्मात्तासां संवित्तीनां स किं कर्तृत्वं युगपत्प्रतिपद्यते क्रमेण वा ? युगपत्कर्तृत्वे क्षणान्तरे तस्य कर्तृत्वं न स्यात् । अथ क्रमेण कर्तृत्वं तदेकरूपस्य न घटते, एकेन रूपेण चेत्तस्य कर्तृत्वं तदेकस्य रूपस्य सदैव संनिहितत्वात्सर्वं फलमेकरूपं स्यात् । अथ नानारूपतया तस्य कर्तृत्वं तदा परिणामित्वं, परिणामित्वाच्च न चिद्रूपत्वम्, अतश्चिद्रूपत्वमेवाऽऽत्मन इच्छद्भिर्न साक्षात्कर्तृत्वमङ्गीकर्तव्यम् । यादृशमस्माभिः कर्तृत्वमात्मनः प्रतिपादितं कूटस्थस्य नित्यस्य चिद्रूपस्य तदेवोपपन्नम् ।

एतेन स्वप्रकाशस्याऽऽत्मनो विषयसंवित्तिद्वारेण ग्राहकत्वमभिव्यज्यत इति ये वदन्ति तेऽपि अनेनैव निराकृताः (३) ।

केचिद्विमर्शात्मिकत्वेनाऽऽत्मनश्चिन्मयत्वमिच्छन्ति, तेह्याहुर्न(४) विमर्शव्यतिरेकेण चिद्रूपत्वमात्मनो निरूपयितुं शक्यम्, जडाद्वैलक्षण्यमेव(५) चिद्रूपत्वमुच्यते, तच्च विमर्शव्यतिरेकेण निरूप्यमाणं नान्यथाऽवतिष्ठते । तदनुपपन्नम्, इदमित्थमेवंरूपमिति यो विचारः स विमर्श इत्युच्यते; स चास्मिताव्यतिरेकेण नोत्थानमेव लभते । तथाहि—आत्मन्युपजायमानो विमर्शोऽहमेवंभूत इत्यनेनाऽऽकारेण संवेद्यते; ततश्चाहंशब्दसंभिन्नस्याऽऽत्मलक्षणस्यार्थस्य तत्र स्फुरणान्न विकल्परूपतातिक्रमः, विकल्पश्चाध्यवसायात्मा बुद्धिधर्मो न चिद्धर्मः । कूटस्थनित्यत्वेन चितेः सदैकरूपत्वान्नाहंकारानुप्रवेशः, तदनेन सविमर्शत्वमात्मनः प्रतिपादयता बुद्धिरेवाऽऽत्मत्वेन भ्रान्त्या प्रतिपादिता न प्रकाशात्मनः परस्य पुरुषस्य स्वरूपमवगतमिति ।

इत्थं सर्वेष्वपि दर्शनेष्वधिष्ठातृत्वं विहाय नान्यदात्मनो रूपमुपपद्यते । अधिष्ठातृत्वं च चिद्रूपत्वम्, तच्च जडाद्वैलक्षण्यमेव, चिद्रूपतया यदधितिष्ठति तदेव भोग्यतां नयति, यच्च चेतनाधिष्ठितं तदेव सकलव्यापारयोग्यं भवति ; एवं च सति कृतकृत्यत्वात्(६) प्रधानस्य व्यापारनिवृत्तौ यदात्मनः कैवल्यमस्माभिरुक्तं तद्विहाय दर्शनान्तराणामपि नान्या गतिः; तस्मादिदमेव युक्तमुक्तं वृत्तिसारूप्यपरिहारेण स्वरूपे प्रतिष्ठा चितिशक्तेः कैवल्यम् ।

तदेवं सिद्धान्तरेभ्यो विलक्षणां सर्वसिद्धिमूलभूतां समाधिसिद्धिमभिधाय जात्यन्तरपरिणामलक्षणस्य च सिद्धिविशेषस्य प्रकृत्यापूरणमेव कारणमित्युपपाद्य धर्मादीनां प्रतिबन्धकनिवृत्तिमात्र एव सामर्थ्यमिति प्रदर्श्य निर्माणचित्तानामस्मितामात्रादुद्भव इत्युक्त्वा तेषां च योगिचित्तमेवाधिष्ठापकमिति प्रदर्श्य योगिचित्तस्य चित्तान्तरवैलक्षण्यमभिधाय तत्कर्मणामलौकिकत्वं चोपपाद्य विपाकानुगुणानां च वासनानामभिव्यक्तिसामर्थ्यं कार्यकारणयोश्चैक्यप्रतिपादनेन व्यवहितानामपि वासनानामानन्तर्यमुपपा-

---

(१) हानिश्चिद्रूपत्वाभावे इति पाठान्तरम् । (२) मीत्यनेन प्रकारेणेति पाठान्तरम् ।

(३) तेऽपि निराकृता इति पाठान्तरम् ।

(४) तथाहि नेति पाठान्तरम् । (५) जडात्किल वैलक्षण्यमेवेति पाठान्तरम् ।

(६) सति नित्यत्वादिति पाठान्तरम् ।

च तासामानन्त्येऽपि हेतुफलादिद्वारेण हानमुपदर्श्यातीतादिष्वध्वसु धर्माणां सद्भावमुपपाद्य विज्ञानवादं निराकृत्य साकारवादं च प्रतिष्ठाप्य पुरुषस्य ज्ञातृत्वमुक्त्वा चित्तद्वारेण सकलव्यवहारनिष्पत्तिमुपपाद्य पुरुषसत्त्वे(१) प्रमाणमुपदर्श्य कैवल्यानिर्णयाय(२) दशभिः सूत्रैः क्रमेणोपयोगिनोऽर्थानभिधाय शास्त्रान्तरेऽप्येतदेव कैवल्यमित्युपपाद्य । कैवल्यस्वरूपं निर्णीतमिति व्याकृतः कैवल्यपादः ॥ ३४ ॥

सर्वे यस्य वशाः प्रतापवसतेः पादान्तसेवानतिप्रभ्रश्यन्मुकुटेषु मूर्धसु दधत्याज्ञां धरित्रीभृतः ।
यद्वक्त्राम्बुजमाप्य गर्वमसमं वाग्देवताऽपि श्रिता(३) स श्रीभोजपतिः फणाधिपतिकृत्सूत्रेषु वृत्तिं व्यधात् ॥ २ ॥

इति श्रीधारेश्वरभोजदेवविरचितायां राजमार्तण्डाभिधानायां पातञ्जलयोगसूत्रवृत्तौ कैवल्याख्यश्चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

कैवल्यस्वरूपमाह—पुरुषार्थेति ।

कृतकर्तव्यतया पुरुषार्थशून्यानां गुणानां पुरुषोपकरणानां लिङ्गशरीरात्मकानां यः प्रतिप्रसवः स्वकारणेऽत्यन्तविलयः स प्रकृतेः कैवल्यम् । या तु धर्मभेदाच्चितिशक्तिस्वरूपिणी स्वरूपप्रतिष्ठा बुद्धिसत्त्वोपाधिकरूपशून्यत्वरूपा जपापाये स्फटिकस्वरूपप्रतिष्ठावत्, सा पुरुषस्य कैवल्यमित्यर्थः । परस्परवियोगे हि प्रकृतिपुरुषयोरपि केवलता एकाकिता भवति । इतिशब्दः शास्त्रसमाप्तौ ॥ ३४ ॥

वृत्तिदीपोऽयमुद्भास्यवृत्त्यन्तरतमोपहः ।
यथार्थयोगसूत्रार्थदृष्टयेऽस्तु सदा सताम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकविज्ञानाचार्यशिष्याग्र्यभावागणेशभट्टकृतायां पातञ्जलवृत्तौ कैवल्यपादश्चतुर्थः समाप्तः ।

कैवल्यस्वरूपमाह—पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति । अत्र गुणशब्देन बुद्धिरूपतया परिणताः सत्त्वादय उक्ताः । कैवल्यमेकाकिता । सत्वान्योन्यमविभक्तानामन्योन्यवियोगरूपतया गुणपुरुषयोरेव भवति । तत्र विवेकख्यात्या परवैराग्येण पुरुषार्थशून्यानां गुणानां पुरुषोपकरणवासनासहितानामात्यन्तिकः प्रतिप्रसवः प्रधाने लयस्तस्मात्पुरुषादत्यन्तवियोगस्तदेतद्यत्किञ्चित्पुरुषं प्रति प्रधानस्य कैवल्यम् । पुरुषस्य तु स्वरूपप्रतिष्ठा, सदा प्रतिबिम्बरूपेणोपाधिना वियुक्ता चितिशक्तिरूपा तत्कैवल्यमित्यर्थः । वाशब्दो व्यवस्थितविकल्पे । एवं हि पुरुषस्यात्यन्तिकदुःखभोगनिवृत्तिरूपपरमपुरुषार्थपर्यवसानं भवति । ये तु 'परमात्मनि जीवात्मलयो मोक्ष' इति वदन्ति, तन्मतेऽपि समुद्रे नदीनामिव ब्रह्मणि जीवानामुपाधिलयेनाविभाग एव लयशब्दार्थ इति न विरोधः । येऽप्यात्मनि अशेषविशेषगुणोच्छेदो मोक्ष इति वदन्ति वैशेषिकाः, तदपि नास्माकं विरुद्धम्, उपाधिविशेषगुणानामेवोपाधिमत्युपचारेण तदुच्छेदस्याप्युपचारात् । आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिर्मोक्ष इति नैयायिकाः । तत्र भोग्यभोक्तृभावसम्बन्धेन दुःखनिवृत्तिः पुरुषार्थो न समवायेनेत्यतावान्विशेषः । वस्तुतो वैशेषिकमतवदेव तेनाविरोधः । यदपि नित्यानन्दावाप्तिर्मोक्ष इति, तदपि निर्दुःखतारूपानन्दावाप्तिपरत्वे न किंचिद्विरुद्धम् । 'विद्वान्हर्षशोकौ जहाती'त्यादि तु वैषयिकहर्षपरम् । यत्तु वास्तवमात्मनः कर्तृत्वं भोक्तृत्वमनुसन्धातृत्वं मन्यन्ते तेषां तद्रूपेण परिणामित्वापत्त्याऽनित्यत्व-

---

(१) पुरुषसिद्धाविति पाठान्तरम् । (२) निर्वाणायेति पाठान्तरम् ।
(३) वाग्देवता संश्रिता इति पाठान्तरम् ।

प्रसङ्गः । यदवस्थस्य सुखानुभवितृत्वं न तदवस्थस्य दुःखानुभवितृत्वम् । अवस्थाभेदाङ्गीकारे चावस्थावतोऽपि नानात्वापत्त्या नानात्वैकत्वभङ्ग । तस्माद्बुद्धियोगे यदात्मनोऽधिष्ठातृत्वं चिच्छायाग्रहणसामर्थ्यं बुद्धिसत्त्वस्य तद्ग्रहणसामर्थ्यं तेन बुद्धेर्यः कर्तृत्वाध्यवसायस्तेनैवाऽत्मनोऽपि तथाभासो न वास्तवं कर्तृत्वादीत्यास्थेयम् । मोक्षदशायां तु ग्राहकलक्षणव्यवहाराभावात्स्वरूपेणैवावतिष्ठते नात्मग्राहकत्वेन । स्वरूपे ह्यहमिति गृह्येत । नतु तदा तथा ग्रहीतु शक्यम् , अहंताया अभावात् । निर्विकल्पकं तु स्वरूपप्रतिष्ठापर्यवसाय्येवेति दिक् । ननु ज्ञानस्वरूप एव तवात्मज्ञानं स्वसंवेद्यमेवेति नियमभङ्ग इति चेन्न । वृत्तिरूपज्ञानविषय एवैतादृशनियमात् । यदपि नैयायिकाः जडे आत्मनि मनःसंयोगादिना ज्ञानोत्पत्तिमङ्गीकुर्वन्ति तेषां विरोधसमाधौ इतरव्यावृत्तं किमात्मत्वम् । नित्यत्वव्यापकत्वजातिमत्त्वानामाकाशमनआदिवृत्तित्वेन तद्व्यावर्तकत्वाभावात् । तस्मात्तदा जडेभ्यो व्यावृत्तये चिद्रूपताऽवश्यं स्वीकार्या । येऽप्यहंप्रत्यये आत्मनः कर्तृत्वं कर्मत्वं च वदन्ति, तेऽपि कर्तृत्वकरणत्वयोरिव कर्मकर्तृत्वयोरपि विरोधेन निरस्ताः । तस्माच्चेतनोऽधिष्ठातेत्येव युक्तम् । केचित्तु कर्तृत्वमेवात्मनः, तथाहि विषयसान्निध्ये या ज्ञानलक्षणा क्रिया समुत्पन्ना तस्या विषयसंवित्तिः फलं, तस्यां च फलरूपायां संवित्तौ ज्ञानं क्रियास्वरूपं प्रकाशरूपतया प्रतिभासते । विषयश्च ग्राह्यतया आत्माग्राहकत्वेन घटमहं जानामीत्येवंप्रकारेण तस्याः समुत्पत्तेः । अतः कर्तृत्वं भोक्तृत्वं चात्मनो रूपमिति वदन्ति । तेऽपि नैयायिकवदेव निरसनीया इति शिवम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीपातञ्जलयोगसूत्रवृत्तौ नागोजीभट्टीयायां

कैवल्यपादश्चतुर्थः ।

विचार्य बहुतन्त्राणि योगसूत्रेषु या कृता ।

वृत्तिस्तया प्रीयतां मे भगवान्स फणीश्वरः ॥

समाप्तं पातञ्जलयोगदर्शनम् ।

मणिप्रभा ।

अधुना शास्त्रप्रतिपाद्ययोगफलं कैवल्यं दर्शयति—पुरुषार्थेति ।

कृतभोगापवर्गाणां कृतकृत्यानां बुद्ध्यादि गुणानां प्रातिलोम्येन प्रसवः व्युत्थानसमाधिपरवैराग्यसंस्कारा मनसि लीयन्ते, मनश्चास्मितायां लीयते, सा महति, महत्तत्त्वं गुणेष्विति प्रलयः । तत्प्रधानस्य कैवल्यं पुरुषविशेष उपचर्यते । यद्वा चितिशक्तिश्चित्स्वभावा पुरुषव्यक्तिः स्वरूपमात्रेण प्रकर्षेण तिष्ठतीति स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्ध्याद्यनर्थेनात्यन्तिकवियोग इति यावत् । तदिदं पुरुषस्य नित्यस्य नित्यशुद्धासङ्गस्य प्रकाशस्य कैवल्यमिति रमणीयम् । सौत्र इतिशब्दः शास्त्रपरिसमाप्तिदर्शनार्थः ॥ ३४ ॥

यद्वागप्रणवप्रपत्तिदहनः सद्योऽन्तरायाटवीं दग्ध्वा स्वात्मनि बोधदीपमचले सूते तमःपाटनम् ॥

यत्र न्यस्तसमस्तकर्म जनयेद्योगं तदङ्गं विना वन्दे सिद्धिभुवं तमीशमनिशं कैवल्यदं राघवम् ॥ १ ॥

यत्प्रसादलवः सूते मोक्षाद्याः सर्वसम्पदः ।

उमाधवं महेशानं तं काशीनिलयं भजे ॥ २ ॥

फणीन्द्रसूत्रसम्बद्धा व्याख्याङ्मणिभूषिता ।

मद्वाङ्मौक्तिकमाला स्यात् सदा श्रीरामपादयोः ॥ ३ ॥

क्वाहं प्रमादनिरतः क्व वात्सल्यं गुरोरिदम् ।
नूनं महात्मनां दीने स्वतश्चित्तं कृपाऽन्वितम् ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-श्रीरामानन्दसरस्वतीकृतौ सांख्यप्रवचने योगमणिप्रभायां कैवल्यपादश्चतुर्थः समाप्तः ॥



चन्द्रिका ।

इदानीं फलभूतस्य कैवल्यस्यासाधारणं स्वरूपमाह **पुरुषार्थेति** । समाप्तभोगापवर्गलक्षणपुरुषार्थानां गुणानां यः प्रतिप्रसवः प्रतिलोमपरिणामस्य समाप्तौ विकारानुद्भवो यदि वा चितिशक्तेर्वृत्तिसारूप्यनिवृत्तौ स्वरूपमात्रेणावस्थानं तत् कैवल्यमुच्यते । न केवलमस्मद्दर्शने क्षेत्रज्ञः कैवल्यावस्थायामेवंभूतो दर्शनान्तरेष्वपि विमृश्यमाण एवंरूप एवावतिष्ठते यस्माच्छास्त्रान्तरेऽप्येवमेव निश्चयस्तस्मादिदमेव युक्तं वृत्तिसारूप्यपरिहारेण स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तेः कैवल्यमिति । तदेवं सिद्ध्यन्तरेभ्यो विलक्षणा सर्वसिद्धिमूलभूता समाधिसिद्धिः सैव साधनीयेति ॥ ३४ ॥

सूत्रार्थवृत्तिमालोच्य कृतेयं पदचन्द्रिका ।
अनन्तेनेश्वरप्रीत्यै चार्पिता शिवपादयोः ॥

इति योगचन्द्रिकायां चतुर्थः कैवल्यपादः ॥ ४ ॥

कल्याणमस्तु ॥

गुणानां परिणामक्रमसमाप्तौ किं फलिष्यतीत्यत्राह—**पुरुषार्थेति** ।

कृतभोगापवर्गाणां कार्यकारणात्मनां गुणानां प्रधाने प्रतिप्रसवः प्रलयः कैवल्यम्, चितिशक्तिः कूटस्थनित्या शुद्धासङ्गचित्स्वभावा शक्तिः स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्ध्यादिसम्बन्धविधुरा वा कैवल्यं भवतीत्यतिशोभनम् । इतिशब्दः शास्त्रपरिसमाप्तिद्योतनार्थः ॥ ६४ ॥

यत्कृपापोतमासाद्य समुत्तीर्णो भवार्णवात् ।
नमोऽस्तु तस्मै गुरवे स्वाविद्याध्वान्तभानवे ॥ १ ॥
क्वाहं क्व योगसरणिर्गहनार्था तथाप्यहम् ।
श्रीगुरोः कृपयाकार्षं वृत्तिं योगसुधाकरम् ॥ २ ॥
फणीन्द्रसूत्रग्रथिता मद्वाङ्मौक्तिकमालिका ।
समर्प्यते मया श्रीमद्गुरोश्चरणपङ्कजे ॥ ३ ॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीपरमशिवेन्द्रसरस्वतीपादाब्जसेवापरायणेन श्रीसदाशिवेन्द्रसरस्वत्या विरचितायां श्रीमत्पातञ्जलिप्रणीते योगशास्त्रे सांख्यप्रवचनापरनामधेये योगसुधाकराभिधायां वृत्तौ

कैवल्यपादः समाप्तः ॥

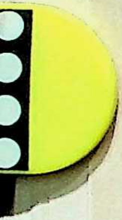
समाप्तश्चेदं योगशास्त्रम् ॥

* श्रीः *

वर्णानुक्रमसूत्रसूची ।

सूत्रानुक्रमणिका ।

इति ।





चिकित्सोपयुक्त नवीन ग्रन्थ—

काकचण्डीश्वरकल्पतन्त्रम्। कैलाशपति पाण्डेय कृत विद्योतिनी हिन्दी टीका युक्त। पं० बटुकनाथ शर्मा कृत भूमिका सहित १२–००

रसाध्यायः। संस्कृत टीका सहित। सं० पं० रामकृष्ण शर्मा तथा इन्द्रदेव त्रिपाठी कृत हिन्दी व्याख्या युक्त १२–००

भावप्रकाशः। श्री भावमिश्र कृत। पं० ब्रह्मशंकर मिश्र कृत 'विद्योतिनी' हिन्दी टीका, भूमिका, अनुक्रमणिका आदि सहित। ज्वराधिकार १५–०० १–२ भाग संपूर्ण २००–००

अष्टाङ्गहृदयम्। वाग्भट कृत। अत्रिदेव गुप्त कृत 'विद्योतिनी' हिन्दी टीका सहित। वैद्य यदुनन्दन उपाध्याय कृत नोट्स आदियुक्त।
सूत्रस्थान १५–०० संपूर्ण ५५–००

भैषज्यरत्नावली। श्री गोविन्ददास कृत। अम्बिकादत्त शास्त्री कृत 'विद्योतिनी' हिन्दी टीका विशद नोट्स आदि सहित। सं० पं० राजेश्वर दत्त शास्त्री आयुर्वेद बृहस्पति १२५–००

काश्यपसंहिता (वृद्धजीवकीय तन्त्रं)। वृद्धजीवक कृत तथा वात्स्य द्वारा संशोधित। नेपाल राजगुरु पं० हेमराज शर्मा कृत संस्कृत-हिन्दी बृहद् उपोद्घात सहित। श्री सत्यपाल कृत 'विद्योतिनी' हिन्दी टीका सहित १२५–००

अष्टांगसंग्रहः वाग्भट कृत। गोवर्धन शर्मा छांगाणी कृत 'अर्थप्रकाशिका' हिन्दी टीका, नोट्स आदि युक्त। सूत्रस्थान ४०–००
शरीरस्थान २०–०० शेषस्थान यन्त्रस्थ

माधवनिदानम्। श्री माधवकर कृत। श्री विजयरक्षित तथा श्री कण्ठदत्त कृत 'मधुकोश' संस्कृत टीका तथा ब्रह्मशंकर शास्त्री कृत 'मनोरमा' हिन्दी टीका सहित ४०–००

योगरत्नाकरः। लक्ष्मीपति शास्त्री कृत 'विद्योतिनी' हिन्दी टीका सहित। सं० ब्रह्मशंकर शास्त्री १७५–००

वनौषधि चन्द्रोदय। श्री चन्द्रराज भंडारी कृत। २ जिल्द में १ से १० भाग। पृथक्-पृथक् १५–०० सम्पूर्ण भाग १००–००

प्राप्तिस्थान—चौखम्भा संस्कृत संस्थान, पो० बा० १३९ वाराणसी–१